|| श्रीः ||

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४१

महाकवि कालिदास

रमाशंकर तिवारी

एम० ए० (हिन्दी-अंग्रेजी), रिसर्च स्कॉलर,

प्राचार्य, गोरेलाल मेहता महाविद्यालय,

बनमनखी, पूर्णियाँ (बिहार)



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०१८

मूल्य : ८-००

Phone : 3076

समर्पण

स्नेहमयी जननी

को

जिनकी डबडबायी आँखें प्राणों में

निरंतर नवीन चेतना फूँकती रहती हैं।



'सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।

सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥'

(विक्रमोर्वशीयम्)

प्राक्कथन

(अ)

कालिदास भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ विभूति हैं। महर्षि अरविन्द का कथन है कि वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास प्राचीन भारतीय इतिहास की अन्तरात्मा के प्रतिनिधि हैं और सब कुछ नष्ट हो जाने के बाद भी इनकी कृतियों में हमारी संस्कृति के प्राण-तत्त्व सुरक्षित रहेंगे। वास्तव में, जातीय प्रतिभा ने सत्यं, शिवं और सुन्दरं के अनुसंधान में जो बहुमूल्य मणि-रत्न प्राप्त किये, वे सभी कालिदास की रचनाओं में एकत्र सन्निविष्ट हैं। भारतीय संस्कृति ने जिन मूल्यों को अपनी दीर्घकालीन साधना तथा अनुभव के आलोक में प्रतिष्ठित किया, उनकी नितान्त मंजुल एवं प्रभविष्णु व्यंजना 'कवि-कुल-गुरु' के काव्यों में सम्पन्न हुई है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि सत्य का मुख स्वर्ण-कलश से ढका हुआ है।[1] वस्तुतः जीवन की अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए सौन्दर्य के सुवर्ण का आकर्षण अत्यन्त आवश्यक है। कालिदास ने सौन्दर्य का, आ-कंठ एवं आ-प्राण, आस्वादन किया था; किन्तु, मूल्यों की तुला पर उसे कभी आत्यन्तिक महत्त्व नहीं प्रदान किया। सौन्दर्य-सागर के सम्पूर्ण आवर्त-विवर्तों में पाठक अथवा भावक को निमज्जित करा कर, कालिदास उसे शिवं के पुनीत आदर्श-लोक की ओर मोड़ देते हैं और अन्ततः लौकिक प्रेयस् के ऊपर पारलौकिक श्रेयस् का अमर संदेश सुना जाते हैं। उनका वक्तव्य यह है : 'जीवन जीने के लिए है, उपभोग के लिए है, उसके आकर्षणों से न तो व्यर्थ आँखें मूँदने की आवश्यकता है, न उसके दायित्वों से कतराने अथवा पलायन करने की आवश्यकता है। जीवन का सम्पूर्ण उपभोग, सौन्दर्य-रस की चर्वणा करते हुए तथा कर्तव्य-पालन का संतोष पाते हुए, निःशेष-भाव से होना चाहिए। किन्तु, ये आत्यन्तिक रूप से हमारे साध्य नहीं हैं; इनमें ही हमारी दृष्टि अँटक नहीं जानी चाहिए। हमारा सबसे बड़ा लक्ष्य है पुनर्भव से मुक्ति और परमानन्द की उपलब्धि।[2] अतएव, जीवन की आसक्तियों का रस लेते हुए भी अन्तिम रूप में हमें अनासक्त रहना है और आवागमन से मुक्ति पाने के उद्देश्य से अनुशासित होना है।' इस प्रकार की मूल्य-भावना से अनुप्राणित रहने वाला कवि या कलाकार कभी अपनी दृष्टि में संकीर्ण अथवा संकुचित नहीं रह सकता; वह मानवतावादी हो जाता है और मानव-मात्र के लिए उसके हृदय का कोष खुल जाता है।

---

१. 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'

२. 'ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।' (शाकुंतल)

कालिदास ने हमें इसी रूप में आकृष्ट किया है और भारतीय संस्कृति को हमने इसी रूप में समझा है। अतएव, कालिदास का प्रस्तुत अध्ययन हमारी इसी मनोभंगी से प्रभावित एवं अनुशासित रहा है, अस्तु।

(आ)

कालिदास का जीवन-वृत्त अद्यापि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है और पंडितों ने जो विभिन्न मत उपपादित किये हैं, वे अधिकांशतया अनुमानाश्रित हैं। हमने इस संबंध में किसी नवीन तथ्य के उद्‌घाटन का प्रयास नहीं किया है, अपितु प्रचलित मतों एवं मान्यताओं का विवेक-पूर्ण अध्ययन कर, अपने निष्कर्ष निकाले हैं। हमारा यह निश्चित विश्वास है कि कालिदास भारतीय इतिहास के उस महत्त्वपूर्ण युग के प्रवक्ता हैं जिसमें शौर्य, विलास एवं समृद्धि की त्रिवेणी प्रवाहित हुई होगी तथा साथ ही, हिन्दू धर्म एवं संस्कृति जीवन के कुछ निश्चित प्रतिमानों एवं आयामों की मर्यादा स्वीकार कर चुके होंगे। अन्य प्रमाणों के साथ जब हम अपनी इस धारणा को मिला देते हैं, तब हमें यही प्रतीति होती है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय की राज-सभा के नव-रत्नों के शिरोमणि रहे होंगे। इसी लिए, हमने इसी मत को संगत एवं सही माना है।

इसी प्रकार, हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि कालिदास की जन्म-भूमि कश्मीर में रही होगी और उनकी प्रतिभा का प्रसून उज्जयिनी के समृद्ध एवं ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण में विकसित हुआ होगा। उनके सामान्य व्यक्तित्व का भी एक चित्र—वह व्यक्तित्व जिसके कारण आपाततः वे शिक्षित-सुसंस्कृत समुदाय तथा विभिन्न राजधानियों में आकर्षण के केन्द्र बने होंगे—हमने अनुमान से निर्मित कर लिया है और उसे संबद्ध प्रसंग में स्पष्टतया उल्लिखित किया है। हमारे ये सभी निष्कर्ष कुछ पंडितों को अत्यन्त सरलता-पूर्वक, स्वच्छन्द-भाव से निकाले गए प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु, हमारी समझ से ये निष्कर्ष कालिदास—मनुष्य कालिदास और कवि कालिदास—को समझने में सहायक सिद्ध होंगे। कालिदास की वह कला जिसमें रूप, रस, गंध, शब्द एवं स्पर्श के बारीक-से-बारीक संकेत भी पकड़ लिये गए हैं तथा उन्हें परम रुचिर एवं ह्लाद-मयी वाणी मिली है, उनके रसान्वेषी, समृद्ध व्यक्तित्व की ही प्रसूति होगी। इस विश्वास से हमने मनुष्य कालिदास का, उसकी सम्पूर्ण क्षमताओं एवं दुर्बलताओं से मंडित कालिदास का चित्र अनुमानित किया है। जो विद्वान् हमारी इन स्थापनाओं से सहमत नहीं होंगे, उनसे हमारा विनम्र निवेदन यह होगा कि कालिदास के जीवन-वृत्त को लेकर जो ऊहा-पोह किया गया है, वह अब यथेष्ट है और इतिहास की रक्त-हीन, निर्जीव अस्थियों को और अधिक उखाड़ने-उभाड़ने की वांछनीयता असंदिग्ध नहीं मानी जानी चाहिए।

कभी-कभी तो हम यह सोचते हैं कि इन रस-सिद्ध, महिमाशाली कवियों के संबंध में सत्य के पिंजड़े की खोज इतनी बलवती सिद्ध हो जाती है कि हम सौन्दर्य के सुग्गे की महिमा प्रायः भूल जाते हैं। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि कालिदास के काव्यों का सौन्दर्योन्मीलन पंडितों द्वारा तिरस्कृत हुआ है, अपितु, हमारा यह विश्वास है कि कालिदास की रचनाओं का सौन्दर्य, पूर्णतया प्रकाशित होने के लिए, अनेक भावयित्री प्रतिभाओं के सम्मिलित सहयोग की अपेक्षा रखता है। इसी लिए, वे कहाँ उत्पन्न हुए, कब उत्पन्न हुए, कैसे जीवन-यापन किया इत्यादि तथ्यों की जानकारी में समय एवं शक्ति का व्यय न कर, उनकी कृतियों का ही अधिकाधिक अनुशीलन होना चाहिए।

कतिपय विद्वानों ने 'मेघदूत' के रामगिरि नामक स्थान की वास्तविक स्थिति के संबंध में भी पर्याप्त विचार-विलोड़न किया है। मैं इसी बहु-मान्य मत का पोषक हूँ कि यह रामगिरि नागपुर (मध्यप्रदेश) के पास अवस्थित वर्तमान रामटेक पहाड़ ही है। इस मत की पुष्टि में मैंने किन्हीं तर्कनाओं अथवा प्रमाणों का उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार, 'मेघदूत' के आम्रकूट को पंचमढ़ी का पहाड़ माने जाने की कल्पना भी मुझे सामान्यतया स्वीकार है। सुतरां, इस संबंध में भी मैंने किसी तर्क वा प्रमाण की चर्चा नहीं की है। इधर पटना के कमिश्नर, संस्कृत-साहित्यानुरागी श्री एस० बी० सोहनी ने आकाशवाणी, पटना, से मेघदूत के ऊपर एक वार्त्ता प्रसारित की है जो २ मई, १९६१ ई०, के 'आर्यावर्त' दैनिक में प्रकाशित हुई है। उसमें उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि रामगिरि रामटेक पहाड़ ही है। इसके लिए उन्होंने मेघदूत के सोलहवें श्लोक की चौथी पंक्ति 'किञ्चित् पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण' को लिया है और इस पंक्ति के विविध पाठान्तरों को उद्धृत करते हुए, इसके सामान्य अर्थ 'पहले पश्चिम जाना और उसके बाद उत्तर की ओर' का प्रतिवाद किया है। उनके अनुसार, 'पश्चात्' एवं 'उत्तरेण' शब्द दिशावाचक हैं और 'भूयः' एवं 'किंचित्' परिमाण-वाचक हैं; अर्थात्, 'पश्चात्' का अर्थ 'पश्चिम' तथा 'भूयः' का अर्थ 'अधिकांश' समझना चाहिए। रामगिरि से उड़कर मेघ को 'माल' भूमि पर वर्षा करने के लिए कहा गया है। 'माल' कोई विशिष्ट अंचल नहीं था, अपितु 'माल' का अर्थ है ऊँची जमीन—'उन्नतं भूतलम्।' श्री सोहनी का कथन है कि उपर्युद्धृत पंक्ति में यक्ष को यह बताना अभीष्ट था कि 'हे मेघ, तुम मालभूमि से उस दिशा में आगे बढ़ना जो दिशा अधिकतर उत्तर तथा किंचित् पश्चिम मुड़ने से निश्चित होगी।' उनका सिद्धान्त है कि माल-भूमि से विदिशा तक जाने का मार्ग (यक्ष को रामगिरि से विदिशा भी पहुँचना है) एक सीधी रेखा बन जाना चाहिए और यह मार्ग उसी दिशा से निर्मित हो सकता है जो अधिकांशतः उत्तर तथा तनिक पश्चिम मुड़ने से प्राप्त होगी। विद्वान् पंडित ने 'हाथी के शरीर पर शृंगार की आकृति के समान दिखाई पड़ने वाले नर्मदा के प्रवाह'—'भक्तिच्छेदैरिव विरचिता भूतिमंगे गजस्य'—को हुशंगाबाद जिले में स्थित शोभापुर नामक स्थान से

संबद्ध माना है जिससे कुछ मील दूर वायव्य दिशा में नर्मदा के एक तीर पर पानी से सटे हुए पहाड़ दिखाई देंगे और दूसरे तीर पर समतल भूमि दिखाई पड़ेगी। इस प्रकार, उनकी तर्कना है कि मालभूमि, आम्रकूट अर्थात् पंचमढ़ी के पहाड़, शोभापुर के समीप की नर्मदा तथा विदिशा, ये चारो स्थान एक सीधी रेखा में पड़ते हैं जो पुनः रामटेक के साथ भी, एक ही दिशा में, सीधे पड़ेंगे; अतएव, रामगिरि वर्तमान रामटेक ही है।

सोहनी महोदय की उपर्युक्त तर्कनाओं से यह पता चलता है कि कालिदास के जीवनवृत्त अथवा उनसे संबंधित स्थानों के विषय में विद्वानों की गवेषणा का अभि-क्रम निरन्तर चलता जा रहा है। किन्तु, जैसा मैंने ऊपर अभी कहा है, काव्य-सौन्दर्य का सामान्य सहृदय रसिक, ताथ्यिक अथवा ऐतिहासिक पचड़ों के चक्रव्यूह में न पड़ कर, भाव-रस की स्रोतस्विनी में निमज्जन करना अधिक पसन्द करता है। ऑलिवर कालेज, मिशिगन (अमेरिका), के प्रसिद्ध प्राध्यापक डॉ० मैडाक्सफोर्ड का यह कथन मुझे सोलह-आना मान्य है : 'For it is your hot love for your art, not your dry delvings in the dry bones of ana and philologies that will enable you to convey to others your strong passion.'[1] अर्थात्, 'यह अपनी कला के लिए आपका ज्वलन्त अनुराग है, न कि प्रवादों तथा भाषा-विज्ञानों की शुष्क अस्थियों का शुष्क अनुसंधान, जो आपको अपने सबल भावों को प्रेषणीय बनाने में समर्थ बनाएगा।'

(इ)

प्रस्तुत अध्ययन को, जीवन-वृत्त तथा उपसंहार वाले प्रकरण छोड़कर, सोलह अध्यायों में बाँट दिया गया है। इनमें से कालिदास की सर्व-मान्य सात रचनाओं में से प्रत्येक के लिए एक-एक अध्याय नियोजित किया गया है तथा शेष नव अध्यायों में कालिदास की काव्य-साधना की पृष्ठभूमि, संस्कृत नाटक के उद्भव एवं विशेषताओं, कालिदास की नाट्य-कला तथा काव्य-कला, सौन्दर्य-भावना, प्रेम-भावना, प्रकृति-चित्रण, कालिदास के लोकादर्श तथा परवर्ती साहित्य-साधना पर उनके प्रभाव का अध्ययन एवं विवेचन किया गया है। काव्य-साधना की पृष्ठभूमि का पर्यालोचन 'राजनीतिक', 'सांस्कृतिक', 'साहित्यिक' तथा 'गुप्त-काल की विशेषताएँ' शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। ऐसा करने में हमारा उद्देश्य यह दिखाना रहा है कि कालिदास ने किन परिस्थितियों में तथा किस प्रकार का उत्तराधिकार पाकर साहित्य-साधना की अथच उन्होंने अपने युग के अनुरोधों का किस कौशल एवं दूरदर्शिता से पालन किया।

---

१. Ford Madox Ford : 'The March of Literature', Introduction, पृ० २।

गुप्त-काल की विशेषताओं का पृथक् विवेचन इस लिए आवश्यक समझा गया कि प्रस्तुत लेखक की राय में कवि का सम-सामयिक परिवेश उन्हीं के दिग्दर्शन से विज्ञप्त हो सकता था। वैभव तथा ऐश्वर्य के जो वर्णाढ्य चित्र उसके काव्यों में अवतीर्ण हुए हैं, वे इन विशेषताओं के उल्लेख के अभाव में शून्यभित्ति पर उत्कीर्ण चित्रों के समान निरर्थक सिद्ध हो जाते।

संस्कृत नाटक की तब तक की विकसित विशेषताओं के आलोक में ही कालिदास की नाट्य-प्रतिभा तथा शक्तियों का समुचित अभिशंसन हो सकता था। इससे ही संबंधित प्रकरण है 'कालिदास की नाट्य-कला' जिसमें कवि की नाट्य-प्रतिभा का विशद विवेचन हुआ है। काव्य-कला वाले अध्याय में काव्यात्मक विशिष्टता तथा काव्य-शिल्प के प्रकरणों के अतिरिक्त, कालिदास के काव्यादर्श का निरूपण किया गया है। यों तो हमारी सम्पूर्ण पुरानी काव्य-साधना रस-सिद्धान्त की सीमाओं के भीतर ही सम्पन्न हुई है, तथापि यह मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि कालिदास जैसे प्रतिभाशाली कवि ने अपनी स्वीकृत मर्यादाओं के भीतर भी, अपनी कविता-कामिनी के विलास के लिए अवश्य ही कुछ निश्चित आदर्श एवं प्रतिमान स्थापित कर लिये होंगे। हमने इन आदर्शों को अपनी समझ तथा जानकारी के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास किया है। कालिदास के लोकादर्श तथा प्रभाव वाले प्रकरणों में लेखक की दृष्टि मुख्यतया तथ्य-निरूपिणी रही है; अतएव, इनमें कोई नवीन उद्भावना नहीं उपलब्ध होगी। हाँ, हमने यह पाया है कि हिन्दी-काव्य में चित्रित अनेक प्रसंगों की प्रतिष्ठा कालिदास की रचनाओं में पहले से ही हो चुकी है, और हमने इनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।

शेष तीन अध्यायों—'सौन्दर्य-भावना', 'प्रेम-भावना' तथा 'प्रकृति-चित्रण'—में कालिदास के एतद्विषयक दृष्टिकोण का उद्‌घाटन किया गया है। वास्तव में, सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं की उनकी साधना का क्या स्वरूप था, मिट्टी के मनुष्य को किस प्रकार वे स्वर्ग का देवता बनाना चाहते थे, उनकी 'कान्ता-सम्मित' शैली किस प्रकार 'सद्यःपरनिर्वृतये' का विधान करने में सफल हो जाती थी, इन सभी बातों की विज्ञप्ति इन प्रकरणों से हो जाएगी।

कालिदास के काव्यों से संबंधित अध्यायों में उन रचनाओं का विशद एवं व्यापक, साथ ही सूक्ष्म, विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कालिदास ने अपने कथानकों की सामग्री कहाँ-कहाँ से संकलित की, उसे किस प्रकार अपने अभिलषित प्रयोजन की पूर्ति के निमित्त संशोधित अथवा सुनियोजित किया—इसे हमने अपनी जानकारी के प्रकाश में उपनिबद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु, कवि की कृतियों का हमने स्वतंत्र अनुशीलन किया है और अपनी भावयित्री क्षमता का उपयोग कर अपने निष्कर्ष स्वयं निकाले हैं। काव्य मूलतः अन्तर्वृत्ति की प्रसूति है और उसका आस्वादन भी मुख्यतः अन्तर्वृत्ति के

परितोष का परिणाम है। अतएव, हमारी रसग्राहिणी चेतना ने जिन स्थलों में जिन प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न किया है, उन-उन प्रसंगों में हमने उन-उन प्रतिक्रियाओं को सुचिन्तित भाषा में उपनिबद्ध किया है। 'अविचारितरमणीय' को पकड़ना और फिर उसे सु-विचारित अभिव्यक्ति देना—यह तत्त्वाभिनिवेशी भावक की प्रथम एवं अन्तिम समस्या है। इस समस्या के समाधान में मुझे कालिदास से ही मार्ग-दर्शन मिला है : 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।' मैं मानता हूँ कि प्रत्येक कलाकृति मूलतः 'शकुन्तला' है और प्रत्येक हृदयशील भावक 'दुष्यन्त' है। अन्तःकरण की प्रवृत्तियों किंवा प्रतिक्रियाओं के सहारे ही दुष्यन्त ने शकुंतला के सौन्दर्य का उपभोग किया और फिर, उन्हीं के सहारे ही उस सती-साध्वी का, अन्त में, नितान्त निर्मल भाव से अंगीकरण किया—पंचम अंक तो, जिसमें वह विचित्र प्रकार के तर्क कर रहा है, ऋषि के शाप से जन्य मूढावस्था का विज्ञापन है। अतएव, मैंने अपने अन्तः-करण के 'संवादों' की विश्वसनीयता में आस्था रख कर ही, कालिदास की कृतियों के सौन्दर्योन्मीलन का प्रयास किया है। हाँ, जहाँ अन्य विद्वानों के विचार मेरी अपनी प्रतिक्रियाओं की अनुकूलता में आए हैं, उन्हें मैंने प्रसन्नता-पूर्वक उद्धृत किया है।

(ई)

यों—तो कालिदास की कविता की भूयसी प्रशंसा भारतीय साहित्य-रसिकों के बीच सदा से होती चली आई है—पंडितों ने उन्हें 'दीपशिखा कालिदास' कह कर, अन्य कालिदासों से उनकी भिन्नता एवं श्रेष्ठता दिखाने का प्रयत्न किया है तथा आचार्यों ने उनके पद्यों को नाना काव्यांगों के निदर्शनार्थ उद्धृत किया है—तथापि, उनकी प्रतिभा का पूर्ण प्रकाश संसार के लिए और हमारे लिए भी तभी प्रस्फुटित हो सका, जब बंगाल के 'सुप्रीम कोर्ट' के न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने सन् १७८९ ईसवी में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का गद्यानुवाद अंग्रेजी में प्रकाशित किया जिससे यूरोप वालों की मनोदृष्टि भारतीय नाट्य-प्रतिभा की प्रतीति से चकित एवं विस्मित हो उठी। १७९१ ईसवी में जार्ज फार्स्टर ने जोन्स-कृत अनुवाद को जर्मन गद्य में अनूदित किया और उसकी एक प्रति सुविख्यात कवि एवं विचारक गेटे को भेज दी जिसे पढ़ कर वह आनन्द-विभोर हो उठा था और 'शाकुन्तल' की प्रशंसा में ये उद्गार व्यक्त किये थे :

'Wouldst thou the young year's
blossoms and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
enraptured, fed ?
Wouldst thou the earth and heaven
itself in one sole name combine ?

I name thee, O Sakuntala, and
all at once is said.'

परवर्ती काल में अनेक भारतीय विद्वानों ने कालिदास का आधुनिक शैली से अनुशीलन किया है और उनके काव्य-सौन्दर्य को उद्घाटित करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। किन्तु, इन सभी पण्डितों के अध्ययन प्रायेण अंगरेजी भाषा में ही प्रकाशित हुए हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी जानने वाले कालिदास-अनुरागी काव्य-रसिकों को इन पण्डितों के प्रयासों से लाभान्वित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका है। मल्लिनाथ की टीका तथा अन्य आधुनिक टीकाओं से कवि के काव्य-सौन्दर्य का एक निश्चित सरणि में उन्मीलन हुआ है। लेकिन, कालिदास का व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक अध्ययन अद्यापि हिन्दी में प्रस्तुत नहीं हो सका है। विद्वद्वर प्रो० मिराशी तथा आचार्य चन्द्रबली पांडेय की पुस्तकें अवश्य हिन्दी में वर्तमान हैं और प्रस्तुत लेखक ने इन पुस्तकों से यथेष्ट सहायता भी ली है, तथापि, इन दोनों पण्डितों का 'अप्रोच' अपने अपने ढङ्ग का रहा है, और प्रस्तुत लेखक को ऐसा भान होता रहा है कि कहीं कुछ कमी है जिसकी पूर्ति की जा सकती है, कि कहीं कोई ऐसी भाव-छवि अछूती बच गई है जिसका उन्मीलन होना चाहिए, कि कहीं कोई ऐसा सन्दर्भ है जिसकी नवीन व्याख्या होनी आवश्यक है। इसी मानसिक प्रतीति का, हमारा प्रस्तुत अध्ययन, विनम्र परिणाम है। प्रो० मिराशी को दृष्टि मुख्यतया शोध-मूलक रही है और उन्होंने तथ्यों की खोज एवं स्थापना का ही विशेष प्रयत्न किया है। डा० चन्द्रबली पाण्डेय की विराट् मेधा उनके ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर प्रतिबिम्बित है; किन्तु, उनकी व्यंजना-प्रधान शैली, जिसमें वे अपनी व्याख्या का अधिक अंश पाठकों को स्वयं समझने के लिए छोड़ देते हैं, विशेष सहायक नहीं सिद्ध होती। दूसरी विशेषता उनकी लक्षित होती है, कालिदास के काव्यों से लम्बे-लम्बे उद्धरण देना। हमारी अपनी भावना यह है कि यदि इन उद्धरणों को निकाल दिया जाय, तो पुस्तक का आकार आधा घट जाएगा। ऐसा कह कर, मैं स्वर्गीय पंडित-प्रवर की महनीय कृति का अव-मूल्यन नहीं करना चाहता; अपितु हमारा मूल वक्तव्य यही है कि उनकी शैली की दुरूहता तथा किंचित् पुरानापन उनके भगीरथ-प्रयत्न का पूर्ण आस्वादन कराने में बाधक रहे हैं। डा० भगवतशरण उपाध्याय के परिश्रम-प्रसूत गहन अध्ययन का अपना विशिष्ट महत्त्व है, किन्तु उनकी दृष्टि भी मुख्यतः अनुसंधानात्मक एवं समाजशास्त्रीय रही है, यद्यपि कभी-कभी उनकी बारीक सूझ की कौंध के भी दर्शन हो जाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में हमने सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का विवेकपूर्ण तथा आलोचनात्मक उपयोग किया है। जिन पंडितों के अंग्रेजी ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं, उनसे भी लाभान्वित होने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक स्थल पर इन सभी विद्वानों की रचनाओं का स्पष्ट संदर्भ उल्लिखित कर दिया गया है। संस्कृत साहित्य के उपलब्ध इतिहास-ग्रन्थों

का भी उपयोग किया गया है और यथा-स्थान उनका भी संदर्भ सूचित कर दिया गया है।

(उ)

कालिदास के अध्ययन की ओर मैं वर्षों पूर्व अपने शोध-प्रबन्ध की तैयारी के सिलसिले में आकर्षित हुआ था। फिर तो, कालिदास के काव्य की 'अलका' ने मुझे इतना फँसा लिया कि मैं उसकी ही छवियों एवं छटाओं के उन्मीलन एवं आस्वादन में ही व्यस्त हो गया और मेरा शोध-कार्य ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया। उपाधि तो मुझे नहीं मिल सकी है, किन्तु संतोष यही है कि कालिदास की कविता-कामिनी के कलित भ्रू-विलास की अर्चना में मैं अपनी भी कुसुमाञ्जलि समर्पित कर सका हूँ। हमारे तुच्छ प्रयास का क्या मूल्य होगा, यह तो नीर-क्षीर-विवेक से सम्पन्न पंडित-प्रवर ही निश्चित कर सकेंगे : 'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।' अभी तो मैं अपनी असमर्थता की प्रतीति से ही अभिभूत हो रहा हूँ—

'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥'

(ऊ)

प्राक्कथन समाप्त करने के पूर्व मैं सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य पं० परशुराम चतुर्वेदी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। वस्तुतः आप ही मेरे साहित्यानुशीलन के मुख्य प्रेरणा-केन्द्र रहे हैं और आप के स्नेह एवं सद्भावना का जो अकुण्ठित प्रसाद मुझे मिलता रहा है, उसने अपनी पारिवारिक झंझटों के बीच भी अपना साहित्यानुराग प्रज्वलित रखने में मुझे अमोघ सहायता पहुँचाई है। उनका महान् ऋण में क्योंकर चुका सकूँगा, यह समझ में नहीं आता। साथ ही, उनके अनुज मित्रवर श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन आवश्यक समझता हूँ जिन्होंने निरन्तर प्रेरणा प्रदान कर प्रस्तुत पुस्तक प्रणीत कराई है।

पांडुलिपि तैयार करने में मुझे अपने प्रिय शिष्य श्री उदयनारायण राय, बी० ए०, साहित्यरत्न, से अमूल्य सहायता मिली है। अतएव, वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। अपने भूतपूर्व लिपिक तथा पुराने शिष्य श्री पद्मदेव प्रसाद 'पद्म', को भी साभार

स्मरण करना आवश्यक समझता हूँ जिन्होंने समय-समय पर कतिपय प्रकरणों की नकल तैयार करने में अपूर्व मनोयोग का परिचय दिया है। इस प्रसंग में मुझे यहाँ अपने मित्र तथा भूतपूर्व सहयोगी प्रो० शालिग्राम उपाध्याय, एम० ए०, साहित्य-शास्त्राचार्य, की मधुर सुधि आ जाती है। उन्होंने पांडुलिपि को दुहरा कर मेरा बहुत समय बचाया है और मुझे अनेक व्यक्तिगत कार्यों में निष्ठामय सहायता पहुँचाई है। अतएव, उनके प्रति भी सहर्ष कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ।

अपनी पत्नी, पुत्र मणीन्द्रचन्द्र तथा पुत्री माधुरी रानी त्रिपाठी के प्रति अपना आभार क्योंकर व्यक्त कर सकता हूँ? वस्तुतः इन लोगों ने ही तो पारिवारिक झंझटों और प्राचार्य-पद के व्यस्त दायित्वों के बीच, मेरी झिड़कियों को सहन करते हुए, मेरे अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया है। इनके धैर्य एवं सहिष्णुता के अभाव में कालिदास की कविता-कामिनी के मधुर अधरामृत की चर्वणा मेरे लिए कथमपि शक्य एवं संभव नहीं हुई होती। पांडुलिपि तैयार करते समय प्रिय बहन श्रीमती चन्द्रकला मिश्र का आकस्मिक साहचर्य भी कम सहायक सिद्ध नहीं हुआ है; अतएव, वह भी इस प्रसंग में स्मरणीय है। क्या कुमार अरुणेन्द्रचन्द्र और कुमारी मंजुलरानी तथा मुकुलरानी को भूला जा सकता है जिनकी चपलताओं एवं चुलबुलियों से लेखक को यथेष्ट मानसिक विश्राम तथा मनोविनोद मिलते रहे हैं?

अन्त में, चि० मोहनदास गुप्त एवं चि० विट्ठलदास गुप्त, व्यवस्थापक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने पुस्तक प्रकाशित कर हिन्दू संस्कृति एवं साहित्य के प्रति अपने सहज अनुराग का परिचय दिया है।

सरस्वती-निकेतन,
बलिया (उत्तरप्रदेश)

रमाशंकर तिवारी

अनुक्रमणी



महाकवि कालिदास

जीवनवृत्त

(क) जन्मकाल

'निखिलकविचक्रचूडामणि', 'कविकुलगुरु' कालिदास भारतीय साहित्य के जाज्वल्यमान रत्न हैं। काव्य-मर्मज्ञों ने उन्हें 'कविता-कामिनी का विलास' कहा है और प्राचीन कवियों की गणना के विषय में उन्हें 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' बता कर, उनकी तुलना में ठहरने वाले किसी अन्य प्रतिस्पर्धी कवि के अस्तित्व की संभावना का प्रत्याख्यान किया है।[1] किन्तु, रस की अमृत स्रोतस्विनी प्रवाहित करने वाले तथा भारतीय संस्कृति के चिरंतन आदर्शों को कान्तासम्मित अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले इस सारस्वत कवि का जीवन-वृत्त अद्यापि कुतूहल एवं अनुमान का विषय बना हुआ है। न तो कवि ने अपने ग्रन्थों में ऐसे सर्वमान्य उल्लेख सन्निविष्ट किए हैं जिनके आधार पर उसके जीवन की कहानी निर्मित की जा सकती है, और न किसी इतिहास ग्रन्थ में ही उसके विषय में कोई निश्चित सामग्री उपलब्ध होती है। ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने कालिदास के जन्म के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित किए हैं। ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी से लेकर ईसवी संवत् की बारहवीं शताब्दी तक के दो सहस्र वर्षों के बीच उनका आविर्भाव निश्चित किया गया है।

प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् हिपोलाइट फाश (Hippolyte Fauche) का कथन है कि कालिदास 'रघुवंश' में वर्णित अन्तिम राजा अग्निवर्ण के मृत्यूपरान्त उत्पन्न होने वाले पुत्र के समकालीन थे; इस प्रकार उनका समय ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी है। किन्तु, यह मत स्पष्ट ही अमान्य है क्योंकि इसके पीछे किसी तात्त्विक आधार की वर्तमानता सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार यह किंवदन्ती कि कालिदास राजा भोज की सभा के कवि थे, सर्वथा तिरस्कृत हो चुकी है। भोज ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में उज्जैन तथा धारा के अधीश थे और उनका साहित्यानुराग पंडित-परम्परा में चिरकाल से सम्मानित रहा है। संस्कृत के बल्लाल कवि द्वारा

---

१. "पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥"

रचित भोजप्रबंध में कालिदास, भवभूति, भारवि, दण्डी, वाण प्रभृति कवियों को एक साथ भोज की सभा को सुशोभित करते हुए दिखलाया गया है। यह मत भी पूर्णतः अमान्य हो चुका है, और पंडितों का कथन है कि यदि भोज के दरबार से किसी कालिदास नामधारी कवि का संबंध रहा ही है, तो वह प्रसिद्ध कवि कालिदास नहीं होगा, अपितु वह दूसरा कालिदास, कदाचित् परिमल कालिदास[1] रहा होगा। अतएव, यह स्पष्ट है कि ये दोनों मत निस्सार एवं कपोल-कल्पित हैं।

सुतरां, कालिदास के आविर्भाव-काल की दो स्पष्ट सीमाएँ मानी गई हैं। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र है जो मौर्यवंश का उच्छेद कर मगध-साम्राज्य को स्वायत्त करने वाले सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। इसका समय विद्वानों द्वारा ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व निर्धारित किया गया है।

---

१. टी० एस० नारायण शास्त्री ने नव कालिदासों का उल्लेख किया है—(१) उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य (ई० पू० छठी शताब्दी) की सभा के कालिदास जिनका उपनाम मातृगुप्त था। ये तीनों प्रसिद्ध नाटकों तथा 'सेतुबन्ध' नामक महाकाव्य के रचयिता थे। (२) मालव संवत् के संस्थापक मालव-नरेश विक्रमार्क (ई० पू० ५०) की सभा के कालिदास जिनका उपनाम मेधारुद्र था और जिन्होंने 'कुमारसंभव', 'रघुवंश' और 'मेघदूत' काव्यों का प्रणयन किया। (३) कामकोटि पीठम के मूक शंकर (४७० ई०) के शिष्य कालिदास जिनका उपनाम कोटिजीत था और जिन्होंने 'ऋतुसंहार', 'शृंगारतिलक', 'श्यामलादंडक', 'नवरत्नमाला' इत्यादि ग्रन्थों की रचना की। (४) धारा के अधीश मुंज के समकालीन परिमल कालिदास जिनका उपनाम पद्मगुप्त था और जिन्होंने 'नवसाहसांकचरित' नामक काव्य का प्रणयन किया। (५) 'नलोदय' काव्य के प्रणेता कालिदास जो 'यमककवि' की आख्या से भी प्रसिद्ध थे। (६) 'चम्पू भागवत' के रचयिता नव कालिदास। (७) अकबरी दरबार के कालिदास अकबरीय जो अनेक समस्याओं की पूर्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। (८) 'लम्बोदर' प्रहसन के रचयिता कालिदास और (९) 'संक्षेपशंकरविजय' के प्रणेता अभिनव कालिदास जिनका उपनाम माधव था। राजशेखर ने तीन कालिदासों का उल्लेख किया है—

"एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृंगारे ललितोद्‌गारे कालिदासत्रयी किमु ॥"

ऊपर परिगणित कालिदासों में से प्रथम तीन इस सुभाषित में वर्णित हैं—ऐसा पंडितों का अनुमान है। किन्तु, यह भी कहा गया है कि 'कालिदासत्रयी' से प्रसिद्ध कवि कालिदास की तीन प्रमुख, मधुर रचनाओं 'रघुवंश', 'कुमारसंभव' तथा 'मेघदूत' से अभिप्राय है।

इसका अर्थ यह हुआ कि कालिदास का समय इससे पूर्व नहीं हो सकता। पुनः कालिदास का नामोल्लेख कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन (६०६–६४७ ई०) के आश्रित कवि बाणभट्ट द्वारा रचित 'हर्षचरित' की प्रस्तावना में तथा पुलकेशी द्वितीय (६३४ ई०) के ऐहोल ग्राम वाले शिलालेख में हुआ है।[1] इससे यह अभिप्राय निकलता है कि कालिदास ईसा की सातवीं शताब्दी के बाद आविर्भूत नहीं हुए होंगे। अतएव, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसवी संवत् की सातवीं शताब्दी के बीच इस महाकवि का आविर्भाव हुआ होगा।

इन मतों की परीक्षा करने के पूर्व यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय परम्परा में कालिदास का संबंध किसी 'विक्रमादित्य' उपाधि वाले नरेश से घनिष्ठतया स्थापित हो गया है। साथ ही, यह भी माना गया है कि शकों को इसी पराक्रमी राजा द्वारा पराजित होना पड़ा होगा। अभिनन्द-कृत रामचरित' में उल्लेख आया है कि कालिदास की कृतियों को 'शकाराति' अथवा 'शकारि' राजा ने प्रसिद्धि प्रदान की।[2] सुबन्धु ने वासवदत्ता में विक्रमादित्य के काव्यानुरागी होने का कथन किया है।[3] एक सुभाषित में यह भी कहा गया है कि विक्रमादित्य अथवा विक्रमार्क को कालिदास कवि ने व्याख्यात किया है।[4] 'ज्योतिर्विदाभरण' में, जो कालिदास की ही रचना समझा गया है, कालिदास को विक्रमादित्य की राजसभा के 'नवरत्नों' में परिगणित कराया गया है।[5] इन सभी उल्लेखों से स्पष्ट है कि

---

१. "निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते॥"

—हर्षचरित

"स विजयतां रविकीर्तिः, कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।"

—ऐहोल शिलालेख

२. "हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः।
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना॥"

—रामचरित

३. "सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥"

—वासवदत्ता

४. "वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजः।
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमार्को नृपः॥"

—सुभाषित

५. "धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥"

— ज्योतिर्विदाभरण

'शकारि', 'शकाराति', 'शंकरभूपरिपु', 'विक्रम', 'विक्रमार्क' तथा 'विक्रमादित्य'—ये सभी उपाधियाँ एक ही पराक्रमशील नरेश से संबन्धित हैं जिन्होंने शकों का मानमर्दन किया था तथा जो कवि एवं कविता को प्रोत्साहन देने में अभिरुचि रखता था।

ईसा की पूर्व शतियों में कालिदास का आविर्भाव नहीं हुआ—यह मानने के लिए विद्वानों ने प्रभूत प्रमाण संकलित कर लिए हैं। सबसे पहली बात तो यह दिखाई पड़ती है कि इन शतकों में किसी ऐसे राजा का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जिसने 'विक्रमादित्य' का विरुद ग्रहण किया हो। क्षत्रप नहपान को पराजित करने वाले गौतमीपुत्र सातकर्णी को 'विक्रमादित्य' की उपाधि से मंडित करने वाली ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में अभी आई नहीं है। वास्तव में, प्रचलित विक्रम संवत् का ईसा से ५७ वर्ष पूर्व होना ही इस मत के पोषकों के लिए एक बड़ा भारी आधार बन गया है कि कालिदास का आविर्भाव-काल ईसा की पहली शताब्दी पूर्व है, और उन्होंने विक्रम संवत् का प्रवर्त्तन करने वाले किसी विक्रमादित्य राजा के अनुसंधान का अथक प्रयास किया है। किन्तु, 'विक्रम-काल' सामासिक पद का प्रयोग एक 'विशिष्ट संवत्' के अर्थ में पहले-पहल ईसा की नवीं शताब्दी में प्राप्त होता है; और इसमें 'विक्रम' शब्द से विक्रमादित्य राजा का ही बोध होता है—इसे पंडितों ने सर्वदा स्वीकार नहीं किया है। प्रोफेसर कीलहार्न के मतानुसार 'विक्रम संवत्' की विशेषता यह थी कि यह शरदर्तु अर्थात् कार्तिक मास में आरम्भ होता था और यतः इसी समय राजा लोग युद्ध के लिए प्रस्थान करते थे, अतः इस ऋतु को 'विक्रम-काल' कहा जाने लगा था। 'हर्षचरित' इत्यादि अनेक ग्रन्थों में 'विक्रम' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है; और बाद में मूल अर्थ नहीं समझने के कारण, प्रमाद-वश इस शब्द का प्रयोग 'विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित संवत्' के अर्थ में होने लग गया। अन्य विद्वानों के मतानुसार, यह संवत् मालव देश में बहुत वर्षों तक प्रचलित रहा और बाद को इसका संबंध गुप्तकालीन पराक्रमी नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय से जोड़ दिया गया जिसने 'विक्रमादित्य' (पराक्रम के सूर्य) का विरुद ग्रहण किया था। इस प्रकार, ईसा से पूर्व पहली अथवा दूसरी शती के किसी विक्रमादित्य राजा से कालिदास का सम्बन्ध स्थापित करना तर्क-संगत नहीं है।

इसी प्रकार, प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष के काव्यों तथा कालिदास की रचनाओं में दिखाई पड़ने वाली समानताओं के आधार पर प्रो॰ शारदानंद राय, प्रो॰ चट्टोपाध्याय इत्यादि अनेक भारतीय मनीषियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अश्वघोष ने कालिदास की पंक्तियों का अपहरण किया है और इस प्रकार कालिदास

अश्वघोष से पहले, ईसा पूर्व प्रथम शतक में हुए होंगे। साथ ही, प्रो० ई० बी० कावेल जैसे यूरोपीय विद्वानों ने इन समानताओं का उपयोग यह सिद्ध करने के लिए किया है कि कालिदास ने अपने काव्यों की कल्पना अश्वघोष से ली है। वस्तुतः किन्हीं दो कवियों की रचनाओं में प्राप्त समानताओं को एक दूसरे से प्रभावित बतलाना सर्वथा निरापद नहीं है, क्योंकि समान संदर्भों में समान उक्तियों अथवा कल्पनाओं का उत्थापन श्रेष्ठ कवियों के लिए बिलकुल संभव है। तथापि, जैसा राजशेखर ने कहा है, प्रत्येक ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों से प्रभाव ग्रहण करता ही है—"सर्वोऽपि परेभ्य एव व्युत्पद्यते।" कालिदास और अश्वघोष के ग्रन्थों में प्राप्त समानताओं पर ध्यानपूर्वक विचार करना लाभप्रद होगा।

समानता प्रसंग तथा कल्पना द्विविध हो सकती है। इस तरह की कुछ समानता अश्वघोष के 'सौन्दरनंद' तथा कालिदास के 'कुमारसंभव' में उपलब्ध होती है। शाक्यकुलोत्पन्न नन्द का, भगवान् बुद्ध के उपदेश पर, प्रव्रज्या ग्रहण करना 'सौन्दरनंद' काव्य का प्रतिपाद्य है। नन्द के संन्यास-ग्रहण का संवाद पाकर, उसकी पत्नी सुन्दरी ने इस काव्य के छठे सर्ग में प्रभूत शोक-व्यंजना की है। उसमें तथा 'कुमारसंभव' के रतिविलाप में साम्य दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार, बाद वाले सर्ग के नन्द-विलाप तथा 'रघुवंश' के अज-विलाप में भी साम्य लक्षित होता है। अश्वघोष-कृत 'बुद्धचरित' के तृतीय सर्ग में, शीतर्तु में नगर से बाहर विहार-हेतु जाने वाले कुमार गौतम को देखने के लिए नगर की नारियों की भीड़ एकत्र हो जाती है। इसी प्रकार, 'कुमारसंभव' के सप्तम सर्ग में विवाहवेशधारी शंकर को, तथा 'रघुवंश' के सप्तम सर्ग में इन्दुमती-स्वयंवर के बाद कुण्डिनपुर में प्रविष्ट होने वाले अज को देखने के लिए नागरी अंगनाओं का अत्यंत उत्सुक ज्वार फूट पड़ा है। प्रसंग एवं चित्रण की इन समानताओं पर ध्यान खिंच जाना सर्वथा स्वाभाविक है, लेकिन इनके आधार पर एक कवि को दूसरे से प्रभावित बताना सदैव उचित नहीं होगा। इस प्रकार के प्रसंग सामान्य लोकजीवन में आते हैं; और कवियों के लोकजीवन से ही प्रेरणा ग्रहण करने की संभावना निराकृत नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि कालिदास और अश्वघोष के इन वर्णनों में कल्पना-सादृश्य अधिक नहीं दृष्टिगोचर होता। और, जिन स्थलों पर यह समानता लक्षित होती है, उनमें कालिदास ही अश्वघोष के ऋणी प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत चित्रों पर विचार कीजिए—

(१) "वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परोपासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपंकजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पंकजानि॥"

—बुद्धचरित, ३।१९

—'खिड़कियों के बाहर झाँकने वाली कामिनियों के मुख-कमल, जिनके कर्ण-भूषण परस्पर रगड़ खा रहे थे, महलों के परस्पर-संलग्न सरोजों के समान शोभा दे रहे थे।'

(२) "तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥"

—'अतिकुतूहलपूर्ण प्रमदाओं के मद्यपानसुगंधित और भ्रमर-सदृश चंचलनेत्रयुक्त मुखों के कारण महल की खिड़कियाँ कमलों से भूषित सी प्रतीत होती थीं।'

इन दोनों वर्णनों में खिड़कियों से झाँकने वाली स्त्रियों के मुखों को कमल से उपमित किया गया है। "अश्वघोष ने केवल उपमा दी है, किन्तु कालिदास ने 'विलोलनेत्रभ्रमरैः' का कथन कर उपमा की कल्पना को विकसित एवं ललित बना दिया है। यदि इससे ही अनुमान निकालना हो, तो कालिदास की कल्पना ही बाद की ठहरेगी।"[1]

प्रो० चट्टोपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कालिदास का स्थितिकाल' (The Date of Kalidas) में कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में समानता के अनेक उदाहरण उद्धृत किए हैं। किन्तु, जैसा पंडितों ने दिखाया है, उनमें से चार-पाँच में ही विशेष साम्य परिलक्षित होता है। कतिपय समानतायें 'वाल्मीकि-रामायण' में भी मिल जाती हैं। अतएव, उससे कोई सर्वमान्य अनुमान निकालना उचित नहीं होगा। निम्नोल्लिखित पद्यों को देखिये—

(१) "वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः।
सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशे जज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः॥"

—बुद्धचरित, १।२२

(२) "दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥"

—रघुवंश, ३।१४

दोनों अवतरणों में कल्पना-साम्य वर्तमान है; किन्तु, दोनों कवियों ने—यदि प्रभाव या प्रेरणा ग्रहण करने की बात हो—वाल्मीकि से शब्दार्थ ग्रहण किया है। विश्वामित्र के साथ अयोध्या से निकलते हुए राम-लक्ष्मण का चित्र देखिये—

"ततो वायुः सुखस्पर्शो नीरजस्को ववौ तदा।
विश्वामित्रगतं रामं दृष्ट्वा राजीवलोचनम्॥

---

१. प्रो० वा० वि० मिराशी : 'कालिदास', पृ० १३

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
शंखदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि ॥"

—बालकांड, २२।४-५

कल्पना-साम्य के साथ यदि उक्ति-साम्य भी विद्यमान हो, तब प्रभाव-ग्रहण की बात में अधिक वजन आ जायेगा। इस प्रकार के दो-चार स्थल अवश्य उपलब्ध होते हैं। नीचे के उद्धरण देखिये—

(१) "तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥"

—सौन्दरनन्द, ४।४२

"तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥"

—कुमारसंभव, ५।८५

(२) "आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च।
कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भैक्षाक एवाभिरता न राज्ये॥"

—बुद्धचरित, १०।२३

"एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥"

—रघुवंश २।४७

(३) "द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम्॥

—बुद्धचरित, ११।४३

"कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।"

—उत्तर-मेघदूत, ४६

इन उदाहरणों में आश्चर्यजनक साम्य है और ऐसा प्रतीत होता है मानो एक कवि ने दूसरे का अवश्य अनुकरण किया है। लालित्य की दृष्टि से यही स्वीकार करना पड़ता है कि कालिदास ने अश्वघोष की कल्पनाओं एवं पदविन्यासों को ग्रहण कर, उन्हें अधिक आकर्षक बना दिया है। और, इस प्रकार कालिदास बौद्ध कवि के पश्चाद्भावी हैं। किन्तु, यह तर्क प्रामाणिक नहीं भी समझा जा सकता। इसलिए, प्रसिद्ध विद्वान् वासुदेव विष्णुमिराशी ने अश्वघोष की प्राग्भाविता सिद्ध करने के लिए एक अन्य सूत्र खोज निकाला है। उनका कथन है कि अश्वघोष ने एक विशिष्ट शब्द

'प्रागेव' का प्रयोग संस्कृत के 'किमुत' (अब और क्या कहना !) के अर्थ में अनेक बार किया है । उदाहरणार्थ निम्न श्लोक लिया जा सकता है —

"एवमाद्या महात्मानो विषयान् गर्हितानपि ।
रतिहेतोर्बुभुजिरे प्रागेव गुणसंहितान् ॥"

—बुद्धचरित, ४।८१

नीतिशास्त्रज्ञ उदायी नामक गौतम का मित्र उनके विरक्त मन को पुनः विषयानुरक्त बनाने के लिए प्राचीन कथाओं से अनेक उदाहरण देकर कहता है—"जब इस प्रकार के निन्दनीय विषय-भोगों को बड़े-बड़े लोगों ने उपभोग-लालसा से प्रेरित होकर भोगा है, तब अच्छे विषयों के उपभोग के विषय में कहना ही क्या है ?"

'प्रागेव' शब्द का इस अर्थ में उपयोग संस्कृत बौद्ध-साहित्य में अन्य स्थलों पर हुआ है । परन्तु, हिन्दू-साहित्य में यह प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं है । संस्कृत के कोशों में 'प्रागेव' का यह अर्थ नहीं दिया गया है । किंतु, कालिदास ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में 'ऋतुसंहार' के निम्न श्लोक में किया है—

'कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातै-
र्द्योतितान्युपवनानि मनोहराणि ।
चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं
प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥"

—'जब विलासिनी तरुणियों के हास्य के समान शुभ्र कुन्द-प्रसूनों से उज्ज्वल उपवन मुनियों के विरक्त मनों को अपनी ओर खींच लेते हैं, तब तरुणों के रागमलिन चित्त को वे आकृष्ट कर लें तो इसमें क्या आश्चर्य है ?' मिराशी जी ने इस प्रकार यह उपपन्न किया है कि कालिदास ने संस्कृत बौद्धग्रन्थ, विशेषतः अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य पढ़े थे । ईसा के बाद पहली शती में महायान पंथ के उत्कर्ष प्राप्त करने पर ही, बौद्धों ने संस्कृत में ग्रन्थ-रचना की है । तब कालिदास को अश्वघोष से पूर्व का, अर्थात् ईसा पूर्व पहली शताब्दी का मानना युक्तिसंगत नहीं होगा । इस प्रकार मिराशी का तर्क है कि कालिदास अश्वघोष के बाद आविर्भूत हुए ।[1]

कालिदास को ईसा पूर्व पहले शतक में रखने के लिए विद्वानों द्वारा अनेक तर्क उपस्थित किए गये हैं जिनकी छान-बीन करना हमें अभीष्ट नहीं है । यदि कालिदास ईसा पूर्व प्रथम शतक में वर्तमान रहते, तो वे निश्चय ही शकों के उस आक्रमण से परिचित रहते जिसका वर्णन गार्गी-संहिता के युगपुराण में किया गया है, और जिससे पाटलिपुत्र के समस्त पौरुष का सर्वनाश हो गया था । पंडितों का अनुमान

---

१. वही, पृ० ११–१६

है कि यह आक्रमण शक अम्लाट द्वारा हुआ था जो संभवतः शकाधिराज अयस (५८-११ ई० पू०) का सेनापति था। कालिदास के ग्रन्थों में जिस शान्ति एवं समृद्धि का चित्रण उपलब्ध होता है, उसकी वर्तमानता ईसा पूर्व पहली शती के अशान्त हिंसापूर्ण वातावरण में संभव नहीं है। युगपुराण में कहा गया है कि राजा नष्ट हो गये थे और वर्णाश्रम-धर्म क्षत-विक्षत हो गया था। कालिदास ने अपनी रचनाओं में पुराणों का एक संसार खड़ा कर दिया है। पौराणिक जन-विश्वास, पुराणों के देवता, पूजा, सभी उस पौराणिक साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं जिसका संग्रह-संकलन और संस्करण गुप्त-काल में हुआ था। पहली सदी ईसवी पूर्व में जब पुराण अभी अस्थिर रूप में थे, यह सामाजिक निरूपण संभव नहीं था। देवताओं तथा उनकी मूर्तियों और मन्दिरों का जो अनंत संकेत कालिदास के ग्रन्थों में प्राप्य है, वह कुषाण-कालीन कला-प्रसृति, गान्धार-शैली और उस मूर्ति-परम्परा के बाद ही सम्भव था जिसे महायान की भक्ति-सरणि ने अविकल बहा दिया था। और, महाकाल सम्प्रदाय का उदय पहली सदी में हुआ।'[1]

विवाहित स्त्री के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए वात्स्यायन ने ये सूत्र लिखे हैं— "श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या तत्पारतंत्र्यमनुत्तरवादिता।........भोगेष्वनुत्सेकः। परिजन्ये दाक्षिण्यम्। नायकापचारेषु किञ्चित् कलुषता नात्यर्थं निवेदयेत्।" (कामसूत्र)

इन सूत्रों में जो विचार विकीर्ण हैं, उन्हें संकलित कर, कालिदास ने कुलपति कण्व के मुख से नववधू शकुन्तला के लिए अत्यंत भावपूर्ण उपदेश यों दिलाया है—

"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥"

—'शाकुन्तल', ४।१७

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में काव्य-रसिकों द्वारा परिगणित चार उत्कृष्ट श्लोकों में यह श्लोक भी सम्मिलित किया गया है, और इस श्लोक की मूल कल्पना 'कामसूत्र' से गृहीत है। वात्स्यायन का समय विद्वानों द्वारा ईसा की तीसरी शताब्दी का मध्यकाल ठहराया गया है। अतएव, कालिदास, ईसा पूर्व प्रथम शतक में न होकर, ईसवी संवत् २५० के बाद आविर्भूत हुए होंगे।

कालिदास को ईसा की छठी शताब्दी में आविर्भूत मानने के पक्ष में डाक्टर हार्नली ने यह अभिमत प्रकाशित किया है कि मालव-राज यशोधर्मन ने हूणों के प्रतापी नरेश मिहिर-कुल को पराभूत कर 'विक्रमादित्य' का विरुद

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास और उनका युग, पृ० ४४-४६

ग्रहण किया और अपनी विजय के उपलक्ष्य में 'विक्रम' नामक नवीन संवत् चलाया जिसकी गणना उसने ६०० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ की। हार्नली ने दिखाया है कि रघु की दिग्विजय यशोधर्मन की राज्य-सीमा से मिलती-जुलती है। हरप्रसाद शास्त्री ने अनेक रुचिकर प्रमाणों के प्रयोग से यह सिद्ध करने का उद्योग किया है कि कालिदास भारवि के अनंतर ईसा की छठी शताब्दी में वर्तमान थे। लेकिन, हूणों का पराभव करने पर भी, यशोधर्मन 'शकारि' नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार उसके शिलालेखों से नवीन संवत्सर की बात प्रमाणित नहीं होती। पुनः, ४७३ ई० में कुमारगुप्त द्वितीय के शासन-काल में मन्दसोर का अभिलेख लिखने वाले कवि वत्सभट्टि ने स्वरचित प्रशस्ति में 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' का पर्याप्त अनुकरण किया है। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत पद्य द्रष्टव्य हैं—

"चलत्पताकान्यबलासनाथान्य-
त्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट-
तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥
कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्या-
न्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्र-
कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि॥"

—वत्सभट्टि

"विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥"

—कालिदास (उत्तरमेघ, १)

"रामासनाथभवनोदरभास्करांशु[1] वह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने।
चन्द्रांशुहर्म्यतलचंदनतालवृन्तदारोपभोगरहिते हिमदग्धपद्मे॥"

—वत्सभट्टि

"निरुद्धवातायनमंदिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम्॥
न चंदनं चारुमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम्।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतलाः जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम्॥"

—कालिदास (ऋतुसंहार, ५।२-३)

---

१. 'रामासनाथरचनेदरभास्करांशु' कहीं ऐसा भी पाठ है।

अतएव, कालिदास का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। तथापि, उनके काव्यों में जिस वैभव एवं ऐश्वर्य का चित्रण हुआ है, वह तत्कालीन भारतीय इतिहास में उदारवृत्ति वाले गुप्त सम्राटों के शासन-काल में ही संभव था। कालिदास के ग्रन्थों में धार्मिक सहिष्णुता तथा दंडनीति की विनम्रता का प्रचुर उल्लेख हुआ है और पौराणिक परम्परायें सर्वत्र विकीर्ण हैं। इन सभी चित्रणों से कालिदास गुप्तकाल के कवि प्रतीत होते हैं। गुप्तकाल में कलाओं की जो सर्वाङ्गीण उन्नति हुई थी, उसमें मूर्ति-कला का विकास उल्लेख्य है। इस काल में हिन्दू, बौद्ध और जैन मूर्तियों का प्राचुर्य हो चला था, और कालिदास की रचनाओं में 'मूर्तियों का संसार' ही अवतीर्ण हो गया है। उन्होंने भरत की सटी अंगुलियों (जालग्रन्थितांगुलिकरः) का वर्णन किया है। इस प्रकार की गुँथी अँगुलियों वाली मूर्तियाँ केवल गुप्तकाल में ही उपलब्ध होती हैं। कालिदास ने गंगा-यमुना की चमर-धारिणी मूर्तियों का उल्लेख किया है। पंडितों का कथन है कि इस प्रकार की मूर्तियों का आरम्भ भास्कर्य में कुषाण-काल के अंत तथा गुप्तकाल के आरम्भ में हुआ है। समुद्रगुप्त के व्याघ्र-लांछित सिक्कों पर गंगा की ऐसी ही मूर्ति बनी हुई है। कुषाणों के पहले का मूर्ति-छत्र कुषाण-काल में प्रभामण्डल बन गया; सादा, निराकृतिक। गुप्तकाल के प्रभामण्डल पर कितनी ही आकृतियाँ उभर आयीं, विशेषकर अंधकार को भेदने वाले रश्मिबाणों की। उसके लिए साहित्य या प्रतिमा-निदानों में लाक्षणिक शब्द न था। कालिदास ने नया शब्द रचा—'स्फुरत्प्रभा-मण्डल' जो प्रकाशबाणों के स्फुरण को प्रकट करने लगा[1]।"

इसके अतिरिक्त, गुप्तकालीन अभिलेखों तथा सिक्कों की भाषा से कालिदास के काव्यों की भाषा में असाधारण साम्य दृष्टिगोचर होता है। गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर बने मयूरपृष्ठ के ऊपर बैठे कार्तिकेय का वर्णन कालिदास ने अनेक बार किया है। वे यूनानी शब्दों से भी परिचित हैं। उदाहरणतः, उन्होंने 'जामित्र' (दायामित्र) लग्न का प्रयोग किया है। उनके नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत, अश्वघोष और भास के नाटकों की प्राकृत से बाद की ठहरती है। "ब्राह्मणीय व्यवस्था की उनकी पूर्ण स्वीकृति, शक्ति एवं समृद्धि के संसार के साझीदार होने की उनकी भावना, 'मालविकाग्निमित्र' में अश्वमेध का उल्लेख, 'रघुवंश' में रघु की दिगंत-व्यापी विजयों का सोल्लास वर्णन—ये सभी तथ्य इस मान्यता के प्रकाश में समझे जा सकते हैं कि कालिदास को किसी महान् गुप्त शासक का संरक्षण प्राप्त था। और, हमें अवश्य यह स्मरण रखना चाहिए कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने

१. वही, पृ० ४८

'विक्रमादित्य' का विरुद ग्रहण किया था जिसके अभिधान के साथ परम्परा कालिदास को जोड़ती है[१]।"

अतएव, कालिदास का सम्बन्ध गुप्तकाल के महनीय क्षणों से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। कीथ ने उपर्युक्त उद्धरण में कहा है कि यह महाकवि चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा का ही जगमगाता रत्न अवश्य रहा होगा। लेकिन, चन्द्रगुप्त द्वितीय को कालिदास का संरक्षक नरेश स्वीकार करने के लिए उसका 'शकारि' और 'विक्रमार्क' अथवा 'विक्रमादित्य' होना आवश्यक है। पण्डितों ने दिखाया है कि यह चन्द्रगुप्त 'साहसांक' नाम से भी विख्यात था।[२] बाण ने 'गुप्तान्वय' में साहसांक के शौर्य का यों कथन किया है—"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयदिति" (हर्षचरित, छठा उच्छ्वास) इस ग्रन्थ के टीकाकार शंकर कवि ने बाण के संकेत को और स्पष्ट कर दिया है—"शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानश्चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेशधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन रहसि व्यापादित इति।" इन उल्लेखों से चन्द्रगुप्त का 'शकारि' होना प्रमाणित होता है। यही साहसांक चन्द्रगुप्त स्वयं काव्यकार और काव्यमर्मज्ञ भी है। भोजदेव के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में और राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में साहसांक राजा के संस्कृत-प्रेम का उल्लेख हुआ है—

"काले श्रीसाहसांकस्य के न संस्कृतवादिनः।"

—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१५

"श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा तेन संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।"

—काव्यमीमांसा, अध्याय १०

राजशेखर ने यह भी लिखा है कि कालिदास ने मेण्ठ इत्यादि विद्वानों की तरह उज्जयिनी की विद्वत्परिषद के सामने स्वयं परीक्षा दी थी—"श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा। इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः। हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्।"

—काव्यमीमांसा, अध्याय १०

यही चन्द्रगुप्त उज्जयिनी का अधीश्वर 'विक्रमादित्य' भी है—यह भी प्रमाणित हो चुका है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि मालव और सुराष्ट्र की

१. A. B. Keith : 'Sanskrit Drama', पृ० ८०

२. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग ७ और १८—

—चन्द्रबली पाण्डेय द्वारा उद्धृत

विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने चाँदी के सिक्के भी ढलवाये जिनके ऊपर उत्कीर्ण लेख में चन्द्रगुप्त को 'परम भागवत', 'विक्रमादित्य' या 'विक्रमांक' की उपाधि से मंडित किया गया है—"परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त-विक्रमादित्यस्य। × × × श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-विक्रमांकस्य[1]।" विक्रमस्मृतिग्रन्थ में डा० राधाकृष्ण मुखर्जी ने यह अभिमत व्यक्त किया है—"चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभियानों एवं विजयों से यह प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा के विदिशा नगर से उनका सम्बन्ध था जब कि, जैसा हम पहले देख चुके हैं, उनके साथ अपना सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाले कनारी प्रदेशों के कुछ शासकों ने उनका वर्णन पाटलिपुत्र के अधीश्वर के साथ-साथ 'उज्जयिनीपुरवराधीश्वर' के रूप में किया है। उनका उज्जयिनी के साथ संबंध परम्परागत शकारि विक्रमादित्य से उनकी अभिन्नता का अनुमोदन करता है।" अतएव, चन्द्रगुप्त द्वितीय, शकों का पराभव करने वाला विक्रमादित्य होने के साथ-साथ, उज्जयिनी का अधिपति भी था; और कालिदास के उसके साथ परम्परा-ख्यात संबंध को इतिहास-वेत्ताओं का अनुमोदन मिला है।

'विक्रमोर्वशीय' नाटक में 'विक्रम' शब्द के प्रयोग को पंडितों ने विशेष मान दिया है। यहाँ पुरूरवा ही 'विक्रम' नाम से अभिहित किया गया है और इस नाटक का अध्ययन विशाखदेव के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की छाया में करने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि उर्वशी का संबंध ध्रुवदेवी से ही है।[2] 'कुमारसंभव' में 'कुमार' शब्द चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र बालक कुमारगुप्त की ओर संकेत करता बताया गया है।[3] 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय का वर्णन हुआ है। रघु हूणों को वंक्षु नदी की घाटी में परास्त करता है। उसकी दिग्विजय की सीमाएँ दक्षिण दिशा में समुद्रगुप्त की दिग्विजय से मेल खाती हैं और उत्तर दिशा में चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजयसीमा के मेल में पड़ती हैं। इतिहास बताता है कि ईरानी नरेश बहरामगौर से हारने पर हूण (४२५ ई० लगभग) वंक्षु नद की घाटी में बस गये थे। मेहरौली स्तम्भ के लेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने बंगाल में शत्रुओं को नष्ट कर पंजाब की सातों नदियों को पार किया और हूणों (वह्लीकों) को वंक्षु-तीर पर स्थित उनके देश वह्लीक में पराजित किया। इस प्रकार समुद्रगुप्त और उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय

---

१. 'नागरी प्रचारणी पत्रिका' विक्रमांक, उत्तरार्ध, पृ० २६९

२. चन्द्रबली पांडे : 'कालिदास', पृ० १३-१४

३. विद्वानों का कथन है कि कुमारगुप्त के जन्मोत्सव-प्रसंग पर कुमारसंभव का प्रणयन हुआ होगा।

'विक्रमादित्य' की विजयों का समाहार कवि के आदर्श नृपति रघु की दिग्विजय में हो गया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास समुद्रगुप्त की विजयों से परिचित होने के साथ-साथ, चन्द्रगुप्त द्वितीय के संरक्षण में रहे और रघु के व्याज से उसी प्रतापी 'राजर्षि' के शौर्य का व्याख्यान किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्याश्रय में अपने ललित एवं रसवर्षी काव्यों का प्रणयन किया। चन्द्रगुप्त का शासनकाल ३८० ई० से ४१३ ई० तक व्याप्त है। अतएव, कालिदास का स्थितिकाल ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच रहा होगा।[1]

(ख) जन्मस्थान

कालिदास के जन्मकाल का प्रश्न जितना जटिल है, उतना ही जटिल यह प्रश्न है कि वे कहाँ उत्पन्न हुए थे। जिस प्रकार प्रसिद्ध यूनानी कवि होमर का जन्मस्थान बनने के लिए सात-सात नगरियाँ परस्पर होड़ करती हैं, उसी प्रकार इस महाकवि की शैशव-भूमि के लिए भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेश अपने-अपने अधिकार उपस्थित करते हैं। बंगाल के भावुक साहित्य-सहृदय 'कालिदास' अभिधान के सहारे यह तर्क करते हैं कि जैसे बंगाली काली के भक्त होते हैं, वैसे कवि भी काली का भक्त था और इसीलिए उसका 'कालिदास' नाम उसे बंगाल में उत्पन्न सिद्ध करता है। उनका दूसरा तर्क 'मेघदूत' के 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' को लेकर यह है कि बंगाल में सौर मास की गणना प्रचलित होने के कारण चान्द्रमास के समान शुक्ल और कृष्ण द्विविध पक्षों की भिन्न-भिन्न तिथियाँ नहीं होतीं, दिनों की गणना एक से लेकर इकतीस तक चलती है। कालिदास ने 'आषाढ़ कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा' न लिखकर जो 'आषाढ़ का प्रथम दिन' लिखा है, उससे सिद्ध होता है कि वे बंगाली थे, और इसी से जन्मजात संस्कारों के कारण उन्होंने पक्ष एवं तिथि का उल्लेख न कर, 'प्रथमदिवसे' पद का प्रयोग किया है। ये दोनों तर्कनाएँ स्पष्टतया निस्सार हैं। काली का उपासक होने का प्रमाण कवि की रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता और 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' को लेकर व्यर्थ की उद्भावना करना तथा कवि की भणिति-भंगी की स्वच्छन्दता पर निरर्थक अंकुश लगाना कथमपि अनुमोदनीय नहीं हो सकता।

---

१. इस पक्ष के समर्थन में अधिक उद्भावनाओं की जानकारी के लिए पं० चन्द्रबली पांडेय की पुस्तक 'कालिदास' के पृ० १२ से २२ तक द्रष्टव्य हैं।

कालिदास ने भारतवर्ष के अनेक भागों एवं प्रदेशों का अत्यंत सटीक वर्णन किया है और उनके भौगोलिक ज्ञान की सराहना की गई है। विदर्भ तथा विदिशा के उल्लेख उनके ग्रन्थों में अधिकतया उपलब्ध होते हैं। इसी कारण, पंडितों ने कालिदास का सम्बन्ध विदर्भ तथा विदिशा से भी जोड़ने का उपक्रम किया है। 'मालविकाग्निमित्र' की नायिका मालविका विदर्भराजकुमारी है; 'रघुवंश' में भी विदर्भराजकन्या इन्दुमती का स्वयंवर तथा प्रणय वर्णित है; 'मेघदूत' का रामगिरि वर्तमान रामटेक, नागपुर के पास अवस्थित है; सबसे बढ़कर कवि ने काव्य की अत्यन्त प्रिय वैदर्भी रीति का अनुगमन किया है। इन सब बातों के आधार पर पिटर्सन जैसे विद्वानों ने कालिदास को वैदर्भ सिद्ध करने का उद्योग किया है। इधर स्व० पंडित चन्द्रबली पांडेय ने भी कवि को वैदर्भ ही घोषित किया है। उनकी स्थापना है कि "कालिदास का संस्कार दक्षिण का ही अधिक है और वहीं की वासना उनमें अधिक काम करती है।" इसके निदर्शनार्थ पांडेय जी ने एक 'दृढ़ प्रमाण' खोज निकाला है और वह है कवि द्वारा 'उत्तरकोशल' पद का प्रयोग।[1] इसके आधार पर उनकी तर्कना है कि कालिदास यथार्थतः 'दक्षिण के जीव' हैं क्योंकि उत्तरी भारत में स्थित प्रसिद्ध कोशल को उन्होंने 'उत्तरकोशल' पद से अभिहित किया है जिससे वह 'दक्षिणकोशल' अर्थात् 'महाकोशल' से भिन्न प्रतीत हो सके। इससे पांडेय जी का निष्कर्ष है कि कालिदास विन्ध्यभूमि में निवास करने वाले वैदर्भ थे, मालवी, कश्मीरी अथवा बंगाली नहीं।

इसी प्रकार, हरप्रसाद शास्त्री तथा प्रो० परांजपे ने यह दिखाया है कि कालिदास ने 'मेघदूत' में जो विदिशा का वर्णन किया है, उसमें विदिशा के आसपास के छः स्थलों—नीचैः गिरि, वननदी, निर्विन्ध्या, सिंधु, गन्धवती एवं गम्भीरा नदियों—का निर्देश है, कवि को इस प्रदेश का घनिष्ठ ज्ञान है और इसलिए वह मूलतः विदिशा का निवासी रहा होगा।

लेकिन, कालिदास ने न तो विदर्भ और न तो विदिशा का ही कोई तन्मयतापूर्ण वर्णन किया है। उनके दाक्षिणात्य संस्कारों की प्रतिध्वनियाँ भी उनकी रचनाओं में इतनी स्पष्टतया मुखरित नहीं हैं कि उन्हें 'दक्षिण का जीव' घोषित किया जा

---

१. "पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान् समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः॥"
—'रघुवंश', ९।१

"कौशल्य इत्युत्तरकोशलानां पत्युः पतंगान्वयभूषणस्य।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः॥"
—वही, १८।२७

सके। 'उत्तरकोशल' पद के प्रयोग की खोज भी कोई 'दृढ़ प्रमाण' नहीं कही जा सकती। कवि ने केवल 'कोशल' शब्द का भी उल्लेख किया है[1] और 'उत्तरकोशल' पद के प्रयोग से यह सिद्ध नहीं होता कि उसके भीतर 'दक्षिणकोशल' अथवा 'महाकोशल' के प्रति अपेक्षया अधिक अनुराग या ममत्व है। उलटे, उसने 'रघुवंश' के सोलहवें सर्ग में महाराज कुश की छत्रच्छाया में घटित होने वाली अयोध्या नगरी की दुर्दशा का जो चित्र अंकित किया है,[2] उसमें कवि की हार्दिक वेदना के स्वर आसानी से खोजे जा सकते हैं। कदाचित् उस समय अयोध्या की वैभव-श्री विनष्ट हो चली थी। उसके प्रासादों की चित्रकारी तथा उनमें चलने वाली प्रेम-लीलाएँ एवं मधुर नृत्यसंगीत, सभी कपूर की नाँई उड़ चुके थे। अतएव, कवि का अनुरोध है कि हे कुश! तुम इस नई राजधानी कुशावती को छोड़कर अपनी कुल-परम्परा की राजधानी अयोध्या में चलकर रहो—"तदर्ह सीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम्।"

अतएव, यह भी अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि कालिदास के हृदय में अयोध्या के प्रति गाढ़ी ममता वर्तमान थी, और 'उत्तरकोशल' पद का प्रयोग उन्होंने जानबूझ कर, अपने संरक्षक नरेशों अथवा तत्कालीन प्रबुद्ध वर्गों का ध्यान उस प्रसिद्ध कोशल के भाग्यविपर्यय की ओर आकृष्ट करने के लिए किया हो। विदिशा का वर्णन कवि ने केवल दो-तीन श्लोकों में ही समाप्त कर दिया है। अतएव, विदर्भ अथवा विदिशा के प्रति उसके किसी विशेष अनुराग की व्यंजना नहीं होती, और इसीलिए इनमें से किसी को उसकी जन्मभूमि होने का गौरव प्रदान नहीं किया जा सकता।

कुछ विद्वानों ने कालिदास की जन्मभूमि मिथिला होने का संकेत किया है। बिहार-संस्कृत-समिति के स्नातकों के सम्मुख भाषण करते हुए, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, के कुलपति श्री आदित्यनाथ झा ने (मई, १९५६) एक 'प्रारम्भिक लेख' के प्राप्त होने का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, दरभंगा जिले में 'वेनीपट्टी' के अन्तर्गत उच्चैठ (उच्चपीठ) गाँव में एक प्राचीन नदी के पश्चिम तट पर भगवती दुर्गा की एक प्राचीन मूर्ति है। उससे पूर्व-दक्षिण की ओर एक ऊँचा टीला है, जो अत्यंत प्राचीन काल से कालिदास के विद्यापीठ के नाम से प्रसिद्ध है। आज विद्यार्थी इस दुर्गामूर्ति की उपासना विद्या-वरदात्री के रूप में करते हैं। लेखपालों के कागज-पत्रों में यह भूमि 'कालिदास की चौपड़ी' नाम से अंकित है।

---

१. "नयनन्दितकोशलम्" (६।५२); "प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः।" (६।७६) इत्यादि।

२. श्लोक ४ से २२ तक द्रष्टव्य।

पुराने कागज-पत्रों में भी इस भूमि का अङ्कन कालिदास के ही नाम से उपलब्ध है। परम्परागत जनश्रुति के अनुसार कालिदास ने यहीं विद्या प्राप्त की थी। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास की जन्मभूमि भी कहीं इसी के आसपास होगी।[1] किन्तु, मिथिला की प्रकृति का, वहाँ के जनसमुदाय के बीच प्रचलित रसपूर्ण लोकगीतों का अथवा मैथिल सुकुमारियों के लपलपाते सौन्दर्य का कवि ने कहीं सचेष्ट वर्णन किया है—यह उसकी रचनाओं से ज्ञात नहीं होता। मिथिला देवभारती के आराधकों की अत्यन्त प्राचीन एवं प्रसिद्ध भूमि रही है। संभव है, उपर्युक्त दुर्गा-मूर्ति के पड़ोस में एकत्र होकर, मैथिल पंडित-वर्ग कविकुलगुरु कालिदास के ग्रन्थों के संबंध में काव्य-चर्चा अथवा विचार-विमर्श करता रहा हो और इसी कारण कालान्तर में उस भूमि की ख्याति 'कालिदास की चौपड़ी' संज्ञा से हो गई हो। अतएव, मिथिला को कवि की जन्म-भूमि मानने के लिए कोई आधार वर्तमान नहीं है।

वस्तुतः कश्मीर और उज्जयिनी (मालवा)—इन दोनों स्थानों का इतना प्रचुर एवं विशद वर्णन कालिदास की कृतियों में उपलब्ध होता है कि इन दोनों प्रदेशों का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध उनसे रहा होगा—यह मानने के लिए पाठक आसानी से उद्यत हो जाता है। प्रो० लक्ष्मीधर कल्ला ने अपने ग्रन्थ 'कालिदास का जन्म-स्थान' (The Birthplace of Kalidas) में यह सिद्ध किया है कि कालिदास का जन्म कश्मीर में हुआ था। उनकी तर्कनाओं का सार यों दिया जा सकता है :

कवि के ग्रन्थों में, विशेषतया 'कुमारसंभव' में, हिमालय का अत्यन्त सूक्ष्म तथा विशद वर्णन हुआ है। 'मेघदूत' के यक्ष की जन्मभूमि अलका हिमालय में ही अवस्थित थी। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा और उर्वशी तथा 'कुमारसंभव' में शिव और पार्वती—दोनों युग्मों की प्रणयलीला गन्धमादन पर्वत पर हुई थी। वशिष्ठ, कण्व तथा मारीच, सभी ऋषियों के आश्रम हिमालय पर्वत पर ही बसे हैं। इन सभी उल्लेखों से कवि के हिमालय-प्रेम की प्रभूत व्यञ्जना होती है, और ये सभी स्थल कश्मीर में सिन्धु नदी की घाटी में स्थित थे। वशिष्ठ की गाय पर झपटने वाला सिंह निकुम्भ का मित्र बताया गया है। कश्मीर के 'नीलमत पुराण' में कुबेर ने दैत्यों के निष्कासनार्थ निकुम्भ को नियुक्त किया है। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास को कश्मीर की प्राचीन कथाओं का ज्ञान था। उनकी रचनाओं में कश्मीर के कुछ विशिष्ट रीति-रिवाजों का प्रतिबिम्ब झलकता है। विवाह के समय कश्मीर में सास या किसी अन्य सुहागिन नारी द्वारा वर के गले में माला पहनाए जाने की प्रथा प्रचलित

---

१. दे० 'आज' दैनिक, वाराणसी, १२ मई, १९५९.

है। इन्दुमती-स्वयंवर में, इन्दुमती ने स्वयं अपने हाथों से नहीं, अपितु अपनी उपमाता सुनन्दा के हाथों अज के कंठ में पुष्पहार डलवाया है। कश्मीर में धीवरों का धन्धा निन्द्य माना जाता है। 'शाकुन्तल' में धीवर वाले प्रसंग में इस मान्यता का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। कश्मीर के 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' में जब आत्मा का 'आवरण' सद्गुरु के उपदेश अथवा आध्यात्मिक दर्शन के अभ्यास से नष्ट हो जाता है—तब आत्मा अपने पूर्व स्वरूप को पहचानती है और परमात्मा में लीन हो जाती है। सत् स्वरूप का विस्मरण नियति (अथवा एक अदृष्ट शक्ति) के कारण घटित होता है, और जब नाना कारणों से यह आवरण शनैः-शनैः उठ जाता है, तब आत्मा अपने विशुद्ध अनाविल रूप को पहचानती है। कालिदास के सभी नाटकों में कश्मीरी शैववाद की यह कल्पना मुखर हो गई है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिद्ध के आदेश से मालविका को एक वर्ष तक अज्ञातवास में रहना पड़ता है और बाद को वह अपनी दासियों द्वारा पहचानी जाती है। 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी कार्तिकेय के शाप से लता बन जाती है; और बाद को 'संगमनीय मणि' के संसर्ग से वह अपना पूर्वरूप ग्रहण कर लेती है। 'शाकुन्तल' में दुष्यंत के भयंकर शाप से दुष्यंत शकुन्तला को भूल जाता है और अंगुलीयक देखते ही उसे पूर्वस्मृति हो जाती है। इन कथाओं से सिद्ध होता है कि 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' ने कवि को प्रभावित किया है। 'मेघदूत' में अलका कैलास पर स्थित बताई गई है। यह कैलास कश्मीर का हर-मुकुट नामक पर्वत है। शिवजी प्रयाग से हरमुकुट तक जिस मार्ग से गये थे, उस मार्ग का वर्णन 'नीलमत' नामक पुराण में प्राप्त है। उसके अनुसार, हरमुकुट तक पहुँचने के लिए नैमिषारण्य, गंगाद्वार, विष्णुपद, हंसद्वार, उत्तर-मानसतीर्थ इत्यादि स्थानों से होकर जाना पड़ा था। कालिदास ने इनमें से अनेक स्थानों का वर्णन यक्ष के मुख से कराया है। अलका में स्थित यक्ष के भवन का वर्णन हरमुकुट पर्वत की उपत्यका में बसे हुए प्राचीन 'मयग्राम' अथवा 'मणिग्राम' पर अक्षरशः घटता है। उसके समीप की चोटी से उस ग्राम का सम्पूर्ण दृश्य दिखाई देता है। उस शिखर के नीचे पत्थरों से बँधा हुआ एक सुन्दर सरोवर है जो अत्यन्त पवित्र समझा जाता है। यही यक्ष के घर के निकट की बावली होगी। गाँव के पास ही कुछ दूर पर बड़ी-बड़ी शिलाओं की ढेर लगी हुई है। यहीं 'मेघदूत' में वर्णित कुबेर का प्रासाद रहा होगा। 'मयग्राम' नाम से ही प्रतीत होता है कि यह ग्राम यक्षों का निवास होगा। ११वीं शती तक यह (मयग्राम) इतिहास में प्रसिद्ध था। विविध प्रकार के पुष्पों, नृत्य-गीतों तथा सुरापान इत्यादि का जो वर्णन 'मेघदूत' में आया है, वह कश्मीर पर ही घटता है क्योंकि 'कश्मीर' का ऐसा ही वर्णन कल्हण की 'राजतरंगिणी', बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित'

इत्यादि ग्रन्थों में उपलब्ध है। अतएव, अपने काल में उत्कर्ष को प्राप्त 'मयग्राम' अर्थात् अपनी जन्मभूमि का ही वर्णन कालिदास ने किया है। यह 'मयग्राम' कश्मीर में है। अतएव, कहा जा सकता है कि कालिदास कश्मीरी थे।[1]

अधिकांश विद्वान् मानते हैं कि अलका कवि के मदिर सुख-स्वप्नों की मनोरम दिव्य नगरी है और उसकी वर्णना में कवि की ऐश्वर्यानुरागी अन्तश्चेतना कल्पना की इन्द्रधनुषीय रङ्गीनियों से संवलित होकर, अप्रतिम सौरभ एवं सौन्दर्य का वितान निर्मित कर गई है। किन्तु, प्रो० कल्ला ने, जैसा अभी देख चुके हैं, कश्मीर-स्थित मयग्राम को कवि की जन्मभूमि अनुमानित किया है और अलका को उसी का प्रतिरूप माना है। ललित काव्य में रमणीयार्थ की प्रतिपत्ति के हेतु अनेक सूत्र एवं तत्त्व कवि की प्रतिभा अथवा कल्पना से उद्भावित एवं उत्थापित किये होते हैं, किन्तु उनका वास्तविक आधार भी पृष्ठभूमि में रहता ही है। अतएव, अलका का भव्य एवं मनोरम चित्र वस्तुस्थिति का ही परिष्कृत एवं विजृम्भित रूप होगा—यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इधर पं० सूर्यनारायण व्यास ने अपनी नव-प्रकाशित पुस्तक 'विश्वकवि कालिदास—एक अध्ययन' में अनेक प्रमाणों की उद्भावना कर यह स्थापना की है कि अलका काल्पनिक नहीं, अपितु वास्तविक नगरी है जो इतिहास में सर्वदा अपने पार्थिव वैभव के लिये प्रसिद्ध रही है।[2] उनकी विज्ञप्तियों का सार यों दिया जा सकता है:—

मेघ को मार्ग-निर्देश करते समय, गंभीरा, चर्मण्वती, सरस्वती तथा अन्ततः गंगा को पार करते हुये, उससे हिमालय पर से कैलास का अतिथि होने को कहा गया है। इसी कैलास पर से अलका की पहचान बताई गई है। कैलास की वनराजि से अलका इस प्रकार दिखाई देगी जैसे प्रियतम के अंक में कोई कामिनी, मान भूलकर, पड़ी है। यह अलका गगनस्पर्शी ('तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः') और ऊँचे प्रासादों वाली ('उच्चैर्विमानाः') सुरम्य नगरी है। इससे स्पष्ट है कि अलका कैलास पर ही अवस्थित नहीं है, बल्कि कैलास पर से दिखाई पड़ने वाली है। यह उन्नत, गगनचुम्बी है और उत्तर दिशा में स्थित है। यहाँ सभी ऋतुओं में फूलने वाले फूल सुरभि-संचार करते हैं और यह यक्षों की निवास-भूमि है जहाँ कोटिपतियों से कम वित्तीय श्रेणी

---

१. वा. वि. मिराशी : 'कालिदास', पृ० ६४-६८

२. वस्तुतः इस पुस्तक का प्रणयन यही सिद्ध करने के लिए हुआ। ज्ञात होता है कि कालिदास का आविर्भाव प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुआ था। यह पुस्तक कवि का साहित्यिक अध्ययन नहीं कही जा सकती।

के लोगों को रहने का अधिकार नहीं है। यहाँ वैभ्राजक नाम का कुबेर का ललितोद्यान है और यहाँ कल्पवृक्ष से मधु का निर्माण होता है। यक्षों को 'वित्तेश' कहा गया है। ये विलासी रहे हैं तथा नित्य यौवन का उपभोग करते हैं। कालिदास ने, पुराण-स्रष्टाओं के समान, स्वीकार किया है कि कुबेर धनपति है और यक्षों का स्वामी है। हिम-पर्वतमाला के उत्तर भाग में स्थित एक सुवर्णगिरि स्थान है जो पुराणकाल में धनिकों की, और विशेष रूप से यक्षों की आवास-भूमि रहा है। यही सुवर्णगिरि कालिदास की अलका है।

सुवर्णगिरि का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में धनेशों तथा यक्षों की निवास-नगरी के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। प्रसिद्ध जैन विद्वान् मेरुतुङ्ग सूरि द्वारा रचित ग्रंथ 'विचारश्रेणि' में कहा गया है कि निन्नानबे लाख की सम्पत्ति वालों को भी जहाँ रहने के लिये आवास नहीं प्राप्त होता था, उस जालौर-निकटस्थ सुवर्णगिरि-शृंग पर श्री महावीर स्वामी द्वारा 'यक्षवसति' नामक स्थान निर्मित किया गया।[1] मेरुतुङ्ग राजा नाहड के शासनकाल में रहे हैं जिसका समय विक्रम संवत् १२६ से १३५ तक ठहरता है। इस प्रकार यक्षवसति (यक्षों की नगरी सुवर्ण-गिरि) की विद्यमानता इस अवधि में होनी चाहिये। एक प्राचीन गाथा में भी सुवर्णगिरि के लक्षाधीशों एवं यक्षों की निवासभूमि होने का उल्लेख हुआ है।[2] आबू के एक चैत्य में उत्कीर्ण सं० १२९६ के शिलालेख में सुवर्णगिरि-शृंग का कथन उपलब्ध है—"जाबालिपुरे सुवर्णगिरिशृंग श्रीपार्श्वनाथ जगत्या............"। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि सुवर्णगिरि स्थान अत्यन्त पुराकाल से ही अपनी समृद्धि के लिये तथा यक्षों की ललित नगरी के रूप में विख्यात रहा है।

'मेघदूत' की अलका के निवासी यक्ष कल्पवृक्ष से उत्पन्न होने वाले 'मधुरस' का पान करते थे जिसका नाम 'रतिफल' था—"रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतम्।" 'मदि-रार्णव' नामक ग्रंथ में 'रतिफल' के निर्माण के लिए अनेक वृक्षों के फलों का समन्वय आवश्यक बताया गया है। ये वृक्ष पर्वत-भूमि पर ही उगते हैं। जिन पुष्पों

---

१. "यस्य वारके नवनवतिलक्षधनपतिभिरप्राप्तनिवासे जालउरसमीपस्थो सुवर्णगिरिशृंगे श्रीमहावीरसनाथः श्रीयक्षवसत्याख्यो महाप्रासादो निष्पन्नः।"
'विश्वकवि कालिदास : एक अध्ययन'
पृष्ठ ७४.

२. "नवनवईलक्ख धणवई अलद्धवासे सुवण्णगिरिसिहरे।
नाहडनृपकालीणं थुणि वीरं जक्ख वसहीए ॥"
—वही, पृष्ठ ७५.

का अलका में होना सूचित किया गया है, वे हिम-उपत्यका में नहीं होते; जहाँ सभी ऋतुएँ होती हैं, वहीं उत्पन्न होते हैं। हिमालय में सब ऋतुएँ नहीं होतीं। कुन्द के पुष्प हेमन्त में खिलते हैं, लोध्र के शिशिर में, शिरीष के ग्रीष्म में तथा कदम्ब के वर्षा में खिलते हैं। लेकिन, अलका में इन सब का साथ खिलना बताया गया है। यदि अलका कैलास पर हो, तो यह सम्भव नहीं। सुवर्णगिरि के लिए नानागणि नामक विद्वान् ने सं० १६५१ में रचित अपनी जालोर-नगर पंचजिनालय चैत्य-परिपाटी में लिखा है कि यहाँ प्रचुर वनराजि-वनस्पति आई है—

"सोवनगिरि पासई, थलुवाडी वन सोहई,
वनसपति बहुजाति भाँति दीठई, मन मोहई।"

कालिदास की दृष्टि में यही स्थान अलका होना चाहिए। यक्ष ने अलका को सुवर्णरेत वाली भूमि कहा है—"कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः"। सुवर्णगिरि की बालुकामयी भूमि सुवर्णमाक्षिक का स्थान है। वहाँ सुवर्णरजकण मिलते हैं। प्राचीनों का मत है कि यहाँ सोने की खदान रही है। इस पर्वत पर प्राचीनतम वापिका है जो स्थापत्य शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण है। कालिदास ने यक्ष-भवन के निकट वापी, कदली तथा कुसुमित पादपों का होना बताया है। सुवर्णगिरि की वापी वनराजि एवं पुष्पों से वेष्टित है। सम्भवतः यही स्थान अलका रहा होगा। यह स्थान जोधपुर से ७० मील दक्षिण में है। यह ऊँचा-नीचा होते हुए हिमालय के निकट तक विस्तृत हो गया है। हिमाचल-प्रलंबित पर्वतमाला के इस भाग को जैन और अन्य इतिहासकारों ने 'यक्षवसति' बताया है। इसकी विविध विशेषताओं, स्थल, प्रकृति, वृक्षलता, भूगर्भजन्य पदार्थों, वापिका आदि के कारण सुवर्णगिरि 'मेघदूत' की अलका से घनिष्ठ साम्य रखता है और सम्भवतः यही वह सुरम्य भूखंड हो जिसका निर्देश कान्ताविश्लेषित यक्ष ने संदेशवाहक मेघ को किया है।[1]

व्यासजी की इस स्थापना को सही मानकर अलका को वास्तविक भूखण्ड स्वीकार कर लेने से यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास को हिमालय की अद्रि-मालाओं तथा उनके निकटवर्ती क्षेत्रों का घनिष्ठ ज्ञान था। अतएव, भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेशों से जिनमें कश्मीर भी गृहीत है—उनका घनिष्ठ सम्पर्क स्वीकार कर लेने में कोई संकोच अथवा आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मालवा के प्रति कालिदास को विशेष अनुराग है। कवि ने इस नगरी के विभवैश्वर्य, इससे सम्बन्धित लोककथाओं, प्रसिद्ध महाकाल महादेव के मंदिर,

---

१. पं० सूर्यनारायण व्यास : 'विश्वकवि कालिदास—एक अध्ययन'—पृ० ७६-७७

संध्याकालीन आरती के समय होने वाले वेश्यानृत्य, रात्रि में अभिसार करने वाली रमणियों इत्यादि का अत्यन्त हृदयाकर्षक चित्रण किया है। इस नगरी के सौन्दर्य एवं सौभाग्य पर कवि इतना विभोर है कि वह इसे स्वर्ग का एक कान्तिमान् टुकड़ा समझता है जिसे स्वर्ग में अपने पुण्यों का फल भोगनेवाले पुण्यात्मा लोग, पुण्य समाप्त होने के पहले ही, शेष पुण्य के बदले, अपने साथ धरती पर उतार लाए हैं—

"स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां,
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्।"

स्पष्ट है कि कवि उज्जयिनी के वर्णन में आप्राण रम गया है। तभी तो, रामगिरि से कैलास की ओर जाने में इस नगररत्न के सीधे मार्ग में न पड़ते हुए भी, उसने मेघ से अनुरोध किया है—

"वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥" (पूर्व.२६)

—"यद्यपि उत्तर की ओर जाने में मार्ग टेढ़ा पड़ेगा, तथापि तुम उज्जयिनी के महलों के क्रोड़ में चलने वाली प्रणयलीलाओं से विमुख मत होना। तुम्हारी बिजली की चमक से चकित होकर पौरांगनाएँ जो चंचल कटाक्ष चलाएँगी, उनमें यदि तुम्हारा मन न रमा, तो समझो कि तुम्हारा जन्म व्यर्थ गया।"

अतएव, यह सही है कि अलका को छोड़कर, किसी दूसरी नगरी का इतना सुन्दर एवं विस्तृत वर्णन कवि ने नहीं किया; प्रो॰ मिराशी के शब्दों में वह उज्जयिनी के वर्णन में 'नखशिख तक तल्लीन' दिखाई पड़ता है। परम्परा उसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा का रत्नशिरोमणि मानती आई है जिसने अपनी दूसरी राजधानी उज्जयिनी में बनाई थी। अतएव, यह स्पष्ट है कि कवि के यौवन के दिन इस कान्तिमत् भूखण्ड में अवश्य व्यतीत हुए होंगे। 'मेघदूत' का ललित एवं हृदयस्पर्शी गीतिकाव्य विद्वानों द्वारा कवि की स्वानुभूतियों का सुकुमार उद्गार समझा गया है। कदाचित् यक्ष की प्रेयसी उसकी अपनी प्राणदयिता रही हो जिसके साथ उसने यौवनागम के प्रथम मादक चरण व्यतीत किए थे और किसी कारण, संभवतः राज-कोप से, उसे जन्मभूमि-निष्कासित होकर, कान्ता-विश्लेष का गहन दुःख सहन करना पड़ा था। यदि अलका की वास्तविक स्थिति स्वीकार कर ली जाय और हिमालय-वर्णन में अभिव्यक्त कवि के हार्द को ध्यान में रखा जाय तथा यक्ष के

प्रणय-निवेदन में उसकी अपनी प्रणय-कातरता की प्रतिध्वनि मान ली जाय, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि कवि का जन्म हिमाद्रि के रमणीय अंचलों अथवा उसकी प्रकृतिगत सुषमाओं से आकीर्ण उपत्यका में कहीं हुआ होगा। काश्मीर साहित्य के सर्जकों एवं आराधकों की प्रसवभूमि रही है। प्रो० कल्ला जैसे विद्वानों की कालिदास को कश्मीरी सिद्ध करने की तर्कनाएँ निस्सार नहीं कही जा सकतीं।[1] अतएव, यह मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई पड़ती कि कालिदास का जन्म कश्मीर में हुआ था और यौवन का स्वर्णोपम पूर्वार्ध उसके मनोरम अंचलों में व्यतीत हुआ था। परिस्थितियों की चपेट में उसे अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ी और सौभाग्य से उसे उज्जयिनी की राजपरिषद् का वैभवपूर्ण वातावरण प्राप्त हो गया जहाँ से उसने अपने ललित वाङ्मय का आलोक विच्छुरित किया। अतएव, यह माना जा सकता है कि कश्मीर कवि की जन्मभूमि तथा मालवा उसकी कर्मभूमि रहे हैं।

(ग) जीवन-चरित

जिस प्रकार कालिदास के जन्मकाल तथा जन्मस्थान का निर्णय मूलतः अनुमानाश्रित है, उसी प्रकार उनका जीवन-चरित भी किंवदन्तियों तथा राजतरंगिणी, भोजप्रबन्ध इत्यादि ग्रंथों के उल्लेखों के आधार पर अनुमानित किंवा निर्मित किया गया है। किंवदन्तियाँ कालिदास को आरम्भ में अत्यन्त रूपवान् किन्तु पूर्णतः अशिक्षित एवं मूर्ख नवयुवक मानती हैं जिसका आविर्भाव ब्राह्मण-कुल में हुआ था

---

१. प्रो० मिराशी ने प्रो० कल्ला के मत का यों प्रत्याख्यान किया है—

"कालिदास नाम कश्मीरी नहीं है। भामह, रुद्रट, कैयट, मम्मट, कल्हण इत्यादि पंडितों के उल्लेख 'राजतरंगिणी' तथा अन्य ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं, लेकिन कालिदास का नाम इनमें कहीं नहीं मिलता। यदि कालिदास कश्मीर के होते, तो कल्हण जैसा सावधान इतिहासकार इसका उल्लेख 'राजतरंगिणी' में अवश्य किए होता। कालिदास द्वारा वर्णित सभी तीर्थ कश्मीर में ही स्थित नहीं कहे जा सकते। लोक-प्रचलित रीति-प्रथाओं का वर्णन कश्मीर से गृहीत नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार, प्रेमी-युगलों का शाप के कारण विश्लेषित हो जाना और पुनः मिल जाना— ये कथानक-रूढ़ियाँ कल्पना अथवा भारतवर्ष के किसी भी प्रदेश में प्रचलित लोक-विश्वास से गृहीत हुई होंगी; उनमें 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' की छाप खोजना समीचीन नहीं है। इसी प्रकार, 'उत्तरमेघ' में अलका के सुख, वैभव एवं ऐश्वर्य का जो उल्लासमय चित्रण हुआ है, उसमें वास्तविकता का रूप देखना तर्कसंगत नहीं है। इन सब कारणों से कालिदास का कश्मीरी होना प्रमाणित नहीं होता।"

लेकिन जो पशुपालन जैसा अभद्र कार्य करता था। किसी छल-प्रपंच से उसका विवाह एक अत्यन्त विदुषी राजकुमारी से हो गया जिसने उसके वास्तविक ज्ञान एवं संस्कारों का परिचय प्राप्त कर, उसे अपनी भर्त्सनाओं अथवा अभ्यर्थनाओं द्वारा विद्योपार्जन करने के लिए अनुप्रेरित किया। जब वह, किंचित् कालोपरान्त, पूर्ण प्रतिभा से सम्पन्न कवि बन कर घर लौटा, तो राजकन्या ने पूछा—"अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः" (क्या आपकी वाणी में अब कुछ विशेषता आ गई है?)। कालिदास ने भगवती काली की आराधना से उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा अर्जित कर ली थी, और इसलिए उन्होंने पत्नी के वाक्य का प्रत्येक पद लेकर तीन मनोरम काव्य रच दिए—"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा" इत्यादि से प्रारम्भ होने वाला 'कुमारसंभव', "कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा" इत्यादि से आरम्भ होने वाला 'मेघदूत' तथा "वागर्थाविव सम्पृक्तौ" इत्यादि से आरम्भ होने वाला 'रघुवंश'।

पत्नी की भर्त्सना से गोस्वामी तुलसीदास भक्तों के शिरोमणि बन गए, और इसमें आश्चर्य क्या कि कालिदास पत्नी की प्रेरणा से कविकुल के चिराराध्य गुरु बन गए हों! सुन्दरी नारी मनुष्य के जीवन-प्रवाह में अभिनव मोड़ उत्पन्न कर सकती है, इसमें विचिकित्सा का कोई अवकाश नहीं है। कालिदास की पत्नी अवश्य राजकुल की रही होंगी और उसके रूप, विभव तथा ऐश्वर्य के उपभोग का उन्हें पुष्कल अवसर प्राप्त हुआ होगा क्योंकि उनकी रचनाओं में सौन्दर्यशालिनी रमणियों का जो अवतरण हुआ है तथा विलास-वैभव का जो उल्लासगर्भित चित्रण हुआ है, वह व्यक्तिगत अनुभव के अभाव में, उतनी पूर्णता के साथ, सम्भव नहीं हुआ होता। प्रसिद्ध जैन विद्वान् मेरुतुङ्गाचार्य ने कालिदास को अवन्ती के राजा विक्रमादित्य का जामाता बना दिया है। उनका कथन है कि विक्रमादित्य की पुत्री प्रियंगुमंजरी जब पढ़-लिख कर पूर्ण विदुषी बन गई, तब वह यौवन-मद के कारण अपने आचार्य वररुचि से ही परिहास करने लगी। इससे क्षुब्ध होकर, उन्होंने उसका गर्व चूर्ण करने के लिए किसी प्रकार उसका विवाह एक महामूर्ख पशुपाल से करा दिया। रहस्य खुलने पर प्रियंगुमंजरी ने उस युवक की भर्त्सना की जो कालिका देवी की आराधना से महाकवि कालिदास बन गया।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' में मातृगुप्त का उल्लेख आया है। उसके अनुसार, विक्रमादित्य (पंडितों का कथन है कि यह विक्रमादित्य शकारि विक्रमादित्य ही है जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से भिन्न व्यक्ति नहीं है) के दरबार में मातृगुप्त का प्रवेश भृत्य-रूप में हुआ था और भृत्य के कार्य से प्रसन्न होकर उन्होंने मातृगुप्त को कश्मीर

का राज्य दे दिया था। मातृगुप्त को कल्हण ने 'कवीन्द्र' भी कहा है।[1] पंडितों का अनुमान है कि कालिदास ही मातृगुप्त थे। कालिदास के अशिक्षित तथा पशुपालक होने का प्रवाद, मातृगुप्त से उनकी अभिन्नता का अनुमान, मातृगुप्त के रूप में उनका विक्रमादित्य की सेवा में भृत्य-कार्य स्वीकार करना तथा मेरुतुङ्ग का उन्हें विक्रमादित्य का जामाता कथित करना—इन सभी बातों पर विचार करने और उनमें संगति स्थापित करने से यह अनुमान करना असंगत नहीं लगता कि कालिदास अपने प्रतिपालक नरेश की किसी कन्या के प्रणयी पति भी रहे होंगे।

विश्व के कतिपय महाकवियों ने समसामयिक राजनीति में भी भाग लिया है। इटली के कवि-पुङ्गव दाँते ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'डिवाइन कामेडी' में अपने राजनीतिक जीवन के अनुभवों को. अत्यन्त प्रभावशाली शिल्प का समाश्रयण कर, ज्वलन्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। जर्मनी के गेटे और इङ्गलैण्ड के मिल्टन ने अपनी महनीय कृतियों 'फास्ट' तथा 'पैरेडाइज लास्ट' में अपने राजनीतिक अनुभवों को नितान्त सशक्त एवं कलात्मक ढंग से चित्रित किया है। तब क्या आश्चर्य कि कविचक्रचूड़ामणि कालिदास ने भी अपने संरक्षक एवं श्वशुर महाराज विक्रमादित्य को उनके राज्य-कार्य-संचालन में सहायता दी हो। 'कवीन्द्र' मातृगुप्त के रूप में वे कश्मीर के अधिपति अनुमानित किए ही गये हैं। कतिपय विद्वानों का कथन है कि कालिदास ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजदूत-रूप में कार्य किया था। 'कुन्तलेश्वर-दौत्य' शीर्षक एक काव्य कालिदास के नाम के साथ जोड़ा गया है यद्यपि अलंकार-शास्त्रियों द्वारा उसके केवल एक-दो पद्य ही उद्धृत किये गये उपलब्ध होते हैं।[2] इस काव्य के अनुसार कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा कुन्तलेश के दरबार में दूत बनाकर भेजे गये थे। कुन्तलेश ने उनका उचित सम्मान नहीं किया जिससे वह पृथ्वी पर बैठ गये और विनोदमुद्रा में एक पद्य पढ़ा जिसका आशय यह था कि धरणितल पर महान् मेरु पर्वत अवस्थित है और उसके ऊपर सप्त सागर टिके हुए हैं।[3] जब कालिदास दौत्य करके लौटे, तो विक्रमादित्य ने उनसे कुन्तलेश की जीवनचर्या के विषय में प्रश्न किया। तब कालिदास ने यह श्लोक कहा—

---

१ "तदाकर्ण्य महीपालः साधुवादैः परिश्रमम्।
अभिनन्द्य कवीन्द्रं तं पूर्वस्थानं व्यसर्जयत्॥" —राजतरंगिणी, ३।१८२

२. क्षेमेन्द्र ने इसे स्पष्टतः कालिदास की कृति माना है। रंगास्वामी सरस्वती का कथन है कि यह रचना अवश्य नाटक रही होगी।

३. डा० एम० कृष्णमाचारियर :
'History of Classical Sanskrit literature. पृ० १२१.

"असकलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि ।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥"

इस पर विक्रमादित्य ने उत्तर दिया—

"पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां,
मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ।"

(कुन्तलेश मेरे ऊपर राज्यभार छोड़कर प्रियाओं के मधुसौरभ से भरे मुखों का पान करता है, तो करता रहे ।)

ये पद्य भोज द्वारा 'सरस्वतीकंठाभरण' (द्वितीय परिच्छेद) तथा 'शृंगारप्रकाश' (अष्टम प्रकाश) में, राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमांसा' (एकादश अध्याय) में और मंखक द्वारा 'साहित्यमीमांसा' (द्वितीय प्रकरण) में उद्धृत किए गये हैं । कालिदास ने मूलतः 'पिबति' का प्रयोग किया था या 'पिबतु' का, इसमें पंडितों में ऐकमत्य नहीं है । किन्तु, साधारणतया यह माना जा सकता है कि कालिदास ने 'पिबति' (आननामृत का पान करता है) का प्रयोग कर, कुन्तलेश की सामान्य जीवनचर्या का कथन किया और तब विक्रमादित्य ने उसे बदल कर 'पिबतु' (आननामृत का पान करता रहे) कर दिया जिसका आशय यह था कि अब कुन्तलेश की ओर से विक्रमादित्य को कोई भय नहीं है क्योंकि कुन्तलेश अब विलास में डूबा है, तो दिनानुदिन उसमें, और गहराई से, डूबता ही जाएगा ।

कालिदास के इस दौत्य के पीछे कौन-सा उद्देश्य था, इस विषय में विद्वानों में सहमति नहीं स्थिर हो सकी है । कतिपय विद्वान् यह मानते हैं कि इस दौत्य का उद्देश्य प्रणय था, और इसके लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त तथा कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त के विवाह की चर्चा की जाती है । लेकिन, कुछ पंडितों का कथन है कि कालिदास शुद्ध राजनीतिक उद्देश्य से कुन्तलेश्वर के दरबार में भेजे गए थे । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता जो पृथिवीषेण के पुत्र रुद्रसेन से व्याही गई थी, अत्यंत अल्पावधि में ही विधवा हो गई और बाद को वह कुन्तलेश द्वारा पराजित भी हुई जो अब 'दक्षिणापथाधिपति' बन बैठा था तथा अपने पराक्रम की व्यंजना में अश्वमेध भी कर चुका था । अब चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वयं संकटों से वेष्टित था और वह अब कुन्तलेश की ओर से बड़ा चिन्तित हो गया । अतएव, कालिदास को उसने उनके व्यवहार-नैपुण्य तथा व्युत्पन्न प्रतिभा के कारण दूत बना

कर भेजा; और कालिदास ने भूमि पर आसन जमा कर अपने वाग्विलास से कुन्तलेश को विजित कर लिया तथा विक्रमादित्य को निर्बाध सत्ता के लिए क्षेत्र निष्कंटक बना दिया। 'सामंत' और 'सम्राट्' की परस्पर स्थिति तथा कर्तव्य का निर्देश कर, कवि ने विजयदत्त कुन्तलेश्वर को अपने स्वामी एवं श्वशुर के अनुकूल बना लिया हो, अथवा किसी वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना में निमित्त होकर यह उद्देश्य सिद्ध कर लिया हो, दोनों बातें सम्भव हैं और इस दूतकार्य की सफलता से उनकी बहुमुखी प्रतिभा पर मनोरम आलोक पड़ता है।

कृष्णकवि ने 'भरतचरित' में 'सेतुबंध' काव्य का रचयिता कुन्तल के किसी नरेश को बताया है—

"जलाशयस्यान्तरगाधमार्गमलब्धरन्ध्रं गिरिचौर्यवृत्त्या।
लोकेष्वलं कान्तमपूर्वसेतुं बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेशः॥"

'हर्षचरित' के आरम्भ में बाण का यह कथन उपलब्ध होता है—

"कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥"

—अर्थात्, बाण 'सेतुबन्ध' को प्रवरसेन की उज्ज्वल कीर्ति मानते हैं। अतएव, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन कुन्तल का नरेश था। लेकिन, परम्परा 'सेतुबन्ध' को कालिदास की रचना मानती आई है; और कुन्तलेश्वर के दरबार में दूत बन कर कालिदास के जाने की घटना को इस अनुश्रुति से यदि मिला दिया जाय, तो उनका सम्बन्ध प्रस्तुत काव्य के साथ इस प्रकार जोड़ा जा सकता है : या तो यह रचना विक्रमादित्य के निर्देश से कालिदास द्वारा प्रणीत हुई और बाद में उन्होंने उसे प्रवरसेन को समर्पित कर दिया या प्रवरसेन ने उस काव्य का प्रणयन किया और कालिदास द्वारा यह संशोधित अथवा परिमार्जित किया गया जिस कारण जनश्रुति में कालिदास ही उसके रचयिता मान लिये गए।[1]

कालिदास के कर्मसंकुल जीवन का अवसान क्योंकर हुआ, इसके सम्बन्ध में भी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। जीवन के उत्तरार्ध में उनका संबन्ध किसी वारांगना अथवा अन्य सुन्दरी से हो गया बताया जाता है जो उनकी मृत्यु का कारण बनी। मैसूर की एक किंवदन्ती है कि कालिदास जब पत्नी की प्रेरणा से काली की उपासना कर

---

१. डा० एम० कृष्ण माचारियर : 'History of classical sanskrit Literature,' पृ० १२३

प्रतिभाशाली कवि बन गये, तब उन्होंने उसे माता मान लिया और उसके साथ पत्नी का सम्बन्ध छोड़ दिया. इस पर पत्नी ने कुपित हो, उन्हें 'वेश्याव्यसनी' होने का शाप दिया और वेश्या-संसर्ग से ही उनकी जीवनलीला भी संवृत हुई।[1] 'पुरातनप्रबंध-संग्रह' में कवि की मृत्यु का यह विवरण दिया गया है : 'कुमारसंभव' महाकाव्य में स्व-शृङ्गार-सुख-वर्णन से कुपित होकर उमा ने कालिदास को शाप दे दिया कि तुम स्त्रीव्यसन से मृत्यु को प्राप्त होगे। इससे कालिदास वेश्याव्यसनी हो गये और विक्रमादित्य से तिरस्कृत होकर वेश्यासदन में वास करने लगे। इसी बीच राजा ने राजवाटिका के सरोवर में कम्पमान कमल को देख कर कहा, 'पवनस्यागमो नास्ति' (पवन का संचार नहीं है)। इसका उत्तर किसी भी कवि ने नहीं दिया। तब राजा ने नगर में मुनादी पिटवा दी कि जो कोई भी इस समस्या की पूर्ति करेगा, उसे मैं एक लाख सुवर्णमुद्राएँ प्रदान करूँगा। वेश्या ने कालिदास से यह सूचना निवेदित की। उन्होंने कहा कि समस्यापूर्ति करके मैं सम्पूर्ण धन तुम्हें दे दूँगा। उन्होंने समस्या पूरी कर दी और सुवर्ण-लोभ के कारण वेश्या द्वारा मार डाले गये। उसने राजा से अपना कुकृत्य स्वीकार कर लिया। इस पर राजा विषादमग्न हो गया।[2]

एक किंवदन्ती कालिदास से सिंहलद्वीप की यात्रा करवाती है और वहीं वेश्या-व्यसन के कारण उनकी मृत्यु होना शापित करती है। इसके अनुसार, सिंहल के राजा कुमारदास ने अपनी रचना 'जानकीहरण' काव्य की कालिदास द्वारा भूयसी प्रशंसा सुन कर, उन्हें सिंहल बुला लिया और कालिदास तब से राजदरबार में अत्यन्त मैत्री एवं सम्मान के वातावरण में रहने लगे। वहाँ उनका किसी दासी अथवा वेश्या से सम्पर्क हो गया। एक दिन उन्होंने उससे सुना कि राजा ने एक समस्या की पूर्ति के लिए बहुत बड़ा पुरस्कार घोषित किया है। समस्या थी—"कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते" (कमल से कमल की उत्पत्ति केवल सुनी जाती है, देखी नहीं जाती)। कालिदास ने श्लोक को यों पूरा कर दिया—'बाले, तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम्" (हे बाले! तुम्हारे मुख-कमल में ये नेत्र-रूपी दो नीलकमल कैसे खिल गए?)। वेश्या ने राजा से मिलने वाले पुरस्कार के लोभ में कालिदास का वध कर डाला। इस दुःखद घटना से राजा इतना विचलित हो गया कि उसने कालिदास की चिता में कूद कर अपने प्राणों का विसर्जन कर दिया। अभी तक सिंहल द्वीप के माटर नामक दक्षिणी प्रान्त में किरिन्दी नदी के मुहाने के पास वह

---

१. 'Indian Antiquary', (April, 1878), पृ० ११५–११६

२. 'पुरातनप्रबंधसंग्रह', सिंघी जैन ग्रंथमाला, १९३६ वि०, विक्रमप्रबंध, पृ० १०.

स्थान बताया जाता है जहाँ कवि की चिता बनाई गई थी।[1]

बल्लाल के 'भोजप्रबन्ध' में दिए विवरण से ज्ञात होता है कि कालिदास के विरुद्ध, उनके तारुण्यमद, राजसम्मानमद तथा विद्यामद के कारण पंडितों द्वारा दुरभिसंधि रची गई और राजाभोज ने उन्हें अपने राज्य से निष्कासित कर दिया। बाण ने सहयोगी पंडितों की मंडली में इस घटना पर यों दुःख-प्रकाश किया—

"सामान्यविप्रविद्वेषे कुलनाशो भवेत् किल।
उमारूपस्य विद्वेषे नाशः कविकुलस्य हि॥"[2]

—'सामान्य ब्राह्मण सेविद्वेष करने पर कुलका नाश होता है। किन्तु, उमा-रूप कालिदास से विद्वेष करने पर तो सम्पूर्ण कविकुल ही विनष्ट हो गया।'

कालिदास की मृत्यु के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं से यह अनुमान किया जाना असंगत नहीं होगा कि किसी कारण जब वे अपनी प्राणदयिता से विप्रयुक्त हो गए, तब उनका पुनः उससे संयोग नहीं हो सका और अपनी भावात्मक भूल की परितृप्ति में वे किसी रम्यांगना अथवा वारांगना के आकर्षणजाल में फँस गए।[3] वैसे, वारांगनाओं का शिष्ट-संभ्रान्त समुदाय में उस समय यथेष्ट सम्मान था और वे किसी सुसंस्कृत तथा परिमार्जित रुचियों वाले व्यक्ति के लिए एक आवश्यक अलंकार थीं। अतएव, रसलिप्सु चेतना वाला, वैभवानुरागी कवि, जीवन के उत्तरार्ध में यदि किसी विलासवती कामिनी की प्रवंचना का आखेट बन गया हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? पुनः बल्लाल के उल्लेख से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास को मिलने वाले अतिशय सम्मान के कारण, राजसभा के अन्य पंडितों का कोई कुचक्र आयोजित हुआ होगा जिससे वे राजदरबार से निष्कासित हुए और उनकी रसीली प्रकृति के कारण, उनके विपक्षियों ने किसी प्रकार उन्हें किसी रमणांगना के दुश्चक्र में फँसा दिया जो अन्ततः उनके निधन का निमित्त बना।

ऊपर कालिदास के जीवनचरित का जो चित्र दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि इस महाकवि की विचरणभूमि उत्तर में हिमालय के अंचलों से लेकर दक्षिण में सिंहल (लंका) तक प्रसरित रही है। कहा जा चुका है कि कालिदास केवल कविता-कामिनी के एकान्त साधक ही नहीं थे, अपितु तत्कालीन राज्य-सत्ता के संचालन से भी उनका घनिष्ठ संबन्ध था। इस कारण, उन्हें भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में

---

१. प्रो० मिराशी : 'कालिदास' पृ० ७४

२. 'भोजप्रबन्ध', द्वादशप्रबन्ध।

३. 'मेघदूत' को कवि की स्वानुभूति समझा भी गया है।

परिभ्रमण करने का प्रचुर अवसर मिला, और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् से संबंधित होने तथा स्वयं प्रतिभाशाली कवि होने के कारण, उन्हें सर्वत्र यथेष्ट सम्मान मिला जिस कारण वे भिन्न-भिन्न स्थानों में कुछ काल तक ठहरते गए और उनकी प्राकृतिक एवं सामन्तीय परिस्थितियों का अवलोकन किया। समस्या-पूर्ति उस समय काव्य-रसिकों के बीच मनोविनोद का एक सुन्दर साधन थी। कालिदास इस कला में भी नितान्त निष्णात थे और पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। अनेक समस्या-पूर्तियाँ पण्डित-समाज में उनके नाम से जुड़ी चली आई हैं। इस कारण भी, वे जहाँ-जहाँ गए होंगे, वहाँ-वहाँ काव्यरसिकों द्वारा विद्वद्गोष्ठियों में अपना विदग्ध वाग्विलास दिखाने के लिए प्रार्थित हुए होंगे। फलस्वरूप जहाँ उन्हें स्नेह, सम्मान एवं श्रद्धा, तीनों का मिश्रित प्रसाद मिला होगा, वहीं वे ईर्ष्या और अन्तर्दाह के भी आस्पद बने होंगे। सुतरां, हमारी कल्पना में ऐसे कालिदास का चित्र संतरण करता है जो सुधी सहृदयों के स्नेह-पात्र, श्रीमन्तों के सम्मानार्ह, लोक-समुदाय में अत्यन्त प्रिय एवं श्रद्धेय, राजन्यवर्गों में अत्यन्त आकांक्षित एवं प्रतीक्षित अथच सहधर्मा साहित्यकारों में उत्कट स्पर्धा के भाजन थे। महर्षि अरविन्द ने वेश्या-संसर्ग वाली घटना को हिन्दू-पतन की उद्भावना बताया है, किन्तु इसे सही मान लेने पर भी, कवि के गगनचुम्बी गौरव को कोई आघात नहीं पहुँचता, क्योंकि—

"एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।"

(२) काव्य-साधना की पृष्ठभूमि

प्रत्येक रचना के पृष्ठ में एक व्यक्ति हुआ करता है, और उस व्यक्ति के पृष्ठ में एक जाति रहा करती है। कालिदास अपनी जाति तथा जातीय प्रतिभा के विश्वसनीय प्रवक्ता रहे हैं। महर्षि अरविन्द का कथन है कि वाल्मीकि, व्यास और कालिदास प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास के सारतत्त्व हैं तथा अन्य सम्पूर्ण सामग्री के अभाव में भी, वे उसके सांस्कृतिक इतिहास को आलोकित करते रहेंगे।[1] जिस प्रकार वाल्मीकि, मानवात्मा के विकास में, भारतीय जाति की मुख्यतया नैतिक मनोवृत्ति के तथा व्यास मुख्यतया बौद्धिक मनोवृत्ति के व्याख्यापक रहे हैं, उसी प्रकार कालिदास उसकी प्रधानतया भौतिक मनःस्थिति के प्रतिनिधि एवं व्याख्याता हैं। वे किसी

---

१. "Valmiki, Vyas and Kalidas are the essence of the history of ancient India; if all else were lost, they would still be its sole and sufficient cultural history." (महर्षि अरविन्द)

'महत्त्वशून्य युग के असावधान गायक' नहीं हैं', अपितु एक ऐसे जटिल एवं समृद्ध युग की प्रसूति तथा पुरस्कर्त्ता हैं जिसकी तुलना विश्व-इतिहास में यूनान के पेरीक्लीज-युग (Age of Pericles) तथा इंगलैंड के एलिजाबेथ युग से की गई है। गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग समझा गया है, और उसी में वे क्षमताएँ विद्यमान रही हैं जिनमें कालिदास की कलित-ललित भारती अपनी 'दीपशिखा' का प्रकाश विच्छुरित कर सकती थी। नीचे विभिन्न शीर्षकों में इस महिमाशाली कवि की पृष्ठभूमि का संक्षिप्त आकलन प्रस्तुत किया गया है।

(क) राजनीतिक

राजनीतिक पीठिका को समझने के लिए हमें मौर्य-युग के आरम्भ से इतिहास का पृष्ठावलोकन करना पड़ेगा। ई० पू० ३२६ वें वर्ष में सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। सिन्ध तथा पंजाब की अनेक गण-प्रधान रियासतों की स्वाधीनता का अपहरण कर, उसने मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। डॉ० राय चौधुरी का कथन है कि यदि महापद्म नन्द चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्वी साम्राज्य का पिछला शासक था, तो उस साम्राज्य की नींव उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में दृढ़ करने वाला सिकन्दर था।[२] मौर्य-सत्ता की स्थापना के साथ (३२२ ई० पू०) भारतीय इतिहास में एक नवीन युग का प्रवर्तन होता है क्योंकि इस युग में भारतवर्ष पहलो बार राजनीतिक दृष्टि से एक अखंड एवं सुसंघटित शासन-तंत्र के अंतर्गत ऐक्यबद्ध हुआ था। सिकन्दर के वापस लौटने पर चन्द्रगुप्त ने, राजनीति के प्रखर पंडित चाणक्य की सहायता से, मगध में राज्यक्रान्ति घटित की और पाटलिपुत्र के सिंहासन को स्वायत्त किया। उसने अपने अदम्य पौरुष से मौर्य साम्राज्य की उत्तरी एवं उत्तरी-पश्चिमी सीमाएँ हिन्दूकुश तथा वर्तमान पारस की सरहद तक तथा दक्षिण में नर्मदा विन्ध्यश्रेणी को लाँघ कर, प्रायद्वीप के भीतर मैसूर तक पहुँचा दी थीं। इस प्रकार, कलिंग एवं कश्मीर को छोड़कर, समस्त भारत तथा समस्त आधुनिक अफगानिस्तान और बलूचिस्तान उसके साम्राज्य में समाविष्ट थे। अशोक ने अपने शासनकाल में एक प्रदेश—कलिंग को विजित किया जो बंगाल की खाड़ी के तट पर वैतरणी तथा लांगुलीय

१. "Remember me a little then,
I pray, the idle singer of an empty day."
(William Morrison)

२. रायचौधुरी : 'पोलिटिकल हिस्ट्री,' पृ० १७५.

नदियों के बीच के, कृष्णा और गोदावरी तक व्याप्त उसके साम्राज्य के पूर्वी क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण अंश माना जाता था। कलिंग-विजय मगध के इतिहास में एक महान घटना थी क्योंकि उसके साथ प्रादेशिक विजय तथा बलपूर्वक राज्य-विस्तार का युग समाप्त हो गया और उसके स्थान में एक नवीन युग का समारंभ हुआ जिसमें शान्ति, सामाजिक उन्नति तथा धर्मप्रचार का व्यापक रूप से प्रसार हुआ। लेकिन, उसके साथ ही, राजनीतिक संज्ञा-शून्यता तथा संभवतः सैनिक-दुर्बलता भी व्याप्त हो गई जिसके परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष की राजनीतिक सुदृढ़ता आने वाली शताब्दियों में अप्रतिहत न रह सकी।

अशोक की मृत्यु (२३२ ई० पू०) के बाद मौर्य साम्राज्य का विघटन सद्यः प्रारम्भ हो गया। उसके उत्तराधिकारियों में अंतिम राजा बृहद्रथ अपने ही 'सेनापति' पुष्यमित्र शुङ्ग के द्वारा मार डाला गया, जिसने मगध में एक नए ब्राह्मण राजवंश की (१८४ ई० पू०) स्थापना की। मौर्यसाम्राज्य के पतन के कारणों में मुख्य तो यही था कि अशोक के प्रभावशाली व्यक्तित्व का विलोप हो जाने के बाद केन्द्रीय शासन-सत्ता दिनानुदिन दुर्बल होती गई जिससे राज्य-सूत्र विशृंखल हो गए। लेकिन, एक अन्य सबल कारण सिद्ध हुआ, मौर्य शासकों द्वारा यज्ञों का विरोध जो ब्राह्मण धर्म के आवश्यक अंग माने जाते थे। मौर्य शासन के अन्तिम दिनों में उसके विरुद्ध तीव्र ब्राह्मण प्रतिक्रिया घटित हुई। इस प्रतिक्रिया को पुष्यमित्र के नेतृत्व से बड़ा बल मिला जो स्वयं ब्राह्मण था।

पुष्यमित्र ने मौर्यों के विशृंखलित साम्राज्य तथा ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के उद्देश्य से जिस प्रबल राज्यक्रान्ति का सूत्रपात किया, उससे वह लोकमानस को प्रसन्न एवं परितृप्त करने में यथेष्ट सफल रहा। कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से शुङ्ग-सत्ता का चित्र निर्मित किया गया है। उससे पता चलता है कि पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक था जिसके अधिकार-क्षेत्र में दक्षिण के प्रान्त समाविष्ट थे। उसी स्थिति में अग्निमित्र ने विदिशा (बरार) के 'अचिराधिष्ठित' राजा को परास्त किया तथा वरदा नदी तक के समस्त प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया। इसी समय के लगभग कुछ पूर्व, यवनों ने मध्यमिका (चित्तौड़ के निकट नागरी नामक स्थान) तथा अयोध्या पर आक्रमण किया जिसका उल्लेख, पुष्यमित्र के प्रधान ऋत्विज प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि ने यों किया है : "अरुणद्यवनः साकेतम्। अरुणद्यवनः मध्यमिकाम्।" संभवतः यवनों के साथ पुष्यमित्र को दो बार युद्ध करना पड़ा—एक अपने राज्यकाल के आरम्भ में और दूसरा अन्त में। 'मालविकाग्निमित्र' में उल्लिखित यवनसंघर्ष पुष्यमित्र के शासनकाल

के अन्तिम भाग में घटित हुआ था जब उसका पौत्र वसुमित्र यवनों के विरुद्ध राजकीय सेना का नायकत्व ग्रहण करने के योग्य हो गया था। 'गार्गीसंहिता' में जिस यवन-आक्रमण का उल्लेख उपलब्ध होता है, वह नाटक में उल्लिखित यवनों के आक्रमणों से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि 'संहिता' के अनुसार यवन साकेत, पांचाल एवं मथुरा को जीत लेने के बाद कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) तक पहुँच गए थे जब कि नाटक में वर्णित संघर्ष सिन्धु या काली सिन्धु के तट पर हुआ था। पौराणिक तालिका के अनुसार, शुङ्गवंश में अग्निमित्र तथा वसुमित्र को मिलाकर कुल दस राजा हुए जिनमें अन्तिम राजा देवभूति अपने अमात्य वसुदेव काण्वायन द्वारा उत्थित कर दिया गया जिसने कण्ववंश की स्थापना की।

कण्व नरेशों ने लगभग ७२ ई० पू० से २७ या २८ ई० पू० तक राज्य किया। पुराणों में उल्लेख आता है कि आन्ध्रनरेश सिमुक (या शिशुक या सिन्धुक) ने सुशर्मा काण्वायन एवं शुङ्गों की अवशिष्ट शक्ति को मूलोच्छिन्न कर, वसुन्धरा का राज्य प्राप्त किया।[1] आन्ध्रों ने प्रायः अपने समस्त अभिलेखों में अपने को 'सातवाहन' की संज्ञा प्रदान की है। 'सातवाहन' ही साहित्य में 'शालिवाहन' बन गया है। दो प्राचीन अभिलेखों में प्रथम और द्वितीय आन्ध्रनरेश सिमुक (शिशुक) एवं कृष्ण (कन्ह) सातवाहन कुल के कहे गए हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र आर्य सभ्यता के आवर्त्त से बाहर बताए गए हैं। लेकिन, आन्ध्र-सातवाहन नरेश वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के एक अभिलेख से सातवाहनों के ब्राह्मण होने का परिज्ञान होता है। इस अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णी को 'एक बम्हण' (अद्वितीय ब्राह्मण) कहा गया है जिसके शौर्य की तुलना परशुराम से की गई है और जिसे क्षत्रियों का अहंकार तोड़ने वाला ('खतियदपमानमदन') बताया गया है। अतएव सातवाहन भी, शुङ्गों एवं कण्वों की तरह ब्राह्मण शासक थे। सातवाहनों की शक्ति ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग क्षीण होने लगी थी और उसके स्थान पर सर्वथा नई शक्तियों का, महाराष्ट्र में आभीरों का तथा दक्षिण-पूर्व में इक्ष्वाकुओं एवं पल्लवों का, उदय हुआ। आन्ध्र-सातवाहनों का राज्यकाल २०० ईस्वी तक व्याप्त है।

भारतीय इतिहास के विवेच्य युग की राजनीतिक कहानी पूरी करने के लिए, इस काल में घटित होने वाले विदेशी आक्रमणों तथा उनके द्वारा स्थापित राज्य-

---

१. "काण्वायनस्ततो भृत्यः सुशर्माणं प्रसह्य तम्।
शुङ्गानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा।
सिन्धुकश्चान्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्॥" (—वायुपुराण)

सत्ता का विहगावलोकन आवश्यक है। मौर्य साम्राज्य के विघटन की भूमिका में यवन, शक इत्यादि विदेशी जातियों को भारत-भूमि पर आक्रमण एवं अधिकार करने का सुवर्णावसर मिल गया और विभिन्न प्रदेशों में विदेशी नरेशों ने लगभग दो सौ वर्षों तक अपनी शासन-सत्ता स्थापित रखी। इन आक्रान्ताओं में यवन, शक, पह्नव तथा कुषाण प्रसिद्ध हैं।

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् बैक्ट्रिया का ग्रीक उपनिवेश सिल्यूकस के साम्राज्य का एक अंग बन गया था क्योंकि सिकन्दर के पूर्वी साम्राज्य का स्वामी वही माना गया था। तीसरी शताब्दी ई० पू० के लगभग मध्य में सिल्यूकस के साम्राज्य से दो राष्ट्र पृथक् हो गए। पार्थिया ने अपने राष्ट्रीय नेता अरसेक (Arsakes) तथा बैक्ट्रिया ने ग्रीक शासक दिवोदात (Diodotus) के नायकत्व में क्रान्ति का मार्ग ग्रहण किया। दिवोदात के बाद उसका पुत्र दिवोदात द्वितीय राज्य का अधिकारी हुआ। तीसरी शती ई० पू० के अन्तिम चरण में वह एक अन्य यूनानी सेनानायक इवदिम (Euthydemus) द्वारा मारा गया जिसने अब स्वयं राज्यसत्ता स्वायत्त कर ली। इसी समय सिल्यूकस के राजवंश के सीरिया के सम्राट् अन्तियोक तृतीय (Autiochus III) ने अपने पूर्वजों के प्रान्तों को फिर से प्राप्त करने के लिए बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया। लेकिन, उसे इवदिम के साथ संधि करनी पड़ी और बैक्ट्रिया की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इवदिम के साथ संधि कर, अंतियोक ने भारत पर आक्रमण किया और गान्धार के मौर्यवंशीय भारतीय नरेश सुभागसेन के साथ मैत्री-संबंध स्थापित किया और उससे युद्ध के हाथी लेकर, मेसोपोटामिया की ओर झटिति प्रस्थान किया जहाँ क्रान्ति का संघर्ष मचा हुआ था। सीरियन सेनाओं के हटते ही, इवदिम ने दक्षिण की ओर अभियान प्रारम्भ किया और सुभागसेन को क्षतिग्रस्त कर, मौर्यों द्वारा अधिकृत काबुल की घाटी तथा कन्दहार इत्यादि प्रान्तों को अपने राज्य में मिला लिया।

लेकिन, भारत-भूमि पर सुसंघटित रूप से आक्रमण इवदिम के पुत्र दिमेत्र (Demetrios) द्वारा किया गया। उसकी भारतीय विजयों में सिन्धु घाटी तथा पंजाब के कुछ भाग सम्मिलित थे। सागल (स्यालकोट) को उसने अपनी राजधानी बनाया और सौवीर प्रदेश में संभवतः उसने दत्तामित्री नगरी अपने नाम पर बसाई जिसका उल्लेख 'सिद्धान्तकौमुदी' (४,२।७६) में उपलब्ध होता है। गर्गसंहिता में जिस यवन आक्रमण का उल्लेख हुआ है, वह संभवतः दिमेत्र द्वारा ही आयोजित था। 'मालविकाग्निमित्र' में जिस यवन संघर्ष का वर्णन हुआ है, उसका नायक दिमेत्र का जामाता मिलिन्द (Menander) था जिसका शासन मध्य एवं दक्षिण-

पूर्व पंजाब में व्याप्त था। यूनानी लेखकों ने मिलिन्द की भारतीय विजयों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है तथा यूनानी सत्ता का पूर्व भारत में प्रसार करने का श्रेय दिमेत्र के साथ-साथ उसे भी प्रदान किया है। प्लूटार्क के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि मिलिन्द प्रजा में अत्यन्त लोकप्रिय था क्योंकि उसकी मृत्यु (१५०-१४५ ई० पू०) पर उसकी अस्थि-सुरक्षा के लिए लोगों में पर्याप्त प्रतिद्वन्द्विता मच गई थी।

मिलिन्द के उत्तराधिकारियों के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। इतना निश्चित है कि उनमें उसकी जैसी प्रतिभा वर्तमान नहीं थी। प्रथम शती ई० पू० के मध्य तक इवदिम के राजवंश का सूर्य पूर्णतः अस्त हो चला था जब कि उसके अन्तिम उत्तराधिकारियों के हाथ से निकल कर उनके द्वारा अधिकृत पूर्वी पंजाब का समस्त राज्य शकों के अधिकार में चला गया। इवदिम के राजकुल के साथ-साथ एक दूसरा प्रतिस्पर्धी राजवंश, इवक्रत का, लगभग १७५ ई० पू० से चल पड़ा था। इवक्रत अंतियोक चतुर्थ का सम्बन्धी एवं सेनानायक था। दिमेत्र जिस समय अपनी भारतीय विजयों में लगा हुआ था, इवक्रत ने बैक्ट्रिया में राज्यक्रान्ति की पताका फहराई और उस राज्य को हस्तगत कर लिया। किन्तु, वह अपने ही पुत्र हेलियाक्लीज द्वारा मार डाला गया। हेलियाक्लीज के उत्तराधिकारियों में केवल अंतलिकित का पता चलता है। आगे चल कर इवक्रत के राजकुल का अधिकार उसके हिन्दूकुश के दक्षिणवर्ती प्रदेश में केवल उतने भाग तक रह गया जो उसकी प्रारम्भिक विजय में मिला था। इस प्रदेश के सबसे उत्तरी छोर पर कपिशा में हरमेउस का शासन था जो सीमावर्ती देश में तथा काबुल की द्रून पर राज्य करने वाला अंतिम यूनानी नरेश था। इस प्रदेश में ग्रीक सत्ता कुषाणों के सरदार कुजुल कैफिसेस (Kujula Kadphises) द्वारा विनष्ट कर दी गई। ग्रीक सत्ता भारत के सिंध, पंजाब इत्यादि उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों पर, सिकन्दर की मृत्यु के बाद, लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक बनी रही। किन्तु, इन दोनों यूनानी विजयों का राजनीतिक दृष्टि से प्रभाव नगण्य ही रहा; सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप जल एवं स्थल के चार स्पष्ट मार्ग खुल गए थे जिससे भारत और पश्चिम के देशों में पूर्वापेक्षा अधिक घनिष्ठ संबन्ध स्थापित हो गया। यूनानी सम्पर्क से सांस्कृतिक प्रभावों का जनन अवश्य हुआ जिनकी चर्चा आगे यथा-स्थल की जाएगी।

इंडोग्रीक राजाओं के पतन में शक तथा कुषाण आक्रमणकारियों का विशेष हाथ था, इसका उल्लेख अभी ऊपर हो चुका है। शक आक्रान्ताओं में अम्लाट नामक शकाधिपति का आक्रमण अत्यन्त दारुण सिद्ध हुआ। 'युगपुराण' में गर्गाचार्य ने उसका हृदयद्रावक वर्णन किया है—"इस भयंकर युद्ध में राष्ट्र के सब

पुरुष मारे गए। अतएव, नारियों को ही सब काम करने पड़े। उन्होंने भूमि जोती तथा धनुष-बाण लेकर खेतों की रखवाली की। जहाँ-तहाँ स्त्रियों ने संघटन कर संघ स्थापित किए। पुरुषों की संख्या इतनी कम हो गई कि एक पुरुष को दस-दस, बीस-बीस स्त्रियाँ पति बनाने लगीं। चातुर्वर्ण्य की मर्यादा ध्वस्त हो गई। शूद्र ब्राह्मणों के कर्म करने लगे और जटा-वल्कल धारण कर, घूमने लगे। वैदिक धर्म में विधर्मियों का प्रवेश होने लगा और दम्भ का जहाँ-तहाँ प्रचार हो गया। गृहस्थाश्रम का त्याग कर, लोग संन्यास लेने लगे। इसी काल में लगातार दो वर्षों तक पानी नहीं बरसा जिसके फलस्वरूप घोर दुर्भिक्ष पड़ा और सहस्रों लोग मृत्यु के मुख में प्रवेश कर गए।' पंडितों का कथन है कि कण्वों के शासन के अन्तिम भाग में गर्गसंहिता का यह अंश लिखा गया होगा, इसलिए इस वर्णन को अतिशयोक्तिपूर्ण मानना उचित नहीं है।

प्रथम शती ई० पू० के मध्यकाल के लगभग भारत के कई प्रदेशों में शकों ने अपने राज्य स्थापित कर लिए। ये प्रान्तीय शासक 'क्षत्रप' कहलाते थे। तक्षशिला, मथुरा, महाराष्ट्र और उज्जैन—इन चार प्रदेशों के क्षत्रपों का विशेष महत्त्व था। महाराष्ट्र के क्षत्रपों में नहपान प्रथम सम्राट् हुआ जिसने महाराष्ट्र देश पर शासन करने वाले प्रारम्भिक सातवाहन नरेशों को परास्त कर, उस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। लेकिन, उसका शासन पाँच-छः वर्षों की अल्पावधि (११९ ई०–१२४ ई०) में ही कदाचित् आन्ध्रवंशीय सातवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र शातकर्णी द्वारा उच्छिन्न कर दिया गया। तथापि, नहपान का राज्यकाल युद्ध-अभियानों एवं दान-संबंधी पुण्य-कृतियों के लिए प्रसिद्ध है।

उज्जैन के क्षत्रपों में रुद्रदामन (१५० ई० के लगभग) विशिष्ट महिमा से समन्वित है। उसने सातवाहन नरेश वासिष्ठी पुत्र पुलुमावी को युद्ध में दो बार परास्त किया और उसे अपना जामाता भी बना लिया। पूर्वी पंजाब में शासन करने वाली एक वीर जाति यौधेयों के साथ भी उसे संघर्ष करना पड़ा, और इस प्रकार उसके राज्य की सीमाएँ अधिक विस्तृत हो गईं। रुद्रदामन प्रजापालक एवं विधान का आदर करने वाला शासक बताया गया है जिसने सुराष्ट्र में स्थित प्रसिद्ध सुदर्शन झील का टूटा बाँध बँधवा कर, उसका नवसंस्कार किया और प्रजा के कृषि-कार्य में बहुमूल्य सहायता पहुँचाई। उसके उत्तराधिकारियों का शासन ३८८ ईस्वी तक वर्तमान रहा।

शकों के बाद उत्तरी भारत में पहले पह्लवों का और बाद में कुषाणों का साम्राज्य स्थापित हुआ। कुषाण सत्ता का संस्थापक कुजुल कैफिसेस था जिसका उल्लेख अभी हो चुका है। उसने सभी कुषाण कबीलों को संगठित कर, एक साम्राज्य की स्थापना

की जिसकी सीमाएँ वंक्षु से लेकर सिन्धु तक व्याप्त थीं। उसके बाद उसका पुत्र विम कैफिसेस राजा बना जिसने अपना प्रभाव इतना विस्तृत कर लिया कि पश्चिम भारत एवं मालवा के शक क्षत्रपों ने भी कुछ काल तक कुषाण-सत्ता स्वीकार कर ली। एक चीनी सेनानायक से उसे परास्त होना पड़ा था, लेकिन पश्चिम के रोम सम्राट् के साथ उसका संबन्ध अतीव मैत्रीपूर्ण था। कैफिसेस राजाओं की विजय का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत, चीन तथा रोमन साम्राज्य के बीच वाणिज्य-व्यवसाय की अतिशय वृद्धि हुई। भारत रेशम, अन्न तथा मसाले का विक्रय करने लगा और बदले में सोना और चाँदी, विशेषतः रोम से खरीदने लगा।

विम कैफिसेस का उत्तराधिकारी, और कुषाणों में सबसे प्रसिद्ध कनिष्क था जिसने लगभग ७८ ई० से १२३ ई० तक राज्य किया। विद्वानों का कथन है कि इसी ने सिंहासनस्थ होने पर प्रसिद्ध शालिवाहन शक संवत् का प्रवर्त्तन किया। इसके सिक्के काबुल से लेकर उत्तर प्रदेश के गाजीपुर तक मिले हैं। इसने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया और वहाँ के प्रसिद्ध पंडित अश्वघोष को पकड़ कर अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) ले गया—ऐसी परम्परा है। दक्षिण में राज्य करने वाले काठियावाड़ और मालवा के क्षत्रप इसके अधीन थे। इन विजयों के द्वारा भारत में कनिष्क का साम्राज्य उत्तर में कश्मीर तथा पश्चिम में सिन्धु की घाटियों से लेकर दक्षिण में विन्ध्य मेखला तथा बिहार तक फैल गया। कनिष्क की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसने भारत को स्वदेश मान लिया था और उसी भाव से शासन करता रहा। कनिष्क के बाद तीन शासकों—वासिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव ने राज्य किया। अंतिम नरेश वासुदेव का शासनकाल १५२ ई० से १७६ ई० तक निश्चित हुआ है। उसीके समय में कुषाण-साम्राज्य छिन्नभिन्न होने लगा और शीघ्र ही वह अनेक हीन-पौरुष राजाओं में बँट गया जिनके नाम सिक्कों पर मिलते हैं। ईसा की तीसरी शताब्दी के अंत वा चौथी शताब्दी के आरम्भ तक इन सामन्तों का सर्वथा लोप हो गया और उनकी सत्ता के अवशेष नाग राजाओं की नवोत्थित शक्ति-सरिता में निमज्जित हो गए।

पुराणों में वर्णन आया है कि नाग नरेश विदिशा, पद्मावती (मध्यभारत), कान्तिपुरी (उत्तर प्रदेश का मिर्जापुर जिला) तथा मथुरा में शासन करते थे। चौथी शती ईस्वी में गुप्तों की नवोदित शक्ति के विरुद्ध ये नाग, प्रतिद्वन्द्वी बन कर जमे रहे। समुद्रगुप्त के साम्राज्य-स्थापन में नाग नरेशों ने प्रथम प्रतिरोध उपस्थित किया, यद्यपि प्रयाग की 'प्रशस्ति' के अनुसार समुद्रगुप्त ने कई नाग राजाओं का वध कर डाला। इस प्रकार कुषाणों के पतन तथा गुप्तों के, सार्वभौम सत्ता के रूप में,

उदय के बीच नागवंश मध्यदेश पर शासन करता रहा। भारशिव नागों ने सर्वोच्च सत्ता स्थापित की, इस मत के प्रबल पोषक डॉ॰ जायसवाल हैं यद्यपि उनकी स्थापनाएँ अभी सर्वसम्मत नहीं हो सकी हैं।

(ख) सांस्कृतिक

छठी शताब्दी ई॰ पू॰ के भारतवर्ष में परम्परानुमोदित ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ प्रारंभ हो गई थीं। उत्तर-वैदिककाल में जब ब्राह्मणधर्म पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था, पुरोहित-प्रथा को अतिशय महत्त्व मिलने लग गया था और धर्म का स्थान जटिल संस्कारों एवं हिंसात्मक यज्ञ-यागादि ने ग्रहण कर लिया था। उनके विरोध में एक विद्रोह घटित हुआ जिसके चिह्न सबसे पहले उपनिषदों एवं आरण्यकों में ही दृष्टिगोचर हुए। वस्तुतः प्रश्न-परायण प्रवृत्तियाँ प्राचीन वैदिक युग से ही क्रियाशील आ रही थीं, और भारतीय साहित्य का एक पृथुल परिमाण जगत् की सृष्टि, उसके आधारभूत तत्त्व इत्यादि प्रश्नों के समाधान-हेतु सर्जित हो चुका था। बहुत पहले से ही, उन दिनों दो विभिन्न संस्कृतियों, श्रमण-संस्कृति तथा ब्राह्मण-संस्कृति, के उदाहरण समानान्तरतया लक्षित होते आए थे। श्रमण-संस्कृति वाले वेदों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते थे और कर्मकांड में आस्था न रख कर, यति-धर्म एवं तपश्चर्या में निरत रहना स्पृहणीय समझते थे। इस प्रकार, यज्ञादि को महत्त्व देने वाली, वैदिक परंपरा की अनुगामी ब्राह्मण-संस्कृति से इस संस्कृति का स्पष्ट विरोध था। ऐसी विरोधी प्रवृत्तियों की प्रसार-भूमि मगध इत्यादि भारत के पूर्वी क्षेत्र ही विशेष थे। जैनधर्म और बौद्ध धर्म का उदय, ऐसी ही परिस्थितियों में, ब्राह्मण धर्म के निर्जीव बाह्योपचारों के विरुद्ध हुआ। साथ ही, विचार-स्वातंत्र्य की आड़ में अनेक विचित्र मतवाद भी उस समय, उन अंचलों में, प्रचलित हो गए थे जिनका भी प्रत्याख्यान इस नवोदित धर्म-द्वय द्वारा किया गया। इन्हें "मिथ्या दृष्टि" की संज्ञा से अभिहित किया गया है। 'ब्रह्मजालसुत्त' के अंतर्गत, जो 'दीघनिकाय' के 'सील-क्खन्ध वग्ग' में संग्रहीत है, ऐसी बासठ "मिथ्या दृष्टियों" की चर्चा की गई है। "ब्रह्मजाल" शब्द का अभिप्राय ही कदाचित् उस 'श्रेष्ठ जाल' से है जो बुद्ध के महान् उपदेशों द्वारा बुना गया है और जिसका प्रमुख उद्देश्य बहुधा "फिसल कर निकल जाने वाली मछलियों-रूपी मिथ्या दृष्टियों को पकड़ना" है। जैन ग्रंथ 'सूत्रकृतांग' में भी एतादृश "अन्य दृष्टियों" का उल्लेख हुआ है जिनकी संख्या तीन सौ तिरसठ तक पहुँच गई है।[1]

---

१. आ॰ परशुराम चतुर्वेदी : 'बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक', पृ॰ ११-१६.

इन दोनों धर्मों के प्रवर्त्तन के बाद भी, समाज-व्यवस्था में कुछ स्थायी सुधार हुआ, इसके प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। गौतम बुद्ध के अनेक उपदेश, सभी व्यक्तियों की पूर्ण समानता का आदर्श स्थापित करने तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच जन्मगत विभेद दूर करने के ही निमित्त, दिए गए थे। तथापि, उस समय के लेखों से पता चलता है कि समाज में जाति-व्यवस्था का यथेष्ट प्रचलन था। श्वेतकेतु जातक (तृतीय, २३६) में एक ब्राह्मण को एक चाण्डाल के पास से, स्पर्श-भय से अभिभूत होकर, भागता वर्णित किया गया है। मातंग जातक (चतुर्थ, ३८८) में एक चाण्डाल के आवास को नदी की धारा की ओर इसलिए स्थानान्तरित करने का उल्लेख हुआ है कि बहाव के ऊपर की ओर उसके द्वारा फेंकी हुई दातौन स्नान करते समय एक ब्राह्मण की शिखा में उलझ गई थी। जातकों में इस तरह के अगणित दृष्टान्त मिलते हैं जो जाति-बन्धन में ग्रस्त समाज का निरूपण करते हैं, यद्यपि लेखकों का उपदेश इसके विरुद्ध पड़ता है और ब्राह्मणों के जातीय मान के मर्दन का प्रयत्न भी किया गया मिलता है। रक्त का अभिमान स्वयं बौद्धों में भी वर्तमान था।

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में स्त्रियों का स्थान वैदिक युग की अपेक्षा हीन दिखलाई पड़ता है। संघ में स्त्रियों को प्रवेश का अधिकार देकर बुद्ध प्रसन्न नहीं हो सके थे, इसका स्पष्ट आभास उनके प्रिय शिष्य आनन्द को दिए गए उनके तद्विषयक उपदेश के अन्तिम भाग में मिलता है जिससे स्त्रियों के समाज में अपेक्षाकृत हीन स्थान का संकेत मिलता है—"पर, अब जबकि स्त्रियों का प्रवेश हो गया है, आनन्द, धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा। × × × जिस तरह ऐसे घरों में जिनमें अधिक नारियाँ और कम पुरुष होते हैं, चोरी विशेष होती है, उसी तरह की अवस्था कुछ उस सूत्र और विनय की समझनी चाहिए जिनमें स्त्रियाँ घर छोड़कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने लग जाती हैं। धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा। × × × × फिर भी, आनन्द! मनुष्य जैसे भविष्य को सोच कर, बड़े जलाशय के लिए बाँध बनवा देता है जिससे जल बाहर न बहने लग जाय, उसी प्रकार, आनन्द, मैंने भविष्य के लिए ये आठ कठोर नियम बना दिए हैं जिनका पालन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य है; जब तक धर्म है, तब तक उन नियमों के पालन में प्रमाद नहीं होना चाहिए।"[१]

मौर्य-शासनकाल में जैनधर्म को मागध सम्राटों का राज्याश्रय प्राप्त नहीं हो

. विनयपिटक (,चुल्लवग्ग दशम, ११)।

सका; तथापि जैनधर्म का प्रचार उस समय पश्चिम एवं दक्षिण भारत की ओर हुआ। उज्जैन और मथुरा जैनधर्म के केन्द्र बन रहे थे। चन्द्रगुप्त (मौर्य) के विषय में 'राजावलिकथा' में उल्लेख आया है कि उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर प्रसिद्ध जैन आचार्य भद्रबाहु का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया तथा कुछ वर्ष साधक-रूप में व्यतीत कर जैन रीति के अनुसार उपवास द्वारा प्राण त्याग किया। लेकिन मौर्य शासकों का प्रधान धर्म बौद्ध धर्म ही था। अशोक ने यह धर्म अंगीकार कर, इसके व्यापक प्रचार के लिए अनेक प्रयत्न किए। यद्यपि उसने यह आदेश दे रखा था कि बौद्ध भिक्षुओं के समान ही ब्राह्मणों का भी सम्मान किया जाय, तथापि उसके और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन नहीं मिल सका।

जाति व्यवस्था का उस समय भी प्रचलन था, यद्यपि उसमें पर्याप्त लोच और ढिलाई वर्तमान थी। समाज में अन्तरजातीय विवाह शास्त्रीय दृष्टि से विहित माने जाते थे। किसी उच्च वर्ण के पुरुष, जैसे ब्राह्मण का किसी निम्न वर्ण जैसे क्षत्रिय या वैश्य की स्त्री से विवाह 'अनुलोम', तथा किसी निम्नतर वर्ण के पुरुष का अपने से उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह 'प्रतिलोम' विवाह कहलाता था। आमोद-प्रमोद द्वारा अतिथि-सत्कार करने की प्रथा प्रचलित थी जिसको लेकर अनेक प्रकार की नर्त्तक-नर्त्तकियों, गायक-गायिकाओं तथा कुशीलवों (अभिनेता-अभिनेत्रियों) का जीवन-यापन होता था।

शुङ्ग-काल में ब्राह्मणधर्म की मर्यादा नवीन रूप से प्रतिष्ठित हुई। इसके फलस्वरूप यज्ञ-यागादि, हवन-पूजन इत्यादि को पुनरुज्जीवन प्राप्त हुआ और जातीय व्यवस्था में ब्राह्मणों को पुनः शीर्षस्थानीय गौरव दिलाने का प्रयत्न किया गया। 'महाभाष्य' का रचयिता पतंजलि शुङ्ग सम्राट् का धर्माधिकारी था और उसके नेतृत्व में पुष्यमित्र की ओर से एक यज्ञ सम्पन्न हुआ था। "इह पुष्यमित्रं याजयामः" (यहाँ हम पुष्यमित्र के लिए यज्ञ कर रहे हैं)—'महाभाष्य' के इस उल्लेख से इस बात का प्रमाण मिलता है। अयोध्या के अभिलेख से पुष्यमित्र द्वारा दो अश्वमेध सम्पन्न किए जाने का पता चलता है। 'मालविकाग्निमित्र' में वर्णित अश्वमेध, जिसके यज्ञाश्व की रक्षा का भार वसुमित्र को सौंपा गया था, उसके राज्यकाल के अन्तिम दिनों में हुआ था। अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य नरेशों ने ब्राह्मण धर्म का जो खुलकर विरोध किया था; उसकी तीव्र प्रतिक्रिया पुष्यमित्र में हुई थी जिसने 'दिव्यावदान' के एक उल्लेख के अनुसार, यह घोषणा की थी कि जो कोई उसे एक श्रमण का मस्तक लाकर भेंट करेगा उसे सौ दीनार पुरस्कार-स्वरूप प्रदान किए

जाएँगे।[1] पुष्यमित्र की इस मनोभंगिमा को समझने के लिए उसके परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। मौर्यों की नीति से ब्राह्मणधर्म के मूलाधारों पर प्रहार तो हो ही रहा था, इसी समय यवनों एवं शकों ने भारत में प्रवेश करना आरम्भ कर दिया था और उनके साथ ही विदेशी रीति-प्रथाएँ फैलने लग गई थीं। हिन्दू धर्म एवं संस्कृति को इस प्रकार भीतर और बाहर दोनों ओर से संकटों का सामना करना पड़ रहा था। मौर्यों की शासन-पद्धति में बरती जाने वाली दुर्बल बौद्धों की शान्ति-नीति से भारत की रक्षा विदेशी आक्रमणों से नहीं हो सकती थी और इस प्रकार उसकी संस्कृति एवं धर्म के भी लोप हो जाने की आशंका बलवती हो उठी थी। अतएव, ब्राह्मण-तंत्र के अधिनायक पुष्यमित्र द्वारा राज्य-सत्ता ग्रहण करने पर, यह आवश्यक हो गया कि बौद्धों को संत्रस्त अथवा उद्ध्वस्त कर ब्राह्मणधर्म का सशक्त पुनरुद्धार किया जाय जिससे परम्परागत संस्कृति एवं देश दोनों की रक्षा हो सके। पुष्यमित्र की घोषणा में जिन श्रमणों की चर्चा की गई है, वे मिलिन्द (मिनैण्डर) की राजधानी शाकल में एकत्र थे। विद्वानों का कथन है कि पुष्यमित्र के बाद उसके उत्तराधिकारियों के समय तक ब्राह्मणधर्म का यह क्रियात्मक भावोन्मेष अवश्य दब गया होगा तथा राजनीतिक स्थिति भी कुछ सँभली होगी। तभी परवर्ती शुङ्ग शासकों ने, बौद्धों के प्रति सहिष्णु होकर भरहुत के बौद्ध-स्तूपों को तोरणों एवं सूचियों आदि से अलंकृत करने की अनुमति दी होगी।

सातवाहन-युग में ब्राह्मण-धर्म का प्राबल्य था। शुंगों के बाद कण्व तथा कण्वों के बाद सातवाहन, सभी ब्राह्मण थे और सभी ने ब्राह्मण धर्म को सबल बनाने में सहयोग प्रदान किया। शातकर्णी प्रथम तथा उसकी राजमहिषी ने अनेक यज्ञ किए जिनका कुछ विवरण नानाघाट से प्राप्त नायनिका के भग्नाभिलेख में सुरक्षित है। अश्वमेध के अतिरिक्त, 'गवामयनम्', 'अग्न्याध्येय', 'राजसूय', 'आप्तोर्याम्', 'आंगिरेसामयनम्' तथा 'शतातिरात्र' यज्ञों का भी प्रचलन था। दान में गाँवों से लेकर कार्षापण (सोने, चाँदी अथवा ताँबे की एक प्रकार की मुद्रा), हाथी, घोड़े, गाएँ, रथ, वस्त्र, आभूषण, रजतखंड इत्यादि सभी प्रकार की वस्तुएँ दी जाती थीं। तथापि, इस युग में पर्याप्त धार्मिक सहिष्णुता वर्तमान थी। बौद्ध धर्म का भी व्यापक प्रचार था। कन्दरा-मंदिरों तथा शैलगृहों से संबंधित वास्तुकला में बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित था। यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ, वैष्णव एवं शैव धर्मों

---

१. "यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।"—'दिव्यावदान' (कावेल और नील द्वारा सम्पादित), पृ० ४३३.

का भी प्रसार हुआ। इस युग की धार्मिक अवस्था के संबन्ध में एक नितांत महत्त्व-पूर्ण बात यह थी कि यवन, शक, पह्लव, आभीर इत्यादि विदेशियों ने यथेष्ट संख्या में बौद्ध या ब्राह्मण धर्म स्वीकार कर लिया तथा हिन्दू नाम भी ग्रहण कर लिए। इस संदर्भ में महाराष्ट्र के 'क्षत्रप' सम्राट् नहपान का राज्यकाल विशेष उल्लेख्य है। उसके जामाता उषवदात तथा उसकी पुत्री दक्षमित्रा ने हिन्दू धर्म की दीक्षा ले ली थी। उषवदात ने मालवों के आक्रमण से उत्तमभद्रकों की रक्षा की और तदनन्तर पुष्कर-तीर्थ की यात्रा की जहाँ उसने स्नान किया और ब्राह्मणों को प्रचुर संख्या में गाएँ एवं सुवर्ण दान दिए। प्रभास, भृगुकच्छ, शूर्पारक, दशपुर, गन्धार इत्यादि अन्य तीर्थों में भी उसकी यात्रा का उल्लेख मिलता है जहाँ उसने सहस्रों ब्राह्मण खिलाए और प्रचुर गाएँ तथा सुवर्ण दान में दिए। उसकी राज्ञी दक्षमित्रा के भी एक कन्दरा-वास दान करने का उल्लेख उपलब्ध है।

विदेशियों में मिलिन्द के बौद्ध होने की चर्चा अभी की गई है। उसने बौद्ध श्रमणों को शुङ्ग सम्राट् के विरुद्ध अपनी राजधानी में यथेष्ट आश्रय दिया जिससे उसके उत्साही बौद्ध होने का पता चलता है। लेकिन, विदेशी शासकों में कनिष्क कुषाण ने बौद्धधर्म को प्रबल प्रोत्साहन दिया तथा उसकी अभिवृद्धि में अशोक के चरणचिह्नों का अनुगमन किया।[1] उसने महायान बौद्ध शाखा को स्वीकार कर उसे राजधर्म बनाया। बौद्धधर्म का हीनयान से महायान में परिवर्तित होना कनिष्क की प्रजा को कहीं अधिक अनुकूल सिद्ध हुआ क्योंकि उसका सरल आस्तिकवाद जिसमें एक इष्ट देवता की प्रतिष्ठा थी, उन्हें विशेष रुचिकर लगा। महायान सम्प्रदाय में कनिष्क को वही स्थान प्राप्त है जो हीनयान में अशोक को। लेकिन, जैसा पंडितों का अनुमान है, कुषाणों का अन्तिम उल्लेखनीय सम्राट् वासुदेव बौद्धधर्म का परित्याग कर, हिन्दू बन गया था। उसकी मुद्राओं के पृष्ठ पर शिव का चित्र मिलता है, जिसमें शिव का वाहन नन्दी भी अंकित रहता है। इससे उसके शैवधर्म अपनाने की व्यंजना होती है। गुप्त-सत्ता के उदय के पूर्व भारशिव नागों ने उत्तर-प्रदेश के कतिपय क्षेत्रों तथा मध्यभारत के कुछ भागों में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। डॉ० जायसवाल का मत है कि इन नाग नरेशों ने ब्राह्मण धर्म एवं साहित्य की उन्नति में प्रचुर उद्योग किया था। नाग शिव के परम भक्त थे और पीठ पर शिवलिंग वहन करते थे। इसी से वे 'भारशिव' कहलाए। कुषाणों को हरा कर, उन्होंने बार-बार अश्व-मेध किए और प्रत्येक अश्वमेध के अनन्तर काशी में विश्वनाथ मंदिर के निकट गंगा में स्नान किया। डॉ० जायसवाल के अनुसार, जिस घाट पर उन्होंने अवभृथ-

१. वाटर्स (Watters), प्रथम, पृ० २७०–७८.

स्नान किए, उसका नाम 'दशाश्वमेध घाट' पड़ गया जो आज भी आस्तिक हिन्दुओं के लिए प्रबल आकर्षण की वस्तु है।

शुङ्ग-काल में वास्तु-कला का भी एक नवीन युग प्रारम्भ हुआ था। मौर्य एवं पूर्व-मौर्यकालीन बौद्ध-स्तूपों की काष्ठ-वेदिकाओं के स्थान पर इस काल में पत्थर की वेदिकाएँ तथा भव्य तोरण-द्वार निर्मित्त हुए। इस नवीन शिल्प के उदाहरण भरहुत स्तूप के अवशेषों में देखे जा सकते हैं। पहले कहा जा चुका है कि पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी, परिस्थितियों के प्रकाश में, धर्म-सहिष्णु बन गए थे और इसी कारण उन्होंने भरहुत-स्तूप के निर्माण में बौद्ध-धर्म की प्रेरणा एवं प्रभाव स्वीकार कर लिए। उन तोरण-द्वारों, स्तंभों एवं वेदिकाओं की सूचियों में अंकित प्राकृतिक एवं जातक कथाओं के दृश्य उपलब्ध होते हैं जो भास्कर्य के अत्यन्त मनोरम उदाहरण हैं। भाजा का सुप्रसिद्ध विहार (पूना के निकट), उसके ही समीप चट्टान काट कर बनाए गए स्तूप एवं आयताकार चैत्यगृह, नासिक का चैत्य, अजन्ता का नवाँ चैत्य, अमरावती का स्तूप, बोध गया की मंजुल वेदिका, भरहुत के सुन्दर वृक्ष-देवता तथा बेसनगर (भिलसा) का शीर्षविहीन गरुड़स्तंभ—ये शुंगकाल के अन्य स्मारकों में नितान्त प्रसिद्ध हैं।

सिकन्दर ने अपने विजयाभियानों से भारतीय और यूनानी कला एवं संस्कृति में घनिष्ठ सम्पर्क के द्वार उद्घाटित कर दिए थे। अशोक के निर्बल उत्तराधिकारियों के शासन-काल में बैक्ट्रिया के जिन यूनानी सम्राटों ने पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के यथेष्ट भाग पर आधिपत्य स्थापित कर लिया, उनके द्वारा भारतीय मुद्रा का परिष्कार हुआ जो भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में एक महत्त्वशाली योग-दान था। तक्षशिला से मिलने वाले इण्डो-ग्रीक शासकों के सिक्के इतने सुन्दर हैं कि उनके प्रचलन में आने के बाद पुराने भारतीय पंचमार्के के सिक्के तथा अन्य अनगढ़ भद्दे सिक्के सर्वथा तिरस्कृत हो गए और यूनानी ढंग के सुन्दर आकृतिवाले सिक्के सर्वत्र ढलने लगे। तक्षशिला और स्यालकोट जैसे नगरों में यूनानियों की विशेष बस्तियाँ थीं जहाँ उनके दर्शनविद्, खिलाड़ी, ज्योतिर्विद्, कलाकार तथा अभिनेता अपनी मेधा एवं प्रतिभा का अभ्यास करते थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति पर अपनी अमिट छापें अंकित कर दी हैं। हमारे ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों में रोमक तथा पोलिश नामक दो सिद्धान्त यूनानियों की देन हैं। हिन्दुओं के राशिचक्र, होड़ाचक्र (जन्मपत्री), तथा विवाह का सबसे पुनीत लग्न 'जामित्र' (यूनानी 'दायामेत्रो') हमने उन्हीं से ग्रहण किए हैं। 'गर्गसंहिता' के रचयिता ने ज्योतिष-शास्त्र के अनुसन्धाता के रूप में यूनानियों को अपनी श्रद्धा समर्पित की है, यद्यपि उनके आक्रमणों की निन्दा

में उन्होंने उन्हें 'म्लेच्छ' कहा है। यद्यपि 'जवनिका' से "हमारे रंगमंच पर पर्दों का लहर" बँधने[1] की कल्पना अनुमोदनीय नहीं है, तथापि इतना तो निश्चित है कि आमोद-व्यसनी एवं रङ्गमंचीय कला के निरन्तर अभ्यासी यूनानियों के घनिष्ठ संसर्ग में आने से भारतीय नाट्य-कला में अवश्य कुछ परिष्कार अथवा नवीनता आई होगी।

शकों के संसर्ग का भी भारतीय संस्कृति पर प्रभाव पड़ा।[2] शकद्वीप (सिन्ध) से शक नरेशों द्वारा लाए गए शकद्वीपी ब्राह्मणों ने सूर्य की पूजा का प्रचार किया। शकों की प्रेरणा से उज्जैन में भारतीय ज्योतिष का केन्द्र स्थापित हुआ। इतना ही नहीं, उज्जैन के शैव शकाधिपति रुद्रदामन ने हमें "शुद्ध संस्कृत के सुललित गद्य की पहली शैली" प्रदान की जो १५० ई० के गिरनार-अभिलेख से प्रकट है। कुषाण सम्राट् कनिष्क ने जो शक-संवत् चलाया, उसका प्रयोग अद्यापि हमारे पंचांगों तथा जन्मपत्रियों में होता आ रहा है। "कुषाणों की कला-साधना तो इतनी फली-फूली कि हमारे देश का आँगन उसकी अनन्त विभूतियों से भर गया। हमारे शिवतम-सुन्दरतम की पृष्ठभूमि कुषाणों ने प्रस्तुत की। उनके महायान की भक्ति, कला का रस, देवों की सम्पदा, यक्षों का हास्य-लास्य, हमारे जीवन के अंगांग को भर चला, उसमें भिन गया।"[3] कनिष्क के राज्यकाल में कला की सुन्दर शैलियों का उत्कर्ष हुआ। सारनाथ, मथुरा, अमरावती एवं गन्धार, इन चार केन्द्रों में मूर्ति, स्थापत्य तथा तक्षण कलाओं का अपनी विशिष्टताओं-सहित अपूर्व विकास हुआ। अमरावती से प्राप्त पाषाण-वेष्टनियों पर उत्कीर्ण चित्रों की अनुपम कारीगरी शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। पेशावर में बुद्ध का धातु-प्रासाद मुख्यतः लकड़ी का बना हुआ था जिसकी ऊँचाई ४०० फीट थी। कनिष्क के समय में निर्मित एक मस्तक-रहित विशाल मूर्ति तथा एक दूसरी मस्तक-रहित बुद्ध-प्रतिमा क्रमशः सारनाथ और कौशाम्बी में पाई गई हैं। उसके शासन-काल में बहुत से बौद्ध संघाराम, स्तूप और प्रतिमाएँ निर्मित हुईं जिन पर कला की पुरानी यूनानी शैली का प्रभाव पड़ा है। भारतीय प्रतिभा के उपयुक्त बौद्ध विषयों पर प्रयुक्त यूनानी कला की यह शैली 'गान्धार शैली' के नाम से अभिहित हुई जिसे 'यूनानी-बौद्ध शैली' भी कहा जा

---

१. भगवत शरण उपाध्याय : 'कालिदास और उना युग', पृ० १६.

२. शकों ने शिव की पूजा को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। उज्जयिनी के महाकाल की महिमा उन्हीं के राज्यकाल में बढ़ी। 'पंचसिद्धान्तिका' का रचयिता वराहमिहिर ईरानी से अधिक शक था।

३. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास और उनका युग, पृ० १६–१७.

सकता है। इस शैली के शिल्प प्रस्तर, चूना और बालू के प्लैस्टर, मिट्टी तथा मृन्मयी मूर्तियों में उपलब्ध होते हैं जिन पर बहुधा सुवर्ण के पत्रों तथा रङ्गों के लेप का व्यवहार किया गया लक्षित होता है। गान्धार शैली अधिकतर भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में सीमित रही और वहीं से बौद्ध धर्म के साथ-साथ उसका सुदूर पूर्व में प्रसार हुआ। किन्तु, गान्धार-शैली की प्रशंसा के उत्साहातिरेक में यह समझना प्रमाद होगा कि ग्रीक कलाओं का भारत पर कोई वास्तविक प्रभाव पड़ा। उसका कारण दोनों जातियों की तात्त्विक असमानता है। यूनानी मनुष्य के बाह्य सौन्दर्य एवं उसके मस्तिष्क को ही सब कुछ समझता था और पूर्वीय देशों में भी यूनानी कला के जो शिल्प उपलब्ध होते हैं, उनमें इसी सौन्दर्य एवं मस्तिष्क के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति हुई है। लेकिन, भारतीय दृष्टि ने इन आदर्शों को कभी महत्त्व प्रदान नहीं किया, क्योंकि वह लौकिकता के स्थान पर अमरत्व तथा ससीम के स्थान पर असीम के प्रति आसक्त थी। दर्शन के क्षेत्र में यही अन्तर दृष्टिगोचर होता है। यूनानी दर्शन आचार-मूलक था, तो भारतीय दर्शन आध्यात्मिक; यूनानी दर्शन बुद्धि-प्रधान (Rational) था, तो भारतीय दर्शन भाव-प्रधान (Emotional)। और, इन्हीं उदात्त भावनाओं एवं आध्यात्मिक प्रेरणाओं को, आगे चल कर, भारतीयों ने कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करने के लिए मूर्त्त स्वरूप देना प्रारम्भ किया।[1] गुप्त कला में हमें इस आदर्श का प्रतिफलन उपलब्ध होता है।

(ग) साहित्यिक

राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पीठिका के पर्यालोचन के साथ-साथ, साहित्यिक पीठिका का विवेचन भी आवश्यक है क्योंकि जिस प्रकार कालिदास के वातावरण के निर्माण में उनकी पूर्वकालीन राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का सहयोग है, उसी प्रकार उसके निर्माण में उस साहित्यिक सामग्री का भी अवदान है जो उस समय तक, किसी-न-किसी रूप में, संकलित हो गई थी। प्रायः वैदिक मन्त्रों, नाराशंसी एवं दानस्तुति वाली श्लाघाओं, अर्धनाटकीय एवं भावावेश-पूर्ण संवाद-आख्यानों, ऊषा-विषयक ललित एवं अभिराम पद्यों अथवा ब्राह्मणों में सुरक्षित गल्पों तथा भूत-प्रेत सम्बन्धी छन्दों में संस्कृत काव्य के आदि स्रोत खोजने का उद्योग किया जाता है। इसी प्रकार, यह भी कल्पना की जाती है कि प्राकृत का कोई साहित्य पहले से वर्तमान था और उसी के अनुकरण पर संस्कृत काव्य ने अपना रूप निर्मित किया। यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि रामायण और

---

१. मार्शल : 'ए गाइड टु टैक्सिला', पृ० ३४.

महाभारत के दोनों महाकाव्य पहले प्राकृत में रचे गए थे और बाद में, उन्हें संस्कृत में अनूदित किया गया। प्राकृत साहित्य की, संस्कृत की तुलना में पूर्वस्थिति का अनुमान ईसा-पूर्व काल में प्राकृत के, अभिलेखों में, प्रयोग से किया गया है। किन्तु, इन समस्त अनुमानों एवं मान्यताओं के लिए कोई प्रबल एवं अपरिहार्य तर्क नहीं है। अत्यन्त प्राचीन काल से, धार्मिक रचनाओं के बीच में प्रवाहित होनेवाली लौकिक रस की रचनाओं की क्षीण अन्तर्धारा भी विद्यमान रही होगी। जैसा सुशीलकुमार डे का कथन है, वैदिक युग से ही एक लोकप्रिय लौकिक साहित्य का अस्तित्व मानना सम्भव है जो पुरोहितीय भाषा से भिन्न भाषा में रहा होगा तथा जिससे ही वेदों के लौकिक मंत्रों को सामग्री मिली होगी; और यह परम्परा वीर गीतों, गीत्यात्मक पद्यों, प्रेतसम्बन्धी छन्दों तथा लोक-कथाओं में—जो सम्भवतः प्राकृत में रचित होंगे—चलती आई होगी।[1] लेकिन, रामायण और महाभारत को ही संस्कृत काव्य का प्राकृत स्रोत मानना चाहिए क्योंकि उनकी शैली साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त परिमार्जित, ललित एवं हृदयावर्जक है। रामायण को 'आदिकाव्य' और वाल्मीकि को 'आदिकवि' कहा भी गया है।

वैयाकरण पाणिनि के समय, चौथी शताब्दी ई० पू०, में संस्कृत काव्य के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है। पाणिनि का उद्देश्य पुरोहितीय भाषा को नियन्त्रित करना नहीं था, अपितु सामान्य शिष्ट अभिव्यक्ति की भाषा को एक स्थिर, परिमार्जित एवं परिनिष्ठित स्वरूप प्रदान करना था। उन्होंने अपनी अष्टाध्यायी में अन्य व्याकरणीय सम्प्रदायों का उल्लेख किया है तथा अपनी ही भाषा-पद्धति को अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं सुनियंत्रित आधारों पर निर्मित किया है। इन बातों से पता चलता है कि उस समय व्याकरण विज्ञान अत्यधिक विकसित अवस्था में था और इससे साहित्य के एक प्रचुर परिमाण के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है जिसके आधार पर व्याकरण-विमर्श का इतना जटिल एवं व्यवस्थित प्रासाद खड़ा किया जाना सम्भव हो सका। दुर्भाग्य से इस साहित्यिक सामग्री का कोई अवशेष आज उपलब्ध नहीं है। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' (१२५७ ई०) में राजशेखर का एक पद्य उद्धृत है जिसमें कहा गया है कि पाणिनि ने पहले व्याकरण और बाद में 'जाम्बवतीजय' नामक काव्य का प्रणयन किया।[2] रुद्रट के 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु ने पाणिनि के 'पातालविजय' नामक महाकाव्य से एक

---

१. सुशीलकुमार डे : 'History of Sanskrit Literature', पृ० ३

२. "नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ॥"

छोटा पद्यांश यह दिखलाने के लिए उद्धृत किया है कि कवि कभी-कभी व्याकरण-विरोधी पदावली का भी प्रयोग किया करते हैं ("सन्ध्यावधूं गृह्य करेण")। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों काव्य दो भिन्न-भिन्न रचनाएँ हैं अथवा एक ही रचना के दो नाम हैं। कतिपय अन्य सूक्तिसंग्रहों में भी पाणिनि के नाम से ललित पद्य उद्धृत मिलते हैं। क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में पाणिनि के 'उपजाति' छन्द को चमत्कार का सार बताया है।[1] भारतीय परम्परा कवि पाणिनि एवं वैयाकरण पाणिनि को एक मानती आई है, और किसी प्रबल विरोधी प्रमाण के अभाव में, इसमें सन्देह करना उचित नहीं प्रतीत होता। सूक्ति-संकलनों में वररुचि के नाम से भी उद्धृत कतिपय पद्य उपलब्ध होते हैं। पतंजलि ने वररुचि द्वारा रचित किसी काव्यग्रंथ ("वाररुचं काव्यं") का उल्लेख अपने महाभाष्य में किया है। यह काव्यग्रंथ सम्प्रति अप्राप्य है, किन्तु संभवतः इसका नाम 'कंठाभरण' था जिसका उल्लेख राजशेखर ने एक पद्य में किया है।[2] पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक लिखने वाले कात्यायन मुनि को कवि वररुचि से अभिन्न मान लेने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई देती। डा० भंडारकर ने वररुचि कात्यायन का समय भी ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी माना है। पाणिनि तथा वररुचि, दोनों के पद्यों में पर्याप्त लालित्य एवं सौरस्य वर्तमान है, और उन्हें उनकी रचना मान लेने से यह सिद्ध हो जाता है कि ई० पू० चौथी शती में ललित काव्य की रचनाएँ होने लगी थीं।

महाभाष्यकार ने दृष्टान्त के निमित्त बहुत से श्लोकों एवं श्लोकखंडों को उद्धृत किया है जिनके अनुशीलन से संस्कृत काव्य-धारा की प्राचीनता प्रमाणित होती है। उनके द्वारा 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरी' तथा 'भैमरथी' नामक अनुपलब्ध आख्यायिका-ग्रंथों और 'कंसवध' एवं 'बलिबंध' नामक नाटकों का भी उल्लेख किया गया है। अतएव, यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी में काव्य की नाना विधाएँ लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थीं।

पिंगल मुनि के 'छन्दःसूत्र' में विविध गीत्यात्मक छन्दों का निरूपण हुआ है। ये वैदिक एवं महाकाव्यगत छन्दों से भिन्न हैं। इनका नामकरण इनकी अपनी गतियों, फूलों और पौधों एवं पशुओं की बोलियों तथा आदतों के आधार पर किया गया है।[3]

---

१. "स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥"

२. "यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥"

३. ए० बी० कीथ : 'A History of Sanskrit literature', पृ० ४८.

लेकिन, सर्वाधिक उल्लेखनीय है, कतिपय छन्दों का सुन्दरी नारियों के नाम से अभिहित किया जाना—यथा, 'तन्वी', 'रुचिरा', 'प्रमदा', 'प्रमिताक्षरा', 'मंजुभाषिणी', 'शशिवदना', विद्युन्माला', 'कनकप्रभा', 'वसंततिलका', 'चंचलाक्षी' इत्यादि। इन अभिधानों से लयात्मक रूपों की एक अधिक विकसित एवं सुकुमार भावना की व्यंजना होती है और यह जान पड़ता है कि इन छन्दों का प्रारंभिक प्रयोग प्रणय-विषयक शृंगारी विषयों के लिए हुआ होगा। और, जैकोबी का यह कथन सही है कि इन छन्दों का उदय ईसा-पूर्व युग के संस्कृत काव्य में हुआ था।

तथापि, पतंजलि एवं अश्वघोष के समयों के बीच सर्जित काव्य-साहित्य का हमें पूर्व परिज्ञान नहीं है और उपलब्ध काव्यों में से किसी को, विश्वास के साथ, ईसापूर्व दूसरी शती तथा ईसवी संवत् की पहली अथवा दूसरी शती के बीच वाले युग में नहीं रखा जा सकता। कनिष्क के शासनकाल में रचना करने वाले बौद्ध कवि अश्वघोष के साथ ही संस्कृत काव्य विश्वसनीय ढंग से अपना रूप दिखलाता है। 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द' उनके दो महाकाव्य हैं। प्रथम में तथागत बुद्ध के निर्मल सात्त्विक जीवन का सरल एवं सरस वर्णन किया गया है तथा दूसरे में गौतमबुद्ध के सौतेले भाई सुन्दरनन्द के प्रव्रज्या ग्रहण का हृदयहारी चित्रण हुआ है। 'बुद्धचरित' अश्वघोष का कीर्तिस्तम्भ है, किन्तु मूल रूप में यह केवल आधा ही उपलब्ध हुआ है। 'सौन्दरनन्द' अठारह सर्गों में निबद्ध, यौवन-सुलभ प्रेम की उद्दामता एवं जाग्रत धर्मानुराग के विषम संघर्ष का चित्रण करने वाला रमणीय काव्य है। नन्द एवं उसकी पत्नी सुन्दरी के संभोग-शृंगार की माधुरी का जैसा हृदयावर्जक अंकन हुआ है, वैसा ही हृदय-द्रावक चित्रण, नन्द के प्रव्रज्या-ग्रहण पर, प्रणयियुगल की मूक वेदना का हुआ है। 'सौन्दरनन्द' इस दृष्टि से, 'बुद्धचरित' की अपेक्षा अधिक मनोरम काव्य है। यह ज्ञातव्य है कि अश्वघोष ने काव्य की ललित एवं हृद्य प्रणाली धार्मिक तत्त्वों को अनायास ग्रहणीय बनाने के निमित्त अंगीकार की। 'सौन्दरनन्द' के अन्त में वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं—

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं,
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥"[१]

—'जिस प्रकार कड़वी दवा को हृद्य बनाने के लिए उसे मधु से युक्त बनाना पड़ता है, उसी प्रकार श्रोताओं को धर्म-तत्त्व-ग्रहण में सक्षम बनाने के लिए यह मोक्षार्थ-निरूपिणी रचना रची गई है जिसका उद्देश्य रति नहीं, शान्ति है।'

अश्वघोष के काव्यों के परीक्षण से प्रकट होता है कि यद्यपि वे परवर्ती काव्य में प्रयुक्त होने वाले लम्बे समासों से मुक्त हैं, तथापि क्लासिकल छन्दों के कौशलपूर्ण प्रयोग, उपमा तथा अन्य अलंकारों की नियोजना और अभिव्यक्ति की एक पृथक इकाई के रूप में किसी पद्यखंड के अधिकाधिक प्रयोग से, वे काव्य-नियमों की, भले ही अपरिपक्व रूप में, जानकारी का असंदिग्ध विज्ञापन करते हैं।[1]

अश्वघोष के बाद, महाक्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार की चट्टान पर उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त होता है। १५० ईस्वी के लगभग अत्यन्त ललित एवं अलंकृत काव्य-शैली में यह प्रशस्ति लिखी गई थी। यद्यपि इस प्रशस्ति का कोई अधिक साहित्यिक महत्त्व नहीं है, तथापि लालित्यपूर्ण संस्कृत गद्य-रचना के एक आरंभिक उदाहरण के रूप में इसका अपना महत्त्व है। इसमें रुद्रदामन की अलंकृत एवं अभिराम गद्य-पद्य-रचना की क्षमता की प्रशंसा की गई है। इस प्रशंसा में थोड़ी अतिरंजना स्वीकार करते हुए भी, इससे यह ज्ञात होता है कि एक विदेशी जाति का शासक भी संस्कृत में, उस प्रारंभिक काल में, अभिरुचि रखता है। पुनः इस प्रशस्ति से उसके रचयिता के काव्य-सुलभ अलंकारादि के ज्ञान की विज्ञप्ति होती है। यह उल्लेख्य है कि इस अभिलेख में 'पत्या' की जगह 'पतिना' जैसे पुराने प्रयोग 'विंशदुत्तराणी' के बदले 'विंशदुत्तरणी' जैसे प्राकृत-प्रयोग, अथवा 'अन्यत्र संग्रामेषु' जैसी अनियमित पद-रचना उपलब्ध होती है; लेकिन, लम्बे वाक्यों एवं नाद-पूर्ण समासों, उपमा एवं अनुप्रास जैसे काव्यालंकारों तथा अन्य साहित्यिक छटाओं के उपयोग में यह संस्कृत काव्य की स्पष्ट विशेषताओं को उदाहृत करता है। श्री पुलुमावी का नासिक-अभिलेख भी दूसरी शती ईसा का है तथा एतादृश विशेषताएँ प्रदर्शित करता है, यद्यपि यह प्राकृत में रचित है।

अश्वघोष के समकालीन या पश्चाद्भावी बौद्ध कवियों में मातृचेट, कुमारलात तथा आर्यशूर, के नाम उल्लेखनीय हैं। मातृचेट ने पचासी पद्यों का एक छोटा सा काव्य बौद्धधर्म के सिद्धान्तों के निरूपण में प्रणीत कर कनिष्क को भेजा था जो तिब्बती भाषा में अनूदित होकर अद्यापि सुरक्षित है। इनके दो स्तोत्रग्रंथ 'चतुःशतक' तथा 'अध्यर्धशतक' स्तुति-काव्य के मनोरम उदाहरण हैं। दूसरा ग्रंथ डेढ़ सौ अनुष्टुप् छन्दों में निबद्ध बुद्धस्तव मातृचेट की सर्वप्रधान रचना है। आचार्य दिङ्नाग तथा अनेक प्रसिद्ध जैन आचार्यों ने इसके अनुकरण पर नवीन स्तुति-काव्यों का प्रणयन किया। इस काव्य के प्रत्येक पद्य में कवि-हृदय की सरसता,

---

१. सुशीलकुमार डे : 'History of Sanskrit literature' पृ० १३–१४

सचाई एवं भावग्राहिता का मनोरम चित्र उतर आया है। चीनी यात्री इत्सिंग के लेख से पता चलता है कि मातृगुप्त की स्तुतियों का बौद्ध भिक्षुओं में बहुल मान था तथा वह अन्य स्तुतिकारों द्वारा 'साहित्य का पिता' माना जाता था। आर्यशूर का मुख्य काव्यग्रंथ 'जातकमाला' है। अजन्ता की दीवारों पर 'जातकमाला' के शान्तिवादी, मैत्रीबल, शिवि इत्यादि जातकों के दृश्यों का अंकन तथा तत्तत् जातकों के परिचयात्मक श्लोकों का उट्टंकन हुआ है जिससे इस रचना की लोकप्रियता का भान होता है। आर्यशूर की एक दूसरी रचना है 'पारमितासमास' जिसमें छहों पारमिताओं (दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा) का वर्णन छः सर्गों तथा ३६४ श्लोकों में 'जातकमाला' की ही सरल, सुबोध शैली में किया गया है। बौद्ध कथाओं का आख्यान रोचक, काव्यात्मक शैली में लिपिबद्ध करना आर्यशूर का प्रमुख लक्ष्य है। अश्वघोष के समान, आर्यशूर ने भी, रूखे मन वाले पाठकों को बौद्ध उपदेश ग्राह्य बनाने के हेतु (रूक्षमनसामपि प्रसादः) अपनी वाणी के वितान को काव्यमयी वेशभूषा से अलंकृत किया है।

'जातकमाला' अथवा 'बोधिसत्त्वावदानमाला' से संबंधित 'अवदान' साहित्य है जो महान् कृत्यों की ऐसी कहानी है जिसके नायक स्वयं बोधिसत्त्व हैं। अवदान ग्रंथों में कभी-कभी जातकों की कथाएँ समाविष्ट होती हैं। अवदानों का मुख्य प्रतिपाद्य, मनुष्य के कर्म-फल का निदर्शन है। इस प्रकार, उनका उद्देश्य नैतिक होता है, किन्तु बुद्ध अथवा उनके अनुयायिओं के प्रति व्यक्तिगत श्रद्धा की प्रभावकारिता में विश्वास रखने से कर्म-सिद्धान्त की कठोरताएँ कम हो जाती हैं। कभी-कभी, जातकों के समान, स्वयं बुद्ध द्वारा किसी अतीत, वर्तमान अथवा भविष्यत् घटना के वर्णनरूप में कहानियाँ कही जाती हैं जिनमें नैतिक उद्बोधन, अतिरंजनाएँ तथा विस्मयजनक घटनाएँ अनायास आती जाती हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन अवदानों का कोई मूल्य नहीं है, संस्कृत में कथा-कथन की एक विशिष्ट पद्धति के रूप में वे ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। 'अवदानशतक' और 'दिव्यावदान' ऐसी ही कहानियों के संकलन हैं। इनका रचना-काल ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी अनुमानित है। 'महावस्तु' ग्रंथ के कुछ अंशों का संबंध भी ईसा की पहली शती से है। 'ललितविस्तर' बुद्ध की क्रीड़ाओं का विस्तृत विवरण है। बुद्ध के जीवन-चरित के रूप में इसका जो भी महत्व हो, इसकी शैली पुराणों जैसी ही है। सरल, सामान्य संस्कृत गद्य में कथा कही गई है, लेकिन बीच-बीच में मिश्र संस्कृत में छन्दोबद्ध पद्यात्मक अंश भी आते हैं। इसका भी साहित्यिक दृष्टि से महत्व नगण्य है।

'पंचतंत्र' और 'बृहत्कथा' की कहानियाँ दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से कही गई हैं। प्रथम का उद्देश्य उपदेशात्मक है और दूसरे का मनोरंजनात्मक। 'पंचतंत्र' के अनेक

संस्करणों में सबसे प्राचीन संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है जिसका मूल स्थान कश्मीर है। मूल 'बृहत्कथा' पैशाची में गुणाढ्य द्वारा लिखी गई थी जो सातवाहन नरेश हाल के सभा-कवि थे। इस प्रकार इसका रचना-काल ईसा की प्रथम शताब्दी के आस पास होना चाहिए। 'बृहत्कथा' के तीन संस्कृत अनुवाद सम्प्रति उपलब्ध हैं—बुद्धस्वामी-कृत 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', क्षेमेन्द्र-कृत 'बृहत्कथा-मंजरी' तथा सोमदेव-कृत 'कथासरित्सागर' जिनमें सबसे प्रसिद्ध अनुवाद अंतिम ही है। 'बृहत्कथा' से बढ़कर प्राचीन कथाओं का संग्रह दूसरा कोई नहीं है। वाल्मीकि एवं व्यास के अतिरिक्त गुणाढ्य भी भारतीय कवियों के उपजीव्य रहे हैं। 'बृहत्कथा' का नायक महाराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त है जो अपने मित्र गोमुख की सहायता से अपनी प्रियतमा मदनमंजूषा से विवाह करने तथा विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करने में समर्थ होता है। संस्कृत कथा साहित्य के ऊपर 'बृहत्कथा' का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। रामायण तथा महाभारत के समान यह भी 'संस्कृत साहित्य का जाज्वल्यमान हीरक' है। महाकवि भास, श्रीहर्ष तथा भट्टनारायण ने अपने नाटकों की कथावस्तु अधिकतया इसी से गृहीत की हैं।

कालिदास के अत्यन्त निकट के पूर्ववर्ती कवि भास हैं। 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में भास के साथ-साथ सौमिल्ल, कविपुत्र प्रभृति कवियों का उल्लेख हुआ है। इनमें से अब तक केवल भास के तेरह नाटकों का अनुसंधान हो सका है। कदाचित् कालिदास के आकस्मिक उदय ने इन कवियों की कृतियों को पर्याच्छन्न कर लिया और वे बाद में सर्वथा विलुप्त हो गईं। यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य का इतिहास इन अभागे कवियों के विषय में बिलकुल मौन है।

ऊपर हमने कालिदास की काव्य-रचना की राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पूर्वपीठिका का दिग्दर्शन कराया है। किन्तु, उनकी तात्कालिक पृष्ठभूमि समझने के लिए गुप्तवंशीय नरेशों के शासन-कृत्यों का एक संक्षिप्त अभिशंसन भी आवश्यक है।

जैसा हम पहले दिखा आए हैं, ईसा की तीसरी शताब्दी में उत्तरभारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई थी। वह कई स्वाधीन राज्यों में बँट गया था। उत्तरीभारत के एक बड़े भू-भाग में नाग राजाओं का आधिपत्य था, किन्तु उन्होंने संभवतः कभी चक्रवर्ती बनने का दावा नहीं किया। ऐसी दशा में, लगभग चौथी शती ईसा के आरम्भ से, भारत में एक नई सार्वभौम सत्ता का उदय होता है जिसकी छत्रच्छाया में राजनीतिक सुदृढ़ता के साथ-साथ, कला-कौशल, विज्ञान, साहित्य इत्यादि की अपूर्व उन्नति हुई और वह युग भारतीय साहित्य का सुवर्णकाल बन गया।

गुप्तवंश का उद्भावक 'महाराज' श्रीगुप्त है जो डा० जायसवाल के अनुसार

प्रयाग के निकट के भारशिवों के अधिनायकत्व में एक छोटे से राज्य पर शासन करता था। उसका पौत्र चन्द्रगुप्त प्रथम इस कुल का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् था। उसकी राजमहिषी 'लिच्छिवि राजकुमारी' महादेवी कुमारदेवी थी। चन्द्रगुप्त के लिच्छिवियों के साथ वैवाहिक संबन्ध की व्यंजना कुछ ऐसे प्राप्त सिक्कों से होती है जिनके मुखपृष्ठ पर चन्द्रगुप्त तथा कुमारदेवी की खड़ी आकृतियाँ हैं जिनके साथ ही उनके नाम भी अंकित हैं तथा पृष्ठ तल पर सिंहवाहिनी लक्ष्मी की मूर्ति है और 'लिच्छवयः' लेख पाया जाता है। चन्द्रगुप्त प्रथम का पुत्र समुद्रगुप्त था जिसे पाश्चात्य इतिहासकारों ने 'भारतीय नैपोलियन' की उपाधि प्रदान की है। 'काच'नामांकित सुवर्ण सिक्कों पर जो 'सर्वराजोच्छेत्ता' विशेषण अंकित मिलता है, वह अनेक विद्वानों की सम्मति में, समुद्रगुप्त के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। समुद्रगुप्त का प्रयागवाला स्तंभलेख उसके चारित्र एवं कृतित्व पर सुन्दर प्रकाश डालता है। उस प्रशस्ति का रचयिता हरिषेण उच्चकोटि का कवि प्रतीत होता है तथा उसकी पदावली एवं कालिदास की पदावली में घनिष्ठ साम्य दृष्टिगोचर होता है। अभिलेख के प्रथम भाग में आठ श्लोक हैं जिनमें समुद्रगुप्त के आरम्भिक शिक्षण एवं योग्यता का वर्णन हुआ है तथा दूसरा भाग गद्यात्मक है जिसमें उसके सैनिक अभियानों एवं विजयों का सविस्तर वर्णन है। इस प्रशस्ति से उसके अखण्ड पौरुष एवं विजयदर्प का ही विद्योतन नहीं होता, अपितु उसके प्रगल्भ पांडित्य, शास्त्रीय ज्ञान, विद्वानों के सत्संग-प्रेम, कलानुरागिता तथा कवित्वशक्ति का भी परिचय मिलता है। उसने 'कविराज' की उपाधि अर्जित कर ली थी तथा वीणा-वादन में असाधारण कौशल का धनी था। प्रशस्ति में उल्लेख है कि उसने अपनी विदग्ध मति से देवराज के गुरु बृहस्पति और गायन-वादन में प्रसिद्ध संगीताचार्य तुम्बरु तथा नारद को लज्जित कर दिया था। सामरिक उपलब्धियाँ उसकी और भी महनीय थीं। नव राजाओं के भारशिव-संघ को उसने नष्ट कर दिया। दक्षिण की ओर मुड़ कर उसने दक्षिणापथ के बारह राजाओं को परास्त किया और अतीव उदारता के साथ उनकी विजित भूमि उन्हें लौटा कर, विशाखापत्तन और अर्काट के उत्तरी जिलों तक विजय-वैजयन्ती फहराता हुआ, पश्चिम की ओर लौट गया। प्रत्यन्त के नरेशों ने भी उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। समुद्रगुप्त की सबसे महनीय विजय मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, करक और खरपरिक, इन नव गणतन्त्रीय जातियों का पराभव एवं मानमर्दन थी जो सदा से भारत भूमि में स्थापित साम्राज्यों को नियंत्रित एवं चिन्ता-विलुलित करती आ रही थी। अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर, समुद्रगुप्त ने अश्वमेध किया तथा ब्राह्मणों को प्रभूत सुवर्ण-मुद्राएँ दान दीं। इसका पता उन स्वर्णमुद्राओं से चलता है जिनके मुखपृष्ठ पर एक यूप (यज्ञ का खूँटा)

के सामने एक घोड़ा बना हुआ है तथा महारानी का चित्र एवं 'अश्वमेधपराक्रमः' लेख अंकित मिलता है।

समुद्रगुप्त के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ था। किन्तु विशाखदत्त के नाटक देवीचन्द्रगुप्तम्' से ज्ञात होता है कि वह अत्यन्त निर्बल एवं कायर शासक था तथा शकराज ने उसे आक्रान्त कर इतना विवश बना दिया कि उसने अपनी सुन्दरी पत्नी ध्रुवदेवी को उस शकनरेश को प्रदान करना स्वीकार कर लिया। इस पर ध्रुवदेवी ने अपने देवर तरुण चन्द्रगुप्त से अपनी एवं गुप्तकुल की लाज बचाने की प्रार्थना की। चन्द्रगुप्त रानी के वेश में शक-शिविर में पहुँचा और शकनरेश का वध कर दिया। तब उसने गुप्त सिंहासन तथा ध्रुवदेवी, दोनों को स्वायत्त कर लिया। यही चन्द्रगुप्त द्वितीय कालिदास का संरक्षक है जिसने 'विक्रमादित्य' एवं 'शकारि' की उपाधियाँ ग्रहण कीं। उसके राज्यारोहण का समय ३७५ ई० और ३८० ई० के बीच निश्चित किया गया है।

यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को एक विस्तृत साम्राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। लेकिन, उसके उपभोग में मालवा, गुजरात एवं सौराष्ट्र के शकनरेशों द्वारा बड़ा विघ्न उपस्थित कर दिया गया था जो 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की घटना से स्पष्ट विदित है। शकों की शक्ति के उन्मूलन-हेतु, चन्द्रगुप्त का प्रयासशील होना स्वाभाविक था। मालवा के शकों और गुप्त-साम्राज्य के बीच वाकाटकों का ब्राह्मण-राज्य पड़ता था। चन्द्रगुप्त ने बुद्धिमत्ता-पूर्वक वाकाटकराज को अपनी पुत्री विवाह में देकर, उसके साथ सन्धि कर ली और उसके राज्य से मार्ग ग्रहण कर शकों को विनष्ट कर दिया। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने उदयगिरि में अपनी प्रशस्ति के साथ वराह-विष्णु की पृथ्वी का उद्धार करती हुई मूर्ति उत्कीर्ण कराई और 'विक्रमादित्य' का विरुद ग्रहण किया। अब समस्त मालवा, गुजरात एवं काठियावाड़ उसकी राज्यसीमा के अन्तर्गत सन्निविष्ट हो गए। शकों के सिक्कों को उसने उन पर अपना नाम अंकित कराकर, अपने पश्चिमी प्रान्तों में चलाया और उनको समुचित शासन-व्यवस्था के लिए उज्जयिनी को दूसरी राजधानी बनाया। दिल्ली के पास मेहरौली गाँव में उसका एक लौहस्तम्भ है जिससे मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बंगाल में जाकर केन्द्रित होने वाले शकों को परास्त किया तथा पंजाब की सातों नदियों को पार कर, वाह्लीक (बैक्ट्रिया के हूण और सीमाप्रान्त के शकमुरुण्ड) को पराजित किया। इस प्रकार शकों का पूर्णोच्छेद कर, चन्द्रगुप्त द्वितीय 'शकारि' बना। समुद्र से समुद्र तक सुविस्तीर्ण साम्राज्य का उत्तराधिकार पाने वाले उसके पुत्र कुमारगुप्त की यह प्रशस्ति निश्चय महत्त्व रखती है—

"चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥"

कालिदास की 'आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्' वाली कल्पना इस प्रशस्ति से कितना मेल खाती है ! पंडितों का कथन है कि 'रघुवंश' में वर्णित रघु की दिग्विजय समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की सम्मिलित विजयों की प्रतिध्वनि है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल में चीनी यात्री फाहियान भारत आया। उसने गुप्त-शासन की रीति-नीति तथा भारतीय जनवर्ग के जीवन का जो वर्णन किया है, उससे चन्द्रगुप्त की धार्मिक सहिष्णुता, प्रजा के सुखमय जीवन तथा शान्ति-सुरक्षा के अखण्ड राज्य का परिचय मिलता है। सात वर्ष तक भारत-भ्रमण करने पर भी, 'राजमार्गों पर उसके साथ किसी प्रकार का अत्याचार नहीं हुआ।' इससे सिद्ध होता है कि अपराधों की घटनाएँ प्रायः नहीं घटती थीं और राज्य में संचार एकदम सुरक्षित था। कालिदास ने अपने आदर्श नरेश के शासन का जो चित्र अंकित किया है, उसमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन की प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई देती है। देखिए दिलीप के पृथिवी पर शासन करते समय, बिहार के लिए मार्ग में जाती हुई, अधिक मद के कारण निद्रालस नर्तकियों के वस्त्र तक को स्पर्श करने का साहस पवन भी नहीं कर सकता था भला तब अपहरण के हेतु अन्य कौन हाथ बढ़ा सकता था—

"यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥" (६।७५)

चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासनकाल लगभग ३८० ईस्वी से ४१४ ई० तक निश्चित किया गया है। उसके बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम सिंहासनारूढ हुआ जिसने ४५५ ई० तक राज्य किया। उसके सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसने अश्वमेध किया। वह सामान्यतः 'कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य' के नाम से विख्यात है, यद्यपि 'नरेन्द्र', 'विक्रमांक', 'विक्रमादित्य' इत्यादि कई उपाधियाँ उसने ग्रहण कर ली थीं। वह कट्टर ब्राह्मण-धर्मानुयायी था। उसने देवोपासना में कार्तिकेय की पूजा चलाई, किन्तु अन्य देवताओं की, यथा सूर्य, शिव एवं विष्णु की उपासना में उसने कोई कमी नहीं आने दी। उसके निधनोपरान्त उसका पुत्र स्कन्दगुप्त (४५५ ई०-४६७ ई०) राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसने भी 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया तथा हूणों के आक्रमण का सबल प्रतिरोध कर, उन्हें परास्त किया। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद यशस्वी गुप्त सम्राटों की परम्परा समाप्त हो गई, और ५१० ई० के लगभग गुप्त-राजकुल का पर्यवसान घटित हुआ। कालिदास का आविर्भाव ईसा की चौथी शती के उत्तरार्ध तथा पाँचवीं शती के पूर्वार्ध के बीच हुआ था और ये चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नवरत्नों के शिरमौर थे।

(घ) गुप्त-काल की विशेषताएँ

गुप्त-युग की स्वर्णिम विशेषताओं पर एक संक्षिप्त दृष्टि दौड़ाई जा सकती है। ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। किन्तु, बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रति गुप्त नरेश सहिष्णु थे। इस काल में ज्योतिष एवं गणित शास्त्रों का अभूतपूर्व विकास हुआ। यज्ञादि के विधान के लिए शुभ मुहूर्त्त खोजे जाने के कारण, नभोमंडल के ग्रह-नक्षत्र इत्यादि का श्रमसाध्य अध्ययन हुआ तथा पूजाओं के पुनरुद्धार के कारण जिनमें विभिन्न आकृतियों की वेदियाँ और 'यूप' निर्मित होते थे, ज्यामिति शास्त्र का अच्छा विकास हुआ। आर्य भट्ट जैसा गणितज्ञ तथा वराहमिहिर जैसा ज्योतिर्विद् इसी युग की प्रसूति हैं!

उपयोगी एवं ललित कलाओं का भी गुप्तों की छत्रच्छाया में अपूर्व उत्कर्ष हुआ। समुद्रगुप्त ने संगीत को विशेष प्रोत्साहन दिया। इसी प्रकार स्थापत्य, भास्कर्य एवं चित्रकला का भी व्यापक प्रसार हुआ। इस युग की बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की अनेक प्रतिमाएँ विभिन्न प्रदेशों में उत्खनन में प्राप्त हुई हैं। इनके अध्ययन से गुप्तकालीन मूर्ति-कला की श्रेष्ठता, गान्धार-शैली अथवा कुषाण-शैली की तुलना में, स्वतः प्रमाणित होती है। विभिन्न मुद्राओं में अंकित गुप्त प्रतिमाएँ अपने कुषाण एवं गान्धार प्रतिरूपों की अपेक्षा मुख तथा नेत्र के अंकन में कहीं अधिक आध्यात्मिक शांति का परिचय देती प्रतीत होती हैं। इसी काल में अजंता की तीन सर्वोत्तम गुफाएँ—सोलहवीं, सत्रहवीं और उन्नीसवीं—निर्मित हुईं। इन गुफाओं के ललित भित्तिचित्र मानवीय अर्न्तदृष्टि तथा सूक्ष्म शिल्प के अनन्य उदाहरण हैं। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का प्रकाशन अनेक ब्राह्मण मंदिरों के निर्माण में हुआ। मेहरौली के लौहस्तंभ—जिस पर अद्यापि जंग नहीं लगी—तथा नालन्दा में पाई गई बहु-संख्यक एवं विशाल ताँबे की मूर्तियों से गुप्तकालीन धातुविज्ञान के प्रकर्ष का विद्योतन होता है।

बौद्धिक गवेषणा की दृष्टि से यह युग नियमन, निबंधन एवं विधियों के संकलन तथा स्थिरीकरण का समय था। जातीय मेधा एवं चरित्र का विकास अपनी दैवी पराकाष्ठा पर पहुँच कर प्रायः अवरुद्ध हो गया था। राष्ट्रीय मनोभाव सर्वत्र जड़ीभूत होता जा रहा था। क्या दर्शन, क्या आचारशास्त्र, क्या ज्ञान-विज्ञान, सभी नियमों एवं विधानों के प्राचीर में आबद्ध हो गए। अनेक पुराणों तथा मनुस्मृति के अंतिम संस्करण इसी युग में सम्पादित हुए। याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रणयन इसी समय हुआ। यह मुख्यतया विद्वानों, विधायकों, तर्क-शास्त्रियों तथा दार्शनिक विधि-प्रणेताओं का युग था। किन्तु, दूसरी ओर राष्ट्र की सर्जनात्मक सौन्दर्य-चेतना का प्रवाह इन्द्रियों की

परितुष्टि, जीवन एवं सौन्दर्य के अभिमान इत्यादि भौतिक मूल्यों के अनुशीलन एवं उपभोग की ओर, परिप्लावित हो चला था। जैसा अभी कहा गया है, चित्ररचना, स्थापत्य, संगीत, नृत्य, नाट्य, उद्यान, हीरक-रचना इत्यादि सम्पूर्ण कलाएँ, जो महान्, वैभवशाली राजधानियों की आवश्यकताओं की परितृति में सहायक हो सकती थीं, भव्य प्रोत्साहन प्राप्त कर, चूड़ान्त उत्कर्ष को पहुँच गईं। यह समझना युक्तिसंगत नहीं है कि इन प्रकर्षों की प्रेरणा यूनानी सम्पर्क अथवा बौद्धधर्मावलंबियों से मिली। वस्तुतः यह युग अपने पूर्ववर्ती युगों का ही समन्वित विकास था। अत्यंत प्राचीनकाल से ही विधि-संहिताएँ वर्तमान थीं; कला एवं नाट्य का उद्भव बहुत पहले हो चुका था; यौगिक क्रियाएँ पहले से ही प्रचलित थीं; और रामायण तथा महाभारत में चित्रित भौतिक विकास 'रघुवंश' में चित्रित समृद्धि से कथमपि न्यून नहीं है। लेकिन, जहाँ इन वस्तुओं पर पहले ऊँचे आदर्शों का नियंत्रण था, वहाँ अब इन्हें प्रामुख्य प्राप्त हो गया और जाति की सर्वोत्तम शक्तियाँ इनके उपसेवन एवं परिकलन में नियोजित हो गईं तथा समग्र जीवन एवं चेतना पर इनकी गहरी छापें अंकित हो गईं। सुतरां, कला, विज्ञान, विधान, उपचार-बद्ध तत्त्वविद्या तथा इन्द्रियनिष्ठ ऐश्वर्य का यह महान् युग समझा जाना चाहिए।

तत्कालीन सभ्यता वैभवदत्त वर्गों पर आधारित थी। भौतिक ऐश्वर्य, सौन्दर्यपरक अभिरुचियाँ, शिष्ट एवं परिष्कृत संस्कृति, प्रबुद्ध लौकिक प्रज्ञा विद्या एवं वैदग्ध्य के अभिशंसन इत्यादि वस्तुओं में यह सभ्यता यूरोप की वैभवनिष्ठ सभ्यताओं से प्रतिस्पर्धा कर सकती थी। धार्मिक तथा आचारगत धारणाओं का अभ्यास उपचारतः अथवा शिष्टता के अनुरोध से होता था। बुद्धि अथवा भावना का अनुरंजन उनसे अवश्य होता था, किन्तु आत्मा किंवा चरित्र का संयमन उनसे नहीं हो पाता था। अधार्मिक होना बुरा माना जाता था, किन्तु इन्द्रियोपासना अथवा, कुछ अर्थों में, भ्रष्ट प्रेमाचार बुरा नहीं माना जाता था। उस युग के राजकीय दरबारों द्वारा परम्परागत धर्म तथा आचार-संहिता का समर्थन गतानुगतिकता, व्यवस्था-पालन एवं शताब्दियों से प्राप्त अभिरुचियों तथा बद्धमूल धारणाओं के कारण होता था, न कि इसलिए कि इन विलासप्रिय नरपतियों अथवा उनके सामन्तों में किसी गहरी धार्मिक अथवा आचार-गत भावना के प्रति कोई दृढ़ अनुराग था। तथापि, शिष्ट एवं ऐन्द्रियता-पोषक कविता में चित्रित ऊँचे नैतिक विचारों एवं भावों का भी वे उसी प्रकार परिशंसन करते थे जिस प्रकार एतादृशी रचनाओं में सन्निविष्ट विलासी चित्रणों का। नैतिकता अथवा सदाचार के आदर्श पहले की अपेक्षा नीचे स्खलित हो गए थे, स्त्री और पुरुष दोनों उन्मुक्त भाव से वारुणी का सेवन करते थे; हमारी सभ्यता के किसी भी युग की तुलना में जीवन की पवित्रता का मूल्य घट गया था। तथापि, संभ्रान्तवर्गीय

हिन्दू नारी की अविजेय एकनिष्ठ प्रणय-भावना, ऐसा प्रतीत होता है, अविवेकपूर्ण पापाचार तथा परिवार के विघटन को रोकने में समर्थ सिद्ध हुई। प्राचीन आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मृत नहीं, सुषुप्त बन गई थीं, पुराने शक्तिशाली आदर्श सिद्धान्त में अद्यापि बने हुए थे। यह ऐसा समय था जब दुराचार की चरम सीमाओं के साथ-साथ त्याग एवं तपस्या की पराकाष्ठाएँ भी उपलब्ध होती थीं। हिन्दूस्वभाव की अभ्यन्तरीण आध्यात्मिकता ने अन्ततः इन्द्रियोपभोग के इस भव्य एवं अतृप्तिकर जीवन के विरुद्ध विद्रोह किया। किन्तु, इस परिसरणि के कवि भर्तृहरि हैं, कालिदास नहीं। महत्तर कवि कालिदास, स्पष्ट है कि भौतिक युग के पूर्ण प्रकर्ष-काल में आविर्भूत हुए थे और उनके काव्य में उस रुग्णता, असंतोष एवं भ्रमभग्नता (Disillusionment) के चिह्न कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते जो भौतिकता की दीर्घकालिक उपासना के उपरान्त सदैव उत्पन्न हो जाया करते हैं ?[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि वाल्मीकि एवं व्यास के अनन्तर भारतवर्ष की राष्ट्रीय चेतना का स्पष्ट तथा जीवन्त मूर्त्तीकरण कालिदास के काव्य-निचय में सम्पन्न हुआ था। रामायण एक पूर्णतया नैतिक अथवा सदाचारनिष्ठ सभ्यता का चित्र प्रस्तुत करता है जो विपुल भौतिक विकास तथा प्रचुर बौद्धिक शक्ति से समन्वित थी, लेकिन जिसमें सदाचरण-निष्ठा, मनःस्थिति की पवित्रता एवं सुकुमार आदर्श-भावना का सर्वोपरि प्राधान्य था। गीता में निष्काम कर्म को प्रधानता देने वाले, एक महान् आध्यात्मिक अर्थवत्ता से अनुरंजित जिस उदात्त एवं कठोर धर्म की प्रतिष्ठा हुई है, उसके उच्च बौद्धिक संदर्भ से वाल्मीकि कहीं परिचित नहीं दिखाई पड़ते। यदि उन्हें इसकी अवगति रहती, तो उनकी प्रकृति में सन्निहित दुर्बलता एवं भावुकता ने इसे अस्वीकृत कर दिया होता। वाल्मीकि जैसे स्वभाव के व्यक्ति जब शक्ति का परिशंसन करेंगे, तब वे उसकी सबलतम अभिव्यक्ति की प्रशंसा करेंगे। वाल्मीकि के चरित्र बौद्धिक विश्वास से नहीं, प्रत्युत भावात्मक अथवा कल्पनात्मक उत्साह से प्रेरित होकर कार्यशील होते हैं। सदाचार का उत्साह राम को और कदाचार का उत्साह रावण को अनुप्राणित करता है। सभी नैतिक स्वभाव वाले पुरुषों के समान, वाल्मीकि इस बात का आग्रह करते हैं कि आचारगत सुदृढ़ता के आधार रूप में परम्परा-प्रथित सदाचार-संहिता का व्यापक भाव से पालन किया जाय—क्योंकि नवीनता के सन्निवेश से दैनंदिन एवं सामान्य नैतिकता के स्वस्थ आधारों को प्रतिघात पहुँचता है। अतएव, हमारे लौकिक काव्य के जनक वाल्मीकि उस प्रारम्भिक तथा

---

१. Sri Aurobindo : 'Kalidasa' (Second Edition, 1950) पृ० ११-१६

सूक्ष्मतया नैतिक सभ्यता के अनुमोदक हैं। जो हिन्दू अन्तर्मानस का सच्चा महनीय युग है। महाभारत का कवि वैभवदत्त अशान्ति एवं उद्वेजना के युग के केन्द्र में निवास करता है। यदि महाभारत की कहानी में कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य है, तो वह उस साम्राज्यवादी सत्ता एवं समाज की स्थापना का अनुलेख करता है जिसे वाल्मीकि ने आदर्श रूप में भावित किया था। कवितात्मक तत्त्वों को प्रतिषिद्ध करने के बाद यह महती रचना एक ऐसे क्षत्रिय लोकनायक की नीतियों का अनुमोदन करती है जो उसके वर्ग के सम्पूर्ण शासनतन्त्रों को, सर्वोत्तम प्रवृत्तियों की प्रतिनिधि-भूत एक केन्द्रीय साम्राज्य-सत्ता के नियन्त्रण में ला सके। किन्तु, वाल्मीकि जहाँ अपने वातावरण से मेल न खाने वाले और एक आदर्श अतीत की ओर पृष्ठावलोकन करने वाले जीव थे, वहाँ व्यास अपने युग के व्यक्ति थे—उसके साथ पूर्ण सहानुभूति रखने वाले, उसकी प्रवृत्तियों का आदर करने वाले, उसके परिणामों में आस्था रखने वाले तथा एक आदर्श भविष्य की ओर दृष्टि जमाने वाले। वाल्मीकि उत्तमतर किन्तु बीते हुए प्रतिमान की ओर लौट चलने का अनुरोध करनेवाले परिवर्तन-विरोधी आदर्शवादी हैं, तो व्यास एक श्रेष्ठतर किन्तु अजन्मे प्रतिमान की ओर आगे देखने वाले प्रगतिशील वस्तुवादी हैं। अतएव, वे नैतिकता की वैभव-वर्गीय संहिता को स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु इस प्रतिबंध के साथ कि वह निष्काम कर्म की प्रकाशमती भावना से परिमार्जित एवं स्फूर्जित रहे।[1]

लेकिन, व्यास की सर्वोपरि विशिष्टता है उनकी बौद्धिकता। विचारों में, तत्त्वविद्या में, आचारशास्त्रीय प्रश्नों में वे विशेष रुचि रखते हैं। नैतिकता को वे परीक्षा की कसौटी पर कसते हैं जिससे वाल्मीकि की सुकुमार नैतिक भावना भागती है। सामान्य आचार-शास्त्र के ऊपर वे आचरण के एक उच्चतर आदर्श का निर्माण करते हैं जिनके स्रोत बुद्धि एवं दृढ़ चारित्र्य में सन्निहित हैं। समाज एवं शासन पर वे व्यावहारिक तथा एक कुशल राजनीतिज्ञ की दृष्टि से विचार करते हैं और उन्हें आदर्शीकृत करते हैं, तो केवल एक प्रतिमान अथवा मानदण्ड की स्थापना के लिए। वे ऐसी सभ्यता की प्रसूति हैं जिसमें नैतिक एवं भौतिक विकास, दोनों बौद्धिकता के शक्तिशाली नियमन में नियन्त्रित हैं। महाभारत के सम्पूर्ण पात्रों में यह सशक्त बुद्धिवाद उनके चरित्र को संचालित करता है; और रामायण के प्रत्येक महान् व्यापार के पृष्ठ में जैसे नैतिक अथवा अनैतिक उत्साह-प्रेरणा वर्तमान रहती है, वैसे ही इसके पात्रों के प्रत्येक कार्य के पृष्ठ में बुद्धि की सतर्कता दृष्टिगोचर होती है। महाभारत में ऐसे युग का चित्रण है जो विराट सर्जनात्मक उद्वेजना एवं अशान्ति से परिपूर्ण है,

---

१. वही, पृ० ६–८

जब कि रामायण ऐसे युग का चित्रण करता है जो—जहाँ तक मानवता का प्रश्न है—संतुलन, शान्ति एवं व्यवस्था का काल है।[1]

कालिदास ऐसे युग के आरम्भ में आविर्भूत हुए थे जब भारतवर्ष उपनिषदों से पुराणों की ओर, वेदान्त और सांख्य की ऊँची चोटियों से उतर कर संन्यासमूलक योग की शारीरिक प्रक्रियाओं तथा तत्त्वशास्त्रीय तर्कना के शुष्क बुद्धिवाद अथवा रागात्मक धर्म की ऐन्द्रिय ऊष्मा की ओर उन्मुख होकर, अपने दर्शनों को व्यवस्थित रूप प्रदान कर रहा था और अपनी कलाओं एवं विज्ञानों को विकसित कर रहा था। कालिदास इन सम्पूर्ण प्रवृत्तियों, अपने युग की सम्पूर्ण विद्याओं तथा ज्ञान-विज्ञान, दार्शनिक एवं आचारशास्त्रीय मान्यताओं अथच अपने समय की सबसे अधिक वैभवशाली राजधानी की जीवनचर्याओं से पूर्णतया परिचित तथा प्रभावित थे। धर्म के प्रति उनकी कोई गहरी आस्था थी, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्ततः वे वेदान्ती और व्यवहारतः संभवतया शैव थे। लेकिन, इन्हें उन्होंने इसलिए स्वीकार किया था कि उनके देश एवं काल की वे आधिकारिक मान्यताएँ थीं तथा उन्हें उनकी बौद्धिक वरीयता और सौन्दर्यलिप्सु अन्तस्स्फुरणाओं का भी अनुमोदन प्राप्त था, न कि इसलिए कि वे उनकी किसी गहरी धार्मिक आवश्यकता की परितृप्ति करती थीं। जहाँ तक आचार-व्यवहार का प्रश्न है, उन्होंने संहिताओं के आचारशास्त्रीय नियमों तथा विधानों को स्वीकार किया तथा गौरवान्वित किया। किन्तु स्वतः उनमें नैतिकता अथवा सदाचार के सूक्ष्मतर तत्त्व विद्यमान थे, इसका आभास उनकी कृतियों से नहीं मिलता। अपनी रचनाओं में उन्होंने उच्च विचार एवं उच्च आदर्श के प्रति अभ्यर्थना का भाव व्यक्त किया है, किन्तु यह अभिशंसन प्रकृत्या रसात्मक है। वे शिष्ट-संभ्रान्त व्यक्तियों के कल्पनात्मक मानस पर इन विचारों एवं आदर्शों की प्रभावकारिता को स्पष्ट तथा विजृंभित करने का उद्योग करते हैं और ऐसा करते समय, वे मन एवं मस्तिष्क की वस्तुओं के प्रति वही रसात्मक प्रतिमान प्रयुक्त करते हैं जिसका प्रयोग वे स्वयं इन्द्रियों के विषयों के प्रति भी करते हैं। जो कुछ दर्पस्फीत, महान एवं सशक्त है, उसके प्रति वे नैसर्गिक, उच्चवर्गीय भावना रखते हैं, और इस भावना के कारण, उनमें महत्ता तथा उदात्तता दृष्टिगोचर होती है। लेकिन, इस उदात्तता में रसात्मक सौन्दर्य का तत्त्व इतना सबल एवं सान्द्र बन जाता है कि वह उदात्त, अपनी स्वाभाविक साहसिकता तथा निरावरणता के साथ प्रकाश में नहीं आने पाता। अतएव, वाल्मीकि और व्यास की कविता के समान, उनकी कविता शक्तिशाली चरित्र अथवा सदाशयतापूर्ण या

१. वही, पृ० ६–१०

गंभीर मनोगठन के निर्माण में कभी सशक्त ढंग से सहायक नहीं सिद्ध हुई है। इसका मुख्य कारण यही है कि वे अपनी अतीव प्राणवान् तथा भौतिक सभ्यता की प्रसूति एवं प्रतिनिधि हैं।

भास्कर्य और स्थापत्य कलाओं की उन्नति से विपुल बाह्य सौन्दर्य का वह परिवेष्टन प्रस्तुत हो गया था जिसकी कालिदास की काव्यरचना के लिए अपेक्षा थी। प्रकृतिगत सौन्दर्य, वन एवं पर्वत की भव्यता, वापी एवं सरिता की सुषमा, पशु-पक्षियों के जीवन का आकर्षण इत्यादि की अभिशंसना समसामयिक संस्कृति का एक अंग बन गई थी। इसके अतिरिक्त, वीरुधों, वृक्षों तथा पर्वतों में सजीवता का आरोप बौद्ध धर्म के प्रभाव एवं प्रोत्साहन से पशुवर्ग के साथ भ्रातृत्व की रागात्मक भावना और पुराणों के रोमांटिक संसार के प्रति लोकसमुदाय का आकर्षण—ये वस्तुएँ भी तत्कालीन वातावरण में व्याप्त हो गई थीं जिनसे कालिदास को नितान्त मनोरम एवं भव्य पृष्ठभूमि तथा वैविध्यपूर्ण दृश्य-संदोह उपलब्ध हुए। "अतएव, उनकी काव्य-सृष्टि रूप, शब्द, रस, घ्राण, स्पर्श और स्वाद एवं कल्पना के आनन्दों के ताने-बाने से बनी हुई है। इसमें उन्होंने भाव तथा बौद्धिक अथवा रसात्मक आदर्श के अत्यन्त मनोज्ञ कुसुम उगा दिए हैं। उनकी काव्य-रचना की दृश्यावली सुन्दर वस्तुओं का एक व्यापक स्वर्ग है। उसमें सभी के ऊपर पार्थिव सुषमा के केवल एक अधिनियम का शासन है। नैतिकता रस से आर्द्र बना दी गई है, बुद्धि सौन्दर्य-भावना से ओत-प्रोत एवं शासित हो गई है और, फिर भी, यह कविता मन के दुर्बल द्रव में संतरण नहीं करती, ऐन्द्रिय विवशता में घुलमिल कर अपनी सत्ता का विलय नहीं कर देती। इन्द्रियों की सामान्य कविता के समान, अपने ही माधुर्य से छक कर, यह कविता-कामिनी निद्रालस पलकों और घुँघराले केशों के भार से, अपने कुलटापन के कारण बोझिल नहीं है। कालिदास अपनी शैली के परिमार्जन, पदावली की सटीकता एवं शक्तिमत्ता तथा अपनी सतर्क कलात्मक जागरूकता के कारण इस दुर्बलता से बच गए हैं।"[१]

जिस प्रकार रामायण और महाभारत में एक सर्वातिशायी बौद्धिक आवेग, अथवा नैतिक या अनैतिक उत्तेजन की गत्यात्मक शक्ति उनके पात्रों को अनुप्राणित करती रही है, उसी प्रकार कालिदास के काव्यों में एक उत्कट आनन्दवादी भावना वाणी एवं व्यापार को स्पन्दित तथा उन्मेषित करती है। सभी प्रकार के भावों एवं विचारों में काल्पनिक आनन्द, शोक एवं उल्लास का ऐश्वर्य, प्रणय के संवेग एवं आनन्द के प्रति उन्मुक्त आत्म-विसर्जन, जीवन एवं सौन्दर्य के आस्वादों का अन्वेषण—

१. वही पृ० २०

ये सभी कालिदास के युग की विशिष्टताएँ हैं। इस समय, भारतवर्ष आध्यात्मिक अनुभव की संभावनाओं को समाप्त कर, इन्द्रियों के विषयों की अधिकाधिक खोज कर रहा था; द्रव्य (पदार्थ) में आत्मिक संभावनाओं के अनुमान एवं अन्वेषण में संलग्न था तथा इन्द्रियों के माध्यम से भगवान् को भी खोज लेने का उपक्रम कर रहा था। वैष्णव पुराणों का रागात्मक धर्म, जो मानवात्मा एवं परमात्मा में, नारी की अपने प्रणयी के प्रति आसक्ति वाला संबन्ध-भाव रखना चाहता है, पहले ही विकसित होने लग गया था। शैवों का तांत्रिक विकास कदाचित् सम्पन्न नहीं हो पाया था। लेकिन, पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और शक्ति के मिलन या संयोग की भावना की अभिव्यक्ति पौराणिक कथाओं में पहले से ही वर्तमान थी। कालिदास के महाकाव्य 'कुमारसंभव' में शिव तथा पार्वती के परिणय का जो वर्णन हुआ है उसके पृष्ठ में पुरुष-प्रकृति संयोग की भावना मुखरित है। कालिदास का ऐसा ही युग था, और इसी युग ने उनको उत्पन्न किया। उस काल के अन्य कवियों ने उसके किसी एक या दूसरे पक्ष को अभिव्यक्ति दी, लेकिन कालिदास का काव्य विविध मिश्रित रंगों एवं ध्वनियों का समन्वित संसार है जिससे उनके युग की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का यथावत् परिकलन हो सकता है। 'ऋतुसंहार' उस समृद्ध सभ्यता की मनोभंगिमा की अपरिपक्व काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति है; 'रघुवंश' उसका प्रतिनिधिभूत महाकाव्य है; 'मेघदूत' उसकी वर्णनात्मक करुण कविता है; 'शाकुन्तल' तथा अन्य दो प्रणय-प्रधान नाटक उसके अंतरंग नाट्यात्मक चित्र हैं और 'कुमारसंभव' उसका महनीय धार्मिक आख्यान है।[1]

(२) रघुवंश

'रघुवंश' की कथा सर्गानुकूल यों है :—

प्रथम सर्ग में राजा दिलीप का चरित्र वर्णित है। पुत्रविहीन होने के कारण अत्यंत दुखित होकर, दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा के सहित कुलगुरु वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचते हैं। वशिष्ठ अपने आश्रम में विद्यमान नंदिनी गौ की सेवा करने के लिए दिलीप को निर्देश देते हैं। द्वितीय-सर्ग में दिलीप की गो-भक्ति का वर्णन है। राजा एकाग्रचित्त से नन्दिनी की परिचर्या में संलग्न हो जाते हैं। कुछ दिन बीतने पर नन्दिनी राजा की निष्ठा की परीक्षा लेना चाहती है। वह चरती हुई, हिमालय की गुफा में प्रवेश कर जाती है जहाँ एक सिंह उस पर आक्रमण कर देता है। राजा गाय की मुक्ति के लिए उससे अनुनय-विनय करते हैं और सिंह को अपना शरीर अर्पण करते हैं। इस पर नन्दिनी प्रसन्न हो जाती है और पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद

१. वही, पृ० २२-२३

देते हुए, राजा को अपना दूध पीने के लिए कहती है। राजा आश्रम को लौट आते हैं और गुरु को सारा वृत्तान्त सुनाकर, पत्नी के साथ गाय का दूध पीते हैं और राजधानी लौट जाते हैं। तृतीय सर्ग में रघु को उत्पत्ति, यौवराज्य तथा अश्वमेध यज्ञ में उनके द्वारा प्रदर्शित पराक्रम का वर्णन हुआ है। यज्ञ की समाप्ति पर दिलीप रघु को राजा बनाते हैं और स्वयं सुदक्षिणा के साथ तपोवन को चले जाते हैं। चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय का वृत्तान्त वर्णित है। पंचम सर्ग में रघु की दानशीलता का चित्रण हुआ है। रघु का राज्यकोष उनकी असीम दानवृत्ति के कारण रिक्त हो गया है। इसी समय कौत्स नामक एक ब्रह्मचारी विप्र चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ गुरु-दक्षिणा के निमित्त माँगने आता है। धनपति कुबेर आक्रमण के भय से स्वर्ण-मुद्रायें बरसा देता है और विप्र कौत्स अभीष्ट धन लेकर राजा को पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद देता है और लौट जाता है। छठे और सातवें सर्गों में रघु के तनय अज का विदर्भ-राज की बहन इन्दुमती द्वारा स्वयंवर में चुना जाना वर्णित है। भिन्न-भिन्न देशों के राजा स्वयंवर में आये हुए हैं, लेकिन अज ही इन्दुमती को आकर्षित करता है क्योंकि उसे 'सम्मोहन' नामक अस्त्र एक गन्धर्व से मिला है। इस संदर्भ में कवि ने भिन्न-भिन्न प्रदेशों के नरेशों के व्यक्तिगत गुणों, सम्पत्ति, शौर्य तथा पूर्वजों की कीर्ति, तत्तत् भूखण्डों के प्राकृतिक सौन्दर्य इत्यादि का अत्यंत रमणीय एवं भौगोलिक दृष्टि से नितांत सटीक वर्णन किया है। आठवें सर्ग में दशरथ की उत्पत्ति, इन्दुमती की मृत्यु और अज के विलाप तथा शरीरत्याग का वर्णन हुआ है। नवें से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक रामकथा वर्णित है। सोलहवें सर्ग में राम के पुत्र कुश के नागकन्या कुमुद्वती के साथ परिणय का वर्णन हुआ है। इसी प्रसंग में अयोध्या की नगरदेवी द्वारा वर्णित अयोध्या की दुर्दशा तथा कुश के जलविहार का अत्यन्त सजीव चित्रण उपलब्ध होता है। सत्रहवें सर्ग में कुश के पुत्र अतिथि का चरित्र चित्रित किया गया है। अठारहवें सर्ग में इक्कीस राजाओं का उल्लेख हुआ है जिनमें अन्तिम राजा सुदर्शन की उत्तम शासन-व्यवस्था का वर्णन ही प्रधान है। उन्नीसवें सर्ग में सुदर्शन के पुत्र राजा अग्निवर्ण की विलासिता एवं दुःखद मृत्यु का भावुक चित्रण हुआ है। इसी स्थल पर काव्य समाप्त हो जाता है।

'रघुवंश' कालिदास की प्रौढ़तम प्रतिभा की प्रसूति समझा गया है। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य के जो लक्षण निर्धारित किए हैं, उनका आधारभूत स्रोत 'रघुवंश' ही है। लोकप्रियता में यह ग्रन्थ-रत्न सर्वथा अनुपमेय है और इस पर लगभग ४० टीकायें भिन्न-भिन्न कालों में रचित उपलब्ध हैं। 'कुमारसंभव' तथा 'मेघदूत' की तुलना में इसका चित्रपट व्यापक एवं विशाल है क्योंकि जहाँ प्रथम दोनों काव्यों की कथ्य वस्तु केवल एक-एक दैवी युग्म के प्रणय

से संबद्ध है, वहाँ 'रघुवंश' के उन्नीस सर्गों में उनतीस सूर्यवंश राजाओं का न्यूनाधिक वर्णन हुआ है। यद्यपि गीर्वाणगिरा के रचयिताओं में कालिदास 'रघुकार' की अभिधा से प्रख्यात हैं जो 'रघुवंश' की सर्वोत्कृष्टता का विद्योतक है, तथापि विद्वानों में इस महाकाव्य के संघटनात्मक स्वरूप को लेकर प्रचुर मतभेद प्राप्य है। अनेक समालोचकों का कथन है कि यह एक समंजस तथा समन्वित काव्य की अपेक्षा मनोरम चित्रों की चित्रशाला ही अधिक है। सुप्रसिद्ध विद्वान् राइडर (A. W. Rydor) की टिप्पणी है कि प्रस्तुत काव्य में एकसूत्रता का अभाव है और उसका कथानक रूपविहीन एवं असंबद्ध (Formless plot) है। राइडर का यह भी आरोप है कि दसवें सर्ग से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक की कथा-वस्तु, जिसमें राम का आख्यान वर्णित है, एक महाकाव्य के भीतर एक अन्य महाकाव्य के ही समान प्रतीत होती है। इसमें सन्देह नहीं है कि सामान्य पाठक को कथानक-संघटन में विशृंखलता दृष्टिगोचर होती है। परन्तु, जैसा श्री रामास्वामी शास्त्री का कथन है, श्रीरामचरित का गुणगान ही कवि का अभीष्ट नहीं है। वह तो स्पष्ट कहता है कि मैं रघु के वंशधरों का बखान कर रहा हूँ—'रघूणामन्वयं वक्ष्ये।' वाल्मीकीय रामायण में बालकाण्ड के तीसरे सर्ग के नवें श्लोक तथा युद्धकाण्ड के प्रथम सर्ग के ग्यारहवें श्लोक में 'रघुवंश' शब्द का प्रयोग हुआ है और यह कालिदास की अनन्य कलात्मक उद्भावना है कि उन्होंने अपने काव्य की अप्रतिम मालिका में रामचरित को मध्यमणि के रूप में नियोजित किया है। श्री रामास्वामी शास्त्री का यह कथन उल्लेख्य है—"मैं पुनः कहता हूँ कि यदि होमर ने अपना प्रख्यात महाकाव्य यह निदर्शित करने के लिए लिखा कि क्योंकर नितान्त तुच्छ कारणों से विनाशकारी युद्ध उत्पन्न हो जाते हैं, यदि वर्जिल ने रोमन जाति के उद्भव एवं भाग्य-परिणति का व्याख्यान करने के लिए अपने महाकाव्य की रचना की, यदि दांते ने नाटक, दंडलोक एवं स्वर्गलोक के चिरंतन प्रान्तों को पृथिवी-निवासियों के समक्ष उन्मीलित करने के लिए अपने प्रशस्त महाकाव्य (डिवाइन कामेडी) का प्रणयन किया और यदि मिल्टन ने मानव की सृष्टि एवं अधःपतन के विषय में मनुष्यों के निकट ईश्वरीय विधानों का औचित्य प्रतिपन्न करने के लिए अपने प्रसिद्ध काव्य (पैरेडाइज लॉस्ट) का निबंधन किया, तो कालिदास का निश्चित उद्देश्य प्रस्तुत रचना में निष्कलुप नरेशों के जीवन-कृत्यों का वर्णन करना था जो निष्कलुप मनुष्य थे; जिससे कवि चिरन्तन जातीय आदर्शों का चित्रण कर सके और हमारे राजाओं तथा प्रजाओं को यह चेतावनी दे सके कि यदि वे उन आधारभूत आदर्शों से स्खलित हुए, तो वे महती विपदा के गर्त में पतित हो जाएँगे। ××× अतएव एक निश्चित उद्देश्य—पूर्ण पुरुषत्व के आदर्शों को

निदर्शित करना और जातीय जीवन को एक मूल्यवान् निधि तथा एक राष्ट्रीय चेतावनी प्रस्तुत करना – की साधना को लक्ष्य कर कवि ने 'रघुवंश' का प्रणयन किया है, और इस प्रकार यह काव्य पूर्ण अन्वित और समंजस महाकाव्य बन गया है।' (पृष्ठ १६७-१६८)

—श्री शास्त्री ने 'रघुवंश' के प्रथम श्लोक 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ........' की सराहना में यह सम्मति व्यक्त करते हुए कि कविता निर्दोष वाणी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, प्रस्तुत काव्य के आरम्भ को अत्यंत समीचीन बताया है और राइडर की इस अभ्युक्ति का प्रत्याख्यान किया है कि कालिदास ने इस महाकाव्य को शोक-पर्यवसायी बनाकर अनुचित किया है। तथापि इस तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता कि 'रघुवंश' का वर्ण्य विषय एक नहीं, अनेक है और इस कारण इसमें प्रकृत एकसूत्रता का अभाव भासित होता ही है। फिर भी, कालिदास की विस्मयजनक कवि-प्रतिभा ने वर्ण, बिम्ब एवं संगीत को उद्भावित करने वाली अपनी अपूर्व क्षमता से, विषयों की विविधता को एक मनोवांछित अन्विति में अनुस्यूत कर दिया है; विविध वस्तुएँ, दृश्य, चरित्र, भाव, घटनाएँ एवं विचार—सभी कविता के शाश्वत परिवेश में उपन्यस्त तथा परिष्कृत बन गये हैं।[1]

'रघुवंश' में वर्णित राजाओं का आख्यान कालिदास ने अनेक स्रोतों से ग्रहण किया है। प्रारम्भ में ही अपने को मन्दमति किन्तु 'कवियशःप्रार्थी' बताते हुए, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि आदि कवियों के प्रति आभार व्यक्त किया है, जिन्होंने सूर्यवंश पर मनोरम काव्य रचकर वाणी का द्वार पहले ही खोल दिया है; अब तो उनका कार्य केवल हीरे की कनी से बिंधे हुए मणि में डोरा पिरोना मात्र रह गया है—

"अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ (१-४)

नवम सर्ग से पन्द्रहवें सर्ग तक कालिदास ने वाल्मीकिरामायण का आश्रय लिया है। किन्तु उनके आधारग्रन्थों का अभी पूरा पता नहीं चल पाया है। पुराणों में भी सूर्यवंशी राजाओं की नामावली दी हुई है; लेकिन उस नामावली और 'रघुवंश' की तालिका में प्रचुर अन्तर दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणतः दिलीप और रघु के बीच वाल्मीकि-रामायण में दो, वायुपुराण में उन्नीस तथा विष्णुपुराण में अठारह राजाओं के नाम दिये हुए हैं। इसके अतिरिक्त, इन ग्रन्थों में नाम-निर्देश के अतिरिक्त उन

१. S. K. De : 'History of Sanskrit Literature,' पृ० १३२

राजाओं के चरित्र पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। अतएव, कालिदास ने 'पूर्वसूरिभिः' का उल्लेख कर इन ग्रन्थकारों के प्रति अपने आदरपूर्ण उद्गार व्यक्त किए हैं—ऐसा समझने का यथेष्ट औचित्य सिद्ध नहीं होता। इसी कारण, पंडितों का यह अनुमान युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि कालिदास के समक्ष अन्य रचयिताओं के ग्रन्थ वर्तमान थे। भास के 'प्रतिमा' नाटक में दिलीप से लेकर दशरथ तक का क्रम 'रघुवंश' के क्रम से मिलता है। इससे यह जान पड़ता है कि इन दोनों कवियों ने एक समान ग्रन्थ का उपयोग किया होगा। 'रघुवंश' के अठारहवें सर्ग में इक्कीस राजाओं की केवल नामावली दी हुई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कालिदास के पूर्वकालीन ग्रन्थों में इन नरेशों का कुछ विशेष विवरण नही उपलब्ध था। दिलीप, रघु और अज के विषय में भी सामान्यतः यही स्थिति रही होगी। ऐसी दशा में इतनी अपूर्ण सामग्री का उपयोग कर, कवि ने प्रस्तुत काव्य में 'उदात्त चरित्रों के उत्तुङ्ग प्रासाद' का जो निर्माण किया है, वह उसकी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचायक है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि 'कुमारसंभव' के समान कवि ने 'रघुवंश' को भी अपूर्ण ही छोड़ दिया क्योंकि अग्निवर्ण के वृत्तान्त के साथ काव्य अकस्मात् समाप्त हो गया है। जनश्रुति के अनुसार, इसमें पचीस अथवा छब्बीस सर्ग थे, किन्तु अतिरिक्त सर्गों का पता नहीं चल पाया है और इस कारण यही मानना संगत होगा कि उन्नीस सर्गों से आगे कवि ने रचना ही नहीं की। विष्णुपुराण में अग्निवर्ण के पश्चात् आठ अन्य राजाओं का भी वर्णन उपलब्ध होता है और इसीलिए प्रस्तुत काव्य के अपूर्ण होने की बात कही जाती है। लेकिन, यह स्मरण रखना वांछनीय है कि कालिदास ने पद्यबद्ध इतिवृत्त का प्रणयन तो किया नहीं है जिससे वे सम्पूर्ण सूर्यवंशी नरेशों का व्याख्यान करते हो। उनके कर्तृत्व की इयत्ता यह है कि उन्होंने कुछ प्रभावोत्पादक राजाओं का चयन कर, उनके चरित्रों को इस प्रभावशाली भंगिमा से सजाया है कि उनके अभीप्सित आदर्शों की व्यंजना भी हो गई है और उनकी रसलिप्सु काव्य-संवित् को आत्मतोष भी मिल गया है।

ऐसा अनुमान किया गया है कि कालिदास ने अश्वघोष-रचित काव्य 'सौन्दर-नन्द' की स्पर्धा में 'रघुवंश' का प्रणयन किया। अश्वघोष ने अपने महाकाव्य की रचना से निवृत्ति-मार्ग का स्तवन किया था जो कालिदास की दृष्टि में राष्ट्र के लौकिक अभ्युदय के लिए अशिवमूलक आदर्श था। प्रस्तुत काव्य की रचना के पूर्व वे 'कुमार संभव' और 'मेघदूत' में शृङ्गार की संभोग-माधुरी तथा वियोग-विह्वलता के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित कर चुके थे। किन्तु, वे अपने युग की संस्कृति में, आ-कंठ

एवं आ-प्राण, ओतप्रोत थे। शृङ्गार के साथ शौर्य, एवं धर्म की सनातन मान्यताओं के प्रति आस्था, अतएव, उनके काव्यनिचय में प्रतिफलित हुई है। 'रघुवंश' में कवि मानो एक व्यापक आदर्श की प्रतिष्ठा की कामना से अनुप्राणित है। वर्णाश्रम-धर्म की कक्षा के भीतर जीवन के पार्थिव सुखों का उपभोग, यही उसका महान् संदेश प्रतीत होता है। इक्ष्वाकु-वंशी राजाओं की महीयसी परम्परा के गौरव से वह अभिभूत है और उसकी प्रशस्ति का गान करने के संकल्प से उस पर जो गंभीर उत्तरदायित्व उतर आया है, उसे उसका पूर्ण अनुभव हो रहा है। तभी तो उसका निवेदन है—

"क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ १।२
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ १।३
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥" १।४

सुतरां, प्रस्तुत महाकाव्य में रघुवंशी राजाओं के कृत्यों का बड़े उल्लास एवं सजीवता के साथ वर्णन किया गया है। साथ ही, युग की जटिल संस्कृति के शुक्ल एवं कृष्ण, दोनों पक्षों का प्रभावशाली दिग्दर्शन भी संपन्न हुआ है।

अतएव, प्रस्तुत निबंध में 'रघुवंश' के इसी व्यापक सौन्दर्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। वशिष्ठ के आश्रम से प्रारम्भ होकर अग्निवर्ण के शृङ्गार तक का चित्रण इसमें सम्पन्न हुआ है और बीच में युद्ध, राज्यारोहण, स्वयंवर, आखेट, सम्पूर्ण रामचरित इत्यादि अनेक प्रसंगों का सन्निवेश हुआ है। यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रस्तुत काव्य केवल राम के अलौकिक गौरव-गान के लिए सृष्ट नहीं हुआ है, अपितु रामचरित इसका एक खंड-मात्र है। केवल रामचरित की मंजुल प्रशस्ति निबद्ध करने से कवि को वह व्यापक चित्रपट नहीं मिलता जो उसको अन्यथा मिल सका है। कालिदास न वाल्मीकि थे, न तुलसीदास। जिस समृद्ध एवं जटिल संस्कृति की वे प्रसूति थे, उसे अग्रसर करना ही उनका काव्योद्देश्य था।

प्रथम सर्ग में कालिदास ने रघुवंशियों के गुणगान का जो कारण बताया है',

---

१. पंडितों ने 'रघुवंश' के तीन खण्ड बताये हैं जिन्हें क्रमशः रघु-खण्ड, राम-खण्ड तथा खिल-खण्ड या अन्वय-खण्ड कहा गया है। अष्टम सर्ग के २७ वें श्लोक

उससे उनके राजकीय आदर्श पर यथेष्ट आलोक पड़ता है—ये राजा जन्म से लेकर अन्त तक शुद्ध रहे, उनका राज्य समुद्र के ओर-छोर तक विस्तृत था, शास्त्रों के नियमानुसार वे यज्ञ करते थे, माँगने वालों को मनोवांछित दान देते थे, अपराधियों को अपराधों के अनुरूप दण्ड देते थे; अपना यश बढ़ाने के लिए अन्य देशों को जीतते थे; भोग-विलास के लिये नहीं, अपितु सन्तानोत्पादन के लिए ही विवाह करते थे, शैशव में विद्याभ्यास कर यौवन में विषयोपभोग करते और वृद्धावस्था में मुनियों के समान जंगलों में रहकर तपस्या करते थे तथा अन्त में परमात्मा का ध्यान करते हुए शरीर त्याग करते थे। ऐसे शास्त्रानुयायी, प्रजापरायण नरपतियों का रूप भी कैसा होना चाहिए—वह दिलीप के स्वस्थ शरीर में देखिए—

"व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥" १।१३

'छाती चौड़ी, साँड़ के समान ऊँचे और भारी कन्धे तथा शालवृक्ष के समान लम्बी भुजायें थीं और उनका अपार तेज देखकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे क्षत्रियों का धर्माश्रित शौर्य अपने कर्मसम्पादन के निमित्त उनके शरीर में अवतीर्ण हो गया हो।'

रघु के यौवनागम की अभिनव रूपश्री भी इसी प्रकार की है। जैसे गाय का बछड़ा बड़ा होकर साँड़ हो जाता है तथा हाथी का बच्चा बढ़कर गजराज हो जाता है, वैसे ही शैशव व्यतीत करने के बाद जब रघु ने यौवन में पदार्पण किया तो उनका शरीर और भी अधिक मनोहर बन गया, उनकी भुजायें हलके जुए के समान दृढ़ एवं लम्बी हो गईं, वक्ष कपाट के समान चौड़ा हो गया, कंधे भारी हो गये। इस प्रकार शरीर के उत्कर्ष से वे अपने पिता से भी ऊँचे और हृष्ट-पुष्ट दीख पड़ते थे—

"युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः,
वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुः......................॥" ३।३४

फिर भी, इतने नम्र थे कि नीचे दिखाई देते थे—"तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत।"

कालिदास ने दिलीप तथा अज का जो भव्य चित्र अंकित किया है, वह आदर्श राजतंत्र का रूप प्रस्तुत करता है। कुशल सारथी के रथ चलाते समय रथ का पहिया रेखा-मात्र भी लीक से इधर-उधर नहीं हटता, वैसे ही दिलीप के शासन-काल में

तक रघु-खण्ड, वहाँ से १५ वें सर्ग के अन्त तक राम-खण्ड और १६ वें से १९ वें सर्ग तक अन्वय-खण्ड माना जा सकता है। यह अन्तिम खण्ड रघुवंश के पतन का चित्रण है जो अग्निवर्ण की विलासमग्न मृत्यु में पर्यवसित होता है।

प्रजा भी मनु-द्वारा प्रणीत नियमों से रंचमात्र भी विचलित नहीं होती थी। पुनः जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी का जल खींच कर, उसका सहस्रगुना जल वृष्टि के रूप में लौटा देता है, वैसे ही दिलीप भी प्रजा से प्राप्त सम्पूर्ण कर को उसी के शिव-साधन में नियोजित कर देते थे। अज भी न तो अधिक तीक्ष्ण थे, न अत्यंत मृदुल; तथा मध्यम मार्ग का आलंबन कर राजाओं को सिंहासनच्युत किये बिना ही, केवल अधीनता स्वीकार करा लेते थे, जैसे मध्यम गतिवाला पवन वृक्षों को केवल झुका देता है, उन्मूलित नहीं करता। अज ने नवप्राप्त पृथ्वी का पालन दयालुता के साथ यह समझ कर प्रारम्भ किया था कि अधिक कठोरता के व्यवहार से वह कहीं नवपरिणीता वधू के समान घबड़ा न जाय—

"सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव॥" ८। ७

कालिदास ने राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण रहस्य कितनी मोहक एवं व्यंजनापूर्ण शैली में व्यंजित किया है—नवोढ़ा वधू और राज्य-लक्ष्मी, दोनों ही समान कोटि की समझदारी, समान ढंग के हृदयावर्जन की अपेक्षा रखती हैं। राज्यसंचालन कठोर बुद्धि से बढ़कर कल्पनाशील विवेक के आश्रित रहना चाहिए, जैसे नई दुलहिन के साथ आचरण में 'तर्क एवं तथ्य' को तिलांजलि देकर, उसके रागात्मक तन्तुओं को ही स्पर्श करने की अधिक आवश्यकता होती है। कालिदास ने राजाओं के स्वास्थ्य, शील, शौर्य एवं आचरण की जो मर्यादा ऊपर अंकित की है, वह उस युग की संस्कृति का अनुरोध है और उनकी अपनी वरीयता भी। रघु की राज्य-प्रभा का जितना तन्मयतापूर्ण चित्रण चतुर्थ सर्ग में किया गया है, उससे इस बात में रंचमात्र भी सन्देह का अवकाश नहीं रहता कि कालिदास किस प्रतिभा एवं प्रजावात्सल्य का शासक चाहते हैं। जिसके सत्तारूढ़ होने पर जलकी मिठास न बढ़ जाय, फूलों की सुगन्ध गहरी न हो जाय, पंचतत्त्वों के नैसर्गिक गुणों में उपचय न हो जाय[1] तथा धान के खेतों की रखवाली करने वाली कृषक-बालायें राजा के गुण-गान में अपनी स्वर-लहरियाँ सम्प्रेषित न करने लगें[2], वह भी क्या कोई दिग्विजयी नरेश हो सकता है? और, उस दिग्विजय का भी क्या औचित्य है, जिसमें पराजित राजाओं के

---

१. 'पंचानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत्' (४-११)

२. 'इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥' (४-२०)

साथ सम्मानपूर्ण आचरण न किया जाय[1] तथा सम्पत्ति को दक्षिणा में दान न कर दिया जाय क्योंकि महात्माओं की सम्पत्ति, बादलों के जल के समान, दान के लिये ही संग्रहित होती है—

"आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।"

दिग्विजय के आकांक्षी नरेशों के लिए युद्ध-कौशल तथा सैन्य-संचालन की पटुता आवश्यक है। कालिदास ने युद्ध-क्षेत्र का अतीव सजीव एवं सटीक चित्रण किया है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि ने स्वयं इन संघर्षों में भाग लिया हो। तथ्य यह है कि युद्ध इस युग की उसी प्रकार एक ज्वलंत वास्तविकता थी जैसे विषय-भोग एवं ललित कलाओं का श्री-संचय। इन्दुमती को साथ लिये अज को, मार्गावरोध करने वाले शत्रु राजाओं से जो भीषण युद्ध करना पड़ा, उसका यथातथ्य वर्णन सप्तम सर्ग में उपलब्ध होता है। अज कालिदास के 'प्रणय-प्रतीक' कहे गये हैं। लेकिन, उस 'स्त्रीरत्न' की रक्षा के लिए जब अज, भागीरथी की प्रचंड धारा को रोकने वाले, उत्ताल तरंगों से संयुक्त भयंकर शोणनद की नाईं, आक्रामकों के संहारार्थ खड़े हो जाते हैं, तब ज्ञात होता है कि अज सामान्य कक्षा के प्रणयी नहीं हैं। अपनी सेना के अस्तव्यस्त पलायित होने पर भी, अश्वारोही तूणीरधारी अज शत्रु-सैन्य को चीरते उसी प्रकार आगे बढ़ते जा रहे थे, जैसे प्रलय-काल में वराह भगवान समुद्र के बढ़े हुए जल को चीरते चलते थे। कवि-द्वारा चित्रित अज-शौर्य अत्यन्त साहसोद्रेचक है। गान्धर्व-अस्त्र के प्रयोग से जब शत्रु धराशायी हो गये—मरे नहीं—तब इन्दुमती के चुम्बन का रस लेनेवाले, अपने ओठे से शंख फूँकते अज ऐसे प्रतीत हुए मानो निज-भुजबल से उत्पन्न किये हुए मूर्तिमान् यश को ही पी रहे हों—

"ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवावभासे॥" ७।६३

युद्धस्थल के चित्रण में तो कवि ने इतना सटीक अंकन किया है कि वीर, भयानक एवं वीभत्स रस पाठक के सम्मुख मानो रूप ग्रहण कर उपस्थित हो गये हों[2]। उसके साथ ही, कवि ने सूक्ष्म अन्वीक्षण का भी विद्योतन किया है। इतने भयंकर संघर्ष में भी युद्ध-धर्म का पालन कवि ने दिखाया है—

"एक अश्वारोही ने अपने विरोधी अश्वारोही पर प्रहार किया जिससे वह (दूसरा)

---

१. 'सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान्।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने॥ (४-८७)

२. सप्तम सर्ग के ४८ वें से ५४ वें श्लोक तक पढ़ें।

अपने घोड़े के कंधे पर झुक गया, क्योंकि उसमें इतनी शक्ति भी न रह गई थी, कि वह सिर उठा सके। इस पर पहले घुड़सवार ने फिर हाथ नहीं उठाया, बल्कि यह मनाने लगा कि वह जीवित हो उठे।" ७।४७

बर्नार्डशा का एक पात्र 'Arms and the Man' नामक नाटक में आधुनिक युद्ध-कला की यों व्याख्या करता है—'यह कायरों की कला है जिसमें शक्ति रहने पर वह आक्रमण करता है और, शक्तिहीन होने पर, क्षति के मार्ग से बचना चाहता है'। हमारा कवि जिस युद्ध में रस लेता है, यह 'कायरों की कला' नहीं है; वह भी एक धर्म-कला है जिसमें अभीष्ट के प्राप्त्यर्थ शस्त्र-प्रहार तो किया जाता है, किन्तु दुर्बल शत्रु के शक्ति-संचय की कामना भी की जाती है।

सत्रहवें सर्ग में कुश के पुत्र कुमार अतिथि का कवि ने राज्यारोहण चित्रित किया है। अभिषेक का बड़ा सटीक अंकन हुआ है। प्रजा ने भद्रपीठ पर आसीन राजा अतिथि को सोने के कलशों में भरे तीर्थों के जल से नहलाया। मृदङ्ग इत्यादि वाद्यों से कल्याण-सूचक गंभीर नाद निकल रहा था। कुल के वृद्ध पुरुषों ने दूर्वा के अंकुर तथा बड़ की छाल दोने में रखकर अतिथि की आरती उतारी। ब्राह्मणों ने अथर्ववेद के विजय-सूचक मंत्रों के पाठ से उन्हें नहलाना प्रारम्भ किया, तो ऐसा प्रतीत होता था जैसे शिव जी के सिर पर गंगा की धारा गिरती हो। भाँट, चारण आदि विरुद-व्याख्यान में व्यस्त हो गये मानों चातक मिलकर बादल की गुणावली का गान कर रहे हों। मन्त्रपूत जल से स्नान करने पर अतिथि की प्रभा वैसे ही चमक उठी जैसे वर्षा के जल से विद्युत् की चमक बढ़ जाती है।

राज्यारोहण की प्रसन्नता में अतिथि ने जो औदार्य दिखलाया, वह वर्त्तमान सत्ताधारियों के लिए निश्चय ही अनुकरणीय है। अतिथि की आज्ञा यों प्रसारित हुई—बंदियों को छोड़ दिया जाय, मृत्युदंड-प्राप्त अपराधी मारे न जाँय, गौओं का दूध बछड़ों के पीने के लिए छोड़ दिया जाय। यही नहीं, राजाज्ञा से पिंजड़े के शुकादि पक्षी भी छोड़ दिये गये। आधुनिक काल की 'जनरल ऐम्नेस्टी' कवि के व्यापक मोक्ष-दान के सामने फीकी पड़ जाती है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति के गायक कवि की योजना में मुक्ति अविभाज्य है— मनुष्य की मुक्ति के साथ-साथ पशु-पक्षियों की मुक्ति भी आकांक्षित है।

सिंहासनस्थ अतिथि का राजसी शृङ्गार भी दर्शनीय है। प्रसाधकों ने स्वच्छ हाथों से, धूप के समान सुगंधित केशवाले अतिथि की वेश-सज्जा मंजुलता-पूर्वक सम्पन्न की। फूल और मोतियों की मालाओं से आवृत राजा के सिर पर पद्मरागमणि बाँधी गई। कस्तूरी में बासे गये अंगराग का लेपन कर गोरोचन से उनका मुँह चित्रित

किया गया। माला एवं आभूषण पहने हुए, हंस-चिह्न-खचित दुकूल ओढ़े हुए वे उस समय ऐसे दिखाई पड़े मानो राज्यलक्ष्मी रूपी वधू के वे दुलहे हों—

"आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान्।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः॥" १७।२५

इसके बाद अतिथि की नगर-पर्यटन की शोभा का मोहक चित्र अंकित किया गया है तथा उनके प्रताप एवं प्रभाव की भी व्यंजना की गई है। अभिषेक का सम्पूर्ण प्रसंग इस बात का द्योतक है कि कवि उस वातावरण में ओत-प्रोत था तथा उसके चित्रण में उनकी लेखनी अत्यंत सहज भाव से चलती है। पुनः उसकी निम्नोद्धृत अध्युक्ति से उसके आकांक्षित राजशील पर भी आलोक पड़ता है—

"वयोरुपविभूतीनामेकैकं मदकारणम्।
तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः॥" १७।४३

—यौवन, रूप तथा ऐश्वर्य, तीनों में एक भी मनुष्य को मतवाला बना देता है। लेकिन, अतिथि के पास ये तीनों वस्तुएँ थीं, तो भी उन्हें गर्व का लेश भी नहीं था। सत्ताधारियों के लिए कवि की यही चुनौती है।

अब तक रघुवंश के एक पक्ष का दिग्दर्शन कराया गया है। इसे 'लोक-पक्ष' कहा जा सकता है। 'रघुवंश' का दूसरा पक्ष भी है। जिसे 'व्यक्ति-पक्ष' कहना असंगत नहीं होगा। इस पक्ष में कवि ने लोक की ओर से, राजन्यवर्ग के शील, शौर्य एवं ऐश्वर्य की ओर से जिसका प्रतिफलन जनसमुदाय को अधिक आकर्षित या प्रभावित करता है, दृष्टि हटा कर, दो विशिष्ट रघुवंशियों के व्यक्तिगत जीवन के भीतर झाँकने का उपक्रम किया है। ये दोनों हैं, अज और अग्निवर्ण। जिस प्रकार काव्य में प्रथम पक्ष के चित्रण में कालिदास ने अपने सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्शों को पल्लवित किया है, उसी प्रकार द्वितीय पक्ष के उद्घाटन में उन्होंने व्यक्ति के रूप में अपनी रसलिप्सु अन्तर्वृत्तियों की तृप्ति की भी योजना की है। इस कथन में थोड़ा संशोधन यह किया जा सकता है कि अग्निवर्ण लोकनिरपेक्ष, विलासमग्न राज्यश्री के दुःखद पतन का प्रतीक भी है। कुल मिलाकर, 'रघुवंश' का यह अपर पक्ष युग की जटिल संस्कृति के शृंगार-प्रिय पटल का उन्मीलन करता है। जिस प्रकार प्रथम पक्ष उसके पौरुष-प्रिय परिपार्श्व की व्यंजना के हेतु नियोजित है।

जिस आनन्दवादी भावना को कालिदास की सरस्वती की मुख्य प्रेरणा कहा गया है, उसका मनोरम प्रस्फुटन इन्दुमती-स्वयंवर के प्रसंग में दृष्टिगोचर होता है। स्वयंवरभवन में बैठे राजा विमानों पर आसीन देवताओं की नाईं सुशोभित हैं। उनकी तड़क-भड़क देखकर आँखें चौंधिया जाती हैं और ऐसा जान पड़ता है मानों लक्ष्मी

ने अपनी शोभा उनमें इस प्रकार बाँट दी हो जैसे बिजली अपनी चमक बादलों में बाँट देती है। किन्तु उस भव्य आयोजन का पुरस्कार तो विजेता अज को होना है। अतएव, जैसे नन्दनवन के वृक्षों में पारिजात ही सर्वाधिक सुन्दर है, वैसे ही उन राजाओं के बीच में राजकुमार अज शोभाशाली दीख पड़ रहे हैं और नगरवासियों के नेत्र उनपर ही केन्द्रित हो गये हैं। इसी बीच इन्दुमती की मनुष्यवाह्य पालकी भी पहुँच गई। कवि ने उस विवाह-वेशधारी "पतिंवरा" के रूप-सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन किया है। नखशिख के स्थूल वर्णन की अपेक्षा उसे समवेत नरेशों की शृंगार-चेष्टाओं का चित्रण अभीष्ट है—यद्यपि उस अनिन्द्य सुन्दरी के रूप की कुछ विशद झाँकी हम यहाँ चाहते थे। कुछ आगे चलकर, रनिवास की प्रतिहारी सुनन्दा के मुख से कवि ने इन्दुमती के केले के समान जंघे (रम्भोरु), पानी की भँवर के समान गहरी नाभि (आवर्तमनोज्ञनाभिः) तथा चकोर जैसे नेत्रों ('चकोराक्षि') का उल्लेख किया है। यहाँ भी तो, कवि ने उसकी रूपश्री के प्रभाव की 'व्यंजना कर' सहृदयों को उस सुषमा के अनुसंधान के लिए आमंत्रित किया है। देखिये—

"तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैःस्थिताः केवलमासनेषु॥" ६।११

'वह कन्या विधाता की रचना की सर्वोत्कृष्ट कला थी जिसे सैकड़ों नेत्र टकटकी लगा कर निहारने लगे। नरेशों के शरीर ही केवल मंच पर आसीन थे, उनके मन तो उस रूप-लक्ष्मी में अटक गए।'

अब "प्रणय की अग्रदूतियों" के समान नरेन्द्रों ने जो विविध शृंगार-चेष्टायें कीं, उनका चित्रण देख रसमग्न होवें—

"कोई राजा हाथ में सुन्दर कमल लेकर उसकी डंठल पकड़ कर घुमाने लगा जिससे भौंरे तो इधर-उधर भाग गये, लेकिन पराग के फैलने से एक कुण्डली-सी बन गई। दूसरा विलासी राजा तनिक मुँह घुमा कर कंधे से सरकी हुई और भुजबंध से उलझी हुई रत्नों की माला को उठा कर, फिर से गले में ठीक से पहनने लगा। तीसरा नेत्र को किंचित् घुमाकर, पैर की अँगुलियाँ मोड़ कर चरणनखों की चमक तिरछी डालते हुए, सुवर्ण-पीठ पर पादांगुलियों से कुछ लिखने लगा। एक युवा राजा—जिसके नख मानों प्रिया के नितम्बों पर चिह्न बनाने के लिए ही बने थे—उनसे केतकी के धवल पत्तों को नोच रहा था जो किसी विलासिनी के कान भूषण के रूप में कटे हुए थे। कमल के समान लाल हथेली वाला जिस पर ध्वजा की रेखाएँ अंकित थीं, एक राजा अपने हाथ में पासे उछाल रहा था और उसकी अँगूठी की झलक उन पासों पर पड़ रही थीं। एक दूसरा नरेश पहले से ही सीधे मुकुट को

बार बार सीधा कर रहा था जिससे उसकी करांगुलियों के बीच के रन्ध्र रत्नों की किरण से चमक उठते थे।' ६। १२-१६

प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने इन चेष्टाओं की ध्वनिमूलक, रसाभिनिवेशी व्याख्या की है। यह कहना कठिन है कि कवि का निगूढ़-अर्थ भी वही था जो इस पंडित ने विवृत किया है। उतनी दूर तक न जाकर भी, सहृदय इन रस-चेष्टाओं का आनन्द ले सकते हैं। ये सभी नैसर्गिक प्रतिक्रियाएँ हैं जो प्रणयपिपासुओं के अन्तर्मन को, किसी 'पतिंवरा' के सान्निध्य में उद्वेलित कर, आत्म-प्रकाश करती हैं। यह विवशता की स्थिति है जिसमें मनुष्य को पता नहीं चलता कि वह रूपसी उसके प्रति आचरण क्या करेगी। फलतः उसका हृदय आशा-निराशा की आँखमिचौनी की दोलायमान रंगस्थली बन जाता है और वह अपनी भीतरी अनिश्चिति को नाना प्रकार की आंगिक चेष्टाओं के द्वारा अभिव्यक्त करता है। तथापि, जैसा कालिदास ने कहा है, ये चेष्टायें हैं 'प्रणय की अग्रदूतियाँ' ही क्योंकि इनका अंतिम लक्ष्य प्रेमान्वेषियों के हृदयस्थ अनुरागस्फुरण को व्यंजित करना ही है। कवि ने इन चेष्टाओं का चित्रण कर अपनी रसैषणा को ही उन्मीलित किया है।

सुनन्दा प्रत्येक नरेश के शील, शौर्य एवं ऐश्वर्य का बखान करती आगे बढ़ी जा रही है और वह रूपशालिनी 'पतिंवरा' मानो सबकी मौन उपेक्षा कर, अपने अभीष्ट प्रणयाधिकारी की ओर बढ़ती जा रही है। यह बात नहीं थी कि वे राजा काम्य-कान्त नहीं थे अथवा इन्दुमती उन्हें अच्छी तरह निहार न लेती हो। वास्तव में, प्रणय-व्यापार तर्काश्रित न होकर, रुच्याश्रित होता है, बाह्यप्रेरित न होकर अन्तः-प्रेरित होता है।[1] राजकुमार अज कुल, कान्ति, यौवन एवं विनयशीलता में इन्दुमती के ही समान हैं और सुनन्दा का अनुरोध है कि वह उन्हें वरण कर रत्न और कांचन का संयोग सम्पन्न करे।

सौन्दर्य वह वस्तु नहीं कि उसकी देर तक अन्वीक्षा एवं परीक्षा की जाय। वह ऐसा गुण है जो दृष्टिगत होते ही सीधे प्रवेश करता है और द्रष्टा की अन्तरात्मा को सद्यः बन्दी बना लेता है। इन्दुमती संकोच त्याग कर अज पर दृष्टिपात करती है और उसकी दृष्टि ही मानों 'वरण की माला' ('संवरणस्रजेव') बन जाती है। कवि ने इन्दुमती के अनुभाव का इस स्थल पर एक ही चित्र अंकित किया है जो परिचित होते हुए भी, उसकी कल्पना के लालित्य के पारस से संयुक्त होकर, अभिनव सौन्दर्य-स्वर्ण-सा मोहक बन गया है। देखिए—

---

१. 'नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः।' (६।३०)

"सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥" ६।८१

—'शालीनता के कारण इन्दुमती, अनुरागविद्ध होने पर भी, अपनी प्रेमवृत्तियों का कथन न कर सकी; परन्तु उसे रोमांच हो आया तथा घुँघराले केशों वाली उस रूपशालिनी का प्रेम छिपाये न छिप सका, मानो खड़े हुए रोंगटों के रूप में वह अनुराग, शरीर फोड़कर, बाहर निकल आया हो।'

उत्प्रेक्षा की रमणीयता किसी भी सहृदय के मानस-नेत्रों से ओझल नहीं हो सकती। बाद के चित्रों में कवि ने यथेष्ट विनोद, सहानुभूति- एवं रसज्ञता की विज्ञप्ति की है। इन्दुमती की यह दशा देखकर सुनन्दा परिहास-पूर्वक उसको आगे बढ़ने के लिए कहती है। इस पर इन्दुमती की प्रतिक्रिया अत्यंत मनोरम एवं व्यंजनापूर्ण हुई है—"अथैनां वधूरसूया कुटिलं ददर्श" (वधू ने आँख तरेर कर सुनन्दा की ओर देखा।) इस दृष्टिभंगी में भीतर की कौन-सी भाषा बोल रही है, इसे समझना कठिन नहीं है। हाथी की सूँड़ के समान सुडौल जंघों वाली ('करभोपमोरुः') इन्दुमती सुनन्दा के हाथों वह वरणमाला अज के गले में पहनवा देती है और, इस मंगल-माला को धारण करते ही अज की दशा देखिये—'उन्होंने यही समझा मानो इन्दुमती ने मेरे गले में अपनी भुजायें डाल दी हों (अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः)।

कवि ने इन्दुमती के आचरण में जिस संकोच, शालीनता एवं साहस की व्यंजना की है, वह इस बात का प्रमाण है कि वह अनुराग एवं अवसर दोनों की रक्षा करने में कुशल है।

प्रेम सुयोग्य पात्र में कितने शौर्य का उद्रेक करता है—इसे हमने शत्रु राजाओं के विरुद्ध अज के पराक्रमशील आचरण में ऊपर देखा है। किन्तु, यही प्रेम प्रिय वस्तु के विछोह में वज्र को भी कितना पिघला देता है—इसका मर्मद्रावक चित्रण इन्दुमती की आकस्मिक मृत्यु यह महाराज अज के विलाप-वर्णन में उपलब्ध होता है। अज ने अपनी मृत पत्नी को अपनी गोद में उठाकर उसी प्रकार रखलिया जैसे तार मिलाने के समय वीणा रख ली जाती है। वे इन्दुमती के साथ नगर के उपवन में विहार कर रहे थे कि इसी बीच आकाश-मार्ग से जाते हुए नारद जी की वीणा के सिरे पर से स्वर्गीय कुसुमों से गुथी हुई दिव्य माला रानी के बड़े-बड़े स्तनों के ठीक बीच में गिर गई—जिससे उसके प्राण-विहग तत्काल उड़ गये। इतने कोमल आघात से अकस्मात् प्राण-प्रिया के प्राणान्त पर, अज ने जो विलाप की धारा बहाई, वह सूखे काठ को भी रुलाने वाली है। अज विलखते कहते जा रहे हैं—

"हाय जब फूल भी प्राण ले सकते हैं, तब तो दैव जिस—किसी वस्तु से जिसे मारना चाहेगा, मार देगा। या सम्भवतः कोमल वस्तु को मारने के लिए कोमल वस्तु का ही प्रयोग विधाता करता है। और, यदि इस माला में प्राणहरण की शक्ति हो, तो लो, मैं इसे अपनी छाती पर रखता हूँ; लेकिन यह मुझे क्यों नहीं मार डालती ? या, यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि दैव ने इस माला को बिजली बनाकर गिराया है जिसने वृक्ष को तो छोड़ दिया, किन्तु उससे लिपटी लता को जला दिया। हे इन्दुमती ! मैंने बहुत अपराध किए, पर तूने तिरस्कार नहीं किया और आज बिना अपराध के ही, तुम मुझे बात करने के योग्य भी क्यों नहीं समझ रही हो ? हे मधुर हास्य हँसनेवाली ! तुमने सचमुच समझा है कि मैं तुमसे झूठा प्रेम करता हूँ, इसीलिये तुम मुझसे बिना पूछे ही, सदा के लिए परलोक चली गई। अभी तुम्हारे मुँह पर से सम्भोग की थकावट के स्वेद की बूँदें भी नहीं सूखीं कि तुम चल बसीं। धिक्कार है मनुष्य की नश्वरता को !"

अज का पत्नी-वियोग एक विशेष परिस्थिति में, एक विशेष कारण से, घटित हुआ है। जैसे क्रौंचमिथुन में से एक की मृत्यु हो जाने पर आदि कवि की वाणी से करुणा का स्रोत फूट पड़ा था, उसी प्रकार इन्दुमती के अनाशंकित देहावसान से कालिदास की भारती द्रवित होकर रो रही है। अब अज का शोकविह्वल ध्यान पत्नी के शरीर की ओर आकृष्ट हुआ है और एक-से-एक करुणोद्रेचक विचार उनके हृदय को चीरते चले जा रहे हैं—

"हे मनोरम जंघोंवाली ! भ्रमरों के समान काली, कुसुमों से खचित तुम्हारी वेणियाँ जब हिलती हैं, तब मेरे मन में आशा उठती है कि तुम अवश्य जी उठोगी। अतएव हे प्रिये ! जैसे रात में चमकनेवाली बूटियाँ अपने प्रकाश से हिमालय की अँधेरी गुफा को भी आलोकित कर देती हैं, वैसे ही तुम भी जाग कर मेरी वेदना को मिटाओ। मौन भ्रमरों से पूर्ण, रात में मुँदे अकेले कमल के समान भासित होने वाला, बिखरी अलकों से आवृत तुम्हारा मौन मुख देखकर हृदय फटा जा रहा है। ×××× कोमल किसलयों की शय्या भी जिस गात्र में चुभती थी, हे वामोरु ! बताओ वह शरीर चिता पर कैसे चढ़ेगा ? ×××× तुम्हारी मीठी बोली कोयलों ने लेली, तुम्हारी मन्द, अलसाई गति कलहंसियों ने ले ली, तुम्हारी चंचल चितवन हरिणियों को मिल गई और तुम्हारा चापल्य पवन से हिलती लताओं में चला गया। स्वर्ग जाने की उतावली में, हे प्रिये ! तुमने अपने गुण यहीं छोड़ दिये, पर इन सबसे मेरे हृदय को कथमपि सन्तोष नहीं होता।"

प्रिया की प्यारी वीरुध-लताओं को देखकर, अज का हृदय फटा जा रहा है। अब से अपनी एकाकी शय्या का ध्यान कर वे बिलखते जा रहे हैं—

"तुम मेरी स्त्री थी, सम्मति देनेवाली मित्र थी, एकान्त की सखी थी, तथा ललित कलाओं के सम्बन्ध में मेरी शिष्या थी। तुम्हीं बताओ, तुम्हें छीनकर निष्करुण विधाता ने मेरा क्या नहीं छीना। × × × × इतना ऐश्वर्य होने पर भी, तुम्हारे बिना अभागे अज का समस्त सुख मिट्टी हो गया क्योंकि मुझे अन्य किसी वस्तु से प्रेम नहीं था; मेरे तो सम्पूर्ण सुखों का केन्द्र तुम ही थी।"

अज-विलाप करुण-विप्रलंभ का अविस्मरणीय प्रतीक है और इसकी स्पर्धा 'कुमारसम्भव' का रति-विलाप ही कर सकता है। एक अर्थ में ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक में रमणाधार प्रिय के प्राणान्त पर नारी-हृदय के फूट कर निकलने का चित्रण हुआ है, तो दूसरे में प्राणवल्लभा प्रिया के आकस्मिक निधन पर पुरुष-हृदय की दारुण वेदना का मर्मद्रावक उन्मीलन सम्पन्न हुआ है। समस्त साहित्य में ये दोनों विलाप निराले एवं अनुपम हैं। अस्तु।

कवि के 'प्रणय-प्रतीक' अज का जीवनान्त समस्त प्रेमियों के लिये एक चुनौती है। अज ने अपने पुत्र दशरथ के शैशव के प्रति अपना दायित्व समझकर, तथा दिवंगता प्रिया की "प्रतिकृति" (चित्र) को देखकर आठ वर्ष व्यतीत कर दिये। कवि कहता है कि जिस प्रकार वट-वृक्ष की जटायें भवन की छत को छेद कर नीचे घुस जाती हैं, उसी प्रकार शोक की बर्छी ने अज के हृदय को बल-पूर्वक आर-पार बेध दिया और वे दशरथ के योग्य हो जाने पर "प्रायोपवेशन" (उपवास) के द्वारा शरीर त्याग कर, स्वर्गस्थ भार्या के साथ नन्दनवन में विहार करने लगे। पंडित चन्द्रबली पाण्डेय की यह टिप्पणी बड़ी सटीक है—"प्रेम की साधना में अज किसी से पीछे नहीं। × × ×परन्तु, जो बात अन्यत्र कहीं नहीं मिलती, वह है प्रेम पर धर्म और कर्म का अंकुश। × × × प्रेम की भूमि में अज की खेती होती, तो प्रेमी को न तो बावला बनने का काम करना पड़ता और न पहाड़ खोदने का साहस। सचमुच मर्यादा के भीतर यदि प्रेम का दर्शन और राग का साक्षात्कार करना है, तो निश्चय ही अज का अध्ययन करें और यह सभी प्रकार जान लें कि वास्तव में किसी वियोगी का प्रेमयोग क्या है जो वह प्रिया की "प्रतिकृति" और स्वप्न-दर्शन से अपने जीवन का निर्वाह करता है और जीवन से मुक्त हो, अन्त में उपवास कर, उसीमें लीन हो नित्यविहार में मग्न हो जाता है।"

('कालिदास', पृ० सं० १६२)

अज जैसे कर्त्तव्यानुमोदित प्रणय का प्रतीक है, वैसे ही अग्निवर्ण विलास का। कवि अग्निवर्ण की कामुकता का कारण यह बताता है कि उसे पिता सुदर्शन से भोग के लिए ही राज्यलक्ष्मी मिली थी क्योंकि शत्रुओं का उच्छेद पहले ही हो चुका था।

उनकी विलासमग्नता के परिचय के लिए 'रघुवंश' का अन्तिम सर्ग पठनीय है। प्रजाहितनिरपेक्षता के संबंध में कवि का केवल एक ही चित्र पर्याप्त होगा—

"गौरवाद्यपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकांक्षितं ददौ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥" १६।७

—'(वह सदा रनिवास में मग्न रहता।) और, यदि कभी मंत्रियों के अनुरोध से प्रजा को दर्शन भी देता तो बस इतना ही कि झरोखे से एक पैर नीचे लटका देता।'

इसी तरह, अग्निवर्ण की विलासप्रियता की जानकारी के लिए भी एक ही चित्र स्मरणीय है—

"तस्य सावरणदृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु संगिनः।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥" १६।१६

—'वह सदा नव-नव भोग की सुन्दर वस्तुएँ चाहता था। जिस वस्तु से मन भर जाता, उसे वह छोड़ देता था। इसलिये, सुन्दरियाँ उससे आधी ही रति कर उठ जाती थीं क्योंकि उन्हें भय बना रहता था कि पूर्ण रूप से तृप्त हो जाने पर वह उन्हें छोड़ देगा।'

इसमें, अतएव, आश्चर्य नहीं कि अग्निवर्ण राजयक्ष्मा का शिकार होकर, पुत्र-मुख का दर्शन किये बिना ही, पंचत्व को प्राप्त कर गया। "विरही अज को नन्दन का लीलागार मिला और योगी रघु को परमपुरुष परमात्मा। एक को सच्ची भोग-भूमि मिली तो दूसरे को पक्की मुक्ति। पर पता नहीं, मिला क्या कर्म-फल अग्निवर्ण को।" जो हो कवि का मन्तव्य स्पष्ट है—'गोद में बैठाने योग्य दो ही वस्तुएँ हैं, एक तो मनोहर शब्द वाली वीणा और दूसरी मधुर-भाषिणी कामिनी।'[1] किन्तु एक निश्चित मर्यादा के भीतर ही इनका अभ्यास होना चाहिए, अन्यथा राजयक्ष्मा ही अनिवार्य पुरस्कार होगा। वस्तुतः कालिदास ने प्रेयस् तथा श्रेयस् के उचित सामंजस्य पर ही बल दिया है—

जैसा ऊपर हमने कहा है, 'रघुवंश' का एक महत्त्वमय खंड है, रामचरित का व्याख्यान। कालिदास ने राम को विष्णु का अवतार माना है तथा राक्षसों के विनाश को रामजन्म का प्रयोजन। यों तो पाँच-छः सर्गों में रामकथा का निबंध हुआ है, तथापि ऐसा लगता है कि इसके अनेक प्रसंगों में कवि का मन रमा नहीं है—'रमा नहीं है', ऐसा हम इसलिए कहते हैं कि हमें तुलसी-द्वारा चित्रित मार्मिक प्रकरणों की याद

---

१. "अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥" (१९।१३)

बिल्कुल हरी है। कालीदास मानों रामचरित की घटनाओं को एक ही साँस में त्वरापूर्वक उल्लिखित कर देना चाहते हैं।

वास्तव में, रामजन्म से लेकर राम की लंका-विजय के अनन्तर अयोध्या लौटने तक की पूरी कथा के वर्णन में कवि-हृदय का कहीं भी उन्मीलन नहीं हुआ है। विवाह, बरात, वनगमन, मृत्यु इत्यादि कितने ही स्थानों में हम कालिदास की समर्थ सरस्वती की छटा देखने के अभिलाषी थे। किन्तु, उन्होंने हमें निराश ही किया है। चतुर्दश सर्ग में माताओं के प्यार, सीता के स्वागत, निष्कासन के समय सीता की मनोदशा जैसे कतिपय प्रसंगों में ही कुछ सरसता का आभास मिलता है। मेरी समझ से समग्र राम-कथा में दो ही प्रसंग ऐसे आये हैं जिनमें कवि की सहृदयता के दर्शन होते हैं, और संवद्ध श्लोकों की संख्या केवल नव है। मेरा अभिप्राय है लक्ष्मण को दिये गये राम के लिए सीता के संदेश, तथा लक्ष्मण के प्रस्थान पर सीता के क्रन्दन से। सीता के संदेश में यथेष्ट उष्णता वर्तमान है जो हमारे मर्म को स्पर्श कर पिघला सकती है। अन्तिम उक्ति में कितनी कारुणिकता भरी है—"राजाओं का धर्म वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करना है, अतएव घर से निष्कासित करने पर भी महाराज यह समझ कर मेरी देखभाल करेंगे कि सीता भी उनकी प्रजा और तपस्विनी है।" अर्धाङ्गिनी सीता के इस कथन में जो विवशता, जो मर्म-भेदी व्यथा गर्भित है, वह कठोर से कठोर हृदयों को भी द्रवित कर देगी।

इसी प्रकार सीता के रुदन का चित्र भी अत्यन्त हृदयविदारक है। लक्ष्मण के विदा होते ही सीता कुररी के समान गला फाड़-फाड़ कर रोने लगीं। इस क्रन्दन को सुनकर, "मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष फूल के आँसू गिराने लगे तथा हरिणियों ने मुँह में भरे हुए घास के कौर को गिरा दिया। सीता के दुःख से दुःखी होकर संपूर्ण जंगल ही रोने लगा।"

इसे प्रौढोक्ति समझना भूल होगी। यहाँ कवि ने चराचर-व्यापिनी उस हृदय-सत्ता की ओर संकेत किया है जो अखिल विश्व को एक रागात्मक संबन्ध-सूत्र में आबद्ध किये है। हृदय चाहता है कि वन की सम्पूर्ण वस्तुओं के दृश्यमान नेत्र होते, और उनसे प्रसूत जल-प्रवाह में हम भी शरीरतः बह जाते।

रामचरित का पूरा प्रकरण 'रघुवंश' के 'लोक-पक्ष' के अन्तर्गत समझना चाहिए।' 'व्यक्ति-पक्ष' के लिए कवि ने उपर्युक्त चित्रों के अतिरिक्त कोई भी योजना नहीं की है। वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा का पालन ही राम-कथा वर्णन का प्रधान उद्देश्य है।

'वीयशुल्क' राम तथा 'आयोनिजा' सीता के दाम्पत्य-जीवन में प्रेम के ललित

रूप का प्रकाश नहीं हो सका है। राम आदर्श राजा एवं आदर्श पति हैं। सीता के उद्धारार्थ जो उन्होंने राक्षसों का संहार किया है, वह इसलिये कि वे शत्रु से स्त्री-हरण के अपमान का प्रतिशोध लेना अपना धर्म समझते थे। पत्नी पर आरोपित कलंक को सुनकर उनका हृदय वैसे ही फट गया जैसे घन की चोट से तपाया हुआ लोह फट जाता है। तथापि, कुल-कलंक मिटाने के ध्येय से राम गर्भिणी सीता का परित्याग करने को उद्यत हो गये हैं। लेकिन, वही राम सीता का संदेश सुनकर कितने द्रवित हो जाते हैं, इसका एक ही चित्र अंकित हुआ है जो नितान्त संकेत-पूर्ण है—

"बभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥" १४।८४

अश्वमेध यज्ञ के समय सीता की स्वर्णघटित मूर्ति का सहयोग लेना तथा पुनः दूसरा विवाह न करना—ये बातें राम को आदर्शपति-रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। किन्तु, प्रेम के इन सूक्ष्म यद्यपि गम्भीर, संकेतों से 'लोक का पेट' नहीं भरता। मानों इस कमी को पूरा करने के लिए कवि ने कुश की जलक्रीड़ा की आयोजना की है। सरयू में स्नान करनेवाली सुन्दरियों की चुलबुली एवं उल्लास का चित्रण अत्यन्त सजीव एवं सटीक हुआ है। कवि का अवेक्षण उसकी रसान्वेषी चेतना में सनकर अत्यन्त अभिराम एवं हृदयावर्जक बन गया है।

अयोध्या की नगरदेवी के अनुरोध पर कुश, कुशावती छोड़कर, अयोध्या लौट आए थे और उसकी विगत वैभव-श्री पुनः उज्जीवित हो गई थी। वह नगरी ऐसी सुन्दर भासित होने लगी थी जैसे समस्त शरीर पर आभूषण धारण किए हुए कोई नारी हो—"पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी।" कवि ने कुश के जलविहार-वर्णन के लिए अयोध्या में ग्रीष्म के अवतरण का पहले वर्णन किया है जो सर्वथा समीचीन है। ग्रीष्मर्तु के आने पर कुश को अपनी उस प्रिया का स्मरण हो आया जिसकी ओढ़नी में रत्न लगे हों, जिसके गोरे-गोरे स्तनों पर मोतियों का हार लटका हो तथा जो साँस से उड़नेवाले महीन वस्त्र पहने हो—

"अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम्।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ॥" १६।४३

ग्रीष्म के उत्ताप से कुछ समय तक मुक्ति पाने के अभिलाषी कुश अपनी रानियों के साथ सरयू नदी में जलक्रीड़ा के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। राजा और उसकी वनिताओं के जलविहार का चित्रण हो रहा है; अतएव कवि अवसर तथा परिवेश के प्रति पूर्ण सजग है। सरयू के तीर पर शिविर खड़े हो गए और मल्लाहों ने पानी

में बाल डाल कर, ग्राह इत्यादि समस्त जीव-जन्तु उसमें से बाहर निकाल लिए। अब रानियाँ जल में उतर रही हैं और कवि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तथ्यों का आकलन करता जा रहा है। जब कुश की रानियाँ सीढ़ियों से पानी में उतरने लगीं, उस समय उनके भुजबन्द एक दूसरे से रगड़ खाने लगे, पैरों के बिछुए बजने लगे और इन ध्वनियों को सुन-सुनकर सरयू के हँस मचल उठे—

"सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः॥" १६।५६

कुश तट पर से पहले अपनी सुन्दरियों की क्रीड़ामग्न छवियों का अवलोकन कर रहे हैं। कालिदास से कम सौन्दर्यास्वादिनी बुद्धि वाले कवि ने कुश और उसकी महिषियों को युगपद जल-धारा में प्रविष्ट करा दिया होता। कालिदास की सौन्दर्यान्वेषिणी चेतना अत्यधिक प्रबुद्ध है; अतएव, कुश रानियों की छवियों का अवलोकन करने के बाद ही जल-प्रवेश करेंगे और उस क्रीड़ोत्सव में स्वयं भाग लेंगे। वारि-विहारिणी अंगनाओं की छटाओं का वर्णन स्वयं कुश के मुख से सुनिए—

"देखो, मेरे रनिवास की सैकड़ों रानियों के स्नान करने से और उनके शरीर से धुले हुए अंगराग के मिल जाने से सरयू की धारा ऐसी रंग-बिरंगी दीख पड़ती है जैसे बादलों से भरी सन्ध्या (संध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः)। नावों के चलने से जल में जो लहरें उठती हैं, उन्होंने इन सुन्दरियों के नेत्रों का अंजन धो दिया है और उसके बदले में, मदपान के समय की लाली इनकी आँखों में भर दी है। भारी नितम्बों एवं स्तनों के कारण ये रानियाँ तैर नहीं पाती हैं, तो भी, क्रीड़ा में सम्मिलित होने के कारण ये मोटे-मोटे भुजबन्धों वाली बाँहों से जल में बड़ी कठिनाई से तैर रही हैं। इन जल-क्रीड़ा मग्न रानियों के कानों से सिरस के कर्णफूल खिसक कर नदी में गिर कर तैर रहे हैं जिनको देखकर मछलियों को सेवार का भ्रम हो रहा है और वे इन पर मुँह मारने को झपट रही हैं। जलास्फालन में तत्पर रानियों को यह भी भान नहीं होता कि उनके हार टूट गए हैं और मोती बिखर गए हैं। ये मोतियों से स्पर्धा करने वाली तथा स्तनों से टकराने वाली बूँदों को ही मोती मान कर (मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु पयोधरोत्सर्पिषु), समझ बैठी हैं कि हार टूटा नहीं है। सुन्दरी नारियों के अंगों के समान जो वस्तुएँ संसार में प्रसिद्ध हैं, वे सब इन सुन्दरियों के आस-पास जुट आई हैं। पानी की भँवर इनकी गहरी नाभि के समान है, लहरें इनकी भौंहों के समान हैं तथा चक्रवाक इनके स्तनों के समान हैं—

'आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम्।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम्॥" १६।६३

कवि की दृष्टि कितनी सावधान है, इसकी विज्ञप्ति इस बात से होती है कि उसने रानियों के नितम्बों पर श्वेतवस्त्र के नीचे दिखाई पड़नेवाले करधनी के घुँघरुओं तक का चित्रण किया है। ये घुँघरू ऐसे लक्षित हो रहे हैं जैसे चन्द्रमा के प्रकाश से ढँके हुए तारे हों तथा करधनी के डोरों में जल भर जाने के कारण, सुन्दरियों के इतस्ततः दौड़ने पर भी ये बज नहीं रहे हैं—

"संदष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥" १६।६५

परस्पर पानी उछालने से, कामिनियों के सीधे लटके हुए केशों से कुंकुम मिली हुई लाल रंग की बूँदों के अपस्रवण की ओर भी कवि-दृष्टि गई है और निम्नोद्धृत चित्र के अंकन से तो उसकी सतर्क एवं सजग यथार्थप्रियता का मंजुल प्रत्यक्षीकरण होता है—

"उद्बन्धकेशश्च्युतपत्त्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्त्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥" १६।६७

"यद्यपि स्नान के कारण बाल खुल जाने से, मुख तथा स्तनों पर बनी चित्रकारी के धुल जाने से और मोतियों के कर्णफूल कान से निकल जाने से इन प्रमदाओं का वेश आकुलित हो गया है; तथापि वे अत्यन्त मनोहर लग रही हैं।"

जलविहार-रत विलासिनियों की विविध शोभाओं का वर्णन करने के उपरान्त कवि ने कुश को जलधार में प्रविष्ट कराया है और केवल तीन श्लोकों में उस भ्राजिष्णु नृप की रानियों के साथ संयुक्त छवि का अंकन कर, कथा-सूत्र को आगे बढ़ा दिया है। कुश के साथ जलक्रीडा करनेवाली सुन्दरियाँ और भी सुन्दर लगने लगीं क्योंकि स्वभावतः सुन्दर मोती इन्द्रनीलमणि से युक्त होकर और ही छटा धारण करता है—

"प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ।"

कांचनशृंगों (सोने की पिचकारियों) से जब सुन्दरियाँ कुश पर रंग छोड़ने लगीं, तब वे ऐसे शोभित हुए जैसे हिमालय पर से गेरू का झरना गिररहा हो—"तथागतः सोऽतितरां बभासे स धातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ।" और स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करते समय कुश ऐसे भ्राजमान थे जैसे देवराज इन्द्र अप्सराओं के साथ आकाश-गंगा में विहार कर रहे हों—"आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ।" रानियों और राजा की संयुक्त जलक्रीड़ाशील छवि के चित्रण में कवि का संयम वैसा ही श्लाघ्य है जैसा वारिविहारिणी कामिनियों की विविध छटाओं का सूक्ष्म अंकन प्रशस्य है।

'रघुवंश' में गुप्तवंश की छाया के यथेष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं, लेकिन इस ऐतिहासिक दृष्टिभंगी को दूर रख कर भी, इस कमनीय कृति का आस्वादन किया जा सकता है। और कालिदास भी यही चाहते थे; तभी तो उन्होंने कहा—

"तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥" १।१०

राम का आख्यान कालिदास ने वाल्मीकि से ग्रहण किया है। रामायण में जो प्रसंग संक्षिप्त है, उसे कालिदास ने विजृम्भित कर दिया है और जो प्रसंग विस्तृत है, उसे संक्षिप्त बना दिया है। लेकिन, जहाँ उन्हें कोई महान् दृश्य अंकित करने का अवसर मिला है, वे उसे छोड़ नहीं पाये हैं। राम तथा परशुराम की प्रतिद्वन्द्विता का वर्णन कालिदास ने बड़ी सजीवता एवं तन्मयता से किया है। लंका से राम और सीता के पुष्पक-विमान में लौटते समय की यात्रा भी अत्यन्त मनोरम तथा काव्यमय ढंग से चित्रित हुई है। 'मेघदूत' में कवि ने उत्तरी भारतवर्ष के सुरम्य स्थानों का रमणीय वर्णन किया था और अब इस सन्दर्भ में उसे दक्षिणी भारत की सुषमाओं एवं भव्यताओं के चित्रण का जो स्वर्ण-संयोग प्राप्त हुआ है, उसका कवि ने बड़ी अद्भुत कुशलता से उपयोग किया है। तेरहवें सर्ग में गंगा और जमुना की धाराओं के मिलने का जो मन्द्र चित्रण हुआ है, वह काव्यात्मक प्रतिभा का भव्यतम प्रतिफलन है। वाल्मीकीय रामायण से कालिदास की कुछ भिन्नताओं का उल्लेख किया जा सकता है। शूर्पणखा के प्रणय-प्रस्ताव का राम तिरस्कार करते हैं और सीता हँसकर उसका उपहास करती हैं। हँसी से क्रुद्ध होकर शूर्पणखा प्रतिशोध की प्रतिज्ञा करती है जिसकी परिणति रावण द्वारा सीता-हरण में होती है। वाल्मीकि ने सीता के हँसने का उल्लेख नहीं किया है जो वस्तुतः समस्त घटना-प्रवाह का निर्णायक बिन्दु है। कालिदास ने इस प्रकार सीता के अपहरण तथा उसकी सम्पूर्ण विपदाओं का दोष सीता पर ही आरोपित किया है। वाल्मीकि ने यह प्रसंग भिन्न ढंग से ही चित्रित किया है, जिसमें सीता का तो कोई दोष नहीं है राम भी दोषावह कल्पित नहीं किए गए हैं क्योंकि उनके लिये शूर्पणखा का रुष्ट करना अनिवार्य था। कालिदास सीता को दोषी बताना चाहते थे। उन जैसी सती-साध्वी पत्नी को उस परिस्थिति में हँसना नहीं चाहिये था।

कालिदास ने राम की भी आलोचना की है। लंका में अग्नि-परीक्षा द्वारा सीता के सतीत्व का अनुमोदन हो चुका था। फिर भी, जब प्रजा को उन्हें अंगीकार करने पर आपत्ति हुई, तब राम ने तत्काल उन्हें निर्वासित कर दिया और सीता को इस बात का परिज्ञान तभी हुआ जब लक्ष्मण ने उन्हें वाल्मीकि के आश्रम में लाकर प्रस्तुत

कर दिया। रामायण में राम की इस कृति के लिए कोई टीका-टिप्पणी नहीं हुई है, क्योंकि यहाँ उन्हें मानवीय दुर्बलता से अस्पृष्ट, केवल शुचिता एवं पवित्रता के आदर्श रूप में चित्रित किया गया है। लेकिन, कालिदास ने इस प्रसंग को भिन्न ढंग से व्यवस्थित किया है।

जब सीता सुनती हैं कि वे राम द्वारा परित्यक्त कर दी गई हैं, तब वे संज्ञाहीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं। किन्तु पृथ्वी देवी, जो उनकी माता है, यह अनुमान करती हैं कि राम जैसा उदात्त व्यक्ति तुम्हें अकारण नहीं छोड़ सकता। सीता के संज्ञा प्राप्त करने पर लक्ष्मण अपनी निर्दोषता यों व्यक्त करते हैं—"मैं केवल राम का सेवक हूँ। अपने भाई की आज्ञा से मैंने जो रुखाई बरती है, उसे क्षमा करो।" सीता लक्ष्मण से यह प्रार्थना करती हैं कि तुम राम से जाकर पूछना कि क्या अग्नि-परीक्षा में निष्कलुष सिद्ध होने के बाद भी मेरा परित्याग राम के वंश की मर्यादा के लिए उचित था? और, वाल्मीकि ने सीता से यह कहा—"राम ने महान् कर्म किये हैं, लेकिन मैं उनसे रुष्ट हूँ कि उन्होंने तुम्हारे साथ अकारण दुर्व्यवहार किया है। मुझे तुम्हारे लिए अतीव दुःख है।" बुद्धिमान् पुरुष के समान वाल्मीकि यह जानते हैं कि प्रजा में फैली अफवाहों के द्वारा राम को चित्त-विक्षेप हो गया है।

ये सभी वाक्य वाल्मीकीय रामायण में उपलब्ध नहीं है। कालिदास ने उन्हें अपनी ओर से जोड़ दिया है। कालिदास की वाल्मीकि से भिन्नता स्पष्ट है। कालिदास राम के नैतिकतावादी, अमानवीय आदर्श से सहमत नहीं थे। उन्हें इस बात का संदेह था कि राम सीता को सचमुच प्यार करते हैं। उन्हें इस बात में भी संदेह था कि राजा एवं न्यायाधीश की हैसियत से राम ने उचित कार्य किया है। राम जानते थे कि सीता के सतीत्व में संदेह उत्पन्न करने वाले लोकवाद असत्य एवं निर्मूल हैं। अतएव, सीता का परित्याग कर, उन्होंने न्याय के अनुरोध का पालन नहीं किया, अपितु अपने वंश की विशुद्धता को सभी प्रकार की संदिग्धता से ऊपर प्रतिष्ठित करने के अपने मिथ्या गर्व को परितृप्त किया। उनका व्यवहार निर्दयता-पूर्ण था और उसके लिए कोई कारण नहीं था। उन्हें चित्त-विक्षेप हो गया, जब कि उनके समान नरेश को चित्त-विक्षेप नहीं होना चाहिये था। कालिदास ने देवी वसुन्धरा, परम निष्ठावान् भाई लक्ष्मण, स्वयं सीता और अन्तिम प्रामाण्य के रूप में महर्षि वाल्मीकि से राम के इस कृत्य की कठोर टीका करवाई। शैव होने के कारण ही, कालिदास ने इस वैष्णव आदर्श की आलोचना की और विद्वानों की सम्मति है कि ऐसा करने में उन्होंने उस असीम साहस का परिचय दिया जिसका भारतीय साहित्य में कोई उपमान नहीं है। परन्तु, राम की इस

आलोनचा में कालिदास ने प्रकारान्तर से वाल्मीकि की इस बात के लिए आलोचना को है कि उन्होंने रामायण में राम का इतना कठोर नैतिकताबद्ध चित्र उपस्थित किया है।

फिर भी यह स्मरण रखना आवश्यक है कि रामायण में समग्रतः वर्णित इतिवृत्त के प्रति कालिदास ने न्याय नहीं किया। वे बाल्मीकि की महनीय काव्योपलब्धि का उचित अभिशंसन नहीं कर सके। यद्यपि वाल्मीकि ने राम के आदर्श को उसकी सम्पूर्ण अमानवीयता में प्रतिष्ठित किया था, तथापि उनकी महीयसी रचना में प्रेम का कर्तृत्व अवहेलनीय नहीं है। वाल्मीकि ने कैकेयी के दुष्काण्ड के उपरान्त वृद्धा होती हुई कौशल्या के प्रति वृद्ध दशरथ के प्यार को अत्यंत गहरे मानवीय आस्वाद के साथ चित्रित किया था। पुनश्च, राक्षसराज रावण के द्वारा सीता के प्रति व्यक्त किये गये नैराश्य-गर्भित प्रेम का व्याख्यान भी उन्होंने अवसादग्रस्त उत्साह के साथ किया था, और वानरराज बालि की चतुर तथा सबल महिषी तारा को लेकर एक अत्यंत विस्मयोत्पादक प्रणय-कथा की अवतारणा की थी। वाल्मीकि पुराने भारतीय दास-प्रथा वाले समाज में प्रेम का चित्रण करने वाले कवि थे, जबकि कालिदास ने सामंतीय समाज को परिधि में प्रेम का चित्रण किया। लेकिन इस परिप्रेक्ष्य में कालिदास अपने पूर्ववर्ती काव्यकार की इस महान् सृष्टि को समझ नही पाये।[1] तथापि, वाल्मीकि और कालिदास के दृष्टिकोणों में एक महत्त्वमय अन्तर की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। वाल्मीकि राम के ईश्वरत्व का संकेत करते हुए भी, राम की मानवीयता को उपपादित कर रहे थे, जबकि कालिदास राम के पूर्ण मानवत्व को निदर्शित करते हुए, उनके ईश्वरत्व को परिपोषित कर रहे थे। इस प्रकार कालिदास ने भावी कवि को मार्ग दर्शन कराया जिसने उनकी प्रणाली का अनुसरण कर राम-कथा के क्षेत्र से आध्यात्मिक सौन्दर्य की प्रचुर शस्यराशि उत्पन्न की।[2]

'रघुवंश' में, जैसा अभी कहा गया है, कालिदास ने अपने अभीष्ट आदर्शों को नितान्त कान्तासम्मित शैली में चित्रित किया है। भारतीय संस्कृति का अम्लान मुखरीकरण प्रस्तुत करना काव्य का प्रमुख उद्देश्य रहा है। यद्यपि भारतीय सभ्यता में नागरिक तत्त्वों का निर्बाध सन्निवेश हुआ है, तथापि ग्राम्य एवं वन्य जीवन तथा गोचारण के प्रति अनुराग भी उसका एक प्रमुख अंग रहा है। प्रारम्भ में ही कवि ने गो-पालन एवं गो-सेवा की महिमा की विज्ञप्ति की है और नगर तथा तपोवन को

---

१. Walter Ruben : 'Kalidasa', पृ० ४५–४७.
२. K. S. Ramaswamri shastri : 'Kalidasa', पृ० २२०

एक साथ जोड़ दिया है। हमारी संस्कृति में गाय आर्थिक महत्त्व की संवाहिका न होकर सरलता, निश्छलता, पवित्रता एवं निष्काम सेवा की प्रतीक रही है और गो-सेवा शौर्य के आदर्श का व्यंजक समझी गई है। भगवान् को 'गोपाल' तथा 'पशुपति' की अभिधा से अभिहित करने में हमने लाक्षणिक ढंग से इन मूल्यों के प्रति अपनी गहरी आस्था व्यक्त की है, जिनकी व्यंजना प्रतीक रूप में गाय से होती है। सूर्य देवता से प्रारम्भ न कर कवि ने जो दिलीप से काव्य का आरम्भ किया है, उसका कारण हमारे जातीय जीवन में गाय की सांस्कृतिक महिमा की प्रतिष्ठा समझा जाना चाहिए। तपोवन का आदर्श भी उतना ही मूल्यास्पद रहा है। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को तपोवन से नवीन प्रेरणा एवं नवीन आलोक प्राप्त होता आया है और यह रघुवंशी नरेशों की निश्चित महत्ता एवं शालीनता का द्योतक है कि तपोवन तथा तपश्चर्या की गरिमा को उन्होंने सदैव प्रणम्य एवं अभ्यर्थनीय समझा है। कालिदास ने अप्रत्यक्ष भाव से यह भी निदर्शित किया है कि रघु जैसे श्रेष्ठ एवं महनीय चरित्रवाले नरेश ही सार्वभौम सत्ता का ग्रहण कर सकते हैं और यह भी व्यञ्जित किया है कि रघुकुल जैसे उदात्त वंश में तथा रघु की प्रजा जैसे धर्मभीरु जन-वर्ग के बीचमें ही भगवान् अवतार ले सकते हैं। कवि ने, साथ ही, यह भी दिखाया है कि विलासिता के समुद्र में आपादमस्तक डूब जाने तथा जातीय आदर्शों से पराङ्मुख होने पर किस [प्रकार राज्य-सत्ता विनष्ट हो जाती है और सामान्य जनता नैतिक दृष्ट्या दुर्बल एवं पतनशील बन जाती है। सूर्यवंश के ऐसे चरित्रवान तथा वर्चस्वी राजाओं के बदले, जो लोक-सेवा का पुनीत व्रत सम्पादित करके अपने जीवन को सार्थक बनाया करते थे, हमें अन्ततः अग्निवर्ण जैसे विलासी-व्यसनी राजा के दर्शन होते हैं जो राजयक्ष्मा से अभिग्रस्त होकर पञ्चत्व को प्राप्त कर जाता है। जातीय गौरव के एक महान् युग में आविर्भाव ग्रहण करते हुए, कवि ने अतीत के एक गौरवशाली युग की ओर इंगित किया है और जन-समुदाय को यह कठोर चेतावनी दी है कि यदि वे तथा उनके प्रतिपालक नरेश हिन्दू जाति के मूलभूत आदर्शों से स्खलित होते हैं, तो जातीय पतन एवं पराभव की भूमिका निश्चित रूपेण प्रशस्त हो जायगी। अतएव, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि "पवित्र जीवन आदर्शों का दृढ़ता-पूर्वक अनुपालन; गति की उन्मुक्त स्वाधीनता, दान देने के लिए सम्पत्ति-सञ्चय; शिष्टता, शौर्य एवं आतिथ्य; परिशुद्धि के हेतु दंड की व्यवस्था; विचार, कथन एवं कार्य में पूर्ण साम्य; जन्म से मृत्यु-पर्यन्त अनुशासित जीवन-चर्या; यौवन में लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान का अर्जन; वैवाहिक जीवन के आनन्दों का उपभोग ही नहीं, प्रत्युत वंशावली के गौरव के हेतु तथा देश एवं भगवान् की सेवा के निमित्त उसके पावन कर्तव्यों एवं कोमल

सुषमाओं का अनुसन्धान भी; वार्धक्य में कठोर संयम का पालन एवं लोक-सेवा अथच सबसे बढ़कर रोग एवं व्याधि से नहीं, अपितु योग के समाश्रयण से जीवन की भौतिक कारा से मुक्ति-प्राप्ति का प्रयास—ये सम्पूर्ण आदर्श 'रघुवंश' के पृष्ठों में स्पन्दनमान् हो रहे हैं।"

—शास्त्री, पृ० १६८

'रघुवंश' एक चरित-काव्य है। अतएव, इसमें अनेक रुचिर एवं प्रभावोत्पादक चरित्रों की अवतारणा हुई है। दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम सभी आदर्श सम्राट् के रूप में सँजोए गये हैं। विलक्षण शौर्य, शास्त्रानुशीलन, न्यायपरायणता, औदार्य एवं क्षमाशीलता, प्रजानुरंजन, शासनकुशलता, दृढ़चारित्र्य, तपश्चरणप्रियता, स्वार्थोत्सर्ग, वर्णाश्रम-धर्म-पालन तथा सबसे बढ़कर लौकिक मूल्यों की तुलना में पारलौकिक मूल्यों की वरीयता—ये सभी गुण इन नरपतियों में उपलब्ध होते हैं।

वस्तुतः प्रस्तुत काव्य में तीन विशिष्ट पात्र हैं जिन्हें 'रघुवंश का त्रिकोण' कहना चाहिए। आधार के रूप में एक कोण हैं रघु, तो दूसरे का नाम है अग्निवर्ण और राम को शीर्षकोणस्थ समझना चाहिए। रघु युद्धवीर दानवीर तथा धर्मवीर के रूप में चित्रित हुए हैं। उनकी दिग्विजय ही तो जैसे 'आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्' वाली सूर्यवंशी नरेशों की विख्याति का आधार बन गई है। 'विश्वविजित् यज्ञ' में तथा कौत्स ऋषि को धनपति कुबेर द्वारा समर्पित अपरिमेय स्वर्ण-राशि प्रदत्त करने की तत्परता में रघु का दानवीरत्व चमक उठा है। अज को रघु का प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक समझना समीचीन है क्योंकि अज का शौर्य शृंगार से द्रवित भूमि में ही प्रतिफलित हुआ है। सुतरां, रघु 'सत्ववान्' तथा अज 'रागवान्' समझे जायेंगे। 'राग' एवं 'सत्त्व' दोनों गुणों का समन्वय सम्पन्न हुआ है 'राम' में जो 'हरि' ही नहीं, 'पुरुषोत्तम' भी हैं। उनके 'राग' का प्रकर्ष यह है कि वल्लभा के वियोग में वे लता को सीता समझ कर उससे चिपट जाना चाहते हैं और 'सत्त्व' का स्वरूप यह है कि अत्यन्त निष्ठुरता से उसी सीता को 'गर्भ' का मोह छोड़ कर, लक्ष्मण के साथ वन में भेज देते हैं, और फिर हृदय के अन्तरतम कक्ष में 'शोक' को प्रतिष्ठित कर, अत्यन्त सामान्य 'भोग' के सहित वर्णाश्रम का पालन करते हुए, जीवन का निर्वाह करते हैं—

"निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास॥" १४।८५

अग्निवर्ण रुग्ण, स्त्रैणता का प्रतीक चित्रित किया गया है। उसे 'गन्धर्वराज' तथा 'काम' का पुतला ही समझना चाहिए। कामिनियों के साथ दिन-रात नव-नव

उत्सवों में व्यस्त रहना, यौवनस्फीत स्तनों वाली विलासिनियों के साथ बावलियों में जलविहार करना, मदिरालयों में जाकर सुन्दरियों को अपना मुखासव पिलाना और स्वयं उनके आननासव का पान करना, नर्तकियों के साथ झूम-झूम कर नाचना और मृदङ्ग बजाना, सदैव नव-नव काम्य वस्तुओं का संचय करना, संभोग-केलियों में आप्राण डुबकी लगाना और वल्लभाओं के साथ नाना प्रकार की छल-छद्मपूर्ण क्रीड़ाओं में व्यस्त रहना, एकान्त में स्त्रियों को नाट्याभिनय सिखाना इत्यादि उसके जीवन की दिनचर्या थी। कवि ने अग्निवर्ण को निपट विलासी ही नहीं, घोर लम्पट के रूप में चित्रित किया है। निम्न श्लोक देखें—

"क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥" १६।२३

'—कभी-कभी दूतियाँ राजा को मार्ग दिखाती हुई उस स्थान पर ले जातीं जहाँ लताओं के बीच में संभोग के लिए फूलों की सेज बिछी रहती थी। उस समय उसे यह भय होता कि कहीं ये दासियाँ जाकर रानियों से न कह दें। इसी लिए, वह दासियों को फुसलाने के लिए उनसे संभोग कर उन्हें प्रसन्न कर लेता था।'

परिजनांगनाओं के साथ भी संभोग कर लेना यह नैतिक एवं मानसिक पतन है जिससे निम्नतर अधोगति की कल्पना एक नरपति के लिए नहीं की जा सकती। ऐसे विकट कामुक का जीवनावसान जैसा दुःखद एवं अपमान-पूर्ण होना चाहिए, वैसा ही अग्निवर्ण के भाग्य में बदा हुआ था। महनीय कीर्तिवाले गो-भक्त सम्राट् दिलीप के वंशधरों में ऐसा दुश्शील, दयनीय चरित्र भी अवतीर्ण हो सकता है यह चित्रित कर, कालिदास ने मानो हमारे राष्ट्रीय इतिहास के स्वर्ण युग के संभावित पर्यवसान की ओर भी समसामयिक सत्ता एवं प्रतिभा का ध्यान आकर्षित किया है।

कहा गया है कि कालिदास ने 'रघुवंश' में अपने युग की ही, वैभव-विलास एवं पौरुष-पराक्रम से अन्वित जटिल संस्कृति का समृद्ध चित्र अंकित किया है। इसे मान लेने पर भी, महत्त्व का प्रश्न यह रहता है कि क्या कालिदास द्वारा चित्रित चरित्रों का व्यक्तित्व सुस्पष्टतया उभर आया है या नहीं? कालिदास 'कदाचित् ऐसे निष्कलुष राजकीय चरित्रों के अंकन की ओर ही प्रवृत्त हैं जिनमें किंचित् त्रुटि वा दोष भी सन्निविष्ट है। लेकिन, यदि वे आदर्श रूप में कल्पित हैं, तो भी व्यक्तिरूप में वे इतने निखरे एवं परिमार्जित बन गये हैं कि उनमें एक दूसरे से स्पष्ट अन्तर बताया जा सकता है, और यदि उनके परिवेश पर विचार किया जाय, तो वे कदापि अपार्थिव किंवा अनैसर्गिक नहीं ठहरते। कालिदास ने हमें एक प्राचीन पौराणिक कहानी तथा

ऐसे वातावरण में प्रविष्ट करा दिया है जो रोमान्टिक आकर्षण से सुरभित है। तथापि, समग्र विस्मय तथा चाक्चक्य के पीछे कालिदास की दृष्टि वस्तून्मुखी है, यद्यपि उन्हें वस्तुवादी या यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता।"[1] 'रघुवंश' के सम्पूर्ण चरित्र मानवीय धरातल पर, मानवीय संभावनाओं की पीठिका में चित्रित हुए हैं और इसी कारण, आदर्श के गहरे रंगों में रंगे होने पर भी, उनका प्रकृत जीवन से संबंध विच्छिन्न नहीं होने पाया है।

कालिदास को 'रसेश्वर' की उपाधि से विभूषित किया गया है। 'रघुवंश' में रसव्यंजना का जो समृद्ध स्वरूप परिलक्षित होता है, उसको देखते हुए यह पदवी सर्वथा उचित एवं न्याय्य प्रतीत होती है। इस काव्य में प्रायः सभी मुख्य रसों का परिपोष सम्पन्न हुआ है क्योंकि इसमें चित्रित घटनावली का फलक अत्यंत व्यापक रहा है। रघु, अज एवं राम के युद्ध-प्रसंगों में वीर रस, अज के विलाप में करुण रस और वशिष्ठ तथा वाल्मीकि के आश्रमों एवं रघु के सर्वस्व-त्याग के वर्णन में शान्त रस की धारा प्रवाहित हुई है। ताड़का-वध के प्रकरण में बीभत्स रस की भी चोखी छटा के दर्शन होते हैं। काव्य की भाषा में माधुर्य एवं प्रांजलता सर्वत्र विद्यमान हैं और उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास इत्यादि अलंकारों के सुष्ठु प्रयोग ने रचना की रमणीयता में चार चाँद लगा दिए हैं।

कुमारसंभव

(१)

'कुमारसंभव' में, सत्रह सर्गों में शिव और पार्वती के पराक्रमशाली तनय कार्तिकेय के जन्म तथा उनके द्वारा देव-सैन्य का नायकत्व ग्रहणकर भयंकर असुर-तारक के संहार की कहानी कही गई है। पंडितों का कथन है कि प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास की रचना है तथा कवि ने जगज्जननी पार्वती के संभोग-शृंगार का जो सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन किया, उससे क्रुद्ध होकर उन्होंने शाप दिया जिससे काव्य पूर्ण न हो सका। सचाई जो हो, महर्षि अरविन्द के शब्दों में, "प्राक्तन संस्कृत साहित्य में 'कुमार-संभव' का वही महनीय स्थान है जो आँग्ल साहित्य में मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' का। यह महाकाव्य की पद्धति की अपने युग की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस महान् काव्य का केन्द्रीय वक्तव्य है शिव और पार्वती का विवाह जो, अपने मूल भाव में, पुरुष तथा प्रकृति के मंगल-मिलन का प्रतीक है। इस कहानी में आत्मा के द्वारा परमेश्वर की खोज एवं प्राप्ति का प्रतीकत्व भी अभिप्रेत है, और पार्वती के शिवोप-

---

१. सुशील कुमार डे : 'History of Semskrit Literature', पृ० १२६-१३० (De, Poge 129-30)

साध्य के अनुष्ठानों में यह भाव एक प्रकार से ओत-प्रोत है।' प्रारंभ में हमने युग की जिस मनोवृत्ति का उल्लेख किया है, उसको ध्यान में रखते हुए अरविन्द की यह टिप्पणी संगत प्रतीत होती है क्योंकि 'कुमारसंभव' में दैविक और लौकिक, स्वर्ग और मर्त्य, त्याग और भोग, तप एवं विलास का अपूर्व सामञ्जस्य सम्पन्न हुआ है।

कवि की रसलिप्सु चेतना का हृदयावर्जक निदर्शन नवयौवना पार्वती के रूप-सौन्दर्य-चित्रण में उपलब्ध होता है। 'जैसे तूलिका से ठीक-ठीक रंग भरने से चित्र का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो जाता है और अंशुमाली की रश्मियों से कमल खिल उठता है, वैसे ही पार्वती का शरीर भी नवीन यौवन के आगमन से भूरिशः खिल गया। जब वे चलती हैं, तब उनके निसर्गतः लाल एवं कोमल चरणों के उठे हुए अँगूठों के नखों से निकलने वाली चमक को देखकर, ऐसा प्रतीत होता है मानों पग-पग पर स्थलकमल उगते जा रहे हों। यौवन के भार से झुकी हुई, जब वे हावभाव-पूर्वक चलती हैं, तब ऐसा जान पड़ता है मानों उनकी बिछ्लियों से निकलने वाली मधुर ध्वनि को सीखने के लिए राजहंसों ने अपनी हावभरी चाल उन्हें पहले ही बदले में, सिखा दी हो। उनके सम्पूर्ण शरीर को सुन्दर बनाने के लिए विधाता ने लावण्योत्पादक जितनी सामाग्रियाँ एकत्र की थीं, वे सभी पार्वती की गोल और सुडौल जाँघों के निर्माण में ही खर्च हो गईं, इस कारण शेष अंगों की रचना के निमित्त उन्हें और सौन्दर्य-विधायक उपकरणों को जुटाने में अत्यधिक कष्ट सहना पड़ा।'[1]

इस प्रकार के नखशिख-वर्णन में कवि की रसोली चेतना, उसकी कमनीय कल्पना तथा अचूक अन्वीक्षण का मनोरम उन्मीलन हुआ है? एक दिन नारद जी पर्यटन करते-करते, हिमालय के पास आते हैं और भविष्यवाणी करते हैं कि उनकी प्रिय तनया भगवान् शंकर की एकमात्र प्राणवल्लभा पत्नी बनेगी। इस कथन से प्रेरणा ग्रहण कर, हिमालय ने पार्वती को, अपनी ही एक रमणीय एवं सुरभित चोटी पर तप करने वाले शंकर की सेवा अर्चना के लिए अनुप्रेरित किया। उस शिखर पर अपनी ही दूसरी मूर्ति अग्नि को समाधि से प्रज्वलित कर, सम्पूर्ण तपस्याओं का स्वयं फल देने वाले शिवजो, न जाने, किस फल की अभिलाषा से तपश्चरण में निमग्न थे? कवि ने यह संकेत कर दिया है कि जबसे उनकी पूर्व पत्नी सती ने, पिता दक्ष के हाथों उनका अपमान देखकर, यज्ञ की अग्नि में प्राण-विसर्जन कर दिया था, तबसे

---

१ 'वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जंघे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवासयत्नः॥' १।३५

शिवजी ने दूसरा विवाह नहीं किया था और तभी से यह कठोर तपस्या प्रारंभ कर दी थी। इधर तारकासुर के उपद्रवों से पीड़ित देवताओं ने जब परित्राण की प्रार्थना ब्रह्मा जी की सेवा में निवेदित की, तब उन्हों ने देवताओं से कहा था—'महादेव जी के वीर्य से उत्पन्न होने वाला पुत्र ही इस भयंकर असुर का संहार करने में समर्थ हो सकेगा।........आप ऐसा यत्न करें कि जैसे चुम्बक से लोहा खिंच आता है, वैसे ही समाधिस्थ शंकर जी का मन भी उनको सेवा में लीन पार्वती की ओर आकर्षित हो जाय क्योंकि शिवजी के प्रचंड वीर्य को केवल पार्वती ही धारण कर सकती हैं, अन्य रमणियों में वह सामर्थ्य नहीं है।'

स्वर्गलोक से लौटकर देवाधिपति इन्द्र ने कामदेव का स्मरण किया, और तत्काल ही रति के कंगन से सुशोभित गले वाला, सुन्दर कामिनी की भ्रूलता के समान सुन्दर धनुष लिए, अपने मित्र वसंत के साथ कामदेव उनके समक्ष उपस्थित हो गया। उस कामदेव ने अपने पुरुषार्थ का जो वर्णन किया है, वह काव्यसुलभ अतिरंजित वाग्विलास नहीं है, अपितु पूर्णतया यथार्थ एवं मनःशास्त्र सम्मत है—'हे स्वामी! बताइये तो त्रैलोक्य में कौन ऐसा व्यक्ति है जिसने अपनी तपस्याओं से आपकी ईर्ष्या को जागृत कर दिया है? उसका नाम भर बताइए; मैं अभी उसे धनुष से विजित कर लाता हूँ। उस मोक्षकामी शत्रु को मैं अभी कटाक्ष-चालन में चतुर सुन्दरियों के नेत्रों में दीर्घकाल के लिए फँसा देता हूँ। यदि आपका वह शत्रु शुक्राचार्य से भी नीति पढ़कर आया होगा, तब भी भोग की उत्कट इच्छा को ऐसा दूत बनाकर उसके पास भेजूँगा जो उसका धर्म और अर्थ, दोनों उसी प्रकार नष्ट कर देगा जैसे वर्षा में बढ़ी हुई नदी का प्रवाह दोनों तटों को ध्वस्त कर देता है।'

शिव के तपःशिखर पर कामदेव के साथ पहुँच कर, वसन्त ने अपने रूप-वैभव का जो प्रसार एवं प्रदर्शन किया, उसके वर्णन में कवि ने अपने प्रकृति-निरीक्षण का मञ्जुल विज्ञापन किया है और अपनी मधुर विलास-चेतना की तन्त्री भी कणित कर दी है। क्या हुआ जो भ्रमर अपनी प्रियतमा भ्रमरी के साथ फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा, कृष्ण हरिण अपनी हरिणी को सींग से खुजलाने लगा, हथिनी बड़े प्रेम से पंकज के पराग से सुरभित जल अपनी सूँड से निकाल कर अपने प्रिय हाथी को पिलाने लगी और चकवा भी आधी कुतरी हुई कमल-नाल लेकर चकवी को भेंट करने लगा? कवि ने वृक्षों की शाखाओं के बढ़ने और झूलने जैसे वासन्ती दृश्य में रमणियों की रूप-सम्पदा का दर्शन किया है—

"पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥" ३।३६

—'वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियों को फैलाकर उन लताओं से लिपटने लगे जिनके पुष्पों के गुच्छों के रूप में बड़े-बड़े स्तन लटके हुए थे और नव-किसलयों के रूप में जिनके मनोज्ञ होठ हिल रहे थे। प्रकृति के मनोहर चित्रांकन के साथ-साथ कितना मधुर आसव इस चित्र की कटोरी में भर गया है।

समाधिस्थ शंकर का जो दिव्य चित्र अंकित हुआ है, वह नितान्त भव्य, प्रभावोत्पादक तथा आध्यात्मिक प्रताप से समन्वित है। बुद्धि एवं मन से भी अतीत उस शिव-रूप को अत्यन्त निकट से देखकर कामदेव की शक्ति नष्ट हो गई और वन-देवियों के सहित मनोज्ञ पार्वती की रमणीय मूर्ति देखकर ही, उसकी शक्ति पुनः जाग्रत हुई। पार्वती ने योगिराज शंकर की सेवा के उपयुक्त ही अशोक के पत्रों, कर्णिकार के फूलों तथा सिन्धुवार के मणिमौक्तिकस्पर्धी वासन्ती कुसुमों के आभरण धारण कर रखे थे।

कल्पना के ऐश्वर्य के साथ-साथ कवि का सूक्ष्म-निरीक्षण भी अभिनन्दनीय है—केशर-कुसुमों की करधनी का नीचे स्खलित होना और पार्वती का उसे ऊपर सरकाना, यह ऐसा उल्लेख है जो कवि-दृष्टि की सतत जागरूकता का परिचय देता है। ऐसे छोटे-छोटे विवरणों का अंकन ही काव्य की रसपेशलता को बढ़ाने में समर्थ होता है। सबसे बड़ी बात है कवि की समन्वयबुद्धि जिसे पाश्चात्य समीक्षक 'वैपरीत्य' अथवा 'कंट्रास्ट' कहेंगे। एक ओर अविनाशी आत्मा की ज्योति का साक्षात्कार करनेवाले ध्यानस्थ शंकर, जो प्रेक्षकों में श्रद्धा-मिश्रित भय का संचार करेंगे और दूसरी ओर रूप-गौरव से अभिभूत गिरिराज-कन्या, जिसने कन्दर्पदेव की खोई हुई शक्ति को नवजीवन प्रदान कर दिया। रमणीय और उदात्त का यह मंजुल मिलन सम्पूर्ण साहित्य में अभिनव सौन्दर्य उत्पन्न किए हुए है।

समाधि से जगने पर नन्दी द्वारा समानीत पार्वती को देखने से महादेवजी के हृदय में उठी हलचल और पार्वती के मुँह तिरछा कर खड़े होने के अत्यन्त नैसर्गिक व्यापार की ओर हलका दृष्टिपात कर, कवि सँभल जाता है क्योंकि इस इन्द्रियक्षोभ के पूर्ण पालन के लिए अभी अवसर नहीं आया है। यह प्रणय-प्रसाद तो दीर्घ और गहरी तपस्या का ही परिणाम होना था। वास्तव में, यहाँ से पार्वती का पूर्वराग होना चाहिए। लेकिन, यह पूर्वानुराग साधारण नायिकाओं की एकादश काम-दशाओं की पगडंडियों में न प्रवाहित होकर, दीर्घतपस्या में निमज्जित हो जाता है जब पार्वती "अपर्णा" की आख्या प्राप्त कर लेती है। शंकर के साक्षात्कार का सम्पूर्ण प्रकरण

अत्यन्त भव्य, मार्मिक एवं उन्नयनशाली है जिसकी चर्चा थोड़ी देर बाद की जायगी। अभी मर्मज्ञ काव्य-रसिकों में नितान्त प्रसिद्ध 'रति-विलाप' की ओर दृष्टिपात करना उचित होगा।

पार्वती ने ज्योंही कमल के बीजों की माला शंकरके गले में डाली, त्योंही उपयुक्त अवसर जानकर, कामदेव 'सम्मोहन' नामक अमोघ बाण शंकर की ओर छोड़ने का उपक्रम करने लगा। कवि का कथन है कि कामदेव की इस चेष्टा के कारण शिवजी के चित्त में विकार उत्पन्न हुआ जिसे उन्होंने सद्यः संयमित कर लिया और अपने तीसरे नेत्र को खोलकर उसमें से निकलने वाली प्रचण्ड अग्नि-शिखाओं में उसे भस्मीभूत कर दिया। अनन्तर अपने प्रथम-गणों के साथ वे अन्तर्धान हो गये। यहाँ कवि ने दो प्रणयातुर बालाओं को व्यथित किया। एक पार्वती और दूसरी कामदेव की स्त्री रति जो पति के साथ-साथ, डरती हुई, उस तपःशिखर पर आई थी। पार्वती को तो केवल इस बात की भूयसी लज्जा हुई कि सखियों के समक्ष उसके गौरवशाली पिता का मनोरथ और उसकी ललित रूप-लक्ष्मी की अवहेलना हुई। किन्तु, रति का तो सुहाग हो लुट गया और थोड़ी देर तक मूर्च्छाग्रस्त रहने के बाद, वह पतिपरायणा बाला नवावैधव्य की असह्य वेदना को सहन करने के लिए जग गई। और तब, रति ने विलाप की जो मर्मद्रावक धारा बहाई, उसका जोड़ विश्व-साहित्य में कठिनाई से मिलेगा। वह रोकर कहती जा रही है—

"प्यारे! आज तक विलासियों के शरीर की तुलना तुम्हारे जिस मनोहर शरीर से की जाती थी, उसे इस दशा में देखकर भी मेरी छाती फट नहीं गई। सचमुच स्त्रियों का हृदय कठोर होता है। जैसे जल का प्रवाह बाँध को तोड़कर, झटिति निकल जाता है, वैसे ही तुम्हारे हाथों में अपने प्राण समर्पित करने वाली मुझ अभागिनी से नाता तोड़कर, तुम इतनी जल्दी रूठ कर कहाँ चल दिये? तुमने कभी मेरी अनचाही बात न की और मैंने भी कभी तुम्हारी बात नहीं टाली। तो फिर, मुझ बिलखती हुई को तुम दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो? कामदेव! पहले तुम्हारे 'गोत्रस्खलन'[1] पर जो मैंने तुम्हें अपनी मेखला में बाँध दिया था, क्या उसी को स्मरण कर तो तुम अब रुष्ट नहीं हुए हो? अथवा, जब मैंने अपने कान में पहने हुए कमल से तुम्हें मारा था, उस समय उसका पराग पड़ जाने से तुम्हारे नेत्र दुखने लगे थे, क्या उसी को स्मरण कर तो तुम रुष्ट नहीं हो गये हो? हे प्रिय! तुम तो यह मोटी बात बनाया करते थे कि तुम मेरे हृदय में बसती हो। क्या यह केवल छल तो नहीं

---

१. 'गोत्रस्खलन'—अपनी प्रिया के साथ मधुर सम्भाषण करते हुए नायक का भूल से किसी अन्य रमणी का नाम ले लेना 'गोत्रस्खलन' कहलाता है।

था ? तुम अभी-अभी स्वर्ग को गए हो, मैं भी शीघ्र तुम्हारा अनुगमन कर रही हूँ। ब्रह्मा ने मुझे मूर्च्छाग्रस्त कर, बड़ा धोखा दिया क्योंकि तुम मेरा ही नहीं, अपितु सभी संसारी जनों का सुख साथ लेते चले गए हो।"

थोड़ी देर तक सामान्य प्रेमियों की गहरी क्षति का व्याख्यान करने के बाद, रति पुनः अपनी दयनीय दशा की ओर लौट आती है—

"प्यारे! मुझे मनाने के लिए तुम मेरे पैरों में पड़कर, काँपते हुए मुझे गले से लिपटा लेते थे और नाना प्रकार की रति-क्रीड़ाएँ करते थे; अब इन बातों को स्मरण कर मेरी छाती फटी जा रही है। रतिविशारद! तुमने अपने करों से मेरा जो वासंती शृंगार किया था, वह अभी उसी प्रकार बना हुआ है; किन्तु, तुम्हारा मनोज्ञ शरीर अब दिखाई नहीं पड़ता। अभी थोड़े समय पूर्व तुम मेरे चरणों में महावर लगाने बैठे थे और केवल दाहिने पाँव में ही लगा पाये थे कि, बीच ही में, कठोर हृदय वाले देवताओं ने तुम्हें अपने पास बुला लिया। अब आकर तुम मेरे बायें चरण को भी रंजित क्यों नहीं करते? हे रमण! तुमने मुझे कलंक का टीका तो लगा ही दिया कि कामदेव के न रहने पर भी रति अल्प समय तक जीती रही। तुम अपने प्राण और शरीर दोनों लेकर स्वर्ग चले गए; अब नहीं समझती कि तुम्हारे शरीर का अन्तिम शृंगार कैसे करूँगी?"

इसके बाद कामदेव का परम स्नेही मित्र वसन्त सामने आता है, तब तो रति और फूट-फूट कर रोने लगती है। कवि के शब्दों में ही उसकी विपुल वेदना का अनुभव कीजिए—

"तमवेक्ष्य करोद सा भृशं स्तनसंबाधमुरो जघान च।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते॥" ४।२६

वसन्त के प्रति रति के उद्गार अत्यन्त तलस्पर्शी हैं। ऐसा लगता है मानो उसके हृदय को ही वाणी मिल गई हो। चाँदनी चन्द्रमा के साथ चली जाती है और बिजली बादल के साथ विलुप्त हो जाती है; फिर वह चेतन होकर अपने प्राणवल्लभ के पास क्यों न जाए? उसके निम्न-लिखित संकेत पतिव्रताओं के लिए तीव्र चुनौती है—

"अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ॥" ४।३४

"अब मैं अपने प्रिय के शरीर की सुन्दर भस्म से अपने स्तनों का शृंगार करूँगी और चिता की अग्नि में उसी प्रकार लेट जाऊँगी जैसे नवीन कोमल किसलयों की सेज बिछी हो।"

रति-विलाप के प्रसंग में कालिदास की सरस्वती का जो मार्मिक मर्म-भेदी स्वरूप उन्मीलित हुआ है, वह उनकी सर्वातिशायिनी प्रतिभा का द्योतक है। 'रघुवंश' का अज-विलाप ही इस कक्षा में सन्निविष्ट हो सकता है।

पार्वती की मनोरथ-भग्नता का उल्लेख पहले किया गया है। उन्होंने संकल्प कर लिया कि जिस प्रिय को मैं अपने रूप-लावण्य से नहीं रिझा सकी, उसे अब सच्चे मन से तपस्या करके प्राप्त करूँगी। क्योंकि ऐसा निराला प्रेम और ऐसा निराला पति बिना तपस्या के क्योंकर प्राप्त किया जा सकता है?

"अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं,
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥" ५।२

अतएव, यह स्पष्ट है कि प्रणय की मादक मन्दाकिनी में आकण्ठ निमग्न होने के लिए कालिदास रूप-वैभव के प्रत्यक्ष आकर्षण को अन्तिम महत्त्व नहीं देते हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुर्वासा के अभिशाप की योजना का यही संकेत किया गया है। गेटे ने शकुन्तला को जो 'नववर्ष के फूल और वर्षान्त के फल' तथा 'पृथ्वी और स्वर्ग' के समन्वय का प्रतीक बताया है, उसमें हमारे कवि-पुङ्गव की इसी महनीय दृष्टिभंगी की स्वीकृति छिपी है। 'कुमारसंभव' भी इसी स्वर्गीय सुषमा एवं भौतिक विलासक्षुधा के संगम का ज्वलन्त स्मारक है। पार्वती अपने सौन्दर्य को भरपूर कोसती हैं क्योंकि रूप-चारुत्व की सार्थकता प्रिय को जीत लेने में ही है—

"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।" ५।१

पार्वती की तपस्साधना का जो चित्र अंकित किया गया है, वह एकदम सहृदयों को तड़पा देनेवाला है। "उस दृढ़-संकल्पा युवती ने वह हार उतार फेंका जिसके निरन्तर हिलते रहने से उरस्यों पर का लिपटा चंदन पुँछ कर छूट जाता था और उसके बदले बालारुण के समान रक्तिम बल्कल धारण कर लिया। जटा रखलेने पर भी उसका मुख वैसा प्यारा लगता था, जैसा पहले सुसज्जित वेणियों से, क्योंकि पंकज केवल भ्रमरों से ही नहीं शोभता, अपितु सेवार से वेष्टित होने पर भी शोभा देता है। कमर में उसने मूँज की तिहरी मेखला धारण कर ली जो उसके कोमल गात्र पर इतना चुभती थी कि वह बारंबार काँप उठती थी, और उसकी सम्पूर्ण कमर संघर्षण से लाल हो गई थी। कहाँ तो वह कोमल करों से ओठों को रंजित किया करती थी और स्तन के अंगराग से लाल-रँगा कन्दुक खेला करती थी और कहाँ अब उनमें रुद्राक्ष की माला ग्रहण कर ली तथा कुश के अंकुर उखाड़ उखाड़ कर उँगलियों में घाव कर लिए! जो बाला पहले सुसजित सेज पर करवटें लेते समय अपनी चोटी से स्खलित कुसुमों के दबने से सी-सी करने लग जाती थी, वही

अब अपनी भुजाओं का तकिया बनाकर, बिना बिछौने के, खाली भूमि पर सो जाती थी।"

इस चित्र में कोमलांगी पार्वती का जो रूप दर्शाया गया है, वह हमारे मर्म पर सीधे चोट पहुँचाता है। इन पंक्तियों को पढ़कर हमें सहसा तुलसी के "जियइ कि लवणपयोधि मराली" वाले प्रसंग की याद हो जाती है। लेकिन सीता अपने भाग्य-विपर्यय में अपने प्रिय वल्लभ के साथ थीं—कुछ ही दिनों के लिए क्यों नहीं। यहाँ तो गिरिराज-किशोरी ने स्वेच्छया उस विलक्षण प्रेम के परिपक्वीकरण के लिए, राजसी ऐश्वर्य को ठुकराकर, तापसी जीवन की याचनाओं का अभिनन्दन किया है। कवि की सूक्ष्म तथ्य-अंकन की प्रवृत्ति का उल्लेख पहले किया जा चुका है। तिहरी मूँज की करधनी के चुभने से पार्वती के काँप उठने, कमर के लाल हो जाने तथा कुशांकुरों के स्पर्श से अंगुलियों में घाव हो जाने का कथन कर कवि ने अपनी सजग संवेदनशीलता का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग में आगे चलकर कवि कहता है कि जो पार्वती पहले कन्दुक-क्रीड़ा से थक जाती थीं, उन्होंने अब मुनियों का आचरण अपना लिया। तब ऐसा प्रतीत होने लगा कि उनका शरीर सोने के कमलों से निर्मित है—कमल-घटित होने के कारण वह स्वभावतः कोमल भी है और साथ ही, स्वर्ण-घटित होने के कारण, इतना कठोर भी है जो तपस्या से हतदीप्ति भी न हो सके—

"क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
ध्रुवं वपुः काञ्चन पद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च॥" ५।१९

संभवतः रूप-लक्ष्मी की कसौटी तपोजन्य यातनाओं की भट्टी ही है और, कदाचित् वही उसकी सार्थकता भी है। कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर का पाणि-ग्रहण भारतीय कवि किसी महनीय उद्देश्य के निमित्त ही सम्पन्न किया करता है। सूर्य की किरणों से तपने पर भी पार्वती का मुख कमल के समान खिल उठा—केवल उनके दीर्घ नेत्रों की कोरों में ही कुछ साँवलापन आ गया था। नहीं तो चिरकाल से महावर से न रँगे जाने पर भी, उनके ओठ रक्ताभ थे। ब्रह्मचारी (जो शिवजी ही थे) के निम्न कथन में हमारे कवि की पुनीत सौन्दर्य-भावना व्यंजित हुई है—

"यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥ ५।३६
विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गांगैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष सान्वयः॥" ५।३७

—"हे पार्वती! ठीक ही कहा जाता है कि रूप कभी पाप की ओर नहीं झुकता;

हे सुन्दरी! आपके उदार, निष्कलुष शील को देखकर बड़े-बड़े तपस्वी भी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। सप्तर्षियों के हाथों से चढ़ाये हुए पूजा के फूल और आकाश से उतरी हुई गंगा की धाराएँ हिमालय पर गिरती ही रहती हैं, लेकिन इन सबसे हिमालय उतना पवित्र नहीं हुआ जितना आपके आचरण से हुआ है।" सौन्दर्य और सदाचार का मणिकांचन संयोग ही भारतीय आदर्श है।

यह बात नहीं कि पार्वती का शरीर दुर्बल एवं क्षीण नहीं हो गया है। उस हालत में तो कवि की कल्पना यथार्थ के स्पर्श से वंचित हो जाती। पार्वती की सखी ब्रह्मचारी से कहती है—'हमारी सखी को यहाँ तपश्चर्या करते इतना अधिक समय बीत गया कि इनके हाथ से रोपे गये वृक्षों में फल आ गये, लेकिन इनके अपने मनोरथ में अंकुरोद्भव भी नहीं हुआ। तप ने इन्हें ऐसा सुखा दिया है कि इनको देखकर सखियों की आँखें आँसुओं से डबडबा जाती हैं। इतने पर भी न जाने वह दुर्लभ वर इन पर उसी प्रकार कब कृपा बरसाएगा जिस प्रकार जुती हुई, सूखी धरती के ऊपर इन्द्र पानी बरसा देते हैं।' अतएव, ध्यातव्य यह है कि शरीर से कृश एवं क्षीण होने पर भी, पार्वती की मुख-श्री म्लान नहीं हुई थी क्योंकि उसे उनके उदार, उदात्त शील से प्राण-रस मिल रहा था। ब्रह्मचारी के मुख से शिवजी की अधिक निन्दा न सुन सकने के कारण, 'स्तनभिन्नवल्कला' पार्वती ने ज्योंही चलने के लिए आगे पैर बढ़ाया, त्योंही शङ्कर अपना प्रकृत स्वरूप धारण कर, वहाँ उपस्थित हो गए और मुसकाते हुए उनका हाथ पकड़ लिया। पार्वती का अपने आराध्य पति या प्रिय की निन्दा न सुन सकना उनके गम्भीर प्रेम का परिचायक है जो उनकी अम्लान सौन्दर्य-श्री का रहस्य है। इस अवसर पर कवि ने पार्वती की चकित मुद्रा की जो मूर्ति अंकित की है, वह उसकी मार्मिक सूझ, गहरे अनुभव तथा संवेदनशील कल्पना पर मनोरम आलोक डालता है—

"तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।" ५।८५

—'अचानक शंकर जी को देखकर पार्वती के शरीर में कँपकँपी छुट गई, वे पसीने से तर हो गई, आगे चलने को उठाये अपने पैर को जहाँ-का-तहाँ रोक लिया। जैसे प्रवाह-पथ में पहाड़ आ जाने से नदी न आगे बढ़ पाती है और न पीछे हट पाती है, उसी प्रकार पार्वती न आगे बढ़ पाई और न खड़ी ही रह सकीं।' अभीष्ट-

वस्तु की आकस्मिक उपलब्धि से पार्वती की मनोभूमि में उत्पन्न 'चकपकाहट' का भाव यहाँ अत्यंत सुन्दर ढंग से चित्रित हुआ है।

परवर्ती प्रसंगों में कालिदास ने लोकपक्ष का स्तवनीय उन्मीलन किया है। पार्वती का संयम एवं मर्यादा-रक्षा की चिंता सर्वथा भारतीय आदर्श के अनुरूप है। शंकर की प्रणय-विज्ञप्ति पर वे धीरे से सखी के मुँह से कहलाती हैं कि मेरे विवाह के अन्तिम निर्णायक मेरे पिता हिमालय हैं, अतएव उनकी स्वीकृति आवश्यक है। पार्वती चिर-प्रतीक्षित अभीष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर भी उसके उपभोग के लिए कोई उतावली नहीं करतीं, यहाँ तक कि स्वयं उत्तर न देकर सखी का माध्यम ग्रहण करती हैं।

यह सम्पूर्ण आचरण अत्यन्त मनोहर एवं लोक-शील का रक्षक है। इधर शिवजी पार्वती का अनुरोध मानकर, परिणय के लिए स्वयं सक्रिय रूप से प्रयत्नशील हो जाते हैं। अब तक पार्वती के प्रेम की दृढ़ता की परीक्षा को अवधि चल रही थी, अब शंकर के प्रणय-पक्ष का प्रवर्तन हुआ है। वे कितना हूँ महान् एवं महिमाशाली क्यों न हों, उन्हें लोक-मर्यादा के प्रतिबन्धों का पालन करना ही पड़ेगा यही दिखाना कवि को अभिप्रेत है। अतएव, सप्तर्षियों का वे आह्वान करते हैं और विवाह का संदेशा देकर, उन्हें गिरिराज हिमालय की राजधानी में भेजते हैं। जिस समय देवर्षि-गण परिणय का प्रस्ताव हिमालय के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे, उस समय पार्वती पिता के पास नम्रमुखी बैठी हुई लीला-कमल के पत्तों को गिन रही थीं। यद्यपि हिमालय स्वयं प्रस्ताव से पूर्णतः सहमत थे, तो भी इसका उत्तर पाने के लिए वे मेना की ओर देखते हैं क्योंकि कन्या से सम्बन्धित प्रसंगों में गृहस्थ लोग अपनी गृहिणियों से ही सम्मति लिया करते हैं—"प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।" मेना ने भी पति की सहमति से सहमति व्यक्त कर दी क्योंकि साध्वी नारियाँ पति की इच्छाओं का अनुपालन करती ही हैं—"भवन्त्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः।" इन उक्तियों में कवि ने पारिवारिक आदर्शों की रक्षा की है। प्रस्तुत प्रकरण का अन्तिम अंश भी बड़ा रुचिर एवं मार्मिक है। ऋषियों को प्रणाम करने के लिए पार्वती का झुकना, उनके कुण्डल का गिर जाना और अरुन्धती का उन्हें झट गोद में उठा लेना तथा मेना का पुत्री के भावी वियोग की कल्पना से अधीर हो उठना और अरुन्धती द्वारा समझाया जाना—ये सब बातें हमारी परिचित गार्हस्थिक परिधि में आती हैं। उधर महादेव जी की पार्वती-समागम की उतावली पर कवि की यह टिप्पणी भी कितनी सच्ची एवं यथार्थ है—

."कमपरमवंश न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः।" ६।९५

"जब शङ्कर जैसे देवाधिदेव की प्रेम में ऐसी दशा हो जाती है, तब भला दूसरे लोग अपने मन को कैसे सँभाल सकते हैं।"

विवाह के दिन की सम्पूर्ण चर्चा कालिदास की लोकपक्षीय सजगता एवं कवि-सुलभ सरसता की मंजुल परिचायक है। पार्वती के विवाह-शृंगार का जो सूक्ष्म, ब्योरेवार वर्णन किया गया है, वह अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक है। कालिकास वस्तुतः वर्णन की कला के निष्णात पंडित हैं। उनकी सूक्ष्म-गामिनी दृष्टि से कोई छोटी-से छोटी वस्तु भी बचकर नहीं निकल सकती। और, महत्त्व की बात यह है कि उनकी वर्णन-प्रियता से कथा-प्रवाह की रुचिरता अथवा नैसर्गिकता में कोई व्यतिरेक उत्पन्न नहीं होता। पार्वती के सूक्ष्म शृंगार, सखियों की हँसी-ठिठोली इत्यादि का जो चित्र अंकित हुआ है, व साहित्य में निश्चय ही बेजोड़ है।

शंकर जी की बारात नगर में आने पर, मणियों और बेल-बूटों से सजे नन्दी बैल पर आसीन दुलहे के दर्शन के लिए राजधानी की स्त्रियों की आकुली और हड़बड़ी का चित्र भी बड़ा ही मनोभिराम है—'एक स्त्री ज्योंही खिड़की की ओर जल्दी में दौड़ी उसकी वेणी में बँधी हुई फूल की माला खुल गई और वह उसे बिना बाँधे ही चली गई। एक स्त्री चरणों में महावर लगवा रही थी कि उसे अपूर्ण छोड़कर ही वह झटपट खिड़की तक दौड़ गई जिससे अलक्तक-रंजित चरण की छाप यहाँ से वहाँ तक उभड़ आई। एक स्त्री दाहिनी आँख में काजल लगा चुकी थी, पर बिना बाईं आँख में लगाये ही, हाथ में शलाका लिए खिड़की की ओर लपकी। एक स्त्री खिड़की की जालियों में झाँकने लगी कि उसका नीवि-बन्ध खुल गया और उसको हाथ से पकड़ कर जो खड़ी हुई तो उसके कर-कंगन की चमक से उसकी सम्पूर्ण नाभि चमकती दिखाई पड़ने लगी। एक स्त्री डोरे में मणि पिरो रही थी; वह इतनी त्वरा से खिड़की की ओर भागी कि मणियों के दाने बिखर गये और पैर के अँगूठे में बँधा डोरा ज्यों-का-त्यों फँसा रह गया। उन कुतूहल-भरी स्त्रियों के गवाक्षों से झाँकते हुए 'आसवगन्धगर्भित' मुख ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो खिड़कियों की जालियों में भौंरों से भरे कमल टाँग दिए गये हों।'

कवि का सूक्ष्म अवेक्षण एवं उद्भावनशील प्रतिभा प्रस्तुत प्रसंग में नितान्त मनोरम बन पड़े हैं। खिड़कियों से निकले मुखों की भ्रमराच्छन्न कमल-कुसुमों से उपमा कितनी सटीक, सार्थक तथा हृदयावर्जक है, सहृदय सद्यः समझ सकते हैं। ऐसी ही योजनाओं ने कालिदास को उपमा का सम्राट् बनाया है। वर्णन की ऐसी मोहक समृद्धि, ऐसी बारीक अतिशयता अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। विवाह के सम्पन्न होने का चित्र भी उतना ही मनोज्ञ एवं रसगर्भित है। वर-वधू का लजीला, सजीला व्यवहार अत्यन्त स्वाभाविक, इसी से, चित्ताकर्षक बन गया है।

'कुमार-संभव' का आठवाँ सर्ग उमा-शिव के सुरत-विलास के सूक्ष्म तथा मादक चित्रों से परिपूर्ण है। यहाँ कवि बिलकुल भूल गया है कि उसके वर्ण्य प्रेमी-प्रेमिका कोई अलौकिक दिव्य दम्पती हैं। वस्तुतः शिव-पार्वती इस प्रसंग में साधारण मिट्टी के मनुष्य बन गए हैं। तथापि, जैसा आगे कहा गया है, उनकी मानवोचित केलियों के पृष्ठ में उनका अलौकिकत्व अथवा असाधारणत्व, छिपा हुआ है, ऐसा लगता है जैसे शृंगार की हलकी झाँकियाँ दिखाते-दिखाते और शङ्कर की अलौकिक महिमा का बीच-बीच में विज्ञापन करते, कवि की रसान्वेषी चेतना थक गई है, और इसीलिए, अब वह मर्यादा का बाँध तोड़कर, अपनी काव्यभूमि को संभोग-शृंगार की अखंड माधुर्य-धारा से ओत-प्रोत करने के लिए कृत-संकल्प हो गया है। सिद्धान्त से वह वेदान्ती और व्यवहार से शैव बताया गया है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उसने न सिद्धान्त की चिन्ता की है, न व्यवहार की रक्षा। वह यहाँ अपने युग एवं परिवेश की विलास-प्रियता का प्रवक्ता और प्रतिनिधि बन गया है। तथापि, शुद्ध सम्भोग का जो निर्व्याज समृद्ध चित्रण हुआ है, उस पर पंडितों का भृकुटि-विलास अनुचित प्रतीत होता है। विवाह से पूर्व शिव और पार्वती ने जो कठोर आत्मसंयम और मर्यादा-पालन दिखाया है, वह इस सुरत-विलास के चित्रण के लिए पर्याप्त परिमार्जन है।

अष्टम सर्ग का दो-तृतीयांश कवि के प्रकृति-अनुराग, अन्वीक्षण की सचाई, कल्पना की उर्वर कमनीयता, अन्तःकरण के अप्रतिम माधुर्य तथा अत्यन्त रसान्वेषी विलास-चेतना की व्यंजना का अखंड स्मारक है। गंधमादन पर्वत की एक कांचन-शिला पर नव दम्पती को आसीन कराकर, कवि ने संध्या का जो मोहक एवं संश्लिष्ट चित्रण उपस्थित किया है, वह बे-जोड़ और बहुमूल्य है।

अन्तिम नव सर्गों की कथा यों कही जा सकती है :—

जब शिवजी ने पार्वती के साथ सम्भोग-क्रीडाएँ करते हुए सैकड़ों ऋतुएँ व्यतीत कर दीं, तब इन्द्रादि देवताओं ने अग्नि को कबूतर बनाकर शिव-पार्वती के विलास-स्थल पर भेजा। शिवजी को पहले तो बड़ा क्रोध आया किन्तु जब अग्नि ने यह निवेदन किया कि देवताओं द्वारा वह भेजा गया है, तब वे प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना वीर्य उसमें स्थापित किया। अग्नि उस प्रचण्ड वीर्य के ताप को सहन न कर सका और उसने इन्द्र के निर्देश से वह वीर्य स्वर्ग-गंगा में डाल दिया, किन्तु गंगा भी उस वीर्य को धारण करने में असमर्थ सिद्ध हुई और उसने वहाँ स्नान करने आई हुई छः कृत्तिकाओं के शरीर में उसे डाल दिया। इससे वे गर्भवती हो गईं। किन्तु, वे कृत्तिकायें उस गर्भ का भार वहन न कर सकीं और वे शिशु को वेतसवन में छोड़कर चली गईं। उसी समय विमान से जाते हुए शिव-पार्वती की दृष्टि उस शिशु पर

पड़ी और वे उसे स्वबीर्योत्पन्न समझकर अपने घर उठा लाये। वह बालक केवल छः दिनों में बड़ा होकर सम्पूर्ण शस्त्रों एवं शास्त्रों में पारङ्गत बन गया। वही कुमार कहलाया। इन्द्रादि देवताओं के अनुरोध पर शंकरजी ने उसे देवसैन्य का सेनापति बना दिया। कुमार ने बड़े भयंकर युद्ध के पश्चात् तारकासुर का वध किया, और इन्द्र को चिन्ता-मुक्त कर दिया। नवें सर्ग में कैलास पर्वत, दसवें में गंगा तथा बारहवें में शिव-पार्वती के साथ-साथ समासीन होने के कुछ वर्णन ही इन सर्गों में सुन्दर बन पाये हैं, अन्यथा इनमें कवि की परिचित काव्य-श्री के दर्शन उपलब्ध नहीं होते।

'कुमारसंभव' के प्रथम आठ सर्गों पर ही अरुणगिरिनाथ तथा मल्लिनाथ जैसे टीकाकारों की टीकायें उपलब्ध हैं। परवर्ती सर्गों के पद्यों का उल्लेख संस्कृत के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में नहीं किया है। शैली-शिल्प की दृष्टि से भी ये सर्ग प्रथम आठ सर्गों की तुलना में हीन एवं नीरस प्रतीत होते हैं। उपमा, अर्थान्तरन्यास इत्यादि जैसे अलङ्कारों का जो सुष्ठु प्रयोग 'रघुवंश' इत्यादि अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध है, वह इन सर्गों में दृष्टिगोचर नहीं होता। कई स्थानों में यतिभङ्ग, कई अशुद्ध प्रयोग; 'सद्यः' या 'अलम्' जैसे असमर्थ प्रयोग, 'सु' 'च' अथवा 'हि' के समान पादपूरक अव्ययों का प्रचुर प्रयोग तथा एक ही पद का बार-बार प्रयोग इन सर्गों को प्रथम आठ सर्गों से भिन्न कोटि का सिद्ध करते हैं। इन सभी प्रमाणों से कीथ इत्यादि विद्वानों ने प्रतिपन्न किया है कि 'कुमारसम्भव' के इन सर्गों में कालिदास की स्वाभाविक समर्थ सरस्वती की छवियों के दर्शन नहीं होते और ये किसी उत्साही व्यक्ति की रचना हैं जिसने इनको जोड़कर 'कुमारसम्भव' (कुमार का जन्म) नाम की सार्थकता सिद्ध की है।

(२)

'कुमारसंभव' में चित्रित शिव-पार्वती का प्रणय, श्रमण-परम्परा के ऊपर प्रतिष्ठित उपभोगवाद की विजय है। ईसा के तीन सहस्र वर्ष पूर्व के चित्रों में संन्यासियों और देवालयों की नर्तकियों को सम्भोग-मुद्रा में चित्रित किया गया है क्योंकि उस युग के शैवधर्म के प्रारम्भिक स्वरूप में, इस धर्म के दो परस्पर विरोधी तत्त्वों योगी और भोगिनी के लक्षण दृष्टिगोचर होने लग गए थे। वैदिक जातियों के प्राचीनतम साक्ष्य ऋग्वेद (१।१७६) में एक ऐसी कविता आई है जिसमें लोपामुद्रा अपने पति अगस्त्य से शिकायत करती है कि मैं तुम्हारी गत एक वर्ष की विरक्ति से थकित हो गई हूँ। तब अगस्त्य बड़ी प्रसन्नता से अनुमति प्रदान करते हैं कि वह अपनी चेष्टाओं एवं क्रियाओं से उन्हें आकृष्ट करे। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि भारत में आने के तुरन्त बाद ही वैदिक जातियाँ इन समस्याओं से परिचित थीं, और वे उन्हें निश्छल विषयोप-भोग के साथ निपटा लेती थीं। अतएव इन विषयों में कालिदास के पीछे सहस्रों वर्षों

की सुदीर्घ परम्परा वर्तमान थी और उन्होंने अपनी रचना में इस परम्परा का अत्यन्त कोमल एवं परिमार्जित स्वरूप प्रतिष्ठित किया है[1]।

'कुमारसंभव' के कथानक के आधारग्रन्थों के सम्बन्ध में विद्वानों में प्रचुर मतभेद पाया जाता है। कतिपय स्थलों में उपलब्ध अर्थ-साम्य के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि कालिदास ने शिवपुराण तथा स्कन्दपुराण में वर्णित कार्तिकेय की कहानी से अपनी कथासामग्री ली है। किन्तु, इस मत का खण्डन करते हुए यह भी माना गया है कि ये दोनों पुराण कालिदास के परवर्ती काल की रचनाएँ हैं और इनमें 'कुमारसंभव' का ही अनुकरण किया गया है। रामायण के बालकाण्ड के तेइसवें सर्ग में यह कथा आई है कि विवाह के अनन्तर जब भगवान् शंकर अंग देश में तपश्चर्या कर रहे थे, तब वहाँ पहुँचकर मदन ने उन्हें प्रेमलीला में फँसाने की चेष्टा की जिस पर शिव ने क्रुद्ध होकर उसे अनंग कर दिया। संभव है, कालिदास ने इस कथा से प्रेरणा ग्रहण कर, अनेक रमणीय संदर्भों से समन्वित अपने काव्य का प्रणयन किया हो। पार्वती-परिणय के पूर्व मदन-दहन का प्रसंग नियोजित कर, कालिदास ने श्लाघनीय कलात्मक औचित्य का परिचय दिया है क्योंकि विवाह-सूत्र में बँध जाने के बाद कामदेव के आकर्षणों पर क्रुद्ध होने का अर्थ तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। महाभारत (२।३१, १३।२) में एक राजा की कथा आई है कि वह अपनी पुत्री को अग्निदेव की सेवा करने की अनुमति प्रदान करता है और वह अग्नि के संसर्ग से गर्भवती बन जाती है। कालिदास के ध्यान में यह कथा भी रही होगी। हिमालय ने अपने अतिथि शिव की सेवा में अपनी पुत्री को नियोजित कर, किस अभिप्रेत को सिद्ध करने का उपक्रम किया था, इसे कवि ने स्पष्ट अथवा संकेतित नहीं किया है। लेकिन, कदाचित् हिमालय यह चाहते थे कि योगिराज शङ्कर के नारियों के प्रति घृणाभाव का शमन हो जाय और शंकर तथा उनकी पुत्री किसी प्रकार अपने भाग्यों को एक सूत्र में जोड़ सकें। शंकर के अन्तर्धान हो जाने पर, पार्वती ने जो तपस्या की इसके चित्रण में कालिदास के सामने रामायण का वह प्रसंग रहा होगा जिसमें वेदवती नामकी राजकुमारी ने पिता की इच्छा के अनुरोध से, विष्णु को पति-रूप में प्राप्त करने के लिए हिमालय की कन्दराओं में तपश्चर्या की है। जब वह निर्जन वन में अकेली बैठी थी, तब एक राक्षस ने उसका सतीत्व अपहरण करने की चेष्टा की, लेकिन वेदवती ने अग्नि की शिखाओं में अपने प्राणों को होम कर दिया। दूसरे जन्म में वही सीता के रूप में प्रकट हुई और विष्णु के अवतार राम से विवाहित हुई। ऐसे ही, रति के मर्म-द्रावक विलाप के लिए कालिदास को दो

१. Walter Ruben : 'Kalidasa', पृ० ३८.

स्थलों से प्रेरणा मिली होगी—प्रथम रामायण में अपने पराजित पति बालि के लिए तारा का विलाप और दूसरे, महाभारत में कुरुक्षेत्र के समरांगण में वृद्धा गांधारी के नेतृत्व में विधवाओं का विलाप। अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत काव्य की कथा-सामग्री कालिदास को प्राचीन महाकाव्य-परम्परा से प्राप्त हुई; लेकिन प्रेम का जैसा मर्मस्पर्शी, विह्वल एवं प्रभावोत्पादक चित्रण कवि ने किया है, उसके लिए वह किसी भी स्रोत अथवा परम्परा का आभारी नहीं है। ब्रह्मपुराण, मत्स्यपुराण तथा कथासरित्सागर में शिव-पार्वती की जो कथा वर्णित है, वह अन्य पुराणों के समान, 'कुमारसंभव' से ही प्रभावित है। कालिदास के लिए पौराणिक देवासुर-संग्राम का कोई महत्त्व नहीं था, जबकि प्राचीन पुराणकारों के लिए शिव-पार्वती-प्रणय का ही महत्त्व न्यून था। सर्वोच्च देवताओं की प्रणय-कथा को काव्य-निबद्ध करने में कालिदास ने असीम साहस का प्रदर्शन किया। कथा उनके लिए तथा उनके समसामयिक पाठक के लिए अत्यन्त सजीव रूप में परिचित थी। कवि ने उसके भक्त्यात्मक महत्त्व को कहीं प्रमुखता प्रदान नहीं की और परम्परा का अतीव स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग कर, अपनी कवि-सुलभ प्रतिभा से दैवी-युग्म के प्रणय को नितांत उदात्त मानवीय रसों में आप्लावित कर दिया। ऊपर हमने महर्षि अरविन्द की सम्मति को उद्धृत किया है, किन्तु यदि प्रस्तुत काव्य के मूल्य में कोई गम्भीर उद्देश्य निहित है, तो वह उससे पड़ने वाले प्रभाव की सम्पूर्णता में डूब गया है। इसमें केवल एक कहानी नहीं कही गई है प्रत्युत यह एक प्रतिभाशाली कवि की सावधान रचना है जिसकी कला, कल्पना, संवेदना ने मिलकर, उसके चित्रों को उस सजीवता से मंडित कर दिया जो अत्यन्त सान्द्र रूप में मानवीय है और अत्यंत सूक्ष्म रूप में आध्यात्मिक है।

'कुमारसंभव' में कवि की सारी निपुणता शिव, पार्वती और मदन की विविध चेष्टाओं के वर्णन में नियोजित हुई है। शिव और पार्वती महान्, असाधारण दम्पती हैं। एक त्रैलोक्य के पिता और दूसरी त्रैलोक्य की माता हैं। किन्तु कवि ने इनके अधिदेवत्व की रक्षा करते हुए भी, इनके पारस्परिक संबंधों को अत्यन्त नैसर्गिक, मोहक एवं प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। शंकर सदा तपश्चर्या में लीन रहने वाले, महान् योगी के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। चित्त को चंचल होते देखकर वे सजग, सतर्क बन जाते हैं और अतीव निर्ममता के साथ कन्दर्प को अपने कोपानल में भस्म कर देते हैं। लेकिन, वे ही महादेव इतने कोमल-हृदय हैं कि उमा की कठोर तपश्चर्या से प्रसन्न हो कर उनसे विवाह कर लेते और विविध विलास-केलियों में आत्मविभोर हो, निमग्न बन जाते हैं। यहाँ योगिराज शंकर दो मानवीय वृत्तियों, प्रेम एवं क्रोध, से सर्वथा अभिभूत दिखाये गये हैं। उनका प्रेम भी असाधारण है और क्रोध भी असाधारण है। अष्टम सर्ग में वर्णित उनकी रहस्य-केलियाँ गहरे मानवीय

आस्वाद से परिपूर्ण होने पर भी अलौकिक हैं, असाधारण हैं। क्रोध की भीषणता तो इसी से प्रत्यक्ष है कि तपश्चरण की मर्यादा में विघ्न उपस्थित करने वाला मदन-देव, जो सृष्टि के सकल माधुर्य एवं मार्दव का प्रतीक है, उनके द्वारा तत्काल भस्मीभूत कर दिया जाता है।

शंकर पहले-पहल नारी से घृणा करने वाले विधुर के रूप में उपस्थित होते हैं। वे अपनी परिचारिका पार्वती से आपाततः आकृष्ट हो जाते हैं, कामदेव के कुसुम शरों का आघात अनुभव करने पर पलायन सा कर जाते हैं और पार्वती की तपस्या से विजित हो जाते हैं। वे उन्हें अपनी भुजाओं के पाश में बाँध लेना चाहते हैं, और जब पार्वती उनके प्रणय-प्रस्ताव को अपने पिता की अनुमति के बिना स्वीकार करने में अपने को असमर्थ बताती हैं, तब वे अधीर प्रेमी की तरह परिणय-संबंध के लिए आतुर हो जाते हैं। विवाह-कक्ष में नवोढा पत्नी को कोमलता-पूर्वक जीतने और उसमें कामाग्नि प्रज्वलित करने के लिए वे प्रेमी की सम्पूर्ण कला एवं विदग्धता का भरपुर उपयोग करते हैं; अब तक का योगी अनुरागविह्वल प्रेमी के रूप में परिणत हो जाता है। तथापि, क्या महादेव पार्वती की अविचलित दृढता से द्रवित हुए हैं, या वे उस कामदेव की शक्ति से विजित हुए हैं जिसे उन्होंने व्यर्थ ही जलाया? कवि ने स्वयं इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया है, अपितु उसे हमारे अनुमान पर छोड़ दिया है! इतना तो फिर भी निश्चित है कि वह स्पष्ट यह व्यक्त करना नहीं चाहता था कि सर्व-शक्तिमान्-योगिराज शंकर एक साधारण मानव के समान प्रेम की उद्वेजना से पराभूत हो गये थे और अपनी योग-साधनाओं को नमस्कार कर चुके थे। कालिदास ने एक साथ ही महादेव को महान् योगी एवं महान् भोगी के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

पार्वती रूप-गर्विता, मर्यादापरायण भार्या हैं। वे गुरुजनों के सम्मुख नितांत नम्र एवं संकोचशील हैं तथा दुर्जनों को तीव्र वाक्शरों से घायल करने वाली हैं। पति के संध्या-वंदन में अधिक समय व्यतीत करने पर, वे सपत्नियों की भाँति मत्सर-ग्रस्त बन जाती हैं। तथापि, मदन-दहन के उपरान्त नैराश्य-ग्रस्त होकर उन्होंने जो महान् तपस्या की तथा अपने अत्यन्त सुकुमार गात्रों को कष्ट दिये, उससे स्पष्ट है कि वे मानवीय भूख से उद्वेलित होते हुए भी, साधारण मानवी नहीं हैं। "हमारे लिए यह अनुमान करना अत्यन्त कठिन है कि कवि और उसके श्रोताओं के लिए ऐसी योगिनी एवं दृढसंकल्पा कुमारी का क्या अर्थ हो सकता था? कालिदास ने यहाँ नारी को कम-से-कम पुरुष के समकक्ष चित्रित किया है। शंकर और पार्वती, दोनों योग के अभ्यास में तन्मय-तल्लीन हो जाते हैं—शिव प्रेम की तनिक आर्द्रता को भी निरादृत करने के लिए, और उमा उनके प्रतिरोध को विजित करने के लिए। किन्तु, कवि ने यहाँ

यह नहीं बताया है कि पार्वती की तपस्या अदमनीय प्रेम से प्रेरित थी अपितु वह इस प्रतीति अथवा प्रत्यय की प्रसूति थी कि शिव ही उसके भाग्य हैं और वह केवल शिव की ही हो सकती है, अतएव किसी भी मूल्य पर उसे उनकी भार्या अवश्य बनना है। उमा का चरित्र मानव-हृदय को सदा प्रज्वलित करता रहेगा। उसकी तुलना में ईव (Eve) का चित्रण क्षीण एवं नीरस और हेलेन (Helen), ऐण्ड्रोमैक (Andromache) तथा डाइडो (Dido) के चित्र कम सजीव एवं आवर्जक हैं। सीता और द्रौपदी अपनी विपदाओं, साहस तथा परीक्षित पवित्रता के कारण हमारे लिए अधिक मानवीय आस्वाद से समन्वित हैं। लेकिन, निर्व्याज सौन्दर्य एवं अनुराग के लिए, अप्रतिहत लावण्य एवं औदार्य के लिए अथच चिरंतन नारीत्व के अमोघ आवर्जन के लिए कालिदास द्वारा अंकित उमा का चित्र विश्व-साहित्य में अनुपम तथा अद्वितीय है।"[1]

शिव और पार्वती दैवी युग्म हैं। वे देवता हैं और उनका संसार सुदूर हिमाद्रि में अवस्थित स्वर्गलोक है। कवि ने इस स्वर्ग को मानवीय जीवन की उष्णता से भर दिया है। जगत् के माता-पिता-रूप उमा-महादेव के संसार में उसने मानवीय प्रेम को सन्निविष्ट कर दिया है और इस प्रकार सामान्य भारतीय धरातल से आगे बढ़ाकर, अपने दोनों प्रधान पात्रों को मानवरूप में विकसित किया है।

(३)

'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश' दोनों महाकाव्य हैं तथा दोनों कालिदास की काव्य-सरस्वती की विख्यात विभूतियों से विभूषित हैं। लेकिन, दोनों में कुछ अन्तर भी स्पष्टतया विद्यमान हैं। पहले में वैविध्य की अपेक्षा अन्विति अधिक है, जबकि दूसरे में अन्विति की अपेक्षा वैविध्य अधिक है। पहले में दूसरे की अपेक्षा वनों, पर्वतों, सरिताओं तथा दिन-रात जैसी प्राकृतिक सुषमाओं के भव्य चित्रणों के लिए अधिक अवकाश है जब कि दूसरे में मानवीय आस्वाद अधिक है। 'कुमारसंभव' का चित्रपट 'रघुवंश' की तुलना में कम व्यापक है, लेकिन जिन थोड़े चरित्रों का उनमें अंकन हुआ है, वे कवि की कुशल कला एवं सतर्कता के स्पर्श से अत्यन्त सजीव रूप में चमक उठे हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् 'राइडर' (A. W. Ryder) की यह टिप्पणी उल्लेख्य है : "यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'कुमारसम्भव' का आस्वाद कुछ क्षीण तथा फीका पड़ जाता है। भारतवर्ष में भी, जहाँ देव-संसार अनायास मानव-संसार में मिल

१. K. S. Ramaswami Sastri : 'Kalidasa', पृ० १६८.

जाता है, देवताओं की अपेक्षा मनुष्यों के साहसिक संघर्षों में लोग अधिक रुचि लेते हैं। वस्तुतः देवताओं का तो कोई संघर्ष होता नहीं क्योंकि उनकी विजय अवश्यम्भावी है। प्रस्तुत काव्य को अपनी अन्विति के लिए संघर्षों की दरिद्रता का मूल्य चुकाना पड़ा है।" संघर्षों के प्रति पाश्चात्य समीक्षा जो अधिक पक्षपात दिखलाती है, उसको ध्यान में रखते हुए राइडर की यह टीका अवश्य युक्तिसङ्गत प्रतीत होती है। लेकिन, विद्वान् समीक्षक ने यह बात सर्वथा विस्मरण कर दी है कि संघर्षों की बहुलता से भारतीय सहृदय को वह परितोष नहीं मिलता जो शिव-पार्वती के प्रणय-चित्रण की सान्द्र मानवीय व्यञ्जनाओं से उसे उपलब्ध होता है। पुनः प्रकृति के भव्य चित्र तथा सम्पूर्ण रचना में आद्यन्त व्याप्त भाव-प्रकर्ष जो 'कुमारसम्भव' में दृष्टिगोचर होते हैं, उससे उसके कलात्मक आस्वाद में स्पृहणीय गहराई आ गई है।

'कुमारसंभव' की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है, उसके नैतिक उद्देश्य की गरिमा जो हमारी भारतीय संस्कृति का सनातन सन्देश है। कवि ने कामदेव का पराभव एवं विनाश दिखाकर एक ऐसी शक्ति को विजयी बनाया है, जिसका कोई सहायक अलङ्करण नहीं है, जो तपस्या की आँच में झुलसकर क्षीण हो गई है। कवि की कला के प्रकृष्ट उपकरण उस प्रेम के चित्रण में नियोजित हुए हैं जो बाह्य सौन्दर्य के आवरण से मुक्त होकर, विशुद्ध पवित्रता के पराग से सुरभित हो गया है। 'शारीरिक सुन्दरता नारी की सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति नहीं है और इसी प्रकार आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रति आत्मसमर्पण कोई पराजय नहीं है'—नारी के प्रति भारतीय संस्कृति का यही अमर सन्देश है, और प्रस्तुत काव्य में यह प्रभावोत्पादक ढङ्ग से व्यञ्जित हुआ है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'कुमारसम्भव' और 'शाकुन्तल' की तुलना करते समय निम्नोद्धृत टिप्पणियाँ की हैं—

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस समय दुष्यन्त को धीवर के द्वारा अँगूठी मिली थी और वे अपना भ्रम समझकर पश्चात्ताप के गहरे गर्त्त में गिरे हुए थे, उसी समय यूरोप के कवि 'शकुन्तला' नाटक का अन्तिम पटाक्षेप कर देते। अन्तिम अंक में स्वर्ग से लौटने के समय मार्ग में दैवयोग से दुष्यन्त की भेंट शकुन्तला से हो गई. यह यूरोपीय नाटकशैली के अनुसार कोई आवश्यक घटना नहीं थी क्योंकि 'शकुन्तला' नाटक के प्रारम्भ में जो बीजवपन के मिलन से हुआ था, यह विच्छेद ही उसका अन्तिम फल था। उसके बाद भी दुष्यंत और शकुन्तला का सङ्गम, बाहरी उपाय से, दैव-कृपा से कराया गया है। अन्यथा, नाटक के अन्तर्गत कोई ऐसा घटना-सूत्र नहीं था, दुष्यन्त-शकुन्तला का कोई ऐसा व्यवहार नहीं था जिससे यह सङ्गम पुनः सम्भव होता।

"इसी प्रकार, सामयिक कवि हतमनोरथा पार्वती के दुःख और लज्जा के मध्यकाल

में ही 'कुमारसम्भव' समाप्त कर देते। उस असामयिक वसन्तकालीन रक्ताशोक के मंजु-कुञ्ज में मन्मथ-मथन महादेव के दीप्त कोपानल की छटा देखकर नम्रमुखी लज्जारुणा पार्वती अपने समस्त व्यर्थ पुष्पाभरण को धारण किये, पाठकों के व्यथित हृदय के करुण अरुण-कमल पर आकर खड़ी रहती, अकृतार्थ प्रेम की वेदना पाठकों को चिरकाल तक घेरे रहती। आधुनिक समालोचकों के मत में यहीं काव्य का उज्ज्वल सूर्यास्त होता है, उसके बाद विवाह की रात तो अत्यन्त प्रकाशहीन है।]

"××× आजकल के कवि अपने काव्यों में वैवाहिक व्यापारों को उतना महत्त्व नहीं देते। जो प्रेम अपने प्रबल वेग से नरनारियों को चारों ओर के हजारों बन्धनों से मुक्त कर डालता है, उनको संसार के बहुत दिनों के अभ्यस्त पथ से बाहर खींच लाता है; जिस प्रेम के कारण स्त्री-पुरुष अपने मन में यह समझते हैं कि हम स्वयं परिपूर्ण हैं समझते हैं कि सारा संसार भी विमुख हो जाय तो हमें कुछ भय नहीं है और न अभाव है; जिस प्रेम की उत्तेजना से वे विच्छिन्न और विक्षिप्त ग्रह के समान स्वतंत्र होकर चक्कर खाते फिरते हैं, वही प्रेम काव्य का प्रधान विषय हो रहा है।

"कालिदास ने अनाहूत प्रेम के उस उन्मत्त सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की है; उसे तरुण लावण्य के समुज्ज्वल रंगों से चित्रित किया है। किन्तु, इसी उज्ज्वलता में उन्होंने अपना काव्य समाप्त नहीं किया। महाभारत के सारे कर्मों का अन्त जैसे महाप्रस्थान में हुआ, वैसे ही 'कुमारसंभव' के सारे प्रेम का वेग मंगल-मिलन में समाप्त हुआ है।

"×× दोनों ही काव्यों में कामदेवने जिस मिलन-व्यापार को सिद्ध करने की चेष्टा की है, उसमें दैव-शाप से विघ्न उपस्थित हुआ है। वह मिलन असम्पन्न और असम्पूर्ण रहकर, अपने विचित्र-कारु-कार्य खचित परम सुन्दर मिलन-मन्दिर में ही दैवाहत होकर मर गया है। उसके बाद कठिन दुःख और दुःसह विरह-व्रत द्वारा जो मिलन सम्पन्न हुआ है, उसकी प्रकृति ही भिन्न है। यह मिलन, सौन्दर्य के सारे बाहरी आडम्बरों को छोड़ कर, निर्मल वेश में कल्याण की कमनीय दीप्ति से जगमगा उठा है।

"स्पर्द्धाशील कामदेव ने जिस मिलन का कर्तृत्वभार अपने ऊपर लिया था, उसका आयोजन बहुत अधिक था। समाज-वेष्टन के बाहर दोनों ही तपोवनों के भीतर अकारण और आकस्मिक नये प्रेम को व्यक्त करने में जैसा और जितना काम कवि ने सुन्दर रूप से, कौशल से, लिया है, उतना ही समारोह से भी लिया है।

× × ×

"किन्तु, कवि ने यहीं पर विश्राम नहीं किया; इस शक्ति के निकट ही उन्होंने अपनी सारी काव्यशक्ति खर्च नहीं कर डाली। उन्होंने जैसे इस शक्ति की जय-घोषणा की है, वैसे ही अन्य दुर्जय शक्तियों के द्वारा पूर्णतर अन्तिम मिलन कराके ही अपना

काव्य समाप्त किया है। स्वर्ग के देवताओं से उत्साहित और वसन्त की मोहिनी-शक्ति से सहाय-सम्पन्न कामदेव को केवल परास्त करके ही नहीं छोड़ दिया है, बल्कि उसके स्थान पर एक ऐसे को विजयी बना कर छोड़ा है जिसके पास न तो कुछ वेशभूषा है और न किसी की सहायता; जो तपस्या से दुर्बल है और दुःख से मलिन।"[1]

(५) मेघदूत

(१)

कालिदास की रचनाओं में 'मेघदूत' को अत्यंत ममतापूर्ण महत्त्व प्राप्त है। संस्कृत के गीति-काव्यों में इस 'प्रसादमधुरा शृंगारसंगोज्ज्वला' रमणीय कृति को जो सम्मान मिला है, वह अन्य किसी काव्य को उपलब्ध नहीं हो सका। पंडितों ने इसे खंड-काव्य की आख्या प्रदान की है, लेकिन कथा-सूत्र इसमें अत्यंत क्षीण किंवा नगण्य है। वास्तव में, यह प्रेम से आर्द्र एवं कातर हृदय की मधुर उद्वेजनाओं का मन्द्र-मनोरम कोष है। एक सौ बीस ललित पद्यों में महाकवि ने कान्ता-विश्लेषित यक्ष की वियोग-व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। कथा यों है—'अलकापुरी के अधीश्वर कुबेर ने अपने सेवक यक्ष को, कर्तव्य-च्युति के कारण, एक वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया है। निर्वासन की अवधि, यक्ष भारत के दक्षिणांचल में अवस्थित रामगिरि नामक पर्वत पर व्यतीत करता है। आठ मास व्यतीत कर चुकने के बाद, वर्षा ऋतु के आगमन से उसके प्रेम-कातर हृदय में अपनी प्राणदयिता यक्षिणी की स्मृतियाँ सहसा उद्वेलित हो जाती हैं और वह मेघ को दूत बनाकर उसके पास अपना प्रणय-संदेश प्रेषित करता है।' प्रस्तुत काव्य के पूर्वार्ध (पूर्वमेघ) में यक्ष ने रामगिरि से अलका तक के मार्ग का विशद वर्णन किया है तथा उत्तरार्ध (उत्तरमेघ) में अपनी प्रेयसी की विरह-विह्वल दशा का कथन कर, अन्ततः अपना मर्मविदारक संदेश भेजा है। इतने ही से स्वल्प वृत्त को लेकर, कवि ने अपनी प्रसन्न-मधुरा वाणी को "मन्दाक्रान्ता की झूमती चाल" प्रदान कर,[2] वह अलौकिक रसधारा बहाई है जिसमें काव्य-रसिक अद्यावधि डूबते-उतराते चले आ रहे हैं।

मेघ अथवा प्राकृतिक वस्तुओं को दौत्य-कार्य में नियोजित कर, संदेश-प्रेषण की उद्भावना का मौलिक श्रेय कालिदास को मिलना चाहिए या नहीं—इस विषय में प्रचुर

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर: 'प्राचीन साहित्य' (अनुवादक पं० रामदहिन मिश्र), तृतीय संशोधित संस्करण, पृ० २४-२६.

२. 'मेघदूत' के अनुकूल मन्दाक्रान्ता पर कवि का अधिकार देख कर क्षेमेन्द्र ने कहा है—"सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।"

मतभेद है। प्रसिद्ध वंगीय विद्वान् हरिहरनाथ डे के अनुसार, चीन का कवि स्यूकाङ्, कालिदास के पूर्व, मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना कर चुका था—यद्यपि अब नवीन अनुसंधानों के आलोक में यह मत खंडित हो चुका है। डा० भीखनलाल आत्रेय ने 'योगवाशिष्ठ' महारामायण के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्ध के ११९ वे सर्ग में मेघदूत से संबंधित वर्णन की ओर निर्देश करते हुए, कतिपय ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जो 'मेघदूत' तथा 'योगवाशिष्ठ' में समान रूप से मिलती हैं। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने 'मेघदूत' की कल्पना को वाल्मीकीय रामायण की उस घटना से गृहीत बताया है जिसमें राम सीता के लिए हनुमान द्वारा संदेश भेजते हैं। इधर डा० मंगलदेव शास्त्री का एक निबन्ध 'आज' के दीपावली विशेषांक (२३ अक्तूबर १९५७) में प्रकाशित हुआ है—जिसमें उन्होंने ऋग्वेद में दूत-काव्य के उत्स का अन्वेषण किया है। ऋग्वेद के मंत्रों एवं सूक्तों के देवताओं की व्याख्या करने वाले शौनिकमुनि-कृत प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बृहद्देवता' के पाँचवें अध्याय के ५०वें से ८०वें श्लोक तक महर्षि अत्रि के पौत्र श्याशव का आख्यान वर्णित है जिसमें ऋषि-कुमार ने, अपनी मंत्र-दर्शन की नवोपलब्ध शक्ति का बखान करते हुए, राजर्षि दार्म्य रथवीति के पास, उसकी सुन्दरी कन्या के प्रति अपनी अनुरक्ति व्यंजित करने के हेतु, रात्रि को दूत बनाकर भेजने का उपक्रम किया है। इस कथा के आधार पर डा० शास्त्री ने 'मेघदूत' की मौलिकता का प्रत्याख्यान किया है। तथ्य जो हो, इतना निर्विवाद है कि कालिदास ने अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा के द्वारा, जिस 'रसोद्गारगर्भ', 'नवशब्दार्थबन्धुर' काव्य की सृष्टि की है, वह मानव के मर्म को द्रवित कर देने वाली रचनाओं में मूर्धन्य महत्त्व का आस्पद बन चुका है। अस्तु—

कान्ता-विप्रयुक्त यक्ष इतना क्षीण एवं कृश बन गया है कि उसकी कलाई से कनक का कंगन भी ढीला होकर गिर पड़ा है। ऐसी अवस्था में वह आषाढ़ मास के पहले दिन पर्वत की चोटी से लिपटे हुए मेघ को देखता है जो ऐसा भासित होता है मानो कोई हाथी अपने मस्तक की टक्कर से मिट्टी के टीले को ढाहने की क्रीड़ा में व्यस्त हो। वह मेघ काम-कौतुक की अभिलाषा को उद्दीप्त करने वाला है; तथा प्रिया की सुधि में ही लीन रहने के कारण, जो यक्ष अपने कर्तव्य से स्खलित हो चुका है, उसके लिए तो इस मेघ की विपुल व्यंजनाएँ हैं। यह उल्लेख्य है कि अपनी वल्लभा के साथ आस्वादित केलि-क्रीडाओं की स्मृतियाँ, नवीन अर्थ से गर्भित होकर, यक्ष को कातर बना देती हैं। अतएव, केवल 'वर्ण और परिमाण' ही नहीं, प्रत्युत हाथी की मदोन्मत्त क्रीडा की भावना ने भी यक्ष को आपाततः मेघ की ओर आकृष्ट किया है। वह देर तक मेघ के सम्मुख अपने आँसुओं को रोके रहता है। लेकिन, जब इन बादलों को देख कर, सुखी जनों की चित्तवृत्ति भी डगमग हो जाती है, तब

उन दुर्भाग्य-दलितों की क्या दशा होगी जो अपनी प्राणदयिता के कंठाश्लेष के लिए तड़पते हैं—

"मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥" (पूर्व०, ३)

यक्ष स्वयं तो कृश-कातर हो ही गया है, उसे इस बात की भी चिन्ता सता रही है कि उसकी प्यारी पत्नी भी उसके वियोग में कठिनता से जीवन धारण करती होगी। वस्तुतः प्रेम द्विपक्षीय व्यापार है, और यदि प्रेमी को यह भान न रहे कि उसका प्रिय भी उसके लिए तड़पता है, तो संभवतः उसके प्रेम का ज्वार निरन्तर आरोहणशील नहीं रहेगा। इसी लिए कालिदास ने 'दयिताजीवितालम्बन' की प्रेरणा से ही यक्ष को अनुप्राणित किया है। स्नेह-कातर यक्ष कुटज-कुसुमों से पहले मेघ की अर्चना करता है तथा कुशल-मंगल पूछ कर उसका स्वागत करता है। भौतिक दृष्टि से मेघ धूम, ज्योति, सलिल एवं मरुत् का समवाय है और इसीलिए उसे संदेश-वाहन का कार्य नहीं सौंपा जा सकता। लेकिन, अधीरता एवं उत्कंठा से अभिभूत होने के कारण, यक्ष को स्थिति की असंगति का बोध नहीं होता और वह मेघ से प्रार्थना कर ही बैठता है, क्योंकि कामार्त्त व्यक्ति चेतन एवं अचेतन पदार्थों के समीप समान भाव से ही दीन बन जाते हैं—

"धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥" (पूर्व०, ५,)

भौतिक दृष्टि से मेघ में वह प्राणोष्मा नहीं जो उस जड़ को संवेदनशील बना सके। लेकिन, भौतिक सत्यों से ही मनुष्य का जीवन परिचालित नहीं होता। काम एवं मृत्यु, दो ऐसी शक्तियाँ अथवा घटनाएँ हैं जिनके सामीप्य में विज्ञान के कठोर सत्य हृदय की आँच में पिघल कर एकदम नवीन कल्प ग्रहण कर लेते हैं।[1] ऐसी अवस्था में प्राकृत जगत् के निश्चेतन पदार्थ प्राणवान् बन जाते हैं और उनके साथ एक मौलिक समरसता का अनुभव करते हुए, मनुष्य उनसे मैत्री-भाव स्थापित कर लेता है। कालिदास ने चेतन-अचेतन की विभाजक-रेखा मिटाने का श्रेय 'काम' को दिया है—'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।" 'मेघदूत' का मौलिक

१. फ्रायड ने मनुष्य में दो मूल प्रवृत्तियाँ अन्तर्निहित मानी हैं—पहली है Eros अर्थात् प्रेम या प्रजनन, दूसरी है Arakne अर्थात् विनाश या मृत्यु। —लेखक।

प्रतिपाद्य सृष्टि-सञ्चालन में काम-तत्त्व की प्रधानता है। यक्ष मेघ को इन्द्र का 'कामरूप प्रधानपुरुष' ही मानता है—"जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।" इसीलिये, वह अपनी कामातुर दशा में उसके पास प्रार्थी बनकर गया है। मेघ की इसी काम-रूपता ने सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में द्वैत-भाव का जनन कर दिया है, सब में एक प्रकार की उद्वेजना उत्पन्न कर दी है। कालिदास ने मेघ को 'साधु', 'सौम्य', 'सुभग' एवं 'आयुष्मान्' विशेषणों से संबोधित किया है, क्योंकि वह 'स्थूल और सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य, निरिन्द्रिय और सेन्द्रिय' सभी पदार्थों को एक समान आशीर्वाद देता है।[1]

मल्लिनाथ ने 'प्रकृतिपुरुषं कामरूपं' का अर्थ किया है—'इच्छानुरूप रूपधारण में समर्थ प्रधान-पुरुष।' लेकिन इस अर्थ से कवि का अभीष्ट स्पष्ट नहीं होता। मेघ सचमुच काम का रूप है, स्वयं काम है और है समग्र प्रकृति का पुरुष, जो 'श्रवण-सुभग' गर्जन सुनाकर, उसमें नवीन प्रसव का विधान करता है। मेघ ही प्रकृति के वन्ध्यात्व-दोष को निराकृत करने की सामर्थ्य रखता है। इसी कारण, वह 'प्रकृतिपुरुष' तथा 'कामरूप' है। डा० अग्रवाल ने अत्यंत निपुणता-पूर्वक इन्द्र, मेघ तथा प्रजनन-शक्ति की एकरसता उपपन्न की है। इन्द्र 'शतक्रतु' है। 'क्रतु' का अर्थ शक्ति या वीर्य है। अतएव इन्द्र अगणित, अपरिमेय वीर्य अर्थात् प्रजनन-शक्ति का पर्याय है। वेदों में इन्द्र के वर्षण-कार्य का विपुल वर्णन उपलब्ध होता है। 'वृष' शब्द एवं 'इन्द्र' का घनिष्ठ सम्बन्ध संलक्षित है। 'वृष' तथा 'वृषभ' शब्दों का लगभग तीन सौ बार ऋग्वेद में इन्द्र के विशेषण-रूप में प्रयोग हुआ है। 'सोम' के लिए किए गए सौ प्रयोगों में भी इन्द्र का साहचर्य है। जो पुरुषों में 'वृष' है, वही स्त्रियों में 'सोम' है। शेष दो सौ प्रयोगों में प्रायः रेतःसेचन तथा पुरुष के प्रजनन-कार्य का निर्देश किया गया है। शतपथ, ताण्ड्य एवं कौषीतकी ब्राह्मणों में इन्द्र को साक्षात् वृष कहा गया है। जैसे नव मास तप कर मेघ अपनी सुखद गर्जना से पृथ्वी में पहले शिलीन्ध्र-रूप रोमांच उत्पन्न करता है और तब वास्तविक वर्षण कर, उसे प्रसव के लिए समर्थ बनाता है, वैसे ही सम्पूर्ण क्रम पुरुष एवं योषित में भी वर्तमान है।[2]

अतएव, इन्द्र एवं मेघ दोनों काम-शक्ति के प्रमुख प्रतीक हैं। और इसीलिए, कामार्त्त यक्ष ने मेघ के इन्द्र-रूप, प्रकृति-पुरुष-रूप तथा काम-रूप का स्मरण कर, अपनी प्रेमकातर अवस्था में उसे ही प्रणय-संवाद का वाहक बनाना निश्चित किया है।

मेघ की संवेदनशीलता से यक्ष भूरिशः अभिभावित है, क्योंकि वह जानता है

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—"मेघदूत' : एक अध्ययन', पृ० १.

२. वही, पृ० ५२—६०

कि मेघ उसकी काम-वेदना को सही ढंग से, उसकी सम्पूर्ण गहराई में, समझ सकता है। अतएव, वह संततों के शरण-रूप पयोद को यक्षेश्वरों की विख्यात पुरी अलका में भेजता है, जहाँ के मनोरम हर्म्य भगवान् शिव के मस्तक से विच्छुरित होने वाली चन्द्रिका से धवलित होकर, शोभायमान लगते हैं। अनंतर, यक्ष ने मार्गस्थ जिन छवियों का निर्देश किया है, उनमें चैतन्य के प्रस्फुरण के कारण, असीम सौन्दर्य समाविष्ट हो गया है। 'चेतन मेघ ने काम-पुरुष बन कर प्रकृति के जिन-जिन पदार्थों और सत्त्वों को छू दिया है, वे सब ही सुन्दर और दर्शनीय बन गए हैं।' 'पूर्वमेघ' प्रकृति के रमणीय चित्रों की ऐसी मनोभिराम शाला है जिसमें समग्र जगती, सचेतन एवं भावनाशील बनकर, प्रणय-दूत पयोद का अभिनन्दन करती है तथा अपने अंतरंग उल्लास को नाना प्रकार से अभिव्यंजित करती है।

कालिदास ने मेघ-प्रयाण के लिए जो पथ निर्दिष्ट किया है, वह स्नेह की शीतल छाया से ओतप्रोत है। विरह की अवधि-गणना में संलग्न पतिव्रता 'भ्रातृजाया' को मेघ शीघ्रातिशीघ्र यक्ष का संवाद सुना दे, यही उद्दिष्ट कार्य है जिसके सम्पादनार्थ मेघ भेजा जा रहा है, क्योंकि अंगनाओं का कुसुम-कोमल, प्रणय-कातर हृदय, आशा के बन्धन से ही, टूटकर बिखर जाने से रुका रहता है—

> "आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
> सद्यः पाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥" (पूर्व०, १०)

यक्ष की प्रधान प्रार्थना तो यही है कि मेघ सद्यः उसकी प्रिया के दर्शन करे; लेकिन वह जानता है कि मेघ प्रकृति-पुरुष है और इसी कारण केवल एक ही विप्रयुक्ता कामिनी को आश्वस्त करना उसके गौरव के अनुकूल नहीं होगा। अतएव, पशु-पक्षी, लता-वीरुध, नदी-पर्वत जितने भी चर-अचर पदार्थ मार्ग में उसे मिलेंगे, उन सभी की तपन वह बुझाएगा, सभी के हृदयों में नवीन आह्लाद एवं उमंग की सृष्टि करेगा। यह उल्लेख्य है कि यक्ष अपनी प्राणदयिता की चिन्ता में स्वार्थ-परायण नहीं बन गया है। उसकी अपनी प्रेम कातरता की अनुभूति अन्यों की प्रेम-वेदना की अनुभूति के लिए भी उसे सक्षम बना देती है जिस कारण वह मेघ को केवल अपना ही प्रवृत्ति-वाहक नहीं बनाना चाहता, अपितु चाहता यह है कि जहाँ-जहाँ प्रेम की छाया ने संचार किया है, वहाँ-वहाँ वह अवश्य रुके और कहीं अपने 'नयन-सुभग' रूप दिखाकर, कहीं 'श्रवणसुभग' गर्जन सुना कर, सम्पूर्ण जंगम तथा स्थावर प्रकृति को उल्लसित एवं उद्वेलित कर दे। यक्ष ने आरम्भ में ही मेघ के साथ भाई का नाता जोड़ लिया है, अपनी पत्नी को उसकी भाभी कह कर अभिहित किया है। भौजाई से प्रणय-संदेश सुनाने में भारतीय दृष्टि कोई नैतिक व्यवधान नहीं मानती।

'प्रकृति-पुरुष' होने के नाते, मेघ में स्वयं 'दक्षिणनायकत्व' की प्रतिष्ठा हो गई है। सुतरां, स्वभाव से तथा सम्बन्ध से, दोनों ही दृष्टियों से, वह प्रणयदूतत्व के हेतु सर्वथा उपयुक्त बन गया है।

प्रेम की महिमा स्थापित करना 'मेघदूत' का प्रमुख उद्देश्य है। प्रकृति के सम्पूर्ण साम्राज्य में, इस जानकारी से कि प्रणय का दूत एक महान् अनुष्ठान लेकर यात्रा कर रहा है, सर्वत्र अनुकूलता, सहानुभूति तथा सेवा-साहाय्य की तत्परता व्याप्त हो गई है। अनुकूल पवन मन्द-मन्द गति से सौम्य पयोद को आगे बढ़ा रहा है, गर्व से भरा पपीहा बाईं ओर आकर मधुर ध्वनि कर रहा है, गर्भाधान का उत्सव मनाने वाली बलाकाएँ पंक्तिबद्ध होकर उसकी सेवा के लिए सन्नद्ध हैं—और प्रिय सखा तुङ्ग शैल अपना कंठालिंगन देने के लिए आतुर हो, आँसू बहाता अपना स्नेह प्रकट कर रहा है। मार्ग में जब कभी पयोद थकान से खिन्न हो जाएगा, तब वह भिन्न-भिन्न स्रोतों का जल पीता जाएगा। स्वस्थ होने के अनन्तर जब वह व्योम-मार्ग में आगे बढ़ेगा, तब चमचमाते रत्नों की झिलमिल ज्योति के समान दिखाई पड़ने वाला इन्द्र-धनुष उसके श्यामल शरीर को और भी नई कान्ति से उसी प्रकार भ्राजित कर देगा, जिस प्रकार झलकती हुई मयूर-शिखा से मुरलीधर कृष्ण का गात्र सज गया था। वस्तुतः प्रणय के प्रसारकों को सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य का वरदान निरंतर मिलना ही चाहिए, और मेघ को ये विभूतियाँ बराबर मिलती गई हैं। उसके विश्राम के लिए यक्ष ने मार्गस्थ अनेक पड़ावों का निर्देश किया है, जहाँ वह नवीन शक्ति अर्जन करता रहेगा तथा अपने सम्पर्क में आई अन्य वस्तुओं को सौन्दर्य का दान भी देता जाएगा। पके फलों की दीप्ति से भ्राजित वन्य रसालों द्वारा घिरे हुए शैल-शिखर की शोभा मेघ से क्योंकर बढ़ जाती है, उसका चित्र नीचे देखिए—

"छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥" (पूर्व०, १८)

—'पके फलों से दीप्त जंगली आम के वृक्षों से घिरे उस पर्वत की चोटी पर, जब तुम चिकनी वेणी की तरह काले रंग से घिर जाओगे, तब उसकी शोभा देव-दम्पतियों द्वारा देखने योग्य ऐसी हो जायेगी जैसे मध्य भाग में साँवला तथा अन्य सब ओर से पीला पृथ्वी का स्तन उठा हुआ हो।'

शैलराज हिमवन्त से नीचे उतरती हुई गंगा के स्फटिक के समान निर्मल स्वच्छ जल में जब मेघ की छाया पड़ेगी, तब वह धारा ऐसी सुशोभित होगी जैसे प्रयाग

से अन्यत्र उसमें यमुना भी आ मिली हो। वहाँ आकर बैठने वाले कस्तूरी-मृगों की नाभियों से निकलने वाली गंध से सुरभित शिलाओं वाले उस हिमधवल पर्वत के शिखर पर जब वह थकावट मिटाने के लिए बैठेगा, तब उसकी शोभा ऐसी जान पड़ेगी मानो शिव के वाहन, गौर-वर्ण नन्दी ने सींगों पर गीली मिट्टी लगा ली हो। चिकने घुटे हुए अंजन के समान काला वह मेघ, अभी कटे हाथी-दाँत के टुकड़े के समान, धवल कैलाश की ढाल पर जब घिरेगा, तब वह ऐसे शोभित होगा जैसे गोरे रंग वाले बलराम के कन्धों पर चटकीला नीला वसन हो। पुनः, कैलाश की गोद में बैठी अलका के ऊपर जब वह वर्षा की झड़ी लगा देगा, तब वह पुरी ऐसी शोभा देगी मानो मोतियों के जालों से गुँथे हुए घुँघराले केशों वाली कोई कामिनी हो—

"तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥" (पूर्व०,६७)

—'हे इच्छानुरूप संचरण करने वाले मेघ! जिसकी गंगा-रूपी साड़ी सरक गई है, ऐसी उस अलका को प्रणयी कैलाश के क्रोड़ में बैठी हुई देख कर तुम उसे अवश्य पहचान जाओगे, वर्षा-काल में जब उसके ऊँचे महलों पर घिर कर तुम सलिल की धारा बरसाने लगोगे, तब वह ऐसी सुशोभित हो उठेगी जैसे किसी कामिनी के सिर पर मोतियों की जाली से गुँथा हुआ मंद्र केश-बन्ध चमकता हो।'

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि मेघ की श्यामल कान्ति से कवि अधिक चमत्कृत है और ललित उपमाओं द्वारा उसकी भावना कराने के लिए वह व्यग्र हो उठा है। यमुना, नन्दी तथा बलराम जैसे अप्रस्तुतों की योजना आज के पाठक को भले आकर्षित न करे, किन्तु पौराणिक संदर्भों में ओतप्रोत भावकों के लिए इनकी व्यंजना अवश्य प्रभावकारी समझी जायेगी। चर्मण्वती नदी के पृथुल प्रवाह में प्रतिबिंबित मेघ को, पृथ्वी के वक्ष पर झूलते हुए मोतियों के हार के बीच में अनुस्यूत इन्द्रनीलमणि के मोटे मनके से उपमित किया गया है।[1] संस्कृत का कवि वैभव-समृद्धि के वातावरण में विचरण करता था, और इसलिए रमणियों के रम्यांगों तथा भूषणों-प्रसाधनों पर सदैव दृष्टिपात करते रहने के कारण, उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं के लिए, इन वस्तुओं की अप्रस्तुत-रूप में उन्मुक्त भाव से नियोजना करता चलता था। कालिदास के अप्रस्तुतों में अंजन, वेणी, उरोज, साड़ी मुक्ताजाल

१. "मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्।" (१।५०)

इत्यादि का प्राचुर्य मिलता है जो आज के साधारण पाठकों को भी चमत्कृत एवं प्रसादित कर देता है।

मेघ को प्रधानतया रसिक-रूप में ही चित्रित किया गया है। उसके विश्राम के लिये निर्दिष्ट स्थल वेत्रवती नदी, नीचैः पर्वत, उज्जयिनी की ऊँची अट्टालिकाएँ इत्यादि सभी विलास-विभ्रम के संबंधों से संयुक्त हैं। निर्विन्ध्या तथा गंभीरा नदियाँ तो मानो उसकी विशिष्ट प्रेयसियाँ अथवा नायिकाएँ हैं जिनका रस वह रुक कर आस्वादित करेगा।[1] सौदामिनी-रूपी प्रियतमा का संयोग उसे प्राप्त है ही[2] साथ ही, पौरांगनाएँ, वारवनिताएँ, तथा देव-युवतियाँ सभी उसका स्वागत करेंगी क्योंकि वह उनके नेत्रों का कौतूहल है और उनकी चंचल चितवनों का सुख लूटेगा।[3]

इस प्रकार यह उल्लेख्य है कि प्राकृत एवं मानुषी, दोनों प्रकार के रस-केन्द्र उसके विश्राम तथा अभिनन्दन के निमित्त नियोजित किए गए हैं। वस्तुतः उसकी 'कामुक' (रसीली) प्रकृति के सामने चेतनाचेतन का द्वैत मिट गया है, क्योंकि वह सबका है और सब उसके हैं।

रसिक-रूप के अतिरिक्त, मेघ का एक अन्य उपकारी रूप भी है जिस कारण वह शक्तिशाली ('अन्तःसार') पुरुष अपनी जलराशि का दान लुटाता चलता है और दीन-दुःखियों का उपकार करता जाता है। इसीलिए तो सरल, निश्छल ग्रामवधूटियाँ उसके स्वागत में आनन्द-विभोर हो उठेंगी—

"त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥" (१।१६)

—'हे मेघ! कृषि का फल तुम्हारे अधीन है—यह जानकर नई उमंग से भरी हुई, भ्रू-विलास से अनभिज्ञ जनपदीय बालाएँ अपने प्रीति-स्निग्ध नयनों से तुम्हारे

---

१. "निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।" (१।३०)
"प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।" (१।४५)

२. "तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।" (१।४२)

३. देखिए श्लोक-संख्या (१।३६), (१।५१), (१।६५) आदि।

रूप का पान करेंगी। तुम माल क्षेत्र के ऊपर इस प्रकार जल बरसाना कि हल के फाल से तत्काल खुरची हुई भूमि गंधवती हो उठे। फिर थोड़ी देर बाद क्षिप्र-गति से उत्तर की ओर बढ़ जाना।'

वृष-पुरुष के सम्पर्क से जैसे नारी सुरभित परिमल का उद्‌गिरण करती है, वैसे मेघ के निष्यन्द से पृथ्वी भी उच्छ्वसित गंध को विकीर्ण करने लग जाती है और नवीन शस्यों एवं धान्यों का प्रसव कर, सृष्टि का पोषण करने वाली माता बन जाती है।

मेघ के इसी द्विविध, रसिक एवं उपकारी, रूप ने प्रणय-कातर विरही यक्ष को, उसे अपना भाई एवं सुहृद्[1] बनाकर, अपनी वल्लभा के पास भेजने की प्रेरणा दी है। मेघ के व्युत्पन्न व्यवहार से समग्र प्रकृति लीलावधूत बन गई है। कवि का निरीक्षण, उसकी शृंगारी चेतना के रस में पिघलकर, एक रमणीय लोक की सृष्टि कर गया है। वास्तव में, प्रकृति का जितना मन्द्र तथा सान्द्र मानवीकरण 'पूर्वमेघ' में सम्पन्न हुआ है, वह संसार के साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

(२)

'पूर्वमेघ' में 'ब्रह्मचारी' पयोद[2] को रामगिरि से, शंकर के नित्यप्रति के अट्टहास के पुञ्जरूप तथा देव-वनिताओं के लिए स्वच्छ दर्पण-तुल्य कैलास के उत्संग में बसी हुई अलका तक पहुँचाया गया है, जब कि 'उत्तरमेघ' में अलका के सुख-विलास, यक्षिणी के वियोग-व्यथित रूप-सौन्दर्य तथा अन्ततः यक्ष के प्रणय-सन्देश का अत्यन्त ललित एवं मर्म-भेदी वर्णन किया गया है।

कालिदास मूलतः विलास एवं ऐश्वर्य के कवि हैं, और उनकी काव्य-तन्त्री में से सर्वाधिक आनन्दमयी ध्वनि-तरंगें तब निकलती हैं, जब वैभव-मूलक सौन्दर्य के सन्दर्भ उन्हें अनुप्राणित करते हैं। 'पूर्वमेघ' का प्रधान प्रतिपाद्य रहा है मेघ का सर्वातिशायी गौरव। 'उत्तरमेघ' में वह अपेक्षाकृत गौण पड़ गया है, यद्यपि उसके 'कामरूप' का प्रभाव परोक्षतया आद्योपान्त लक्षित हो रहा है। प्रथम पद्य में ही कवि का मन्तव्य व्यक्त हो गया है जब उसने अलका के प्रासादों को मेघ की प्रतिस्पर्धा में खड़ा कर दिया है—

---

१. "मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।" (१।४२)

२. 'ब्रह्म' नाम उदक अर्थात् जल का है। उसके साथ विचरण करने वाला मेघ 'ब्रह्मचारी' है। इसीलिए वह नित्ययुवा है। ऋग्वेद में उषा को भी "अमर्त्या-पुराणी युवती" कहा गया है। —डा० अग्रवाल।

"विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥" (उत्तर०, १)

—'अलका के महल अपने इन-इन गुणों से तुम्हारी प्रतियोगिता करेंगे—तुम्हारे पास बिजली है, तो उनमें मोहिनी वनिताएँ हैं। तुम्हारे पास इन्द्रचाप है, तो उनमें सुरम्य चित्र अंकित हैं। तुम्हारे पास मधुर गम्भीर गर्जन है, तो उनमें संगीत के हेतु मृदंग ठनकते रहते हैं। तुम्हारे भीतर जल भरा है, तो उनमें मणियों से निर्मित चमकीले भूमि-खंड हैं। तुम आकाश में उन्नत उठे हुए हो, तो वे गगन का चुम्बन करते रहते हैं।'

अतएव, पृष्ठभूमि में अलक्ष्य भाव से वर्तमान रहते हुए भी, मेघ ने यहाँ अलकापुरी के सौख्यैश्वर्य के प्रति तथा यक्ष-दम्पति की प्रेम-व्यञ्जना के प्रति अपनी महिमा विसर्जित कर दी है। यद्यपि यक्ष ने मेघ को 'बन्धु' कहकर, प्रवृत्ति-वाहन के लिए उसकी बड़ी प्ररोचना की है, तथापि अपनी नगरी एवं गृह के वैभव का बखान कर,[1] वह मानो मेघ को ऐसा आभास भी दे रहा है कि वह दौत्य-कर्म स्वीकार कर, अपने को ही गरिमान्वित करेगा। प्रारम्भ में यक्ष ने मेघ के श्रेष्ठ कुल का कथन कर तथा बाद में उसकी रसिकता, परोपकारिता एवं परदुःखसंवेद्यता की बड़ाई करके, उसे तैयार करने का उपक्रम किया है; और अब अपने ऐश्वर्य-पूर्ण सम्बन्धों की विज्ञप्ति कर, वह एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक 'सम्मान-संकेत' (Prestige Suggestion) भी दे रहा है कि मेघ को उसकी प्रार्थना स्वीकार होनी चाहिए। फिर तो, कवि ने विप्रयुक्त अन्तस् की जो तलस्पर्शी विवृति की है, वह उसकी सहृदयता वैसे ही आलोकित करती है, जैसे मेघ उज्जयिनी की कृष्णाभिसारिकाओं के तिमिराच्छन्न पथ को कसौटी पर कसी कंचन-रेखा को तरह चमकती हुई बिजली से प्रकाशित करेगा—

"गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥" (पूर्व०, ४१)

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रणय-कातर यक्ष ने मेघ से यह अनुरोध किया है कि प्रणयाभिसार करने वाली कामिनियों का पथ आलोकित कर, वह उनके प्रिय-

---

१. "जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।" (१।६)

समागम में सहायता पहुँचाएगा । वास्तव में, प्रेम-द्रव से ओत-प्रोत मानस में करुणा एवं सहानुभूति के अतिरिक्त अन्य तत्त्व प्रविष्ट हो ही नहीं सकते ।

उज्जयिनी को कवि ने स्वर्ग का 'कान्तिमत् खंड' बताया है, लेकिन अलका के गौरव एवं ऐश्वर्य के सम्मुख वह निश्चितरूपेण हतप्रभ बन जाएगी । स्फटिक-निर्मित हर्म्य, उनमें विलास करने वाली ललितांगनाएँ तथा उनकी अक्षय निधियाँ – इन सबका वर्णन कर, कवि ने एक प्रकार से यह कह दिया है कि अलका के निवासी यक्षों को 'अर्थ' नामक पुरुषार्थ के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता है जिस कारण वे अपने 'काम-प्रधान जीवन' का आस्वाद लेने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र रहते हैं ।[1] इसी प्रकार, यक्ष के सुरम्यागार का जो सूक्ष्म चित्रण किया गया है, वह ऐश्वर्य-सरोवर में, गहराई से डूबी हुई कवि-चेतना पर मनोरम आलोक डालता है । वर्णन की वह 'सुसंस्कृत अतिशयता' (Fine excess) तथा 'कच्ची धातु की प्रत्येक दरार को कनक से गर्भित करने की क्षमता' (Filling every rift of ore with gold), जिसके लिए आंग्ल कवि कीट्स की भूयसी सराहना की जाती है, कालिदास की रचनाओं में प्रायः परिलक्षित होती है । साधारण स्तर का पाठक, जो अपने दैनिक परिवेश में ऐसी वैभव-लक्ष्मी के दर्शन नहीं करता, कवि के इन चित्रों के समृद्ध संसार में डूबने-उतराने लगता है ।

यक्ष का प्रणय-संदेश किसी परकीया प्रेयसी के प्रति नहीं, अपितु अपनी पतिव्रता धर्म-पत्नी के लिए, प्रेषित किया गया है । यक्ष को यह विश्वास है कि उसका भव्य भवन उसके विप्रयोग में छविहीन (क्षामच्छायं) बन गया होगा, क्योंकि सूर्य के अभाव में कमल हतश्री हो जाता है । उसी प्रकार उसकी प्रियतमा जो—

"तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।

---

१. "मंदाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥" (उ०, ६)
"नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुंगानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥" (उ०, ७)

श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।" (उत्तर० २२)

—'छरहरी देह वाली, नवव्यक्त यौवन वाली, नन्हें-नन्हें दाँतों वाली, पके बिम्बा-फल के समान लाल अधरों वाली, क्षीण कटि वाली, चकित हरिणी की लोल चितवन वाली, गहरी नाभि वाली, नितम्बों के भार से अलसाई गति वाली, स्तनों के भार से कुछ झुकी हुई, मानो अलका की युवतियों में विधाता की पहली सृष्टि है'—वह रूपसी भी, यक्ष को पूर्ण प्रत्यय है, वियोग की गाढ़ी उत्कंठा के कारण कुछ ऐसी विवर्ण बन गई होगी, जैसे पाले की मारी कमलिनी अन्य प्रकार की द्युति वाली बन जाती है—"जातं मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्" अर्थात्, 'मेघदूत' के प्रवासहेतुक विप्रलंभ का नैतिक आधार है जिसमें औपपत्य को नहीं, दाम्पत्य को शापजन्य चुनौती दी गई है।

'कुमारसंभव' में पार्वती-शिव के परिणय के अनन्तर कवि ने दैवी युग्म के संभोग-शृंगार का अत्यन्त उन्मुक्त चित्रण किया है; प्रस्तुत रचना में यक्ष-दम्पती के विप्रयोग का उतना ही तलस्पर्शी चित्र अंकित हुआ है। वैदिक काल से ही भारतीय कवि-समय चक्रवाक-मिथुन को उत्कृष्ट प्रेम का आदर्श मानता रहा है। यक्ष की भार्या, जो उसका दूसरा जीवित रूप ही है, एकाकी चक्रवाकी की तरह विरह के दिन व्यतीत कर रही है। वियोग में उसकी कैसी दशा हुई होगी, वह यक्ष के शब्दों में ही सुनिए—

'विरह के पहले दिन मैंने उसकी जिस वेणी को जल्दी में बाँधा था और शापान्त में मैं ही जिसे खोलूँगा, उस खुरदरी वेणी को छूने से भी उसे पीड़ा होती होगी तथा बढ़े हुए नखों वाले हाथों से वह अपने कोमल कपोलों पर से उसे बारंबार हटाती होगी। उस अबला ने आभरण त्याग दिये होंगे और शय्या पर किसी प्रकार अपना सुकुमार शरीर रखती होगी। उसे देखकर, तुम्हारे नेत्रों से अवश्य आँसू की धाराएँ गिरेंगी, क्योंकि आर्द्र अन्तरात्मा वाले व्यक्ति की चित्तवृत्ति प्रायः करुणा से भरी होती है। × × × × × मुँह पर लटकने वाले केश-पुञ्ज जिसकी तिरछी चितवन को रोकते हैं, काजल की चिकनाई के बिना जो सूना है, तथा वियोग में मधुपान छोड़ने के कारण जिसकी भौंहें अपनी चपलता भूल चुकी हैं, ऐसा उस मृगाक्षी का वाम नेत्र तुम्हारे पहुँचने पर ऊपर की ओर फड़कता हुआ ऐसा प्रतीत होगा, जैसे सरोवर में मछली के फड़फड़ाने से खिलता हुआ नीलकमल शोभा पाता है।' (उत्तरमेघ, श्लो० २९-३२)

पत्नी की वियोग-विधुर दशा के विषय में यक्ष का अटूट विश्वास द्रष्टव्य है। यह भारतीय गृहिणी की विरह-कातर दशा है जिसने अपने शरीर की अलंकृति को एकदम

तिरस्कृत कर दिया है। यक्षिणी वह प्रियव्रता वनिता है जिसके भीतर भर्त्ता के चित्र का अविकल प्रतिबिम्ब पड़ता है,[1] तथा इसी मनः-साम्य के कारण, पतिव्रताएँ प्रिय की वियोग-दशा का अनुमान कर, सुख-सौन्दर्य की बातें भूल जाती हैं। यक्ष निविड़-भाव से अपनी प्राणदयिता में स्नेह-बद्ध है और उसका, निम्न कथन में व्यंजित, अमोघ प्रत्यय सचमुच लौकिक प्रणय-जीवन के लिए 'अमिय-मूरि' के समान मूल्यवान् है—

"जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति—
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥" (उ०, ३६)

—'मैं जानता हूँ कि तुम्हारी उस सखी के मन में मेरे लिए कितना स्नेह संचित है। इसीलिए, इस प्रथम विरह में उसकी ऐसी दशा का मैं अनुमान कर रहा हूँ। हे भाई! मैंने जो कुछ कहा है, उसे तुम शीघ्र अपनी आँखों से देखोगे।'

यक्ष ने पत्नी का जो विरह-चित्र अंकित किया है, उसमें कतिपय 'कामदशाएँ' तथा कतिपय 'वियोग-विनोद' सन्निविष्ट हैं।[2] मानसिक सन्ताप के कारण क्षीण बनी हुई, वह विरह-सेज पर एक करवट से ऐसी लेटी होगी, जैसे प्राची के क्षितिज पर चन्द्रमा की केवल एक बची हुई कला हो। यह 'व्याधि' का चित्र है। उसने मधुपान छोड़ दिया है; जाल-मार्गों से प्रविष्ट होने वाली चन्द्र-मरीचियों को पूर्वप्रीति के कारण देखने के लिए उसके नेत्र बढ़ते हैं, किन्तु तत्क्षण वापस लौट आते हैं। इस तरह उसे विषयों में अरति उत्पन्न हो गई है तथा उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर वियोगावधि के शेष दिन गिनने में प्रवृत्त हो गई हैं। नानाविध रतिसुखों की कल्पना कर, वह प्रियसमागम का आस्वाद लेती है। ऐसा करने में 'चिन्ता' एवं 'अभिलाप' नामक दशायें व्यक्त हुई हैं। गोद में वीणा लेकर, यक्ष के नाम वाले गीत गाने का उपक्रम करती है, किन्तु इतनी स्मृति-विह्वल हो जाती है कि उसकी अभ्यस्त मूर्च्छनायें भी भूल जाती हैं। यह 'गुणकथन' तथा 'जड़ता' का व्यञ्जक है। वियोग की दारुण अवधि काटने के लिए प्रेमीजन कई प्रकार के 'विनोदों' का अवलम्ब लेते हैं जिनके चार मुख्य प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार ये हैं—प्रिय-सदृश वस्तु का दर्शन,

१. 'भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः"—(कुमारसंभव, ६।८६)

२. "वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि।
तदङ्गस्पृष्टानामुपनतवतां स्पर्शनमपि प्रतीकारोऽनङ्गव्यथितमनसां कोऽपि गदितः॥"
—रघुवंश ८।९२, मल्लिनाथ।

प्रिय के चित्र की रचना, स्वप्न में प्रिय-प्रेक्षण तथा प्रिय द्वारा स्पृष्ट पदार्थों का स्पर्श कर सुखानुभव करना। यक्ष का कथन है कि उसकी प्रिया या तो उसका चित्र खींचती होगी, या पिंजड़े की सारिका से मीठे स्वर में पूछती होगी कि 'ऐ रसिके! क्या स्वामी तुम्हें भी याद आते हैं?' दिन में कभी वीणा बजाती होगी, तथा रात आने पर नींद को बुलाती होगी जिससे स्वप्न में प्रिय-रमण का आनन्द वह प्राप्त कर सके। यक्ष ने वैसे तो रात में ही अपना संदेश सुनाने की सलाह दी है, लेकिन यदि वह विरहिणी निद्रामग्न हो तो यक्ष का अनुरोध है, मेघ उसे जगाने की चेष्टा नहीं करेगा—

"तस्मिन् काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथञ्चित्
सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम्॥" (उ०, ३४)

—'हे मेघ! यदि उस समय वह नींद का सुख ले रही हो, तो गर्जन बन्द कर, एक पहर तक उसके जागने की प्रतीक्षा करना। ऐसा न हो कि कठिनाई से स्वप्न में मिले हुए प्रियतम के साथ गाढ़े आलिंगन के लिए कण्ठ में डाला हुआ उसका भुजपाश अचानक खुल जाय।'

यक्ष की इस प्रार्थना में प्रणयी अन्तस् की कोमलता, प्रिय को सुख-प्राप्ति की अगाध लालसा, तथा प्रिय के प्ररूढ़ स्नेह की सचाई के प्रति उसका अगाध विश्वास अत्यन्त तलस्पर्शी ढङ्ग से व्यञ्जित हुए हैं। बाद को, यक्ष ने जो सन्देश दिया है, वह प्रणय-काव्य की नितान्त मधुर निधि है जिसमें प्राणों का पिघलाव, मन्मथोद्वेग की नीली कालिन्दी में निमज्जित होकर, शुद्ध प्रेम-रस की मन्दाकिनी में पर्यवसित हो गया है। सन्देश का आरम्भिक अंश, कवि की प्रणय-पीड़ित हृदय की अनुभूति की गहराई को मर्मस्पर्शिता-पूर्वक ध्वनित करता है। यक्ष कहता है कि हे मित्र! तुम मेरी प्रियतमा से इस प्रकार कहना कि—

"..........तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव॥" (उ०, ४३)

—'हे अबले! रामगिरि के आश्रमों में निवास करने वाला तुम्हारा सहचर अभी जीवित है। तुम्हारे वियोग की व्यथा में उसने पूछा है कि तुम कुशल से तो हो? जहाँ प्रतिपल विपत्तियाँ प्राणियों के निकट हैं, वहाँ सबसे पहले पूछने की बात भी तो यही है।'

'अव्यापन्नः' 'अभी जीवित है वह तुम्हारा सहचर'—यह पहला वाक्य ही कितनी समझदारी से कहा गया है ! यक्ष जानता है कि उसकी दयिता को सबसे पहले यही संवाद मिलना चाहिए कि वह (यक्ष) जीवित है। सन्देश भेजने की मूल प्रेरणा भी यही रही है कि यक्षिणी को जीवन-धारण का अवलम्ब मिल जाय—'दयिता-जीवितालम्बनार्थी' । व्यञ्जना यह है कि यदि यक्ष के जीवित रहने का संवाद यक्षिणी को तत्काल नहीं मिलेगा, तो वह स्यात् पञ्चत्व को प्राप्त हो जाय। अतएव, इस आशङ्कित अनिष्ट के निरास के लिए, सबसे पहले यही समाचार सुनाया जाना चाहिए कि यक्ष जीवित है। 'कुशलमबले पृच्छति'—'हे सुकुमारि! उसने तुम्हारा कुशल पूछा है' इस कुशल-प्रश्न में उपचार नहीं है, प्रत्युत यह वियुक्त शंकालु हृदय की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है जिसकी गहरी चिन्ता यही होती है कि उसका प्रिय सकुशल तो है न ? और उसका कारण यह है कि 'पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव' 'प्राणियों के लिए विपत्ति ही सबसे सुलभ है।' इस संवाद की व्यञ्जना सभी हृदयालु व्यक्तियों को भीतर से विचलित कर देने वाली है।

इसके अनन्तर मेघ यह कहेगा—'वह दूरवर्ती तुम्हारा सहचर अपने अंगों को तुम्हारे अंगों से जोड़कर एक करना चाहता है, लेकिन वैरी विधाता ने उसके लौटने का मार्ग रोक दिया है। अतएव, वह संकल्पों द्वारा ही तुम्हारे भीतर प्रविष्ट होना चाहता है। वह क्षीण है, तुम भी क्षीण हो गई हो। वह गाढ़ी विरह-ज्वाला में तप्त है, तुम भी वियोगाग्नि में जल रही हो। वह आँसुओं से भरा है, तुम भी आँसुओं से गल रही हो। वह लम्बी उसाँसें ले रहा है, तुम भी तीव्र उच्छ्वास छोड़ रही हो।' इस प्रकार, विरह की दारुण निविड़ता उभयनिष्ठ है, दोनों ओर समान है। आदर्श दाम्पत्य की कसौटी भी यही है।

यक्ष पूर्वास्वादित सुख की स्मृतियों के उद्वेलन से अत्यंत पीड़ित हो रहा है। मुक्ताजाल से उसके केशों का अलंकरण, अंगों का संस्पर्शन, इत्यादि संयोग-कालीन विनोदों की स्मृति ने यक्ष को उत्कंठा से भर दिया है। अतएव, वह अपनी प्यारी की प्रतिकृति की खोज कर रहा है जिसके संनिकर्ष में उसके वियोग-ताप का थोड़ा उपराम हो सके। यक्ष प्रकृति के राज्य में अपनी दयिता के रूप-सौन्दर्य का अनुसंधान कर रहा है—

"श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥" (उ०, ४६)

—'हे प्रिये! प्रियंगुलता में तुम्हारे कोमल अंग को, चकित हरिणी-नेत्रों में तुम्हारे

कटाक्ष को, चन्द्रमा में तुम्हारे मुख की कान्ति को, मोर-पंखों में तुम्हारे केशों को तथा नदी की कुटिल तरंगों में मैं तुम्हारे भ्रू-विलास को देख पाता हूँ। लेकिन, एक स्थान पर, हे मानिनी! कहीं भी तुम्हारी जैसी छवि के दर्शन नहीं कर पा रहा हूँ।' यक्ष की अधीरता को बढ़ाने वाला प्रधान कारण तो यही है कि कहीं भी उसे ऐसी वस्तु नहीं दिखाई पड़ रही है, जिसमें वह प्रिया के सम्पूर्ण सौन्दर्य को देखकर, अपने विप्रयुक्त मन को कुछ संतोष प्रदान कर सके। वस्तुतः सादृश्य में मनबहलाव करना एक प्रकार की आत्मवंचना ही है, लेकिन प्रणयिजनों को इस प्रवंचना में रस मिलता है और वे इसी व्याज से जीवन के भार को ढोने में समर्थ होते हैं। यक्ष-प्रिया तो विधि की प्राथमिक सृष्टि है जिसमें उसने अपना समग्र कौशल लगा दिया होगा। अतएव, बाद में रचे गये जगती के अन्य पदार्थों में उसके रूप के विभिन्न आकर्षणों का अलग-अलग कुछ आभास तो मिल सकता है, किन्तु उन सबका समवाय तो कठिन ही है—"हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति।"

जब यक्ष बाह्य वस्तुओं में यह अभीप्सित सादृश्य नहीं देखता, तब वह शिलाओं पर गेरू से प्यारी का प्रणयकुपित चित्र बनाने लगता है, किन्तु उस समय उसकी आँखों में आँसू छा जाते हैं और क्रूर दैव वह मिलन भी सम्पन्न नहीं होने देता। स्वप्न में यदि वह कभी मिल जाती है, तो वह उसे भुजाओं में भर लेने के लिए शून्य में बाँहें फैलाता है जिसे देख कर बन-देवियाँ रोने लगती हैं। उसका सन्ताप इतना बढ़ गया है कि वह हिमगिरि से आने वाले शीतल पवन को छाती में भर लेता है, यह सोचकर कि कदाचित् वह पहले प्यारी के अंगों का स्पर्श कर चुका हो। नाना-विध कल्पनाओं में मन रमा कर, यक्ष जीवन ग्रहण कर रहा है, और तदनुरूप ही, प्रिया के लिए उसका मर्मस्पृक संदेश यह है—

"......तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥" (उ० ५२)

—'हे सुहागिनी! तुम भी धैर्य खोकर सर्वथा कातर मत मत बनो। कौन ऐसा है जिसके भाग्य में एकान्त सुख या एकान्त दुःख ही लिखा हो? मनुष्य का भाग्य पहिये की नेमि के समान बारी-बारी से नीचे-ऊपर आता-जाता रहता है।'

इस कथन में प्रणय-कातर हृदय की विवशता मुखर हो उठी है। 'तुम भी अधीर मत हो'—यही तो चिन्ता यक्ष को सता रही है। और, इसीलिए वह नियति-चक्र की याद दिला रहा है। इस 'चक्रनेमिक्रमेण' में यक्ष आशा की दीपशिखा भी अपनी प्रिया को भेज रहा है। जब चार महीने बाद विष्णु शेष की शय्या छोड़कर

उठेंगे, तब वे दोनों विरह-काल में सोची हुई अपनी समस्त अभिलाषाओं को पूरा करेंगे—

"पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं,
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु।"

यक्ष को केवल यही भय है कि कहीं वह कुलांगना उसके प्रति अविश्वासिनी न बन जाय। एतदर्थ, वह प्रेम का यह शाश्वत सन्देश देता है—

"स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।" (उत्तर०, ५५)

—'कितने कहते हैं कि विरह में स्नेह घट जाता है। लेकिन, सचाई यह है कि भोग के अभाव में प्रिय के प्रति अनुराग का रस बढ़ जाता है और प्रेम की राशियाँ संचित हो जाती हैं।'

अर्थात्, अन्ततोगत्वा यक्ष का संदेश प्रेम-राशि के संचय का सन्देश है, परिस्थिति की अवमानना कर स्नेह-दीप के निरन्तर प्रज्वलित रखने का उद्बोधन है। साथ ही, वह अपनी प्राणवल्लभा को यह विश्वास भी दिलाना चाहता है कि वियोग में उसका उसके प्रति प्रेम घटा नहीं, अपितु उपचय एवं उत्कर्ष को ही प्राप्त हुआ है।

यक्ष ने स्वयं नाना-प्रकार से प्रिया को प्रबोध दिया है, लेकिन उसका जीवन भी प्रातःकालीन कुन्द-कुसुम की नाईं शिथिल बन गया है और प्रिया से प्राप्त कुशल-सन्देश से ही वह जीवित रह पाएगा—

"साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः।" (उ०, ५६)

यह उल्लेख्य है कि यक्ष-दम्पती दोनों ही जीवनावलंबन खो चुके हैं और दोनों के लिए एक-दूसरे के कुशल का अभिज्ञान अमृत के समान गुणकारी सिद्ध होगा। 'प्रिय कुशल से रहे', यही तो प्रेम की सबसे बड़ी लालसा है, सबसे बड़ी साधना है।

(३)

कालिदास ने मेघ के लिये रामगिरि से अलका तक के मार्ग का निर्देश तो कर दिया है, लेकिन मेघ किस मार्ग से वापस आएगा इसके विषय में उन्होंने कोई स्पष्ट कल्पना नहीं की। सम्पूर्ण कविता में मेघ के मानसून द्वारा उत्तर की ओर ले जाये जाने का भाव व्याप्त है क्योंकि जून से सितम्बर तक भारतवर्ष में मानसून के बहने की यही दिशा है। जनवरी और फरवरी में पश्चिमोत्तर भारत से गंगा की घाटी होते

हुए जाड़े का मानसून पूर्व-दक्षिण-पूर्व दिशा में बहता है। लेकिन, उस समय आकाश प्रायः निरभ्र रहता है। नहीं तो यह सोचा जा सकता है कि जून में प्रस्थान करने के सात-आठ महीने बाद, जनवरी में मेघ अलका से रामगिरि वापस पहुँचता। लम्बी दूरी और प्राचीन भारत में पर्यटन की मन्दगति का ध्यान रखते हुए, ऐसी दीर्घकालीन यात्रा असंभव नहीं कही जाएगी।

कालिदास ने किन यात्राओं को ध्यान में रखा होगा? यह निश्चित नहीं है कि उस समय भी आज की ही तरह तीर्थयात्री गर्मी के मौसम में ही कैलाश की यात्रा करते होंगे। लेकिन, इतना निस्संदेह है कि ब्राह्मण, बौद्ध, तथा जैन-धर्मावलम्बी साधु सतत पर्यटन करते रहते थे और वर्षा ऋतु में केवल किसी गाँव या मठ में ही विश्राम कर सकते थे। किन्तु साधारण लोग लम्बी तीर्थ-यात्राओं को मन्दिरों में ठहर कर सम्पन्न किया करते थे। महाभारत में ऐसी तीर्थ-यात्राओं का वर्णन मिलता है, और पुराणों में तीर्थयात्रियों के मार्गों तथा उनकी स्थानीय दन्तकथाओं का उल्लेख हुआ है। महाभारत में अर्जुन इत्यादि विजयी वीरों के पर्यटन का भी वर्णन प्राप्य है। रामायण में सुग्रीव ने वानरों को चार भागों में बाँट कर, उन्हें सीता की खोज के लिए चारों दिशाओं में भेज दिया है। कालिदास का पर्यटन-विषयक ज्ञान सभी सूत्रों से गृहीत रहा होगा और मेघ की कैलास-यात्रा में उन्हें इनसे प्रेरणा मिली होगी।[1]

'मेघदूत' पर लगभग ५० टीकायें उपलब्ध हैं। विदेशी विद्वानों ने इसकी भूयसी प्रशंसा की है। सी० ए० किंसेड (C. A. Kincaid) का कथन है कि यह 'किसी भी भाषा में सर्वाधिक विस्मयजनक प्रेम-कविता है।" प्रो० विलसन ने इसकी 'सरल किन्तु, साथ ही, अत्यन्त सुष्ठु एवं परिमार्जित' शैली की परिशंसना की है और मैकनाडेल इसमें उपलब्ध भावों की गहराई तथा प्रकृति के रमणीय चित्रों का प्रशंसक है। किन्तु, सुप्रसिद्ध विद्वान् कीथ ने माना है कि प्रस्तुत कविता संस्कृत साहित्य से यूनानियों की शोकरचना (Elegy) के सर्वाधिक निकट पहुँचती है और देव-कोटि के पात्रों से सम्बद्ध होने के कारण, किञ्चित् अवास्तविक बन गई है। कीथ आगे यह कहते हैं: "यक्ष-दम्पती का विप्रयोग अल्पकालिक है और उसका पुनर्मिलन निश्चित है। इस प्रकार नाटक की विह्वल वेदना आधुनिक मनुष्य को कम मनुष्योचित प्रतीत होती है क्योंकि हमें और बड़े-से-बड़े ग्रीक इतिहास-कार के लिए ईश्वर-प्रदत्त विपदा के सहन का साहस मानव का कर्त्तव्य जान पड़ता है। शिलर की रचना 'मैरिया स्टुअर्ट' में बन्दिनी रानी ने बादलों को यह आदेश दिया है कि दक्षिण की ओर जाते समय उन्हें उस देश को

---

१. Walter Ruben : 'Kalidasa' पृ० २८-२६।

नमस्कार करना चाहिए जहाँ उसने अपने यौवन के आनन्दमय दिन व्यतीत किये हैं। यहाँ शिलर द्वारा मेघों को सन्देशवाहक बनाने की रूढ़ि का अधिक प्रभावशाली ढंग से उपयोग किया गया है। दुर्भाग्य-ताड़ित महिषी यह भलीभाँति जानती है कि अब उसके लिये अपनी सुन्दर मातृभूमि फ्रांस का दर्शन असम्भव है, और इस प्रकार उसकी परिस्थिति सचमुच करुणोत्पादक बन गई है।" कीथ की यह टिप्पणी अनुचित है, क्योंकि कालिदास का उद्देश्य यहाँ शोक-कविता (Elegy) रचने का नहीं था 'रघुवंश' में वर्णित अज-विलाप तथा 'कुमारसम्भव' में वर्णित रति-विलाप शोक-कविता की सीमा में समाहृत हो सकते हैं। किन्तु, 'मेघदूत' की कविता प्रणय-कातर हृदय की अभिव्यक्ति है जिसकी विवशता एवं विह्वलता इसीलिए अधिक बढ़ गई है कि उसका प्रिय-पात्र से विश्लेष केवल शाप-जन्य, और इसी कारण, अस्थायी है। 'शोक-कविता' में प्रिय वस्तु का विछोह स्थायी होता है और इसलिये उसकी पुनः प्राप्ति की सम्भावना का सर्वथा निषेध होने के कारण मनुष्य उस विपत्ति को सहन करने के लिये धीरे-धीरे तैयार हो जाता है। 'मेघदूत' की कविता इस कोटि की नहीं है, और इसलिए इसे 'एलिजी' की कसौटी पर कसना अनुचित एवं असंगत है। पुनः, भारतीय जीवन एवं काव्य में जब प्रवास की यात्रा के समय भी प्रेमी जीव शोक-विह्वलता के आँसू बहाते हैं, तब, यदि यक्ष जैसा सान्द्र प्रणयी प्रिया की याद से विचलित होकर, अपने मर्म-द्रव की धारा बहाने लग गया, तो इसमें सहृदय भावक को क्या आपत्ति हो सकती है ?

'मेघदूत' कालिदास की रसोद्गारि-गिरा का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनुष्य एवं प्रकृति का जो अद्वैत इसमें स्थापित हुआ है, वह साहित्य में एकदम निराला है। उस अद्वैत की प्रतिष्ठा का सूत्र 'काम' निरूपित हुआ है जो सृष्टि के यावत् सम्बन्धों को गीला एवं लचीला बना देता है। 'कामरूप' मेघ और 'कामुक' यक्ष—ये दोनों मिलकर मानो सम्पूर्ण जगती को काम के पावन पीयूष-प्रवाह में निमज्जित कर गए हैं। 'काम' चैतन्य की वृत्ति है, और 'प्रेम' उसका प्रकाश है। इस प्रकाश का स्वभाव ही है राशीभूत होना, तथा चित्त को द्रवित कर वह अमोघ रसायन प्रस्तुत करना जो चेतन एवं अचेतन की द्वैत-भावना को नष्ट कर, समस्त विश्व की धमनियों में समरसता का द्रव प्रवाहित कर देता है। 'मेघदूत' के अमर माधुर्य का रहस्य यही रसायन है!

(६) ऋतुसंहार

(१)

'ऋतुसंहार' महाकवि कालिदास की प्रथम काव्य-रचना है। सुतरां, इसमें उनके अन्य काव्यों में उपलब्ध होने वाली उदाशयता एवं अभिव्यक्ति की चारुता के दर्शन

नहीं होते। यह उनके उद्दाम यौवन के उद्गारों का मंद्र कोष है जो उनकी सहज गीत्यात्मक प्रतिभा का प्रसाद पाकर रस से आर्द्र बन गया है। 'मेघदूत' का माधुर्य अवश्य इसमें वर्तमान नहीं है, लेकिन उसके प्रणयन की भूमिका के रूप में वह काव्य-रसिकों का हृदय-हरण करने में समर्थ है। संस्कृत काव्य में एक-मात्र ऋतुओं पर लिखी जाने वाली रचना 'ऋतुसंहार' ही है। विद्वानों का अनुमान है कि यह तब प्रणीत हुई जब कालिदास को कोई राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ था और उनके रसपेशल पद्यों के लक्ष्यीभूत आस्वादयिता ईसवी संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों के नागरक-वृन्द थे। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' के साधारणाख्य प्रथमाधिकरण के चतुर्थ अध्याय में नागरक-वृन्द अथवा रसिक-जनों की जीवन-चर्या का वर्णन किया है। रसिक पुरुष के निवास-स्थान के अत्यन्त सूक्ष्म कथन के बाद, प्रत्याह्निक एवं नैमित्तिक चर्याओं का विशद विरूपण हुआ है। नैमित्तिक चर्या में जिन पाँच क्रीड़ायोजनों का उल्लेख किया गया है, उनमें 'उद्यानगमन' भी एक है।[1] उस उद्यान-क्रीड़ा के हेतु यह विधान वात्स्यायन ने दिया है—

—"पूर्वाह्न में वैहारक वेशभूषा से सज्जित होकर, घोड़े की सवारी करके, वेश्या, परिचारकों तथा इष्ट-मित्रों के सहित जाना चाहिए और कुक्कुट, लावक तथा मेष के युद्ध, द्यूत तथा कठपुतलियों या नर्तकियों के प्रदर्शन एवं वेश्या के साथ यथोचित व्यवहार का सुखानुभव करके उद्यान में सम्प्राप्त फल-फूलादि लेकर, अपराह्न में वापस आना चाहिए। इसी प्रकार ग्रीष्मर्तु में किसी उद्यान-समीपस्थ या देवालय-समीपस्थ तालाब या वापी में, जिसमें स्वच्छ जल हो, जलक्रीड़ा-गोष्ठी करनी चाहिए।"

इस व्यवस्था को पढ़कर, यह आभासित होता है कि युवक कवि ने नागरक-समुदाय की इस क्रीड़ायोजना से अपने ललित मुक्तकों के प्रणयन में प्रेरणा पाई होगी। प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि ने रसिक विदग्धों को सम्बोधित कर यह कहा है कि यह रमणीय ऋतु आपकी मन की साधें पूरी करे, मन में नई-नई उमंगें भरे, ललित विलासों का सुख आपको प्रदान करे। अतएव, 'ऋतुसंहार' में प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य के साथ कामीजनों के विलास-सुखों का चित्रण भी सम्पन्न हुआ है। यह तो कालिदास की अपनी विशेषता है कि उद्यान-क्रीड़ाओं के व्याज से उन्होंने प्रकृति के स्वतन्त्र अवेक्षण से प्रसूत ललित चित्र भी अंकित किये हैं।

कतिपय पद्यों में कवि ने अपनी प्रिया को भी सम्बोधित किया है। शरद्-वर्णन तथा हेमन्त-वर्णन को छोड़कर, अन्य चार सर्गों का आरम्भ ही प्रिया-सम्बोधन से

---

१. घटानिबन्धन, गोष्ठीसमवाय, समापानक, उद्यानगमन तथा समस्याक्रीड़ा --ये पाँच क्रीड़ाएँ गिनाई गई हैं।

हुआ है। अतएव, यह भी यही संकेत करता है कि प्रकृति का चित्रण कवि के लिए गौण था। मुख्य विषय था तत्कालीन विदग्धवृत्तियों को सहलाना और उत्तेजित करना। यही कारण है कि वाल्मीकि के ऋतु-वर्णन की छाप रखते हुए भी, कालिदास की प्रस्तुत गीति-रचना कभी-कभी नीरस और साधारण सी दिखाई पड़ती है। तथापि; 'ऋतुसंहार' के चित्र, कवि की स्वाभाविक शृंगारिक संवित् के रस में सने होने के कारण, सहृदयश्लाध्यता की कसौटी पर खरे उतरने में असमर्थ नहीं होते।

'ऋतुसंहार' के छः सर्गों में क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर तथा बसंत ऋतु का गीत्यात्मक स्वरों में वर्णन हुआ है। प्रत्येक सर्ग में १६ से लेकर २८ तक श्लोक-संख्या मिलती है। प्रत्येक सन्दर्भ में प्रकृति की स्वतन्त्र छवियों अथवा व्यापारों के, तथा उस ऋतु-विशेष से प्रेमीजनों के मानसों पर पड़नेवाले प्रभावों के चित्र अंकित किये गये हैं।

ग्रीष्म-वर्णन के प्रथम श्लोक में ही, अपनी प्रिया को सम्बोधित करते हुए, कवि ने शिकायत की है कि सूर्य की प्रचंडता वाले काल में कामदेव एकदम शान्त पड़ गया है—"अभ्युपशान्तमन्मथः।" फिर तो, वह उन्मुक्त भाव से काम को जगाने वाले उपचारों का वर्णन करने लग जाता है। चन्द्रमा की चाँदनी, रंग-विरंगे फौवारे, नाना प्रकार के मणि-रत्न, सुगन्धित चन्दन, सुगन्धित जल, मनोहर हर्म्यतल, प्यारी के मुखोच्छ्वास से हिलती हुई मदिरा, वीणा के साथ गाये जानेवाले गीत, ये सभी वस्तुएँ मदन के दीपन-रूप में आवश्यक हैं। प्रेमिकाएँ क्या करती हैं, या उन्हें क्या करना चाहिए—इसे कवि के शब्दों में सुनिये—

"नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्॥" (१।४)
"सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः।
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः॥" (१।८)

—'स्त्रियाँ चन्दनयुक्त शीतल जल से भींगे हुए पंखे की ठंढी बयार से, या मोतियों के हारों की लटकती हुई झालरों से सुशोभित अपने पुष्ट उरोजों के संघर्षण से सोए प्रेमियों को जगाने के बहाने कामदेव को जगाया करती हैं।'

ग्रीष्मर्तु में मदनदेव को सुप्त अथवा उपशान्त बना कर, कवि यों-ही चुप तो रह नहीं सकता था; अतएव, उसने उसके दीपनार्थ उपचारों का कथन भी कर दिया है। तदुपरान्त, कवि की दृष्टि पशु-पक्षियों एवं लता-वीरुधों के संसार की ओर फिरती है, और विलास की वीणा क्वणित करने वाली भारती निदाघ के भीषण ताप में तपे-झुलसे प्राणियों की दयनीय

दशा के चित्रण में निरत हो जाती है। जलते हुए सूर्य की किरणों से झुलसे हुए जिन जंगली पशुओं की जीभ प्यास से सूख गई है, वे भ्रम से उन जंगलों की ओर दौड़े जा रहे हैं जहाँ के अञ्जन के समान नीले आकाश को वे पानी समझ रहे हैं। धूप से झुलसा हुआ सर्प, अपना मुँह नीचे छिपा कर, बार-बार फुफकारता हुआ, मोर की छाया में कुण्डल मारे बैठा हुआ है। हाथियों के पास होने पर भी, सिंह हतोत्साह होकर हाँफ रहा है और जीभ से अपने होंठ चाट रहा है। मोर सर्पों की कुण्डली में धूप से बचने के लिए अपने मुख छिपाए हुए बैठे हैं। जंगली सुअरों का झुण्ड, अपने लम्बे थुथनों से नागरमोथे से भरे बिना कीचड़वाले गड्ढे को खोदता हुआ, मानो उसी में धँसता जा रहा है। धूप से तपे मेढक, गंदले जलवाले पोखरों से बाहर निकल कर, प्यासे सर्पों के फणों के नीचे आकर बैठ रहे हैं। जुगाली करने से जिन भैंसों के मुँह से झाग निकल रहो है, वे मुँह खोलकर लाल-लाल जीभें निकाले, जल की ओर लपकी चली जा रही हैं। पक्षियों, मर्कटों इत्यादि की दशा भी दयनीय हो गई है। सम्पूर्ण वन-प्रदेश ग्रीष्म की जलती हुई आग में झुलस रहा है। कवि ने ताप की प्रचण्डता की व्यञ्जना यह कह कर की है कि पशु अपनी निसर्गसिद्ध शत्रुता बिलकुल भूल गये हैं—

"गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसन्तप्तदेहाः सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षाद्विपुलपुलिनदेशां निम्नगां संविशन्ति ॥" (१।२७)

—'अग्नि से व्याकुल हाथी, बैल तथा सिंह आज मित्र बन कर, साथ-साथ, एकत्र होकर घास के जंगल से झटपट निकल आये हैं और नदी के विस्तृत तटों पर विश्राम कर रहे हैं।'[१]

नागरकों के मनोरञ्जनार्थ रचना करने वाला कवि ग्रीष्म के प्रभाव का जैसा चित्रण कर गया है, वह बिम्ब-ग्रहण कराने की क्षमता से पूर्ण है। बाद को लिखे गये काव्य 'रघुवंश' के सोलहवें सर्ग में भी ग्रीष्म-वर्णन हुआ है, किन्तु 'ऋतुसंहार' के ग्रीष्म-वर्णन से आगे वह नहीं जा सका है।

वर्षा का स्वागत कवि ने राजा के रूप में किया है। वह प्रिया से कहता है: "देखो प्यारी! जल-सीकरों से भरे हुए बादलों के मतवाले हाथी पर चढ़ा हुआ, चमकती हुई बिजली की पताकाओं को फहराता हुआ तथा मेघों की गर्जन का नगाड़ा बजाता हुआ, कामियों का प्यारा यह पावस राजाओं का-सा साज सजा कर आ पहुँचा है।" इस प्रसंग में कवि ने आलम्बन और उद्दीपन, दोनों भावों से वर्षा के

---

१. मिलाइये—"कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत् तपोवन सौं कियौ दीरघ दाघ निदाघ ॥" (बिहारी)

चित्र अंकित किये हैं। उसका निरीक्षण प्रशंसनीय है। बादलों को कहीं नितान्त नीले कमल के पत्रों की कान्तिवाले, कहीं गर्भिणी के स्तनों के समान पीले तथा कहीं घुटे हुए अञ्जन की राशि के समान काले बताया गया है।[1] बिखरी हुई वैदूर्यमणि के समान दिखाई पड़ने वाली कोमल घास के अंकुरों से भरी हुई, ऊपर निकली हुई कन्दली के दलों से आकीर्ण तथा वीरवधूटियों से छाई हुई पृथिवी उस नायिका के समान शोभा दे रही है जो धवल रत्नों को छोड़कर अन्य सभी रंगोंवाले आभरणों से सजी हुई है—

"प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः[2] ॥" (२।५)

ग्रीष्म-वर्णन की भीषणता की पीठिका में वर्षा का चित्र अत्यन्त स्फूर्तिमय एवं नवोल्लास से गर्भित प्रतीत होता है। नदियों, पशु-पक्षियों तथा वनस्पति-संसार में नया जीवन संचरित हो गया है। मोर मोरनियों को चूमते नाच उठे हैं, नदियाँ तटीय द्रुमों को ढहाती हुई, मटमैले पानी की बाढ़ से समुद्र की ओर दौड़ती आ रही हैं; कर्ण-मधुर ध्वनियाँ करते हुए भ्रमर पत्र-पुष्प-हीन नलिनियों को छोड़ कर, नाचते हुए मोरों के खुले पंखों को भूल से नया कमल जान कर, उन्हीं पर टूटते जा रहे हैं, वन में चारों ओर खिले कदम्ब के फूल ऐसे लग रहे हैं जैसे वर्षा के नवजल से ताप शमित हो जाने पर, जंगल मग्न हो उठा हो; पवन से हिलती शाखाओं को देखकर ऐसा भासित होता है मानो जंगल हाथ मटका-मटका कर नाच रहा हो; केतकी की उजली कलियों को देख कर, ऐसा जान पड़ता है जैसे जंगल खिलखिला कर हँस रहा हो। यही क्यों, पावस प्रेमी, अपनी प्रेमिका के शृङ्गारार्थ, जुही की नूतन कलियों तथा मालती और मौलसिरी के कुसुमों की माला गूँथता है और नये कदम्ब के फूलों का कर्णफूल बना रहा है—

"शिरसि बकुलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च।
विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ॥" (२।२५)

मदन के राज्य में तो पावस का विशेष महत्त्व है। एक ओर तो इन्द्रधनुष तथा बिजली के चमकते पतले धागों से सजी हुई और पानी के भार से झुकी हुई काली घटायें, तथा दूसरी ओर करधनी एवं रत्नजटित कुण्डलों से सजी हुई ललितांगनायें

---

१. सर्ग २, श्लोक २।

२. 'बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥"
—वाल्मीकीय रामायण, ४।२८।२४

दोनों ही युगपत् प्रवासियों के मन हरण कर लेती हैं। 'कामिनियों के केतकी, कदम्ब प्रभृति पुष्पों से शृङ्गार-रचना करने तथा नितम्ब पर केश लटकाए, पीन पयोधरों पर मोतियों की मालायें पहनने तथा मदिरापान से अपने प्रेमियों के मनों में काम जगाने की चेष्टा करने का कथन हुआ है। बादलों की गड़गड़ाहट सुनकर, चन्दनचर्चित अङ्गों वाली तरुणियाँ तो बड़े-बूढ़ों के पास से हटकर शय्यागृह को चली जाती हैं, लेकिन जब उनकी मनोहर त्रिवलियों पर वर्षा-जल की फुहारें पड़ती हैं, तो उससे उनकी रोमराजि खड़ी हो जाती है—

"नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजीं ललितवलिविभंगैर्मध्यदेशैश्च नार्यः।"

(२।२६)

'ऋतुसंहार' का प्रावृड्वर्णन 'मेघदूत' के चित्रों की तुलना में नीरस प्रतीत होता है। कल्पना का लालित्य जो 'पूर्वमेघ' की, तथा पावस के सन्दर्भ में उत्थित होने वाली प्रणयोद्वेजना जो 'उत्तरमेघ' की सम्पदा है, प्रस्तुत वर्षा-वर्णन में उपलब्ध नहीं है। तथापि, पावस-प्रेरित प्राकृतिक छवियों के जो विशुद्ध चित्र अङ्कित हो गये हैं वे कवि की अन्य प्रौढ़ रचनाओं में दृष्टिगोचर नहीं होते—यह अन्य बात है कि उनमें कल्पना-लालित्य एवं शृङ्गारी-चेतना की निविड़ता की अधिक प्रभविष्णु विज्ञप्ति हुई है। उदाहरणतः यहाँ कवि ने 'नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजीं' का ही कथन किया है, लेकिन 'कुमारसम्भव' में तपःपरायणा पार्वती के शरीर पर गिरने वाले वारि-बिन्दुओं के वर्णन में निरीक्षण अधिक सूक्ष्म एवं शृङ्गारिक बन गया है—

"स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥" (५।२४)

बरसाती मटमैला पानी किस वक्र गति से बह रहा है, इसका चित्र प्रस्तुत प्रावृड्वर्णन में यों चित्रित है—

"विपांडुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद्वक्रगतिप्रसर्पितम्।
ससाध्वसैर्भेककुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम्॥" (२।१३)

—'छोटे-छोटे कीड़ों, धूल एवं घास-पात से संयुक्त मटमैला पानी, सर्प के समान टेढ़ी चाल से आता हुआ, ढाल से नीचे उतर रहा है जिसे देख कर मेढक सर्प के भ्रम से भयभीत हो रहे हैं।' स्पष्ट है कि युवक कवि का यह चित्र निरीक्षण से उद्भूत हुआ है।

शरद्-वर्णन में भी निरीक्षण एवं ललित कल्पना से समन्वित चित्र उपलब्ध हैं। पावस यदि राजाओं की साज-सज्जा में आया है, तो शरद् रूपरम्या नववधू के वेश में आ गई है, जो फूले हुए काँस की साड़ी पहने, मतवाले हंसों के कलरवों के

बिछुए धारण किये, पके हुए धान से चारु शरीर वाली तथा खिले कमलों जैसे मनोज मुख वाली, लोगों के चित्त हरण कर रही है—

"काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नवधूरिव रूपरम्या॥" (३।१)

काँस की झाड़ियों ने धरती को, चन्द्रमा ने रातों को, हंसों ने नदियों के जल को, कमल ने तालावों को, कुसुमों के भार से अवनत छतिवन के वृक्षों ने वनों को तथा मालती के फूलों ने उपवनों को शुभ्र बना दिया है। वर्षा ऋतु में जो नदियाँ प्रेमान्ध, दुष्ट स्त्रियों के समान तट-द्रुमों को अपने बड़े वेग से ढहाती हुई, गँदले पानी से युक्त, समुद्र की ओर निरंकुश-गति से चलती जा रही थीं, वे ही अब हार और मेखला से युक्त ललित नितम्बों वाली प्रमादाओं से स्पर्धा करने लग गई हैं—

"चञ्चन्मनोज्ञशफरीरसनाकलापाः पर्यन्तसंस्थितसिताण्डजपङ्क्तिहाराः।
नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य।" (३।२)

—'नदियाँ मतवाली कामिनियों के समान मन्द गति से संचरण कर रही हैं। उछलती हुई मनोज्ञ मछलियाँ मानो उनकी किंकिणियाँ हैं, तट पर बैठे श्वेत पक्षियों की पंक्तियाँ मानो उनकी मालायें हैं और ऊँचे टीले मानो उनके पुष्ट नितम्ब हैं।'

कवि की दृष्टि प्रकृति के राज्य में उन सभी पदार्थों एवं स्थलों पर गई है जो शारदीय छवियों से किसी-न-किसी प्रकार भ्राजित हो रहे हैं। त्यक्ताम्बु पवन-प्रेरित पयोद रजत, शंख एवं कमल की शुभ्र दीप्ति धारण किये आकाश में ऐसे प्रतीत हो रहे हैं जैसे किसी राजा के ऊपर सैकड़ों चवँर डुलाए जा रहे हों। घुटे अञ्जन की पिंडी जैसे नीले आकाश, बन्धूक कुसुमों से लाल बनी पृथिवी तथा पके हुए धान से लदे खेत युवकों के मन को हिला दे रहे हैं। अन्न-भरी बालियों से झुके धान के पौधों को कँपाता हुआ, फूलों से लदे हुए मनोहर विटपों को नचाता हुआ तथा विकच कमलों से भरे सरोवरों की कमलिनियों को हिलाता हुआ शीतल पवन तरुणों के मन झकझोर रहा है। नाचने का अभ्यास छोड़ देने वाले मयूरों को छोड़ कर, कामदेव अब उन हंसों के पास चला गया है जो अपने कलरवों से मधुर गीत गा रहे हैं, और फूलों की सुन्दरता भी कदम्ब, कुटज, अर्जुन, सर्ज एवं अशोक के वृक्षों को छोड़ कर छतिवन के पेड़ों पर जा बसी है। जहाँ खेतों में धान के पौधे लहरा रहे हैं, जहाँ घास के मैदान में अगणित गायें चर रही हैं, जहाँ अनेक सारसों तथा हंसों के जोड़े मीठी बोली बोल रहे हैं, वैसे स्थान लोगों के मनों में प्रमोद की सृष्टि कर रहे हैं।

पशु-पक्षियों एवं कुसुम-विटपों में जो अभिनव सौन्दर्य-श्री सन्निविष्ट हो गई है,

उससे कवि-चित्त अधिक आकृष्ट हुआ है। उसकी भीतरी प्रतिक्रियाएँ यों मुखरित हुई हैं—

"इन दिनों हंसों ने सुन्दरियों की मनभावनी चाल को, कमलिनियों ने उनके चन्द्रमुख की चमक को, नीले कमलों ने उनकी मदभरी आँखों को तथा लघु तरंगों ने उनकी भौंहों के कुटिल विलास को परास्त कर दिया है। कुसुम-भार से झुकी टहनियों वाली हरित लताओं ने स्त्रियों की भूषण-भूषित भुजाओं की कांति छीन ली है और कंकेलि तथा नई मालती के सुन्दर फूलों ने दाँतों की चमक से खिल उठने वाली रमणियों की मुसकान की चमक को लज्जित कर दिया है। स्त्रियाँ अपने नितान्त घन-नील विकुञ्चित केशों में मालती के नये फूल गूँथ रही हैं और अपने जिन कानों में सुरम्य कुण्डल पहनती थीं, उनमें उन्होंने नाना प्रकार के नीले कमल लटका लिए हैं।[1] इस कथन में कवि का अभीष्ट अलंकार-चारुता का सन्निवेश नहीं है, अपितु यह उसकी शारदीय सुषमा के प्रति आन्तरिक प्रतिक्रिया की व्यंजना है।

शारदीय विभावरी की शोभा सभी सहृदयों को सहलाने में सदा समर्थ होती है। चन्द्रतारकावकीर्ण व्योम को कवि ने वैसे तालाब से उपमित किया है जिसमें मरकत-मणि की चमक वाला जल भरा हो, जिसमें राजहंस बैठे हों तथा यत्र-तत्र अनेक कुमुद खिले हुए हों। चन्द्रिका-चर्चित रजनी में कवि प्रतिदिन बढ़ती हुई नवल अलबेली बाला के दर्शन करता है क्योंकि मेघमुक्त चन्द्रमा उसके मोहक मुख के समान, तारे आभूषणों के समान और ज्योत्स्ना श्वेत साड़ी के समान भ्राजित हो रहे हैं।[2] चन्द्रास्त होने पर संकुचित होने वाले कुमुदों में प्रोषितपतिका वधू की हतप्रभ मुख दीप्ति तथा प्रातःकाल बालरवि की मरीचियों से खिलने वाले कमल में रूप-शालिनी युवती की मुखाभा की प्रतीति कवि के शारदीय रजनी के प्रति सहज आकर्षण की विवृति करता है।[3]

शरद् की अर्थवत्ता तब तक पूर्ण एवं सहृदय-श्लाघ्य नहीं बनती, जब-तक प्रणय-राज्य में भी वह मधुर उद्वेजनाओं को जन्म नहीं देती। परवर्ती कवियों ने प्रकृति की सुषमाओं का जो उद्दीपनवत् वर्णन किया है, वह काव्य-रसिकों को प्रायः खटकने लगता है। कालिदास ने कैसे कान्ता-सम्मित ढंग से शरद् की प्रणय-व्यंजना का कथन किया है, उसे निम्नोद्धृत पदों में देखिये—

"असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु, क्वणितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु।

---

१. तृतीय सर्ग, श्लोक १७, १८, १९
२. वही, श्लो० २१, ७
३. वही, श्लो० २५

अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः ॥(३।२६)
स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशांकलक्ष्मीं काम्यं च हंसवचनं मणिनूपुरेषु।
बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्रीः ॥"(३।२७)

—'जब परदेस में गये हुए लोग नीले कमलों में अपनी प्रियतमा की काली आँखों की सुन्दरता देखते हैं, मस्त हंसों के मधुर कलरवों में उनकी कनककांची की रुनझुन सुनते हैं तथा बन्धुजीव के फूलों में उनके अधरों की अरुण शोभा देखते हैं, तब वे सुध-बुध भूलकर विलखने लगते हैं।

शरद् की शोभा कहीं तो चन्द्रमा की चमक को छोड़कर स्त्रियों के मुख में चली गई है, कहीं हंसों की मीठी बोली छोड़कर उनके मणि-नूपुरों में प्रवेश कर गई है और कहीं बन्धूक-पुष्पों की रक्तिमा को छोड़कर नारियों के मनोहर अधरों में जा बसी है।'[1]

संभोग अथवा विप्रलंभ शृंगार में शरद् ऋतु का उद्दीपन जब ऐसी सहज भंगिमा में चित्रित होवे, तब काव्यरसिक सहृदयों को वह ठेस नहीं पहुँचेगी जो रस-हीन एतादृश प्रौढोक्तियाँ, उनके निर्मल चित्तों में उत्पन्न करती हैं। कालिदास का शरद्-वर्णन, हमारी समझ में 'ऋतुसंहार' का सर्वश्रेष्ठ अंश है।

हेमन्त और शिशिर के वर्णन साधारण प्रतीत होते हैं। वस्तुतः नागरक कवि इन ऋतुओं का सौंदर्य देख ही नहीं सकता था। रति-विलास के अचमत्कारी चित्रों का ही अनुपात यहाँ बढ़ा है। हेमन्त में जौ-गेहूँ के नये अंकुरों, लोध के फूलों, पके धानों तथा पीली प्रियंगुलता का दृश्य ही कवि को दिखाई पड़ा है। सुरतोत्सव मनाने वाली प्रमदाओं के सुख-विलास की भूमिका में ही हेमंत-वर्णन का पृथुलांश नियोजित हुआ है। प्रातःकाल घास पर फैली हुई ओस की बूँदों को देख कर, कवि कल्पना करता है कि मानो युवतियों के पीनस्तनों के दर्शन से सुख पानेवाला शीतर्तु उन स्तनों को प्रेमियों के हाथों द्वारा मर्दित किये जाने के खेद से दुखी होकर, आँसू बहा रहा है।[2] स्पष्ट है कि इस कल्पना में वह सहज सौंदर्य नहीं है जो सहृदय-चित्त को

---

१. मिलाइए—

"श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥"
—उत्तरमेघ, ४६।

२. चतुर्थ सर्ग, श्लोक ७

आकृष्ट कर सके। दन्तच्छदों एवं स्तनों पर उभरे नख-क्षतों का कथन कर रम्यांगनाओं के सुरतोपभोग की सूचना कराई गई है।[1] रतिसुख-गर्विता कामिनियों के उपचारों का कथन हुआ है, और एक वनिता को, जो हाथों में दर्पण लिए हुए मुँह का शृंगार कर रही है, अपने उन ओठों को खींच-खींच कर देखती चित्रित किया गया है जिनका रस प्रियतम ने भरपूर पी लिया है और जिन पर अपने दाँतों के घाव बना दिये हैं—

"दन्तच्छदं प्रियतमेन निपीतसारं दन्ताग्रभिन्नमवकृष्य निरीक्षते च।" (४।१४)

शिशिर का वर्णन तो जैसे पूरा-का-पूरा भोग-विलास का आख्यान है। रति एवं सुरतान्त के चित्र विविध-भाव से अंकित हुए हैं। जैसे हेमंत में 'परस्परांगव्यतिषंग-शायी शेते जनः कामरसानुविद्धः' का कथन हुआ है, वैसे ही शिशिर में 'विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः' का चित्रण किया गया है। अन्तिम श्लोक में कवि ने मानो शिशिर को सूत्ररूप से व्याख्यायित कर दिया है—

"प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः प्रबलसुरतकेलिर्जातकन्दर्पदर्पः।
प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुः शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम्॥" (५।१६)

— जिस शिशिर ऋतु में मिठाइयाँ प्रचुरता से मिलती हैं, स्वादिष्ट चावल एवं ईख चारों ओर शोभा देते हैं, लोग सुरत-केलि में डूब जाते हैं, मदन का दर्प अत्यधिक बढ़ जाता है तथा प्रियजनों से विश्लेषित व्यक्ति अत्यन्त संतप्तचित्त होकर समय काटते हैं, वह ऋतु आप लोगों का कल्याण करे।'

वसंत-वर्णन में कालिदास ने सर्वाधिक मनोयोग का परिचय दिया है। श्लोकों की संख्या अड़तीस तक पहुँच जाती है। किन्तु, इस संदर्भ में कवि ने प्रकृति की सुषमा के स्वतंत्र चित्र अंकित नहीं किये हैं। कुल छः-सात श्लोक ही ऐसे हैं जिनमें पलास, पवन, भौंरों इत्यादि का निरपेक्ष चित्रण हुआ है। अन्यथा सभी श्लोकों में वासन्ती पदार्थों के मानव-मनों पर पड़ने वाले प्रभाव का ही कथन किया गया है। आरम्भ में ही सुरत-व्यवसायियों के मनों को वेधने वाले के रूप में 'वसंतयोद्धा' का स्वागत किया गया है जो फूली हुई आम्र-मंजरियों का तीक्ष्ण बाण लेकर तथा अपने धनुष पर भौंरों की डोरी चढ़ा कर उपस्थित हो गया है—

"प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः।
मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसंगिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये॥" (६।१)

अतएव, वसन्त के मदनोद्दीपक स्वरूप की व्यंजना ही कवि का प्रधान अभीष्ट

---

१. वही श्लोक ६, १३, १७

है। इसी कारण, यदि वसंतागम से वृक्ष पुष्पयुक्त हो गये हैं, सलिल कमलों से आकीर्ण हो गया है, पवन सुरभित हो गया है, दिन रम्य एवं संध्याएँ सुहावनी बन गई हैं तो स्त्रियाँ भी काम-युक्त बन गई हैं—'स्त्रियः सकामाः।' वसंत ने वापियों के जलों को, मणि-निर्मित मेखलाओं को, चान्द्र ज्योत्स्ना को, प्रमदाओं को तथा मंजरियों से लदे आम वृक्षों को, सभी को एक साथ नये भाग्योदय का संदेश दिया है। लाल-लाल कोंपलों के गुच्छों से झुके हुए और सुन्दर मंजरियों से लदे रसाल जब पवन के झोंकों से हिलने लगते हैं, तब अंगनाओं के मानस उमंग से उछलने लगते हैं। अशोक के जिन वृक्षों में नई कोंपलें फूट आई हैं और जिनमें मूँगे जैसे लाल फूल खिल गये हैं, उनको देखते ही नव-युवतियों का हृदय शोक से भर जाता है। अपनी प्रियाओं के सुन्दर वदनों पर रीझे हुए प्रेमियों के हृदयों को, सुग्गे की ठोर के समान लाल टेसू के फूलों ने अथवा कनेर के कुसुमों ने तो पहले से ही दग्ध कर दिया था, अब यह कोयल पुनः अपनी मधुर काकली से उनके प्राणों को मार रही है। कामिनियों की हँसी के समान उज्ज्वल कुन्द-कुसुमों से चमकते हुए उपवन जब मोह-माया-विमुक्त मुनियों के मन भी हर लेते हैं, तब नवतरुणों के राग-मलिन चित्तों की दशा क्या पूछनी है—

"चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥" (६।२५)

वसंत के उद्दीपन का प्रभाव पथिकों पर इतनी गहराई से पड़ता है कि आम के पेड़ों को देखकर वे नेत्र बंद कर रोने-बिलखने लगते हैं और हाथों से नाक बन्द कर लेते हैं कि मंजरियों की महक नाक में पहुँच कर प्रेमिका की याद न दिला दे—

"नेत्रे निमीलयति रोदति याति शोकं घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः ॥" (६।२८)

कालिदास के ऋतुवर्णन में उन ऊहाओं का एकान्त अभाव ही है जो उत्तर-कालीन प्रेम-काव्यों में दृष्टिगोचर होती हैं। लेकिन, इन ऊहात्मक उड़ानों के बीज यत्र-तत्र वर्तमान कहे जायेंगे—'कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्ति' पुरुषों का आँख-कान बन्द कर रोने-बिलखने लगने वाला चित्र चमत्कार से ही प्रेरित समझा जायेगा।

अधिकांश पद्यों में प्रमदाओं की विलास-रचना का कथन हुआ है। जूड़ों में चम्पे के फूलों को गूँथना, कानों में कनेर के फूलों को लटकाना, नीली घुँघराली लटों में अशोक के फूल एवं नवमल्लिका की कलियों को खोंसना, स्तनों पर धवलचन्दनसे भींगे मोतियों के हार पहनना, नितम्बों पर कुसुम्भ के अरुण कुसुमों से रँगे महीन कपड़े की चोली धारण करना, मुखों पर बेलबूटे बनाना तथा गोरे स्तनों पर प्रियंगु, कालीयक

एवं कुंकुम के घोल में कस्तूरी मिलाकर चंदन का लेप करना इत्यादि उपचारों का वर्णन किया गया है। कतिपय श्लोकों में कामिनियों की विलास-चेष्टाओं के चित्र खींचे गये हैं। इन सभी चित्रों में कोई लालित्य अथवा वैदग्ध्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

तथापि, अन्य प्रसंगों के समान वसंत-वर्णन में भी दो-चार श्लोक ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें कवि की रसीली चेतना का मंद्र स्फुरण हुआ है। आग की लपटों के समान दिखाई पड़ने वाली कुसुमान्वित शाखाओं से युक्त पलास-वृक्षों से ढकी पृथ्वी को लाल साड़ी पहने हुई नववधू से उपमित करना ('रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः') ललित चित्र है। वसंत को कवि ने 'शृंगारदीक्षागुरु' बताया है और इसी कारण, कामिनियों को नानाभाव से लजाता हुआ उसे चित्रित किया है—

"परभृतकलगीतैर्ह्लादिभिः सद्वचांसि स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः।
करकिसलयकान्ति पल्लवैर्विद्रुमाभैरुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम्॥"(६।३१)

—'इस समय कोयल के आह्लादकारी गीत सुनाकर, यह वसंत सुन्दरियों की रस-भरी वाणियों की हँसी करा रहा है; कुन्द के फूलों की चमक दिखाकर मुसकान से दीप्त हो उठने वाले उनके दाँतों की दमक का उपहास कर रहा है और मूँगे जैसे लाल-लाल पल्लवों की लाली दिखा कर, उन कामिनियों की कोमल हथेलियों को निरादृत कर रहा है।'

वसंत मदन का मित्र है और कामदेव शरीर-हीन होने पर भी लोकजेता है। ऐसे कुसुमायुध मदन के रसायनों का कथन कर, कवि ने काव्य-कामियों को ही जीतने का उपक्रम किया है—

"रम्य प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः।
मत्तालियूथविरुतं निशि सीधुपानं सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य॥" (६।३५)

—'रमणीय संध्या, प्रस्फुटित चन्द्रिका, कोयल की काकली, सुरभित पवन, मतवाले भ्रमरों का गुञ्जन तथा रात में वारुणी-पान, ये सभी कुसुम-बाणों को धारण करने वाले भगवान् कामदेव के उद्दीपक रसायन हैं।'

(२)

रॉइडर (A. W. Ryder) की यह टिप्पणी है कि "-'ऋतुसंहार' का वर्णन वस्तून्मुख नहीं है, अपितु वह प्रत्येक ऋतु द्वारा प्रेमियों के हृदयों में उद्रिक्त भावनाओं से सम्बद्ध है। वस्तुतः प्रस्तुत कविता को 'प्रेम का तिथिपत्र' (Love's Calendar) कहा जा सकता है।" लेकिन, यह मूल्यांकन युक्तिसंगत नहीं है। इस रचना में वस्तु-

निष्ठ एवं आत्मनिष्ठ, दोनों प्रकार के गुण वर्तमान हैं; यह प्रकृति की मानवीय भावनाओं का पुछल्ला मात्र ही प्रदर्शित नहीं करती। प्रो० मैकडोनाल्ड का यह कथन अतीव उचित है : प्रकृति की रमणीयताओं के सजीव चित्रणों में, जिनमें प्रणय-मूलक दृश्य बिखरे हुए हैं, कवि ने अत्यन्त निपुणतापूर्वक मानवीय भावों की अभिव्यक्ति को भी जोड़ दिया है। कदाचित् कालिदास की कोई भी अन्य रचना प्रकृति के प्रति उनके अनुराग को, अवेक्षण की उनकी तीव्र शक्तियों को और नितान्त सजीव एवं चमकीले रंगों से युक्त भारतीय भू-दृश्य (Landscape) का चित्रण करने में उनके नैपुण्य को इतनी आकर्षकता के साथ अभिव्यक्त नहीं करती।" शेक्सपियर के समान कालिदास के लिए भी प्रकृति एक ऐसा चौखट थी जिस पर मानवीय प्रेम के उनके चित्र स्थापित किये जा सकें। कालिदास ने मानव-जीवन के नाटक को प्रकृति के दृश्यों से आवृत कर दिया है। शेक्सपियर के समान प्रकृति उन्हें बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक की अपेक्षा रागात्मक धरातल पर ही आकर्षित करती है। तथापि प्रकृति के सामान्य तथ्यों की उनके द्वारा अवहेलना नहीं होती। कालिदास मानव-जीवन के साथ प्रकृति को, बुद्धि अथवा आत्मा की कड़ी से नहीं, अपितु राग को कड़ी से जोड़ना चाहते हैं। अतएव, प्रकृति के मानवभाव-सापेक्ष रागात्मक वर्णन में प्रेम अवश्य ही प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि प्रकृति के विविध दृश्यों का चित्रण करते समय प्रमदायें तथा कामिनियाँ आगे बढ़ आती हैं और कवि संयोग एवं विप्रयोग में प्रेमियों की अनुराग-प्रवण मनोदशाओं पर प्रत्येक ऋतु के पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन करने लग गया है। महर्षि अरविन्द की ये अभ्युक्तियाँ उल्लेख्य हैं—

"अपनी समस्त त्रुटियों के बावजूद आलोच्य रचना समसामायिक काव्यानुरागियों के लिए उसी स्फूर्ति एवं उल्लास की संवाहिका बनी होगी जो आकाश में नवीन सूर्य के उदय से प्रभूत हो सकता है। इसकी भव्य शैली एवं छन्दोयोजना ने, इसकी शक्ति, ऊष्मा एवं प्रभविष्णुता ने तथा इसकी सामान्य सम्भावना और कुछ सीमा तक, प्रथम कोटि की काव्यगत प्रतिभा के वास्तविक निदर्शन ने इसे प्रथम कक्षा की महिमा से गर्भित साहित्यिक घटना बना दिया होगा। ऐन्द्रियता का आस्वाद इस काव्य की साहसिक विशेषता है। आनन्दवादी सभ्यता के इस पैगम्बर ने अपने उपादानों को पूर्ण दृढ़ता एवं निश्चय के साथ पकड़ा है। प्रकृति में प्राप्य ऐन्द्रिय जीवन का सजीव एवं सशक्त अनुवचन, तथा सौन्दर्य की महत्ता से पूर्ण मानव-जीवन के तत्त्वों को ऐन्द्रिय आलोक में प्रेक्षित कर, उन्हें रस-स्निग्ध पदावली में अभिव्यक्ति प्रदान करना—यही कालिदास की प्रथम और अन्तिम रचना की महत्ता रहा है। अभी वे प्रकृति के बाह्य स्वरूप तथा मानव-शरीर के सौन्दर्य, राग एवं आनन्द

के चित्रण में ही व्यस्त हैं। लेकिन, अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना 'कुमारसम्भव' तक पहुँचने के लिए उन्हें ऐन्द्रिय एवं काव्यात्मक अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के जिस लम्बे राजपथ की यात्रा करनी पड़ी है, उस पर यह रचना प्रथम आवश्यक कदम है।"

'ऋतुसंहार' के कालिदास की कृति होने में संदेह व्यक्त किया गया है—इन कारणों से कि उनमें कवि के अन्य ग्रन्थों की छवियों के दर्शन नहीं होते और न तो मल्लिनाथ ने इस पर टीका ही की है और व परवर्ती आचार्यों ने अपने रीति-ग्रंथों में इसके पद्यों को उद्धृत ही किया है। लेकिन ये तीनों आपत्तियाँ दुर्बल हैं। मल्लिनाथ ने इसकी सरलता के कारण इसकी टीका नहीं लिखी होगी और अलंकार-शास्त्रियों ने इसके पद्यों को इसलिए उदाहरण-रूप में उद्धृत नहीं किया होगा कि उनके सामने कवि के अधिक परिपक्व एवं महत्त्वमय काव्य विद्यमान थे। किसी भी महान् कवि को, अपनी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों को प्राप्त करने के पूर्व, आरंभिक सोपान अतिक्रान्त करने पड़ते हैं क्योंकि उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन क्रमिक रूप में हुआ करता है। शेक्सपियर की प्रौढ़ कृतियों में जिस समर्थ एवं शक्ति-शाली कला का सौरभ फूट पड़ा है, वह उसकी आरंभिक रचना 'Rape of Lucrece' (ल्यूक्रिसी का सतीत्व-हरण) में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार 'ऋतुसंहार' में 'रघुवंश' अथवा 'शाकुन्तल' की कला का अनुसंधान करना अनुचित एवं अन्याय्य है। तथापि, सावधान पाठक को यह समझने में देर नहीं लगती कि कवि की समर्थ सरस्वती, विभिन्न ऋतुओं के चित्र अंकित करने में, अपने भावी विकास का पथ प्रशस्त कर रही है।

प्रथम रचना होने के कारण, 'ऋतुसंहार' में कालिदास की काव्य-भारती की सुपरिचित रमणीयता के दर्शन नहीं होते। हृदय की मधुर हलचलों की मर्म-ग्राही अभिव्यक्ति तथा प्रकृति की रम्यताओं का ललित चित्रांकन, जो 'मेघदूत' के अमर माधुर्य का रहस्य है, अथच कल्पना का चमत्कारी मार्दव, जो कवि की रसान्वेषी प्रतिभा के रसायन में लिप्त होकर, उसकी सभी अन्य रचनाओं में अपूर्व 'तद्विदाह्लादकारित्व' की सृष्टि करता है - निश्चय ही, ये सब गुण 'ऋतुसंहार' में प्रापणीय नहीं है, कवि ने स्वभावोक्ति की ओर ही विशेष रुचि दिखाई है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक इत्यादि अलंकारों का यद्यपि कई स्थलों पर सुन्दर प्रयोग हुआ है, तथापि वाणी-शृंगार का वह समृद्ध वैभव जो उसके प्रौढ़ि-कालीन काव्यों में अवतीर्ण हुआ है, प्रस्तुत रचना में उपलब्ध नहीं है। पंडितों का कथन है कि अर्थान्तरन्यास जैसे ललित एवं मधुर अलंकार का एक भी उदाहरण इसमें खोजा नहीं जा सकता। ध्वनि का अभाव भी उन्हें खटकता है तथा पुनरुक्ति, च्युतसंस्कृति प्रभृति कई दोषों की ओर भी उन्होंने

संकेत किया है। लेकिन सब कुछ कह लेने के बाद भी 'ऋतुसंहार' का अपना महत्त्व है। उसके सीधे-सादे चित्र, उसकी प्रवाहमयी प्रासादिकता, अनेक स्थलों पर उपलब्ध कवि के निरीक्षण की सटीकता, अपने अभ्यस्त परिवेश को लाँघ कर प्रकृति की ऋतुगत छवियों का आकलन तथा उसकी रसजीवी अन्तश्चेतना की स्फुट झलकें— इन सभी तत्त्वों के सन्निवेश से भारतीय प्रकृति की विविधरूपा छवियों एवं उनके संदर्भ में बदलने वाली शिष्ट रसिक-समुदाय की जीवन-चर्याओं का गान करनेवाला प्रस्तुत काव्य-गीत 'दीप-शिखा' कालिदास के काव्य-संसार में विहार करने के अभिलाषी रसाभ्यासियों के लिए मूल्यवान् दीपक की भूमिका सम्पन्न करेगा। 'ऋतुसंहार के लिए श्री हर्ष का 'निसर्गोज्ज्वल' विशेषण सार्थक प्रतीत होता है। श्रीहर्ष ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'नैषधचरित' को बारंबार 'निसर्गोज्ज्वल' कहा है, यद्यपि यह विशेषण उस ललित-जटिल काव्य के लिए उचित नहीं समझा जाएगा।

(७) संस्कृत नाटक : उद्भव और विशेषताएँ

भारत में नाट्य-कला का प्रयोग अत्यंत प्राचीन काल से होता आया है। इसके सूत्र वैदिक काल से ही वर्तमान मिलते हैं। ऋग्वेद के सूक्तों में सोम-विक्रय के समान होने वाले एक प्रकार के मनोरंजनात्मक अभिनय का उल्लेख प्राप्त होता है। 'महाव्रत-स्तोत्र' के अवसर पर कुमारियाँ अग्नि की परिक्रमा करती हुई नाचती-गाती दिखाई गई हैं। ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों में नाटकीय कथोपकथन उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद में 'शैलूष' शब्द का उल्लेख हुआ है जो नट अथवा अभिनेता का समानार्थी है। रामायण और महाभारत युग में इस कमनीय कला की विद्यमानता के प्रमाण मिलते हैं। रामायण में 'नट', 'नर्तक' तथा 'शैलूष' शब्दों का प्रयोग हुआ है। महाभारत में भी 'नट', 'नर्तक', 'गायक', 'सूत्रधार' इत्यादि के निर्देश मिलते हैं। 'हरिवंश' में रामचरित के नाटक-रूप में प्रदर्शित किये जाने का उल्लेख उपलब्ध है। बौद्ध ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध के शिष्यों के नाटकीय अभिनय देखने की चर्चा हुई है। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'शिलालिन्' तथा 'कृशाश्व' के द्वारा रचित नट-सूत्रों का उल्लेख किया है जिससे सिद्ध होता है कि नाटक उस समय इतने लोकप्रिय हो चले थे कि नटों की शिक्षा के लिये स्वतंत्र सूत्र-ग्रन्थों का प्रणयन होने लगा था। पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'कंसवध' तथा 'बलि-बंध' नामक नाटकों के अभिनय का स्पष्ट वर्णन किया है। 'कामसूत्र' में वात्स्यायन ने नागरक के मनोरञ्जन का वर्णन करते समय, पक्ष अथवा मास के किसी प्रसिद्ध दिन उत्सव के होने तथा बाहर से आए 'कुशीलवों' (नटों) के द्वारा अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है। अभी हाल में, मध्यएशिया में जो संस्कृत नाटकों के अवशेष मिले हैं, उनसे सिद्ध होता है कि कुषाण-युग के आरम्भ में नाटक लिखे और अभिनीत किये जाते थे।

इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि वैदिक काल से लेकर ईसवी शताब्दी के उदय तक नाटकों के प्रणयन एवं अभिनय का क्रम हमारे देश में चला आता रहा था।

किन्तु इसके उद्भव एवं विकास को अनुप्राणित करने वाली कारणभूत परिस्थितियों का अद्यापि निर्विवाद ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका है। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाटकीय कला की उत्पत्ति का जो विवरण दिया है, उसके अनुसार, इन्द्रादि देवताओं के अनुरोध पर, ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ लेकर, सामवेद से गान लेकर, यजुर्वेद से अभिनय लेकर और अथर्ववेद से रस लेकर, 'नाट्यवेद' नामक पञ्चम वेद की रचना की, तथा धर्म, क्रीड़ा, हास्य, और युद्ध, सभी त्रैलोक्य-भावों का प्रदर्शन इसका विषय बताकर, इसे देवों एवं दैत्यों दोनों के लिए ग्राह्य बताया। स्पष्ट है कि भरत के इस विवरण से नाट्य-कला की उत्पत्ति पर कोई विशेष आलोक नहीं पड़ता, केवल इतना ही जान पड़ता है कि इसका आनन्द विना किसी भेद-भाव के सर्वजन-सुलभ था, तथा इसको प्रोत्साहन देने वाले व्यक्ति शिष्ट, सम्भ्रान्त एवं सुसंस्कृत वर्गों के थे। पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय परम्परानुमोदित मान्यता को अस्वीकार करते हुए, अन्यान्य मूलकारणों की उद्भावना की है। डा० कीथ के मतानुसार प्राकृतिक परिवर्तनों को जन-साधारण के सामने मूर्त्तरूप में दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ है।[1] पतञ्जलि के महाभाष्य में 'कंसवध' नामक नाटक के अभिनय का जो वर्णन मिलता है, उससे इस मत का अनुमोदन किया गया है। भाष्य में लिखा हुआ है कि कंस तथा उनके अनुयायी काले मुख धारण करते थे और कृष्ण तथा उनके अनुयायी इस नाटक के अभिनय में लाल मुख धारण करते थे। डा० कीथ का कथन है कि कृष्ण की विजय उद्भिज जगत् के भीतर तरंगायित जीवनी-शक्ति का प्रतीक है और इसलिए वसन्त ऋतु पर हेमन्त ऋतु की विजय दिखाना ही इस नाटक का प्रमुख उद्देश्य है। जर्मन विद्वान् डा० पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य से बताते हैं। उनके मतानुसार इस नृत्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में हुई और यहीं से इनका प्रचार अन्य देशों में हुआ। 'सूत्रधार' (डोरी पकड़ने वाला) और 'स्थापक' (किसी स्थान पर रखने वाला) जैसे शब्दों से इस मत की पुष्टि की गई है। डा० पिशेल द्वारा उद्भावित तथा डा० लूडर्स एवं डा० कोनो द्वारा समर्थित एक अन्य मत यह है कि नाटक की उत्पत्ति छाया-नाटकों से हुई है। 'दूतांगद' नामक छाया-नाटक संस्कृत में प्रसिद्ध है और उससे इस मत का समर्थन किया जा सकता है। कतिपय पाश्चात्य विद्वान् नाटक को, मई महीने में यूरोप में मनाये जाने वाले 'मे-पोल' (May pole) नामक उत्सव से

---

१. A. B. Keith : 'Sanskrit Drama', पृ० ४६-४८।

उद्भूत मानते हैं। इस मास में एक स्थल पर एक लम्बा बाँस गाड़ दिया जाता है जिसके नीचे स्त्री-पुरुष नाचते और प्रमोद करते हैं। भारतवर्ष में पुरातन काल में होने वाला तथा नेपाल आदि देशों में अद्यापि प्रचलित 'इन्द्रध्वज' नामक उत्सव इसी प्रकार का समझा गया है। किन्तु, इन सभी मतों की परीक्षा की गई है और ये सभी भारतीय नाट्यकाल की रंगीनी एवं रसपेशलता की व्याख्या करने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं।

अनेक आधुनिक विद्वानों ने 'ऋग्वेद' के संवाद-सूक्तों से नाट्य का उद्गम प्रतिपन्न किया है। जर्मन विद्वान् डा० श्रोदरे के मतानुसार ये सूक्त गायन तथा नर्तन के साथ अभिनीत किये जाते थे और ये स्वयं धार्मिक नाटक हैं जिनका अभिनय यज्ञ के विशिष्ट अवसरों पर नृत्य, गीत एवं वाद्य के साथ याज्ञिकों द्वारा किया जाता था। लेकिन पुरुरवा और उर्वशी, यम और यमी, इन्द्र, इन्द्राणी और वृशाकपी तथा सरमा और पणिस—इन संवाद-सूक्तों का सम्बन्ध धार्मिक यज्ञों से कथमपि नहीं है। डा० ओल्डेनवर्ग और पिशेल इन संवाद-सूक्तों को 'आख्यान' कहते हैं और उनका रूप गद्य-पद्यमय मानते हैं। पद्यभाग अधिक रुचिकर तथा मनोरम होने से अवशिष्ट रह गया है जब कि गद्यभाग अधिक वर्णनात्मक होने से लुप्त हो गया है। नाटकों में प्राप्त गद्य-पद्य का मिश्रण ये विद्वान् इन्हीं संवाद-सूक्तों के अनुकरण पर आश्रित मानते हैं।

यह सद्यः माना जा सकता है कि संवाद-सूक्तों में नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं। आधुनिक अनुसन्धान के द्वारा धार्मिक गायन एवं नृत्य और नाटक में सम्बन्ध स्थापित किया जा चुका है। अतएव, आपाततः उपर्युक्त सिद्धान्त के स्वीकरण में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती। किन्तु, जिन मान्यताओं पर इस सिद्धान्त की भित्ति खड़ी हुई है, वे प्रायः प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं हुए हैं। उदाहरणत:, इन संवाद-सूक्तों की कर्मकाण्डीय व्याख्या भारतीय परम्परा में ज्ञात नहीं है, यह भी नहीं माना गया है कि ऋग्वेद में प्राप्त प्रत्येक ऋचा अथवा मन्त्र का धर्म अथवा पर्व से सम्बन्ध है। वैदिक पुरोहितों द्वारा किये जानेवाले नृत्य का भी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। सामवेदीय मन्त्र गाये जाते थे, ऋग्वेदीय मन्त्र केवल पठित होते थे। परवर्ती वैदिक साहित्य में इन सूक्तों का नाटकीय उपयोग कहीं लक्षित नहीं होता। यह सही है कि 'महाव्रत' जैसे कतिपय उर्वरतामूलक पर्वों में नाटकीय तत्त्व वर्तमान है, लेकिन नाटकीय पर्व के अस्तित्व से पर्वीय नाटकों (Ritual dramas) के अस्तित्व का साक्ष्य नहीं ग्रहण किया जा सकता। इसी प्रकार, संस्कृत नाटक में गद्य-पद्य के मिश्रण को व्याख्यायित करने के लिए ऋग्वेदीय संवादसूक्तों में गद्य-पद्य का मिश्रण मानना भी आवश्यक नहीं है। नाटक में गद्य का प्रयोग स्वाभाविक है

तथा इसके लिए किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं है, और संस्कृत साहित्य में पद्यात्मक रूप की प्रधानता एवं महाकाव्य की परम्परा ध्यान में रखते हुए पद्य का प्रयोग अप्रत्याशित नहीं समझा जायेगा। संस्कृत नाटक में गद्य तथा पद्य इतनी घनिष्ठता से सम्बद्ध हैं कि उन्हें प्रारम्भ में अलग-अलग मानना उचित नहीं होगा।

संस्कृत नाटक को जन्म देने वाले मूल स्रोतों का स्वरूप कुछ भी रहा हो, इतना निश्चित है कि इसके विकास में वैष्णव धर्म का विशेष महत्त्व रहा है। पतञ्जलि ने जिन नाट्य-प्रयोगों ('कंसवध' तथा 'बलिबन्धन) का उल्लेख किया है, वे विष्णु-चरित से सम्बद्ध हैं। नाटकों में शौरसेनी प्राकृत गद्य का प्रचलन भी यही सूचित करता है कि संस्कृत नाटक के विकास में शूरसेन या मथुरा में प्राप्त कृष्णभक्ति का विशेष सहयोग रहा है। नाट्यशास्त्र में शिव को भी नाटक से सम्बन्धित बताया गया है क्योंकि ताण्डव एवं लास्य नृत्यों के आविष्कर्ता शिव और उमा कहे गये हैं।

संस्कृत नाटकों के विकास में कतिपय विद्वानों ने यूनानियों के प्रभाव का कथन किया है। जर्मन विद्वान् डा० वेबर ने सर्वप्रथम इस मत का उपपादन किया था। उसका कथन है कि नाटक के उपादान प्राक्तन संस्कृत साहित्य में इतने स्वल्प हैं कि उनके आधार पर ललित नाट्यकला का विकास सम्भव नहीं था। इसके विपरीत, 'बैक्ट्रिया' तथा पञ्जाब के यूनानी राजाओं के दरबारों में नाटकों का प्रचुर प्रचार था और उनके अभिनय से प्रेरणा एवं स्फूर्ति ग्रहण कर, भारतीयों ने नाट्यकला का उपयोग प्रारम्भ किया। यद्यपि डा० पिशेल ने इस मत का युक्तियुक्त ढंग से प्रत्याख्यान किया था तथापि डा० विण्डिश ने नई खोजों के आधार पर यूनानी प्रभाव का स्थापन किया। उसका कथन है कि 'न्यू ऐटिक कामेडी' (New Attic comedy) का भारतीय नाटकों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। दोनों जातियों के नाटकों में साम्य के कतिपय तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणतः, दोनों में अंगुलीयक जैसे स्मृति-चिह्नों का उपयोग मिलता है। रोमन नाटकों की भाँति संस्कृत नाटकों में प्राप्त कुछ पात्रों, विशेषतः विट, विदूषक तथा शकार, के प्रतिरूप पात्र ग्रीक एवं रोमन सुखान्तकियों में भी उपलब्ध होते हैं। लेकिन विद्वानों ने इन सादृश्यों के दुर्बल आधारों का प्रतिवाद किया है। स्मृतिचिह्नों का प्रयोग भारतीय आख्यान-साहित्य में तथा महाकाव्य में भी मिलता है। सामान्य लोक-कथाओं में इस रूढ़ि का प्रयोग वर्तमान है और आदिम समाज में पहचान का यह एक अनिवार्य साधन भी रहता है। अतएव, संस्कृत नाटकों में स्मृति-चिह्नों का उपयोग यूनानी नाटकों से गृहीत समझना प्रमाद है। ग्रीक तथा रोमन नाटकों में नायक के आश्रित परोपजीवी पात्र मिलते हैं। किन्तु, वे भारतीय विट के शिष्ट सुसंस्कृत धरातल से अत्यन्त नीचे

पड़ते हैं। विदूषक के विकास की कहानी विवादग्रस्त है, तो भी उसकी ब्राह्मण जाति तथा समाज में उसका उच्च स्थान उसे यूनानी सुखान्तकियों के असभ्य, असंस्कृत दास से पृथक् कर देता है। इसी प्रकार, अंक-विभाजन वाली बात भी स्वतन्त्र रूप से सिद्ध हो सकती है। उज्जयिनी में लिखित 'मृच्छकटिक' नाटक पर यूनानी प्रभाव का आरोप किया गया है। किन्तु, उसे तीसरी शताब्दी की रचना मान कर, कालिदास से प्राचीन मानना कथमपि न्यायसंगत नहीं है; भास के 'दरिद्रचारुदत्त' के अनुकरण पर उसका प्रणयन हुआ है।

संस्कृत नाटकों पर यूनानी प्रभाव के आरोप का एक प्रधान आधार उनमें प्राप्त 'जवनिका' शब्द है, जिसे अधिकांश विद्वानों ने प्रमाद से 'यवनिका' समझ कर, यूनानी वस्तु मान लिया है। इसमें पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि 'जवनिका' हमारे नाट्य शास्त्र का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द नहीं है, अपितु लोकव्यवहार में प्रचलित होनेवाला साधारण शब्द है। अमरकोष में इसका प्रयोग 'पटवेश्म' (खेमा) को ढकने वाले परदे के अर्थ में किया गया है। 'जवनिका' शब्द का वैयुत्पत्तिक अर्थ है, वह आवरण जिसमें दौड़ कर लोग चले जायँ अथवा वह वस्तु जो वेग से हटाई जा सके। 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों एकार्थी हैं जिनमें पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक लोकप्रिय है। कोशों में कहीं-कहीं गलती से 'यवनिका' शब्द का ही निर्देश मिलता है। रामाश्रमी टीका में 'जवनिका' के स्थान पर 'यमनिका' का पाठान्तर मिलता है, परन्तु अप्रयुक्त होने के कारण, यह शब्द कथमपि मान्य नहीं हो सकता। इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि 'जवनिका' शब्द ही सही है जिसका अर्थ होगा परदा, और 'यवनिका' शब्द गलत है जिसके आधार पर भारतीय नाटकों में प्रयुक्त परदे को यूनानी (यवन) प्रभाव समझा गया है। दूसरी विचारणीय वस्तु यह है कि यूनानी नाटकों में जवनिका अथवा परदे का प्रचलन नहीं था। दर्शकों की संख्या इतनी अधिक रहती थी कि रंगमंच बहुत ऊँचा बनाया जाता था और नाटक का अभिनय खुले मैदान में होता था, उस पर किसी प्रकार का परदा प्रयुक्त नहीं किया जाता था। ऐसी दशा में जब यूनानी (यवन देश के) नाटकों में परदे की प्रथा थी ही नहीं, तब भारतीयों के लिए उनकी नकल का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। पुनः यदि 'जवनिका' शब्द का ग्रहण भारतीय नाट्य-प्रणेताओं ने यूनानी रंगमंच से लिया होता, तो वे इसे नाटकीय परदे के विशिष्ट अर्थ में ही सीमित किए रहते और यह भारतीय नाट्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द बन गया रहता। लेकिन, यह शब्द तो सामान्य अर्थ का ही बोधक है। इस प्रकार 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना पूर्णतः भ्रामक और सर्वथा

निराधार है। संस्कृत नाटक भारतीय प्रतिभा की स्वतंत्र प्रसूति है और अभिनय की कला में भी वह स्वतंत्र उद्भावना के आश्रित रहा है। 'जवनिका' के लिए भारतीय नाटककार यवनों के पराधीन नहीं हैं। नाटकीय परदा "भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की चीज नहीं।"[1]

पुनः यदि भारतीय नाटक और यूनानी नाटक में कुछ सादृश्य खोजे भी जा सकें, तो उन्हें स्वतंत्ररूपेण विकसित ही समझना चाहिए क्योंकि दोनों में मौलिक अन्तर वर्तमान हैं। संस्कृत नाटक मूलतः रोमांटिक है क्लासिकल नहीं, और यूनानी नाटक की अपेक्षा यह एलिजबेथन नाटक से अधिक साम्य रखता है। समय एवं स्थान की अन्वितियों की, विभिन्न अंकों में तथा सम्पूर्ण वस्तु-विन्यास में, संस्कृत नाटककारों ने अवहेलना की है। एक अंक और दूसरे अंक में, यहाँ तक कि बारह वर्ष का युग बीत जाता है और एक अंक की समय-सीमा प्रायः चौबीस घंटों से आगे बढ़ जाती है। दृश्य भी पृथिवी से स्वर्ग को सद्यः स्थानान्तरित हो जाता है। रोमांटिक तथा गत्यात्मक भाव स्वच्छन्द रीति से मिश्रित हो जाते हैं। अवसाद-पूर्ण सुखान्त को अथवा सनसनी उत्पन्न करने वाला सस्ता 'मेलोड्रामा' भी प्रायः उपलब्ध होता है। गद्य के साथ पद्य नियमित रूप से मिश्रित रहता है। श्लेष एवं शाब्दिक चातुर्य प्रायः प्रदर्शित किये जाते हैं। कोरस का इसमें अभाव है, लेकिन पद्यात्मक नान्दीपाठ तथा प्रस्तावना नाट्यवस्तु के अविच्छेद्य अंग हैं जो कथानक का आरम्भ कर देते हैं। एलिजबेथन 'मसखरे' (fools) के समानान्तर विदूषक होता है तथा कतिपय नाटकीय युक्तियाँ, यथा नाटक के भीतर नाटक का विन्यास तथा स्मृतिचिह्नों का प्रयोग अत्यंत साधारण भाव से प्रयुक्त मिलते हैं। संस्कृत नाटकों में पात्रों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता और ये पात्र मानवीय, दैवी तथा अर्धदैवी हो सकते हैं। कथानक में इतिहास, पुराण अथवा सम-सामयिक जीवन एवं समाज, सभी गृहीत हो सकते हैं। विरले अपवादों के अतिरिक्त, कथावस्तु की रुचिरता का केन्द्र किसी प्रेम-कथा में रहा करता है क्योंकि इस रोमांटिक नाटक का प्रमुख विषय प्रेम ही होता है। नाट्यशास्त्र में अभिनय के लिए वर्ग, आयत अथवा त्रिभुज के आकार वाले प्रेक्षागृहों के निर्माण की विशेष विधि का उल्लेख हुआ है, लेकिन इनमें तथा यूनानी अथवा आधुनिक रंगशालाओं में कोई साम्य नहीं है, और उनका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है।

इन बाह्य उपकरणों के अतिरिक्त, कुछ ऐसी भी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं जो संस्कृत नाटक को ग्रीक इत्यादि सभी नाटकों से भिन्न एवं पृथक् कर देती हैं।

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ४००-४०७

संस्कृत के नाटककार प्रायः आदर्शवादी दृष्टिकोण के थे, और कोरे तथ्य तथा कोरी घटना के प्रति उदासीन थे। अतएव, कार्य तथा चरित्र के प्रत्यक्ष चित्रण द्वारा जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य नहीं है, अपितु काव्य के ही समान सामाजिकों के मानस में शृंगार, वीर अथवा शान्त किसी भी रस का प्रादुर्भाव है। यद्यपि नाटक सिद्धान्त रूप में 'अवस्था की अनुकृति' है, तथापि कथानक एवं चरित्र-चित्रण का महत्त्व अपेक्षया द्वितीय कोटि का है। कथानक में जटिलता का समावेश जानबूझ कर नहीं होने दिया जाता है क्योंकि वैसा करने से सामाजिक का मन रसास्वादन से हटकर, अन्य बातों की ओर उलझ जाता है। प्रायः ऐसी सुपरिचित कथा का वरण किया जाता है जिसकी ओर पाठक का मन स्वयं प्रवृत्त हो जाय, और तब कवि का संपूर्ण कौशल उसकी भावनात्मक संभावनाओं को विकसित करने में ही नियोजित हो जाता है। अतएव, यह टिप्पणी कि संस्कृत नाटककार कथानकों की उद्भावना में कल्पना की उर्वरता का प्रयोग नहीं करता, संस्कृत नाटक के इस विशेष उद्देश्य का विस्मरण कर, उसके प्रति अन्याय करती है।

इस प्रकार, संस्कृत नाटक में रस तथा कविता का वातावरण प्रमुख हो गया जो काव्य एवं चरित्र-चित्रण को गौण बनाकर, आदर्श सृष्टि की रचना में सहायक हुआ, यद्यपि इस कारण कम प्रतिभावाले नाटककारों की कृतियों में नाटकीय तत्त्व एकदम पर्याच्छन्न हो गया। रस-व्यंजना के प्राधान्य का परिणाम यह हुआ है कि विभिन्न गीतात्मक छन्दों में लिखे, भाव को उकसाने वाले पद्यों की बहुलता इन नाटकों में पाई जाती है जो विचित्र ढंग से 'अनाटकीय' होते हैं। गद्य का प्रयोजन एक जोड़ने वाली कड़ी का होता है जो या तो तथ्यों की सूचना देता है या कहानी को आगे बढ़ाता है। गीतात्मक पद्यों के पक्ष में कथोपकथन अथवा संवाद की अवहेलना की जाती है, और रसात्मक एवं रोमाण्टिक प्रवृत्ति के कारण व्यक्तिगत चरित्रों की तुलना में जातिगत (Typical) चरित्रों को अधिक पसन्द किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि राजा, महिषी, मंत्री, प्रणयी तथा विदूषक जैसे परम्पराभुक्त चरित्रों की अवतारणा होती है जो समय पाकर स्थिर जातियों (permanant types) में परिणत हो जाते हैं। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है। उनमें सामान्य मानवता का एकांत अभाव है, अथवा उनमें ऐसे विशिष्ट गुण नहीं उपलब्ध होते जिनसे वे व्यक्ति-रूप में हमें आकृष्ट कर सकें। फिर भी, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि चरित्रों की सृष्टि में सामान्यीकरण की प्रवृत्ति मुखर है, और जाति अथवा 'टाइप' को छोड़ने की ओर से अनिच्छा स्पष्ट झलकती है। इसका अर्थ यह है कि इन नाटकों में वैयक्तिकता के प्रति, तथा कथानक एवं चरित्रांकन की वास्तविकताओं के प्रति उदासीनता प्रतिफलित हुई है और आदर्शात्मक

एवं भावात्मक अंगों पर अधिक बल दिया गया है। इस कारण भी, संस्कृत नाटकों में गीति, नृत्य, संगीत तथा अनुकरण-कला (mirnetic art) जैसे सहयोगी अंगों का पूर्णतम उपयोग हुआ है।

मौलिक कल्पना ही भिन्न होने के कारण, आधुनिक मानदंडों की तुला पर अधिकांश संस्कृत नाटक, नाटक न रहकर, नाट्यात्मक कविताएँ समझे जायेंगे। रसव्यञ्जना और काव्यात्मकता के प्रति कुछ रचयिताओं का मोह इतना प्रबल हो जाता है कि उनकी कृतियों में नाटकीयता का सर्वथा विलोप हो जाता है और वे प्रायः गीत्यात्मक अथवा महाकाव्यों से संवद्ध ऐसे विषयों का वरण करते हैं जो नाट्य-रचना के लिए एकदम अनुपयुक्त हैं। अतएव, एक ओर तो महाकाव्यों पर अधिक अवलम्बित होने के कारण, इन नाटकों को बहुत क्षति पहुँचती है और दूसरी ओर, गीत्यात्मक तथा वर्णनात्मक ललित पद्यों के प्रणयन के ऊपर रचयिता की दृष्टि केन्द्रित हो गई है। इन्हीं कारणों से, आधुनिक विद्वान् सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के भीतर केवल 'मुद्राराक्षस' को वास्तविक नाटक मानते हैं। इस टीका से संस्कृत नाटक के उद्देश्यों तथा सीमाओं पर सम्यक् आलोक पड़ता है। "तथापि, इससे एक लाभ भी है जिसे आधुनिक रंगमंचीय शिल्प के व्यवहार में प्रायः भुला दिया जाता है। कविता एवं रोमांस का उच्छ्वास संस्कृत नाटक को सप्राण बना देता है, इसमें गद्य की नीरसता नहीं आने पाती; मनुष्यों को यह सामान्य एवं साधारण परिस्थितियों में निर्जीव रूप में चित्रित नहीं करता। इसमें प्रायः उच्चतर और अधिक काव्यात्मक स्वाभाविकता वर्तमान रहती है जो मानव-चरित्र की सुन्दरता एवं गहराई उन्मीलित करने के कारण कम आकर्षक नहीं होती; अथच नाटकीय गुणों की विरलता होने पर भी, अपने काव्यात्मक सौन्दर्य के द्वारा यह सामाजिकों को आवर्जित करता है।"[1]

भारतीय नाटक के आदर्श स्वरूप का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि इसमें औचित्य एवं सामंजस्य की रक्षा के लिए यह प्रतिबंध लगा दिया गया है कि रंगमंच पर अवांछनीय अशुभ, कुरुचिपूर्ण तथा ऐसी क्रियाओं के प्रदर्शन नहीं होने चाहिए जिससे प्रेक्षकों की भावना पर आघात पहुँचे अथवा अभीष्ट रस की निष्पत्ति में व्याघात उत्पन्न हो। परकीया को नाटकीय छल-प्रपंच का विषय बनाने, तथा रंगमंच पर मृत्यु, युद्ध तथा चुम्बन जैसी शारीरिक प्रणयाभिव्यक्तियों को प्रदर्शित करने के ऊपर लगे प्रतिबंधों भसेरतीय नाट्यकला में पवित्रता तथा सुकुमारता का समावेश हो गया है। विल्सन (H.H. Wilson) का कथन है कि ऐसे प्रतिबंधों से ड्राइडन तथा कांग्रीव जैसे आंग्ल नाटककारों की कल्पना ठंढी पड़ गई होती।

---

१. S. K. De : 'History of Sanskrit Literature', पृ०५८-५९।

विल्सन आगे कहता है : "आधुनिक सुखान्तकी की ढीलीढाली नारी-भावना हिन्दुओं के लिए अपरिचित है और साथ-ही-साथ, नारी-मूलक शौर्य का चित्रण करने वाली कविता के प्रति भी उनका विशेष अनुराग लक्षित नहीं होता। लेकिन, उनका प्रेमावेग न पालतू और न अशिष्ट है। इसमें उस मात्रा में पर्याप्त वेग तथा क्षिप्रता है जितने से प्रेमास्पद अधःपतित नहीं होता। साथ ही, समाज में नारी के स्थान को इतने विवेक से परिभाषित किया गया है कि वह, वह प्रभाव कभी ग्रहण नहीं कर सके जो उसकी प्रकृति के विरुद्ध हो। और, मानव जीवन की धारणा इतनी विनीत एवं विनम्र है कि कोई लेखक किसी मर्त्य प्राणी को ईश्वरीय उपाधियों से विभूषित नहीं कर सकता। × × × हिन्दुओं का प्रेम यूनानी अथवा रोमन सुखान्तकी के प्रेम की तुलना में कम ऐन्द्रिय है और फ्रांसीसी अथवा अंग्रेजी दुःखान्तकी की तुलना में कम दार्शनिक या आध्यात्मिक है।"[१]

संस्कृत नाटक की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसने ग्रीक नाटकों में प्राप्त भाग्य और नियति के सिद्धान्तों के प्रति कभी प्रणिपात नहीं किया है। इसी कारण, इसमें अन्तरात्मा को प्रकम्पित एवं उद्वेलित करने वाली तथा त्रास एवं करुणा के झंझावात में उसे प्रक्षिप्त एवं उत्पीड़ित करने वाले दुःखान्तकी का लगभग एकान्त अभाव है। रसोद्रेक को उद्देश्य बनाने के कारण, हिन्दू के लिए किसी ईडीपस (Oedipus), मैकवेथ अथवा आथेलो के दुर्भाग्य में आनन्द लेना बर्बरतापूर्ण तथा अमानवीय हुआ होता। साथ ही, हिन्दू-प्रकृति की कोमलता एवं जीवन-विषयक मनोदृष्टि भी नाटक को मृत्यु एवं नैराश्य में पर्यवसित करने की विरोधिनी थी। करुण घटनायें और प्रसंग, मूल रस को प्रस्फुट करने के ध्येय से, कथानक के विकास एवं विवृति में सहायक हो सकते हैं, किन्तु अंतिम परिणाम का प्रसादमय होना आवश्यक है। यूरोपीय नाटक का कठोर 'काव्यात्मक न्याय' (Poetic justice) संस्कृत साहित्य में अज्ञात ही है। काव्यकार के समान, नाटककार भी जीवन की जटिलता में किसी बेचैनी, संघर्ष अथवा असन्तोष की भावना का अनुभव नहीं करता और संसार की व्यवस्था को बिना प्रश्न अथवा विचिकित्सा के स्वीकार कर लेता है। यह दृष्टिभंगी मानवी व्यापारों में उन शक्तियों के हस्तक्षेप को भी मूक भाव से स्वीकार कर लेती है जो मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं। जीवन अथवा जगत् को यह मनोदृष्टि उसके रहस्यों से वंचित नहीं करती और उन्मुक्त भाव से विस्मयोत्पादक एवं अतिलौकिक तत्त्वों का सन्निवेश करती है, यद्यपि मानवी व्यापार के प्रेरक प्रयोजनों अथवा

१. K. S. Ramaswami Sastri : 'Kalidasa', II vol., पृ० १००-१०१।

उसके उत्तरदायित्व की भावना को यह एकदम विनष्ट नहीं करती। ऐसी परिस्थिति में, नाटकीय संघर्ष को पूरा विकसित होने का अवकाश नहीं मिलता और जीवन अथवा प्रणय के पथ को बाधायें कितना ही अवरुद्ध क्यों न करें, अन्ततोगत्वा नायक तथा नायिका का मिलन अवश्यम्भावी है। निस्संदेह इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं—'ऊरुभंग' का अवसान विषाद में हुआ है, 'प्रतिमा' में दशरथ की मृत्यु रंगमंच पर दिखाई गयी है, 'मृच्छकटिक' में वसन्तसेना की ऊपरी हत्या रंगमंच पर होती है और 'नागानंद' में मृत व्यक्ति रंगमंच पर ही जीवित हो उठता है। लेकिन, परवर्ती नाटककारों ने शास्त्रीय नियमों की मर्यादा का पालन किया है, और हिन्दू नाटक की इसी आधार पर प्राण-प्रतिष्ठा की गई है।

तथापि, यह कहना तथ्यसंगत नहीं है कि संस्कृत नाटक दुःखपूर्ण प्रसंगों का एकदम बहिष्कार करता है। वह मृत्यु का प्रत्यक्ष प्रदर्शन निषिद्ध करता है और कथानक के सुखमय अवसान को आवश्यक मानता है। करुण रस एवं विप्रलंभ शृंगार के रूप में दुःखद घटना की अवस्थिति स्वीकार करता है और कुछ महत्त्वमय नाटकों की रुचिरता उनके दुःखपूर्ण प्रसंगों में ही सन्निहित है 'अभिज्ञानशाकुन्तल' तथा 'मृच्छकटिक' में दुःखद घटना, अन्त में नहीं, बीच में घटित होती है और उत्तररामचरित में यह प्रारम्भ में ही घट जाती है और आद्योपान्त इसका आस्वाद सान्द्र रूप में वर्तमान रहता है। तथ्य यह है कि निर्दयता, हत्या, त्रास, भयंकरता, तथा चित्त को मथ देनेवाले उद्वेगकारी मनोवेगों को हिन्दू नाटककारों ने प्रश्रय नहीं दिया है। संस्कृत नाटक प्रायः जीवन के राजमार्ग का अनुगमन करता है और घृणित तथा अस्वाभाविक मनोवेगों के चित्रण अथवा वध एवं विनाश की सँकरी गलियों की खोज नहीं करता। महर्षि अरविन्द की यह टिप्पणी उल्लेख्य है: "रोमाण्टिक सौन्दर्य से पूर्ण वातावरण, एक प्रकार की शालीन नागरिकता, भावों का अभिराम संतुलन तथा फूलों एवं प्रकाश में अप्रतिहत विश्वास—ये हिन्दू नाटक की अन्तरात्मा के भीतरी धर्म हैं। त्रास और करुणा का उपयोग भावों की चीर-फाड़ के लिए नहीं, प्रत्युत उनके उद्बोध के लिए किया जाता है, और इसीलिए नाटक का अवसान शान्ति एवं आनन्द की ध्वनि के साथ होना आवश्यक है। काली घटाओं का प्रवेश इसीलिए कराया जाता है कि वह प्रसन्न आलोक, जिससे समस्त प्राणी उद्भूत हुए हैं और जिसमें सभी विलीन हो जाएँगे, और अधिक मनोरम प्रतीत हो सके। इसी कोटि की कला में आत्मा को शान्ति मिलती है, विनय एवं स्नेहपूर्ण संस्कृति में बद्धमूल होने का उसे सुअवसर उपलब्ध होता है और वह उस बौद्धिक तथा रसात्मक आनन्द का आस्वादन करती है जिसकी खोज में वह

जीवन की विरूपता तथा असंवद्धता से मुड़कर कला के इन्द्रजाली संसार की ओर प्रवृत्त हुई है[1] ।"

(८) अभिज्ञानशाकुन्तल

(१)

कालिदास की काव्य-सरस्वती का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद 'अभिज्ञानशाकुन्तल' है।[2] 'रघुवंश' में राजाओं के प्रजा-वात्सल्य, वर्णाश्रमधर्म के प्रति निविड़ आस्था, राज्य-विस्तार के हेतु दिग्दिगन्त की विजय तथा वैभव-विलास की रँगरेलियों में अशेष आत्मदान—इन बातों का सजीव वर्णन हुआ है। 'कुमारसम्भव' में भगवान् शंकर तथा पार्वती के परिणय एवं रतिभोग का चित्रण कवि का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि सम्पूर्ण रचना को आध्यात्मिक धरातल पर व्याख्यायित करना भी काव्यालोचकों को प्रिय लगा है। लेकिन, अन्य नाट्य-कृतियों की तो बात ही क्या, इन महाकाव्यों में भी हमें वे मूल्यास्पद तत्त्व एक स्थान पर समन्वितरूपेण उपलब्ध नहीं होते जिनसे मनुष्य जीता है और जागता है। 'शाकुन्तल' का चित्रपट अत्यन्त व्यापक तथा समृद्ध है। एक नव-प्रस्फुटित-यौवना प्रकृति-किशोरी है जो आश्रमस्थ लता-वीरुधों की सेवा-परिचर्या करती है—यह कथानक का आरम्भ-विन्दु है। वह किशोरी अन्ततः राजमहिषी बन जाती है—यह कथानक का पर्यवसान-विन्दु है। किन्तु, इन दोनों विन्दुओं को मिलानेवाली रेखा अत्यन्त कुटिल हो गयी है; और इस कौटिल्य की आड़ में कवि को अपनी प्रबुद्ध संवित् के समग्र स्वरूपों की विवृति का मनोरम संयोग प्राप्त हुआ है। सौन्दर्य की पवित्रता एवं मादकता, प्रेम की निश्छलता एवं विवशता, प्रकृति-जन्य सरलता एवं मुग्धता, ऋषि-कुल की उदारता एवं दयालुता, महर्षि कण्व का आदर्श वात्सल्य, दुर्वासा का निर्मम दंड, वासना की मांसलता का प्रक्षालन तथा आत्मा का सुशान्त निर्मलीकरण, रोमांस के आसव एवं संस्कृति के पीयूष का मंगलमय संमिलन, प्रेयस एवं निःश्रेयस् का मनोग्राही ग्रन्थि-बन्धन—इन सभी उपादानों को एक साथ मिश्रित कर, कालिदास ने 'शाकुन्तल' में जो 'प्रपानक रस' तैयार किया है, वह जीवन के लिए निश्चित ही नितान्त मूल्यवान् है।

---

१. Sri Aurobindo : 'Kalidasa' (Second series) पृ० ४ ।

२. कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान-शकुन्तलम् ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्को यत्र याति शकुन्तला ॥

कवि की जिस कुशल कला ने प्रस्तुत रचना को इस अमोघ रसायन से सिंचित किया है, उसे ही उन्मीलित करना हमारा वर्तमान मंतव्य है।

नाटक के प्रथम चार अंकों को 'भोग-भूमि', बीच के दो अंकों को 'दंड-भूमि' और अन्तिम अंक को 'सिद्ध-भूमि' कहा गया है। भोगभूमि का उद्घाटन दुष्यन्त के मृगया-प्रेम की व्यंजना से होता है। शरीर को सिकोड़ कर, रथ में एकटक दृष्टि लगाए हुए, 'ग्रीवा-भंगाभिराम' उस व्याकुल हरिण के जी-तोड़ भागने से ज्यों ही हम प्रभावित होते हैं त्यों ही वैखानस की यह गम्भीर चेतावनी कानों में पड़ती है—

"न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितञ्चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते॥" (१।१०)

राजा को मृदुल मृग-शरीर और वज्र-तुल्य अपने बाणों का सहसा स्मरण करा-कर, कवि मानो उसे, और हमें भी, आश्रम के कोमल संसार में, हृदय की कोमलता को सजग किये, प्रवेश का निमन्त्रण दे रहा है। तपोवन में सरलता, निश्छलता तथा विश्वास का वातावरण व्याप्त है। कहीं वृक्षों के तले सुग्गों के कोटरों से गिरे हुए तिल्ली के दाने बिखरे पड़े हैं, कहीं इधर-उधर स्निग्ध शिलाएँ दीख रही हैं जिन पर हिंगोट के फल कूटे गये हैं, कहीं हरिण निर्भीक होकर इस विश्वास से रथ का शब्द सुन रहे हैं कि तपोवन में उन पर कोई प्रहार नहीं करेगा, और नदी-तालाबों पर आने-जाने के मार्गों में मुनियों के वल्कलों से टपके हुए जल की रेखायें निर्मित हो गयी हैं। वायु के कारण उठी ऊर्मियों से वृक्षों की जड़ें धुल गयी हैं, घी के धुएँ से नवीन चमकीले किसलयों का रंग धूमिल हो गया है और जिन स्थलों से कुशा उखाड़ ली गयी है, वहाँ मृग-शावक निर्भय होकर, धीरे-धीरे घास चर रहे हैं। वैखानस ने राजा को चक्रवर्ती पुत्र होने का आशीर्वाद पहले ही दे दिया है। अतएव, कोमलीकृत चित्त से वह आश्रम में प्रवेश करता है। कवि ने अपनी सूक्ष्म कुशलता से मृगयाशील दुष्यन्त को आश्रम के भीतर तभी प्रवेश कराया है, जब वैखानस के उक्त उपदेश तथा तपोवन के पुनीत निर्मल वातावरण से और अन्ततः दाहिनी भुजा के स्फुरण के कारण किसी फल-प्राप्ति की सम्भावना ('स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य') से उसका हृदय कोमल बन गया है तथा अब कोमल वस्तुओं के ग्रहण-हेतु वह सक्षम हो गया है, तभी तो वाटिका के निकट सेचन-घटों को साथ लिये तपस्वि-कन्याओं को देखकर दुष्यन्त सहसा कह उठता है—

"अहो मधुरमासां दर्शनम् !
'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥" (१।१७)

—'रनिवास की रानियों में भी जो सुन्दरता दुर्लभ है, वह इन आश्रम-वासिनी बालिकाओं को मिली है । बन की लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को सचमुच लज्जित कर दिया है।' रूप की नैसर्गिक शोभा ने राजा को आकृष्ट कर लिया है और प्रेम के उद्भव का अग्रदूत यही रूपाकर्षण है ।

चमेली की नई कली के समान कोमल ('नवमालिकाकुसुमपेलवा') शकुन्तला को पौधों के आलवाल में पानी देते देखकर दुष्यन्त पूज्य कण्व के अविवेक से विस्मित होता है । वह 'अव्याज मनोहर' (सहज सुन्दर) शरीर तपस्साधना के लिए नहीं बना है, नीले कमल के पत्ते की धार से शमी का वृक्ष नहीं काटा जा सकता । राजा को यह अनुभव होता है कि सौन्दर्य एवं मार्दव का उचित नियोजन, उचित मूल्यांकन महर्षि के आश्रम में नहीं हो रहा है । अर्थात्, वह रूप-लक्ष्मी गलत जगह में, गलत ढंग से विकसित हुई है । अतएव, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अब राजा के अन्तरतम प्रदेश में उस रूप-लक्ष्मी को स्वायत्त करने की अज्ञात भावना अंकुरित हो गयी, क्योंकि वह अपने को नागर समझता है और, इसीलिये, रूपश्री का सही पारखी तथा कदाचित् उपभोक्ता भी ।

दुष्यन्त वृक्षों की ओट में शकुन्तला के रूप को भली-भाँति निहारना चाहता है । उसका कोमल शरीर वल्कल के योग्य नहीं है, तथापि वह तन्वंगी वल्कल वसन धारण करने पर भी अधिक मनोज्ञ दिखलायी पड़ रही है, जैसे सेवार से आवृत होने पर भी, कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमा में पड़ा कलंक भी उसकी शोभा बढ़ाता है—

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥" (१।१९)

सच है, मधुर आकृतियों के लिए प्रत्येक वस्तु शोभादायक बन जाती है ।

राजा की दृष्टि अब शकुन्तला के अंगों पर पड़ती है । उसके लाल-लाल ओठ नव-किसलयों की दीप्ति से स्पर्धा कर रहे हैं। दोनों भुजाएँ कोमल शाखाओं जैसी मनोहर प्रतीत हो रही हैं और नया यौवन लुभावने कुसुम के समान उसके अंगों में व्याप्त हो गया है । इस रूप-सौंदर्य से राजा का मन चंचल हो जाता है । यहाँ कवि ने अपने

'हृदयवाद' की मनोरम व्यंजना की है। ऋषि-कन्या की ओर क्षत्रिय नरेश का मन क्योंकर विचलित हो सकता है? ऐसी स्थिति में कवि यह निरूपण करता है कि संदिग्ध दशाओं में अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रामाण्य होती हैं—"सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" अर्थात्, अन्तःकरण जिस वस्तु की ओर ढल जाय, वह वस्तु अवश्य ही उसके योग्य होती है; अर्थात्, शकुन्तला का परिणय क्षत्रिय से हो सकता है! आंग्ल कवि कीट्स ने भी 'हृदय के रागों की पवित्रता' (Holiness of Heart's affections) का कथन किया है।

अब तो कोई मानसिक बाधा दुष्यन्त के प्रेम-विकास में नहीं है। फिर भी, वह सचाई का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेष्ट है। रसिक नागर तो वह है ही, ऐसे अवसर पर वह अपने को प्रकट करता है, जब शकुन्तला अपने रस-भरे अधरों ('रतिसर्वस्वमधरम') को छूनेवाले भ्रमर से त्राण पाने के लिए सखियों की सहायता चाहती है। दुष्यन्त को देखकर, शकुन्तला के मन में भी विकार उत्पन्न होता है जो तपोवन-वासियों के मन में नहीं होना चाहिये। शकुन्तला विस्मित है—

"किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता!"

अनुसूया के दुष्यन्त का परिचय पूछने पर शकुन्तला मन-ही-मन कहती है—"हृदय! उतावले मत बनो। तुम्हारे ही मन की बात तो अनुसूया पूछ रही है।" जब अनुसूया से उसके जन्म का वृत्तान्त सुनने पर राजा कहता है कि 'मनुष्यों में ऐसा रूप भला कहाँ मिल सकता है! तरल प्रभा वाली बिजली भला पृथ्वी-तल से कैसे निकल सकती है!' तब शकुन्तला संकोच से सिर झुका लेती है।

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि 'निसर्गकन्या' होते हुए भी, शकुन्तला प्रणय-शक्तियों अथवा मनसिज-विकारों से अछूती नहीं है। कवि इस सत्य से अवगत है कि यौवनागम पर नर-नारियों का अन्तःकरण एक छिपी भूख का अनुभव करता है तथा अनुकूल पात्रों के सान्निध्य से उसमें उथल-पुथल मच ही जाती है। पुनः, उसने आगे चलकर यह भी संकेत कर दिया है कि तपोवनवासियों में भी विवाह की प्रथा प्रचलित थी। अतएव, शकुन्तला प्रकृति के साहचर्य में रहकर भी, प्रेम एवं हृदय-दान के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं थी।

शकुन्तला के हृदय की कवि ने हल्की, किन्तु विश्वसनीय, झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं दुष्यन्त का अन्तःकरण कैसे शकुन्तला की तरफ ढलता जा रहा है—इसका सुन्दर एवं कुछ विस्तृत चित्रण नाटक में उपलब्ध होता है। यह जानकर कि शकुन्तला का विवाह योग्य वर मिल जाने पर होगा, दुष्यन्त का साहस बढ़ जाता

है, क्योंकि जिसे वह अग्नि समझ कर छूने से डरता था, वह अब स्पर्शनीय रत्न सिद्ध हुई है—"आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।" इसीसे तो वह प्रियंवदा से अनुराग-व्यंजक, सहानुभूति-स्निग्ध कथन करता है—

"भद्रे! पौधों को सींचते-सींचते आपकी सखी थकी दिखलायी पड़ रही है। घड़े उठाते-उठाते इनके कंधे ढीले पड़ गए हैं; हथेलियाँ लाल हो गयी हैं, इनका बार-बार उठता हुआ वक्ष यह बता रहा है कि इनकी साँस फूल रही है, कानों में पहने हुए शिरीष के कुसुम भी नहीं हिल रहे हैं, क्योंकि स्वेद की बूँदों से उनकी पंखड़ियाँ गालों पर चिपक गयी हैं तथा वेणी के खुल जाने से ये अपनी बिखरी लटें एक हाथ से किसी प्रकार सँभाले हुई हैं।"

कवि ने यद्यपि शील की रक्षा के निमित्त शकुन्तला को वाचाल नहीं होने दिया है, तथापि उसकी आन्तरिक प्रतिक्रियाओं की सूचना वह यों दे देता है—"यद्यपि वह स्वयं मुझसे बातचीत नहीं करती, तौ भी जब मैं बोलने लगता हूँ, तब वह कान लगा कर मेरी बातें सुनती है और मेरे सामने मुँह करके न बैठने पर भी, उसकी आँखें मुझ पर ही लगीं रहती हैं।"

राजा अब पूर्णतया आश्वस्त हो गया है—कुशा चुभने का बहाना करके शकुन्तला का रुक कर अपनी ओर निहारना देखकर, उसका बचा-खुचा संदेह भी नष्ट हो जाता है, और जैसे पवन के सम्मुख ध्वज के चलने पर उसकी रेशमी झंडी पीछे को फहराती चलती है, वैसे ही ज्यों-ज्यों राजा का शरीर आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसका चंचल मन पीछे को दौड़ता है।

प्रथमांक की समाप्ति तक दुष्यन्त की 'रागनिविष्ट' चित्तवृत्ति की पूरी-पूरी व्यंजना हो गयी है। यद्यपि शकुन्तला ने भी अपनी मनोदशा की विज्ञप्ति कर दी है, तौ भी प्रणय-संधि का प्रयत्न दुष्यन्त की ओर से ही हो रहा है। द्वितीय अंक में 'काम' की प्रतिष्ठा हुई है[1]। राजा को विश्वास हो गया है कि यद्यपि शकुन्तला का मिलन कठिन है, तथापि उसकी व्यवहार-मुद्रा से यह स्पष्ट है कि प्रणय की प्रार्थना दोनों ओर से है—

"कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते॥" (२।१)

---

१. प्रथम अंक में 'संग', द्वितीय में 'काम', तृतीय में 'भोग', चतुर्थ में 'चिन्ता', पंचम में 'प्रमाद', षष्ठ में 'पश्चात्ताप' तथा सप्तम में 'सिद्धि' का प्रतिपादन हुआ है। (पं० चन्द्रबली पांडे)

दुष्यन्त प्रिया को भोली चितवन सिखाने वाले हरिणों पर अब बाण चलाना नहीं चाहता। कुछ ऋषियों के भय से ही नहीं, अपितु प्रेम-स्निग्ध हो जाने से भी, दुष्यन्त ने आखेट बन्द कर दिया और सेनापति को लौटा दिया। विदूषक के यह कहने पर कि वह मीठा खजूर खाते-खाते जैसे इमली पर लट्टू हो गया है, राजा शकुन्तला के रूप-लावण्य की यों प्रशस्ति गाता है—

"चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।" (२।६)

—'ब्रह्मा ने उसकी रचना करते समय पहले उसको अपने चित्त में मूर्चित कर, या मन में संसार की सभी सुन्दरियों के रूपों को संचित कर, तब उसमें प्राण डाले होंगे, क्योंकि ब्रह्मा की प्रवीणता तथा उसके शरीर की शोभा पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि उन्होंने इसमें किसी अद्भुत स्त्री-रत्न की ही सृष्टि की है।'

इतना ही नहीं, दुष्यन्त उसकी पवित्र, अस्पृष्ट रूप-श्री पर मोहित हो गया है और उसको प्राप्त करने की कामना भी उसमें उद्बुद्ध हो गयी है—

"अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥" (२।१०)

—'उसका रूप बिना सूँघे हुए फूल, नखों से बिना छुए हुए किसलय, बिना बिंधे हुए रत्न, बिना चखे हुए मधु तथा बिना भोगे हुए पुण्यों के फल के समान पवित्र एवं अखंड है। न जाने, विधाता ने इस रूप-श्री को भोगने के लिए किसे बनाया है!'

यहाँ दुष्यन्त के मन की यात्रा की माप लगायी जा सकती है—"असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् कण्वः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते" से आरम्भ कर, वह "न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः" तक पहुँच गया है, सौन्दर्य के असाधु उपयोग के विचार से अब वह उसके उपभोग के लिए अभिलाषी बन गया है। इसी से तो वह माता के आह्वान की भी अवहेलना करता है और आश्रम में ही रहकर, प्रणय-परिपाक की प्रतीक्षा करने का निश्चय करता है।

तीसरे अंक में 'भोग' का विधान सम्पन्न हुआ है। कवि ने राजा की विरह-वेदना का चित्रण किया है। वह कुसुमशरों वाले कामदेव और शीतल कहे जाने वाले चन्द्रमा को उपालम्भ देता है, क्योंकि दोनों ने कामी जनों को धोखा दिया है। विरह-

विताड़ित अवस्था में वह मालिनी-तट पर बने लता-मंडप में जाता है जहाँ शकुन्तला प्रायः बैठा करती है। कवि ने यहाँ विरहानल में तप्त शकुन्तला की दयनीय अवस्था का भी चित्र अंकित किया है। लू लगने के व्याज से वह वहीं कुसुमों की शय्या वाली शिला की पटिया पर लेटी हुई है। दुष्यन्त को सच ही संदेह होता है कि शकुन्तला भी उसके विरह में तप्त है। उसकी तर्कना यों है—

"इसके वक्ष पर खस का लेप लगा है और एक हाथ में कमल की नाल का ढीला कंगन बँधा हुआ है। इतनी बेचैन होने पर भी, प्रिया के शरीर का सौन्दर्य कुछ कम नहीं हुआ है। यद्यपि लू लगने और काम से पीड़ित होने पर समान ही ताप होता है, तथापि लू लगने पर युवतियों में इतनी सुन्दरता शेष नहीं रह पाती।"

"प्रियवंदा सच कहती है। इसके गाल मुरझा गये हैं, मुँह सूख गया है, वक्ष की कठोरता नष्ट होती जा रही है, कमर और भी पतली हो गयी है, कन्धे झुक गये हैं तथा शरीर की छवि पीली पड़ गयी है। वायु के स्पर्श से मुरझाई हुई पत्तियों वाली माधवी लता के समान वह सुन्दर भी लगती है और इस पर दया भी आती है।"

दुष्यन्त की भी दशा ऐसी ही है—

"वह इतना दुबला हो गया है कि दिन-रात आँखों की कोरों से गिरने वाले तप्त आँसुओं के कारण मैला हुआ सोने का भुजबंध अत्यन्त ढीला पड़ गया है और बार-बार ऊपर सरकाते रहने पर भी, वह गट्टे पर खिसक आता है तथा धनुष की डोरी की फटकार से पड़े हुए घट्ठों पर भी ठहर नहीं पाता।" इस स्थल पर शकुन्तला अपने प्रेम को स्पष्ट स्वीकार करती है, प्रणय-पत्र लिखती है और दुष्यन्त के सहसा प्रकट हो जाने पर उससे भी प्रेम की बातें करती है—

"हला, किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन।"

यह सम्पूर्ण प्रसंग प्रेम-विह्वलता की निर्व्याज विज्ञप्ति से ओत-प्रोत है तथा गहरी मांसलता के रंग में रँगा हुआ है। सखियों के चले जाने पर दुष्यन्त का आत्म-नियमन कठिन हो गया है। इस स्थल पर शकुन्तला का कथन भारतीय नारी के ही अनुकूल है—"पौरव! कुछ तो शील का ध्यान रखो। प्रेम से व्याकुल होने पर भी मैं अपने मन से कुछ नहीं कह सकती।" फिर भी उसके मन की दशा कितनी कातर तथा वेदना-व्यथित है, यह गौतमी के साथ कुटी में चलते समय के उसके आत्म-प्रकाश में देखिये—

"हृदय! जब तुम्हारा प्रिय अपने आप आ पहुँचा था, तब तो तुम भयालु बने रहे। अब बिछुड़ जाने पर क्यों रोते-विलपते हो। (कुछ पग चलकर खड़ी होती

है, प्रकट) हे संतापहारक लता-कुंज ! विहार के लिए मैं तुम्हें फिर निमंत्रण दे जाती हूँ।"

संकोच और आत्माभिव्यक्ति का यह संघर्ष अत्यन्त मोहक है। दुष्यन्त की शकुन्तला-विजय को कवि ने परम स्वाभाविकता के साथ चित्रित किया है। शकुन्तला सरलता की मूर्ति है। वह प्रेम के उस विस्फोट के लिए पहले से तैयार नहीं थी जो दुष्यन्त के आगमन पर घटित हुआ। वह अपनी भावनाओं को छिपाना या दमित करना नहीं जानती थी। उसे तत्सम्बन्धी पूर्व-ज्ञान नहीं था। इसीलिए उसके हृदय के ऊपर कोई रक्षणात्मक कवच नहीं था और न तो वह प्रेम-वृत्ति पर, और न अपने प्रेमी के चरित्र पर ही संदेह कर सकती थी। अतएव, शील-रक्षा की चिन्ता होने पर भी, वह सरल, निश्छल युवती नागर दुष्यन्त के प्रणय-पाश में बँध गयी और मन के साथ तन का समर्पण भी उसे कर दिया। जैसे तपोवन के मृगों को विश्वास था कि कोई उन्हें क्षति नहीं पहुँचा सकता, वैसे ही शकुन्तला को भी अगाध, अडिग विश्वास था कि न तो प्रेम कोई बुरी वस्तु है और न उसका प्रणय-याचक ही उसे किसी प्रकार से क्षति-ग्रस्त करेगा। इस दृष्टि से शकुन्तला की सरलता सिद्ध है, उसकी पवित्रता अखण्डित।

'शाकुन्तल' का चतुर्थ खंड काव्य-मर्मज्ञों द्वारा भूरिशः प्रशंसित हुआ है। इसमें गर्भिणी शकुन्तला की कण्व के आश्रम से विदाई का मर्म-स्पर्शी चित्र अंकित हुआ है। प्रथम तीन अंकों में यौवन, सौन्दर्य एवं प्रेम के नितान्त मादक, मोहक एवं विस्मृतिशील चित्र खींचे गये हैं। शकुन्तला को चाहे इसका ज्ञान न हो कि वह गांधर्व सम्बन्ध स्थापित कर; किसी बड़ी भारी शील-विच्युति की अपराधी बन रही है, तथापि हमें और, साथ ही प्रियंवदा को भी, इस सम्पूर्ण व्यापार के औचित्य पर गहरा संदेह होता है और हम उत्सुकता-पूर्वक इस प्रतीक्षा में हैं कि महर्षि कण्व की इस पर क्या प्रतिक्रिया होती है। किन्तु वे शकुन्तला के इस प्रणय-सम्बन्ध पर प्रसन्न ही होते हैं और सम्पूर्ण प्रसंग में किसी आश्रमवासी ने यह नहीं टीका की है कि शकुन्तला का आचरण अशोभन है। तो भी, वह व्यवहार, शकुन्तला के ही अनुसार, 'तपोवन-विरोधी' रहा है। इस विचार से चिन्ता का बीजवपन तो यौवन की मद-गर्भित अठखेलियों के बीच ही हो जाता है—यह बात दूसरी है कि मनसिज के गाढ़े उद्रेकों में किसी को उसका स्पष्ट भान नहीं होता। चतुर्थ अंक में दुर्वासा के शाप से चिन्ता का यह तत्त्व धरातल पर आ जाता है। कण्व की क्षमाशीलता एवं उदारता दुर्वासा में कहाँ ? कदाचित् कण्व की ओर से भी दुर्वासा ने शील-रक्षा के निमित्त दंड देना उचित समझा।

अतएव, चिन्ता की इस पृष्ठभूमि में शकुन्तला की विदाई का प्रकरण और भी अधिक व्याकुलता-जनक बन गया है।

सम्पूर्ण चतुर्थ अंक स्नेह, सद्भावना एवं आत्मीयता की तल-स्पर्शी अभिव्यक्ति है। शकुन्तला पति-गृह को भेजी जा रही है, क्योंकि अब वह दूसरे की हो गयी है। उस पर चारों ओर से मंगल-मूलक आशीर्वादों की वर्षा हो रही है, उससे केवल आश्रम-वासी जनों की उदार सहृदयता पर ही आलोक नहीं पड़ता अपितु शकुन्तला के सरल, निस्पृह एवं निष्कपट आचरण की परोक्ष स्वीकृति भी उसमें विद्यमान है। तपस्विनियों के इन आशीर्वादों में कितनी सचाई, कितनी तन्मयता, कितनी आनन्द-विह्वलता भरी हुई है—

"जाते ! भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व।"
"वत्से, वीरप्रसविनी भव।'
"वत्से, भर्तुर्बहुमता भव।'
"सखि, सुखमज्जनं ते भवतु।"

इसी बीच, शकुन्तला का मंगल-श्रृंगार भी हो गया है। मांगलिक वस्त्र तथा चरण-रंजन के लिए महावर (लाक्षारस) वृक्षों ने दिया, वन-देवियों ने आभूषण दे दिये और प्यारी सखियों ने चित्र के समान शकुन्तला को आभूषणों से अलंकृत कर दिया। इसी बीच, महर्षि कण्व स्नान करके लौटे और शकुन्तला की विदाई के स्मरण से अत्यन्त विह्वल हो गये। देखिये, वे क्या कहते हैं—

"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥" (४।६)

जब वनवासियों की यह दशा है, तो गृहस्थों की क्या दशा होगी? 'प्रेमिका शकुन्तला' की चित्त-वृत्तियों की जिस सहानुभूति के साथ कवि ने पहले विवृति की है, उसी सहानुभूति के साथ अब वह 'कन्या शकुन्तला' की विदाई के अवसर-योग्य व्यवहार एवं वातावरण की सृष्टि कर रहा है। कोई भी पिता इससे अधिक तन्मयता, हार्दिकता एवं विह्वलता के सहित अपनी कन्या को पति-गृह भेजने का उपक्रम न करेगा। वन देवताओं से भरे हुए तपोवन के वृक्षों को सम्बोधित कर कण्व कहते हैं—"हे वृक्षो! जो पहले तुम्हें पिलाये बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषणों की प्रेमी होते हुए भी तुम्हारे स्नेह के कारण तुम्हारे कोमल पल्लवों को हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी

नयी कलियों को देखकर बड़ा उत्सव मानती थी—वही शकुन्तला आज पति-गृह को जा रही है। अतएव, तुम सभी इसे प्रेम-पूर्वक विदाई तो दो।"

वन-देवियों का आशीर्वाद भी, आकाशवाणी रूप में प्राप्त हो गया है और 'आर्य-पुत्र' के दर्शनों की शकुन्तला को उतावली भी हो रही है—(यह भी उसकी सरलता, निश्छलता एवं विश्रब्धता का प्रमाण है कि आश्रम-त्याग की वेदना के बीच वह पति-दर्शन की उत्सुकता का भी कथन करती है।) लेकिन उसका हृदय मनुष्यों से ही नहीं, आश्रमस्थ लता-पादपों और पशु-पक्षियों से भी प्रेम-सूत्र में निबद्ध है। वह सचमुच निसर्ग-कन्या है, प्रकृति-कुमारी है। ऐसे सच्चे एवं द्रवणशील हृदय-तत्त्व वाली नारी, जीवन में तो क्या, काव्य में भी कठिनाई से मिलेगी। वन की लताओं, पादपों, कुसुमों, पशुओं—सभी से उसकी आत्मीयता है। वह उनकी भाषा समझती है और वे उसकी भाषा समझते हैं। वह उनकी सेवा-परिचर्या करती है और वे उसकी मंगल-कामना से अनुप्राणित हैं। उसकी विदाई की घड़ी निकट आ जाने से, हरिणियों ने चबाई हुई कुशा के कौर उगल दिये; मोरों ने नाचना बन्द कर दिया; लताओं ने पीले पत्ते के रूप में आँसू गिराना प्रारम्भ कर दिया। शकुन्तला सबसे मिलती है, सबसे विदा लेती है। अपनी बहन (लता) वनज्योत्स्ना की भुजाओं से लिपटती है, पुत्र के समान पालित हरिण को जो मार्ग रोककर खड़ा हो जाता है, समझा-बुझाकर लौटाती है और 'गर्भमन्थरा मृगवधू' के लिए पिता से यह निवेदन करती है कि जब इसे सुख से बच्चा हो जाय, तो यह प्रिय संवाद मेरे पास भिजवा दीजियेगा। ऐसी सरलहृदया बाला अन्यत्र कहाँ मिलेगी ?

बिलखती शकुन्तला को कण्व गृहिणी का कर्त्तव्य बताते हैं; यह कामना व्यक्त कर उसे धैर्य बँधाते हैं कि वह पति-द्वारा समादृत राजमहिषी बनकर पवित्र पुत्र उत्पन्न करेगी और उनसे बिछुड़ने का दुःख भूल जायेगी। उसके यह पूछने पर कि उसे आश्रम के दर्शन फिर कब मिलेंगे, वे कहते हैं कि जब वह पृथ्वी को सौत बनाकर, अपने अद्वितीय पुत्र को राज्य एवं परिवार का भार सौंपकर, पति के साथ आएगी, तो उसे इस शान्त आश्रम में सुख मिलेगा। शकुन्तला के प्रस्थान करने पर विचार-मग्न कण्व कहते हैं—

"हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्, कुतः—
अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥" (४।२२)

—'ओह ! शकुन्तला को आज पति-गृह भेजकर मेरा मन स्वस्थ हो गया, क्योंकि कन्या सचमुच पराया धन ही होती है। आज उसे भेजकर मेरा मन वैसे ही निश्चिन्त हो गया, जैसे किसी की धरोहर लौटा दी हो।'

कण्व की शिक्षा में तथा इस अन्तिम उक्ति में भारतीय धर्म की मर्यादा बोल उठी है। कवि की वर्णाश्रम-धर्म के प्रति आस्था तथा कौटुम्बिक कर्तव्यों के प्रति जागरूकता का सुन्दर प्रतिपादन इस प्रसंग में सम्पन्न हुआ है।

सम्पूर्ण अंक में स्नेह और सौहार्द की जो पवित्र मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है; उसमें वस्तुतः हमारी संस्कृति के सनातन सन्देश ही ध्वनित हुए हैं।

तथापि, नाटककार ने इस स्नेह-पूर्ण विदाई के बीच चिन्ता के तत्त्व को सतत बनाए रखा है। दुर्वासा के शाप से उद्विग्नता तो उत्पन्न हुई ही है, अनुसूया का यह कथन भी कि "यद्यपि मैं प्रेम के विषय में अनभिज्ञ हूँ, तो भी इतना तो कह सकती हूँ कि राजा ने शकुन्तला के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया है" शकुन्तला के भावी कल्याण के लिए हमारी चिन्ता बढ़ाता है ! पुत्रवत् पालित मृग दीर्घापांग जो उसका मार्ग रोककर खड़ा हो जाता है, उसका भी अभिप्राय यही है कि शकुन्तला का भविष्य दुष्यन्त-गृह में शिवमय नहीं है और उसे आश्रम नहीं छोड़ना चाहिए। शकुन्तला को स्वयं, चकवे को न देख सकने के कारण, घबराहट से चिल्लाती हुई चकवी को देखकर, आशंका होती है कि उसका मनोरथ स्यात् सिद्ध न होवे। इन संकेतों से चिन्ता बार-बार संभावित सुख की कल्पना को बाधित करती चली आई है। यह नाटककार की कुशल-कला का द्योतक है कि वह रास-रंग और आनन्द के बीच भी, हमें यह स्मरण करने को मजबूर करता जा रहा है कि तपोवन में कुलपति कण्व की सहमति के बिना पल्लवित यह प्रेम-प्रपञ्च कदाचित् अशोभन है और अशिव भी।

पंचम अंक में दुष्यन्त का प्रमाद चित्रित है; और यहीं से 'दण्ड-भूमि' का आभोग भी प्रारंभ होता है। दुर्वासा का शाप अपना प्रभाव दिखलाता है और दुष्यन्त गर्भिणी पराई नारी को ग्रहण करने का अपयश नहीं लेना चाहता है। —"अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्", "अनार्यपरदार-व्यवहारः" इत्यादि उसकी मानसिक प्रतिक्रियाएँ हैं जो आपाततः धर्मानुमोदित, अतएव, उचित प्रतीत होती हैं। लेकिन उपनिषद् के शब्दों में, उसकी यह अवस्था 'जाग्रत्सुप्ति' की है क्योंकि उसका विवेक नष्ट हो गया है। दुष्यन्त का यह आचरण दुर्वासा के शाप की महिमा के विद्योतनार्थ नियोजित किया गया है क्योंकि ऋषि का शाप अवश्य घटित होना चाहिए और अनुराग के अविनय को दंड मिलना चाहिए। लेकिन, राजा ने पाप किया

शकुन्तला की अवहेलना कर—इसकी भी हल्की झाँकी कवि दिखाता है। नेपथ्य से आता हुआ रानी हंसपादिका का गीत—

"अभिनवमधुलोलुपो भवाँस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥" (५।१)

और दुष्यन्त की यह स्वीकृति कि अल्प प्रेमाचार के बाद ही उसने हंसपादिका से प्रेम हटा लिया है—ये दो सूक्ष्म संकेत हैं जिनसे कवि ने यह ध्वनित किया है कि दुर्वासा के शाप से जो घटना घटित हुई, उसके बीज मानव-प्रकृति में ही सन्निहित हैं, यह कि प्रेम अ-स्थिर होता है।

चौथे अंक से पाँचवें अंक में प्रवेश करने पर ऐसा लगता है जैसे हम एक नई दुनिया में पहुँच गये हों। आश्रम के आदर्श संसार से हम कठोर हृदयों एवं प्रेम-व्यापार की जटिल प्रणालियों वाले राजकीय दरबार में प्रवेश करते हैं जहाँ आश्रम का मनोरम स्वप्न भंग हो जाता है। शकुन्तला को पहुँचाने वाले दोनों ऋषि अनुभव करते हैं मानो वे किसी अग्नि की लपटों वाले भवन में ('हुतवहपरीतं गृहमिव') आ गए हों। ऐसे संकेतों से कवि हमें प्रस्तुत अंक के अन्त में घटित होने वाले शकुन्तला-परित्याग के लिए तैयार करता है। वह वन-कुमारी जैसे बिजली से आहत हो जाती है; सद्यः राजमहल की बात तो दूर रही, अपने आश्रमवासी प्यारे मित्रों, पशुओं, पक्षियों, लता-पादपों से उसका सम्बन्ध टूट जाता है तथा उसके पहले जीवन की सुषमा, शान्ति एवं पवित्रता नष्ट हो जाती है। एक ही क्षण में प्रथम चार अंकों का संगीत लुप्त हो जाता है।

तथापि, जिस प्रकार कवि ने मंगल-आनन्द के बीच चिन्ता का हल्का पुट सन्निविष्ट किया है जो पाँचवें अंक में अपनी समस्त विद्रूपता के साथ कार्यतः प्रतिफलित हो जाता है, उसी प्रकार इस गहन नैराश्य के बीच भी, उसने कुछ सूक्ष्म आलोक-संकेत प्रक्षिप्त कर दिये हैं जिनसे हममें नवीन आशा का संचार भी होता है। वास्तव में, यह कवि की निपुण-कला का निदर्शन है, क्योंकि फलागम तक जितनी छोटी-बड़ी घटनाएँ घटित हों, जितनी सूक्ष्म अथवा स्थूल प्रतिक्रियाएँ हों, उन सभी का उस अन्तिम परिणाम के परिपाक में योग होना चाहिए। हंसपादिका के गीत का समाधान तो दुष्यन्त ने विदूषक से करा दिया है, लेकिन, उसके भीतर यह कौन-सा क्षोभ सजग हो गया है—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥" (५।२)

—उसके सभी इष्ट-जन तो उसके पास ही हैं, फिर भी गीत सुनकर उसका मन क्यों उत्कंठित हो गया ? "सुरम्य वस्तुओं को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर पूर्व-जन्मों के आनन्ददायी संस्कार ('स्थिर-भाव') उद्बुद्ध हो जाते हैं'—यह तो दुष्यन्त की अपनी तर्कना है, अपना समाधान है। किन्तु, कवि का संकेत तो शकुन्तला के प्रति प्रदर्शित किये गये उसके पूर्व प्रेम की ओर है जिसकी स्पष्ट स्मृति उसे ऋषि-शाप के कारण नहीं है, लेकिन, जिसकी धुँधली, अज्ञात रेखा उसके अवचेतन में कहीं सोई हुई है। अन्यथा, सभी इष्टजनों के रहते हुए भी, उसके अनमनेपन का अर्थ क्या हो सकता है ?—"किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि।"

काव्यानुरागियों ने स्थायी भावों के वासनात्मतया मानव-अंतःकरण में अवस्थित होने के सत्य के अनुमोदनार्थ उपर्युक्त श्लोक को उद्धृत किया है। हमारा अनुरोध है कि इसे हमारी दृष्टि से पढ़ा और समझा जाय, तथा इस सत्य को स्वीकार किया जाय कि मुनियों का शाप भी उस प्रेम की छाया को बिल्कुल विनष्ट नहीं कर सकता जिसका स्फुरण, पल्लवन एवं आभोग अन्तरात्मा की स्वाभाविक प्रेरणाओं से हो चुका है, क्योंकि हृदय की प्रसूतियाँ सटीक, अतः, अभ्यर्थनीय होती हैं—"सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।"

हंसपादिका के गीत को सुनकर, नव-नव मधुसंचय के व्यसन में व्यस्त दुष्यन्त को जैसे एक हल्का धक्का लगता है कि उसने किसी 'अनाघ्रातकुसुम' का रस खंडित कर, उसे विस्मृत तो नहीं कर दिया है। सुषुप्ति उसकी गाढ़ी है, अतः इस क्षीण आघात से वह जगने वाला नहीं। गौतमी द्वारा शकुन्तला का अवगुण्ठन हटा दिये जाने पर, उसे दूसरा आघात लगता है। जो अभी 'कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः" (यह कैसी असत्, बेतुकी बात है ?) कहकर झुँझला उठा है वही इस अनिश्चय में पड़ गया—

"इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति,
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं,
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥" (५।१६)

—'मैं यह ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि इस अपने-आप आई हुई अत्यन्त शोभाशाली सुन्दरी के साथ मैंने पहले विवाह किया है या नहीं। इसीलिये,

जैसे तुषार पड़े हुए प्रातःकालीन कुन्द के पुष्प पर भौंरा न बैठता ही है, न छोड़कर जाता ही है, वैसे ही, मैं न तो इसे ग्रहण कर पा रहा हूँ, न छोड़ ही सक रहा हूँ।'

शकुन्तला की भर्त्सना से उसे तीसरा आघात लगता है और दुष्यन्त मन में सोचने लगता है कि इस नारी के क्रोध में सच्चाई जान पड़ती है, इसीलिये मेरा संदेह और भी बढ़ता है—

"मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहःप्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य॥" (५।२३)

—'एकान्त में जो मेरा इसके साथ प्रेम हुआ था, मैंने कठोरता के साथ उसे अस्वीकार कर दिया है। इस कारण क्रोध से आँखें लाल कर; इसने अपनी भौंहें ऐसे टेढ़ी कर ली हैं मानो कामदेव का धनुष टूट गया है।'

प्रस्तुत अंक के अवसान तक शकुंतला के अदृश्य होने का संवाद सुनकर दुष्यन्त की चिन्ता बढ़ जाती है—

"कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम्॥" (५।३१)

—'यद्यपि विवाह की सुधि न होने से मैंने उसका तिरस्कार किया है, तो भी मेरा अतिशय सन्तप्त हृदय उसकी बातों में विश्वास करने को मचल रहा है।' यहाँ दुष्यन्त का मन निश्चय की सीमा में प्रवेश कर गया है, यद्यपि केन्द्र तक पहुँचने में अभी यथेष्ट विलम्ब है।

कालिदास सोई हुई स्मृति को जगाने में शनैः-शनैः आगे बढ़े हैं। शाप के प्रभाव से प्रणयोपचार मानो दुष्यन्त के गहनतम मानसिक स्तरों के भीतर सन्निविष्ट हो गया है और कुशल कवि भिन्न-भिन्न परतों को एक-एक कर चीर रहा है। दुष्यन्त के परिताप को प्रखर बनाना उसका लक्ष्य है। अतएव, अँगूठी नहीं मिलने तक केन्द्रगत स्तर का उन्मीलित न होना ही स्पृहणीय है।

हमने जो ऊपर कहा है कि कवि ने दारुण निराशा के बीच में आशा की क्षीण छाया को जीवित रखा है, उसकी सचाई अब सिद्ध है। उसकी श्रेष्ठ, महीयसी कला का यह सबसे सुन्दर उदाहरण है कि पाँचवें अंक की समाप्ति तक जहाँ शकुन्तला का कल्पित स्वर्ग कपूर की भाँति विलुप्त हो गया है, वहीं उसके भाग्योदय की भूमिका भी तैयार हो गयी है।

कालिदास ने उपेक्षिता, कलंकिता शकुन्तला को कण्व के आश्रम में न भेज कर,

गहरी काव्यात्मक सहृदयता का परिचय दिया है। वह अब पहले जैसी नहीं थी। विश्व के साथ उसका सम्बन्ध अब बदल गया था। "यदि वह अपने पूर्व-परिचित परिवेश में रख दी गयी होती, तो इससे सम्पूर्ण परिस्थिति की गहन असंगतता का अत्यन्त निर्मम प्रदर्शन हुआ होता। शोक-सन्तप्त आत्मा के महान् अवसाद के अनुरूप ही एक महान् मौन अपेक्षित था। कण्व के आश्रम में जाने पर, आश्रम स्वयं बोल उठा होता। हमारी कल्पना में, उसकी लताएँ एवं वृक्ष रोये होते। शकुन्तला की दो सखियाँ अनुसूया और प्रियंवदा उसके लिए शोकाकुल हुई होतीं; तब भी, कवि ने एक शब्द भी इस विषय में नहीं कहा होता। लेकिन, मारीच के अपरिचित आश्रम में अखंड मौन है, केवल हमारे मानसिक नेत्रों के समक्ष संन्यासी के समान ध्यान-चिन्तन में मग्न, तपस्या से अनुशासित, शान्त एवं निरीह, विश्व-परित्यक्ता शकुन्तला का एक मर्मस्पर्शी चित्र वर्तमान है।" (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

षष्ठ अंक में दुष्यन्त के पश्चात्ताप का चित्रण हुआ है। वह परिताप 'तपस्या' ही है। आनन्द और सुख उसकी दिनचर्या से पलायन कर गये हैं। अंगुलीयक (अँगूठी) के दर्शन से शकुन्तला का पूर्ण प्रसंग स्मरण हो आया है और वह पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहा है। उसे कोई सुन्दर वस्तु पसन्द नहीं आती और न वह पहले की तरह मंत्रियों से मन्त्रणा ही करता है। अन्तःपुर की रमणियों के पूछने पर वह भूल से शकुन्तला का नाम ले लेता है और फिर देर तक लजाया रहता है। अलंकारों को तिरस्कृत कर दिया है; उच्छ्वासों से नीचे का ओठ लाल हो गया है और चिन्ता के कारण रात-भर जागने से आँखें अलसाई रह जाती हैं। शकुन्तला ने गुरु-शिष्यों द्वारा डाँटे जाने पर, अश्रु-भरे नेत्रों से जो उसकी ओर देखा था, वह उसे विष-भरे शल्य के समान पीड़ा दे रहा है। अथच, उसकी विह्लता इतनी बढ़ गयी है कि—

"स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम्।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथानामतटप्रपाताः" ॥ (६।१०)

—'वह समझ नहीं पा रहा है कि शकुन्तला का वह मिलाप स्वप्न था, या माया थी, या भ्रम था, या किसी ऐसे पुण्य का फल था जिसका भोग पूर्ण हो चला था। इन बातों ने उसके मनोरथों को मानो पहाड़ से गिराकर चूर-चूर कर दिया है।'

दुष्यन्त का यह परिताप सामान्य विरहीजनों का सामान्य प्रेमियों का परिताप नहीं है। उसका मन अत्यन्त कोमल हो गया है और वह घोषणा करवा देता है कि पापियों को छोड़कर वह प्रत्येक प्रिय-वियुक्त प्रजाजन का स्वजन या परिजन समझा

जाय। उसकी व्यथा केवल इसलिए नहीं है कि उसने एक प्रेमिका या अनुराग-निर्भर पत्नी खोई है अपितु, इसलिए भी है कि उसके बाद उसके पितरों का कौन विधि-पूर्वक तर्पण करेगा? (ऐसा कहकर वह मूर्छित हो जाता है।) इस प्रकार हम देखते हैं कि दुष्यन्त के भीतर का प्रेमी, वियोग की आँच में तड़पते-तड़पते, उसके भीतर के पिता से मिल जाता है। अर्थात्, उसके शकुन्तला-प्रेम में उसका अभिलषित वात्सल्य भी मिल गया है जिसकी आशा अब खंडित-सी प्रतीत होने लगी है; अर्थात् सम्मोह का जो मिट्टी का पर्दा उसकी अन्तरात्मा को शकुन्तला के प्रथम साक्षात्कार से ही अब तक आच्छन्न किये था, वह धीरे-धीरे उठ रहा है, हट रहा है। यह 'चिदावरणभंग' ही शकुन्तला का असली 'अभिज्ञान' है। शकुन्तला की विजय जितनी आसान थी, उसको भूल जाना भी जितना आसान था, उसकी पुनः प्राप्ति उतनी आसान नहीं है। कदाचित् वह स्पृहणीय भी नहीं है। अन्तः-करण की प्रवृत्तियों को प्रमाण मानने वाले दुष्यन्त के अन्तःकरण में ही यह अभिनव-ज्ञान जाग्रत हुआ है कि वह केवल किसी कामिनी का काम्य कान्त ही नहीं है, अपितु पृथ्वी-पति तथा पितरों के निरन्तर तर्पण का उत्तरदायी भी है। यह आन्तरिक प्रतीति निसर्गतः स्वाभाविक ढंग से हुई है। कवि ने सम्पूर्ण परिवर्तन, जो अन्तिम अंक में परि-पक्व हुआ है, अत्यंत नैसर्गिक ढंग से, भीतर से, सम्पन्न कराया है, 'अन्तःकरणप्रवृत्तयः' को ही प्रमाण ठहराया है।

अन्तिम अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला का पुनर्मिलन होता है। अब दोनों तपस्या की आँच में तप कर पवित्र स्वर्ण बन गये हैं। सिंह-शिशु को बलपूर्वक खींचते हुए सर्वदमन को देखकर, दुष्यन्त के मन में स्नेह भर जाता है। सुनिये, वह क्या कहता है—

"आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ॥" (७।१७)

—'वह भाग्यवान् धन्य है जिसकी गोद में बैठकर, स्वभाव से हँसमुख, कली के समान कुछ-कुछ झलकते हुए दाँतोंवाला और तुतलाकर रमणीय वचन बोलनेवाला यह बालक अपने अंग की धूल से उसका शरीर मैला करता होगा'।

पुनः—

"अनेन कस्यापि कुलांकुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्ररूढः ॥" (७।१६)

—'पता नहीं, यह किस वंश का है? जब एक बार स्पर्श कर लेने से, मेरे शरीर

---

१. बालक की इन सहज अकृत्रिम छवियों का वर्णन पढ़कर शेजी नामक फ्रांसीसी विद्वान् इतना आनन्द-विभोर हो उठा कि वह नाचने लग गया था।

को इतना सुख मिल रहा है, तब उस भाग्यवान् को कितना आनन्द मिलता होगा जिसका यह अपना पुत्र होगा !'

रूप के आसव का प्यासा दुष्यन्त वात्सल्य-रस में इतना ओत-प्रोत हो जायेगा, इसकी कल्पना नाटक के पहले अंकों में कौन कर सकता था ? सौंदर्य-मधु के लोलुप भ्रमर आजीवन मधु-लोलुप बने रह जाते हैं। यह तो भारतीय संस्कृति के पीयूष में पलने वाले विशदचेता कालिदास की संयत कल्पना है जिसने दुष्यन्त में यह आन्तरिक परिवर्तन का विकास घटित कर दिया। और, यदि यह आपत्ति की जाय कि इतने गहरे प्रेमी को पितृत्व की कामना से चंचल बना देना अस्वाभाविक है, तो हम कहेंगे कि 'शाकुन्तल' में प्रतिपन्न अंतःकरण-प्रवृत्तियों की सटीकता के आलोक में आप अपना मनोविज्ञान फिर से दुहरा जाइये।

दुर्भाग्य-विताडित, निश्छलता एवं पवित्रता की मूर्ति उस रूपशालिनी ललना को जिस प्रकार कण्व के आश्रम में वापस न भेजकर, कवि ने मार्मिक सूझ का परिचय दिया है, उसी प्रकार उसने महर्षि मारीच के आश्रम में भी उसकी दयनीय दशा का विशद चित्रण न कर, गहरे नाटकीय औचित्य का पालन किया है। दुष्यन्त के साथ हम भी पहले-पहल यौवन-लावण्य की धनी शकुन्तला को तपस्विनी के वेष में देखते हैं—

"वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥" (७।२१)

—'इसके शरीर पर मैले वस्त्र पड़े हुए हैं; तप करते-करते इसका मुख सूख गया है, इसके बाल एक लट में उलझे पड़े हैं, तथा यह शुद्ध चित्त से मेरे वियोग में दीर्घकाल से तप करती चली आयी है।'

लेकिन दुष्यन्त भी पश्चात्ताप से इतना विवर्ण हो गया है कि शकुन्तला उसे पहले पहचान नहीं सकी है। यह दुष्यन्त के लिए अत्यन्त कठोर दंड है कि वह अपनी प्रिय भार्या द्वारा देर तक पहचाना नहीं जा सका। फिर भी उसका बड़ा सौभाग्य है कि स्मृति पर पड़ा हुआ मोह का पर्दा हट गया और वह सुन्दरी उसे वैसे ही मिल गयी जैसे चन्द्रग्रहण बीत चुकने पर रोहिणी चन्द्रमा से मिल जाती है। शकुन्तला-दुष्यन्त का पहला मिलन जितना मादक एवं विस्मृतिशील था, उनका यह दूसरा मिलन उतना ही मर्म-द्रावक एवं उद्बोधक है। सहृदय पाठक के लिए आँसुओं को रोकना कठिन हो जाता है। दुष्यन्त गहरा पश्चात्ताप व्यक्त करता है तथा शकुन्तला से अपने अज्ञान-जन्य सम्मोह के लिए क्षमायाचना करता है। यह प्रेमी और प्रेमिका का मिलन नहीं है, अपितु धर्मबद्ध पति-पत्नी का मिलन है जिसमें मांसल

कामनाएँ नष्ट हो गयी हैं और आत्माएँ परस्पर मिल रही हैं। अपराध की स्वीकृति एवं परिमार्जन की प्रेरणा दुष्यन्त में जितनी बलीयसी है, विस्मरण एवं क्षमाशील उदारता की भावना शकुन्तला में भी उतनी ही बलवती है। उपालंभ का एक शब्द भी शकुन्तला के मुँह से नहीं निकला है। दुष्यन्त के इस अश्रु-मार्जन में कितनी मर्म-द्रावकता भरी हुई है —

"मोहान्मया सुतनु ! पूर्वमुपेक्षितस्ते यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः ।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥" (७।२५)

शकुन्तला के आँसू पोंछने वाले और उसके कोमल अधरों का रस-पान करने के लिए मचलने वाले (अंक ३, श्लोक २२) दुष्यन्तों में कितना अन्तर आ गया है। महर्षि मारीच के मुँह से दुर्वासा के शाप की बात जानकर शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों को संतोष हो जाता है कि वह अप्रिय घटना बिना कारण घटित नहीं थी। इतने मानसिक अवसाद के पश्चात् कवि ने जो दोनों को यह संतोष प्रदान कर दिया है, वह उसकी गहरी मनुष्यता का द्योतक है।

कालिदास ने अपने काव्यों में अपनी सहज गहरी आनन्दवादी मनोभंगिमा का आसव प्रवाहित करते हुए भी, जिस जीवन-दृष्टि का अनावरण किया है, वह व्यापक एवं ऊर्ध्वगामिनी है। प्रेम का अपने में कोई आत्यन्तिक महत्त्व नहीं है, प्रत्युत उसका अन्तिम उद्देश्य शिव की सिद्धि ही है—इस सनातन सत्य की व्यञ्जना ही 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का मूल उद्देश्य रहा है। विख्यात जर्मन मनीषी गेटे कालिदास की इसी मर्म-ग्राही पकड़ से चमत्कृत होकर, आनन्द एवं विस्मय में आत्मविभोर हो उठा था और इन शब्दों में प्रस्तुत रचना की प्रशस्ति गाई थी—

"यदि तुम वसन्त के फूल तथा शीतऋतु के फल चाहते हो, और आत्मा को मोहित करने वाला, प्रसन्न करने वाला एवं उसी तरह से पुष्ट करने वाला रसायन तथा पृथिवी एवं स्वर्ग का सम्मिलन—ये सभी बातें एक जगह देखना चाहते हो, तो 'शाकुन्तल' का अध्ययन करो और वहाँ ये सब तत्त्व तुम्हें मिल जाएँगे।"[1]

अर्थात् गेटे के मतानुसार, 'शाकुन्तल' में एक विकास का इतिहास चित्रित है;

---

१. गेटे की प्रशस्ति का संस्कृत में यों अनुवाद किया गया है—
"वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥"

वह विकास है फूल का फल में परिणत हो जाना, पृथिवी का स्वर्ग में पर्यवसित हो जाना, जड़ द्रव्य का सचेतन आत्मा में विलीन हो जाना।

(२)

प्रस्तुत नाटक का 'नैतिक रहस्य' आसानी से समझा जा सकता है। दुष्यन्त और शकुन्तला, दोनों ने तपोवन की पुनीत मर्यादा भंग की है; दोनों अपराधी हैं और दोनों को यथेष्ट दण्ड मिलने पर ही शान्ति उपलब्ध होती है। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में राजा को वर्णाश्रमधर्म का रक्षक बताया है और उस धर्म की सीमाओं का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति, चाहे वह स्वयं राजा हो अथवा 'तपस्विपुत्र' हो, उनके द्वारा क्षमा नहीं किया जा सकता। 'युगान्त तक कण्व सरीखे महात्मा द्वारा दीक्षिता कन्या' शकुन्तला दुष्यन्त के अपचार के प्रति आत्मसमर्पण कर देती है और 'शरीरधारी ब्रह्मचर्य' अतिथि दुर्वासा तक का भी अपमान कर बैठती है। अतएव व्यवस्था-भंजन के अपराध में उसे सम्यग् दंड मिलना ही चाहिये। अवगुंठन हटाने पर भी वह रूपसी दुष्यन्त द्वारा स्वीकार नहीं की जाती क्योंकि अब दुष्यन्त प्रेमी नहीं है, अपितु 'धर्मासन' अथवा 'व्यवहारासन' पर आसीन राजा है जिसे लोक-व्यवस्था की रक्षा की चिन्ता भीतर से सता रही है। शकुन्तला को जो दंड भोगना पड़ा है, वह अत्यंत कठोर होते हुए भी, भारतीय दृष्टि से न्याय्य एवं समीचीन है।

इसी प्रकार, दुष्यंत ने भी तपोवन की मर्यादा भंग की है, 'वर्णाश्रमाणां रक्षिता' होकर भी उनके मूल पर आघात किया है। लेकिन, राजा 'सर्वातिरिक्तसार' विशेष व्यक्ति है, सर्व-तेजोमय है, पृथ्वी के सारे सत्त्वों को मेरु की भाँति आक्रान्त कर उन पर शासन करता है।[1] "इन्द्रादि देवताओं के अंश-रूप, अथर्ववेद और ऐतरेय ब्राह्मण के मंत्रों से अभिषिक्त, शासन-शपथ के धनी, कालिदास के इस राजा को भला मानव-रूप में कौन दंड दे सकता है? उसे स्वयं वही दंड देगा। नियति स्वयं उस पर अपना शासन-चक्र रखेगी। उसके शरीर में देवताओं का निवास है। सब मिलकर उसे दंड देंगे[2]।" सहृदय भावक दुष्यंत के महान् दंड से परिचित है। "वसने परिधूसरे वसाना" वाली उक्ति में मानो उसका आहत मर्म ही मुखर हो उठा है। और, जब शकुन्तला अपने पुत्र के यह पूछने पर कि 'ये कौन हैं?' यह उत्तर देती है, "ते भागधेयानि पृच्छ" (अपने भाग्य से पूछ), तब तो दुष्यन्त के प्राणों को मानो

---

१. "सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना।......
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥" (रघुवंश १।१४)

२. भगवतशरण उपाध्याय: 'कालिदास और उनका युग', पृ० ११२-११३

बिजली के तार छू देते हैं और वह शकुन्तला के चरणों में गिर जाता है। और तब, "दोनों ओर से आँसुओं की धारायें निकल कर प्रायश्चित्त-रूप में उनके पापों के ऊपर बह जाती हैं। इस दंड-रूप भट्ठी में जलकर जब उनका पाप भस्म हो जाता है, तब पुत्र-रूपी राग उत्पन्न होकर, उनके हृदयों के घावों को दोनों ओर बैठ कर भर देता है। शकुंतला और दुष्यंत अपना गार्हस्थ्य, जो सारे आश्रमों का आधार है, नये सिरे से प्रतिष्ठित करते हैं। यह है 'शाकुन्तल' की नैतिक उद्देश्यपरक नाट्यता; अत्यंत करुण, निष्ठाजन्य, अभिराम जिसमें शिव और सुन्दर समान रूप से व्यवस्थित हैं। संसार की कोई कृति इतनी मधुर, इतनी सुकुमार, इतनी शालीन नहीं।"[१]

(३)

कालिदास ने 'शाकुन्तल' का मूल कथानक महाभारत के आदिपर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान से ग्रहण किया है। यह आख्यान संक्षेपतः यों है: "एक दिन पुरुकुलोत्पन्न राजा दुष्यन्त शिकार करते-करते, महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँचता है। कण्व उस समय उपस्थित नहीं हैं, फल लाने के लिए बाहर गए हैं। उनकी सुन्दरी कन्या शकुन्तला पर्णकुटी में मौजूद है और वह राजा का स्वागत करती है। दुष्यंत को उसे देखकर काम-विकार उत्पन्न होता है, और उसके पूछने पर शकुन्तला अपने जीवन का वृत्तान्त कह सुनाती है। तब दुष्यन्त अत्यन्त प्रलोभन देकर उससे अपनी पत्नी बनने की प्रार्थना करता है। शकुन्तला यह शर्त रखती है कि मेरे लड़के को तुम्हारे बाद सिंहासन मिलना चाहिये। राजा यह शर्त स्वीकार कर लेता है और दोनों गान्धर्वरीति से परिणय-सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। कुछ देर तक वहाँ रहने के बाद दुष्यंत राजधानी को लौट आता है। शकुन्तला गर्भवती होकर पुत्र को जन्म देती है। छः वर्ष की अवस्था में ही बालक अत्यंत पराक्रमी बन जाता है और व्याघ्र सिंह आदि पशुओं को पकड़कर, उनके साथ खेलने लगता है, इस कारण उसका नाम 'सर्वदमन' रखा जाता है। तब कण्व शकुन्तला को पुत्र के साथ दुष्यंत के पास भेजते हैं। राजा उसे ग्रहण करना अस्वीकार करता है। किन्तु, ठीक उसी समय आकाशवाणी होती है—"भरस्व पुत्रं दौष्यन्ति सत्यमाह शकुन्तला"—'शकुन्तला सच बोलती है, पुत्र तुम्हारा ही है; उसका भरण-पोषण करो।' राजा तब कहता है कि उसे सच्चाई ज्ञात थी, लेकिन वह सभासदों के भय से शकुन्तला को स्वीकार करने में संकोच करता था। अब वह शकुन्तला को अपनी पटरानी बनाता है और भरत (सर्वदमन) को युवराजपद पर आसीन करता है।"

---

१. वही, पृ० ११६

महाभारत की इस निर्जीव एवं निष्प्राण कथा में कालिदास ने चमत्कारी परिवर्तन किये हैं—यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं। महाभारत में शकुन्तला ने अपने जन्म की कथा स्वयं कही है। कालिदास ने ये सारी बातें उसकी दो सखियों, प्रियंवदा और अनुसूया, के द्वारा कहलाई हैं और इस प्रकार शकुन्तला के शील एवं मुग्धत्व की रक्षा की सुन्दर योजना कर दी है। महाभारत की शकुन्तला विवाह करने के पूर्व यह शर्त रखती है कि उसके पुत्र को राजा के बाद सिंहासनासीन होने का अधिकार मिले। नाटक की शकुन्तला अपनी सखियों से कहती है—"तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तेथा यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि।" महाभारत की शकुन्तला प्रगल्भ, स्पष्टवादिनी एवं निर्भीक तरुणी है जिसमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क अधिक है। नाटक की शकुन्तला लज्जावती, प्रेमपरायणा एवं निश्छल मुग्धा बालिका है। महाभारत में कण्व फल-मूलादि लाने वन में गए हैं जहाँ से वे घण्टे, दो घण्टे में लौट आए होंगे। इतने ही समय में प्रणयोद्रेक तथा गान्धर्व विवाह की बात अयौक्तिक प्रतीत होती है। नाटक में कण्व शकुन्तला के किसी भावी अनिष्ट के निरसन-हेतु सोमतीर्थ चले गए हैं और इस प्रकार उनकी दीर्घकालीन अनुपस्थिति में आश्रम में घटित होने वाली घटनाओं की स्वाभाविक पीठिका प्रस्तुत हो गई है। आश्रम के रक्षार्थ तपस्वियों का दुष्यंत से ठहरने की प्रार्थना करना, नायक-नायिका के प्रणय का उद्भव एवं विकास तथा दुर्वासा का शाप—ये सारी बातें कण्व की दीर्घकालिक अनुपस्थिति में ही सम्भव हो सकती थीं। महाभारत में शकुन्तला के गर्भ से ही आश्रम में पुत्र उत्पन्न होता है और उसके छः वर्ष की आयु प्राप्त करने पर ही शकुन्तला पतिगृह को भेजी जाती है। कालिदास ने प्रसव के पूर्व ही शकुन्तला को पतिगृह भेजकर भारतीय मर्यादा का पालन किया है। दो महत्त्व की नवीनताएँ जो कालिदास ने सन्निविष्ट की हैं, दुर्वासा का शाप तथा उसकी निवृत्ति के लिए मुद्रिका की व्यवस्था हैं। महाभारत का दुष्यंत कामुक, भीरु एवं स्वार्थी प्रतीत होता है। लेकिन, शाप वाली घटना की योजना से उसके चरित्र का यह कृष्णपक्ष धवल बन गया है क्योंकि शाप के अनुसार शकुन्तला का पति द्वारा तिरस्कृत होना आवश्यक था। साथ ही, शकुन्तला को अभिशप्त कर उसे शील-स्खलन के लिए दंड देने का विधान भी कर दिया गया है। वस्तुतः नाटक में विप्रलम्भ तथा अन्तिम सम्मिलन का जो अत्यन्त करुण एवं मर्मविदारक चित्र उपस्थित हो सका है, वह इसी शापवाली घटना का प्रतिफल रहा है। शाप के कारण राजा को शकुन्तला की विस्मृति हो गई थी। अतएव, शाप-विमोचन के लिए किसी साधन से राजा की स्मृति जाग्रत करना आवश्यक था। इस कार्य के लिये नाटककार ने अँगूठी वाली बात की योजना की है। शकुन्तला के राजा के पास जाने के पहले अँगूठी का

गिरना और शकुन्तला को अस्वीकार करने के बाद अँगूठी देखकर राजा की स्मृति का जाग्रत होना—ये दोनों घटनाएँ बड़ी स्वाभाविक रीति से नियोजित की गई हैं। छठे अंक में धीवर तथा सिपाही (श्याल) के दृश्य के सन्निवेश से अँगूठी वाला प्रसंग अत्यन्त कौशलपूर्वक चित्रित हुआ है। शाप तथा अँगूठी वाली घटनाओं से मनो वह वैज्ञानिक कड़ी प्रस्तुत हो गई है जो वर्तमान को अतीत से जोड़ती है, कार्य को कारण से जोड़ती है और मानव-जीवन को ईश्वरीय जीवन से जोड़ती है। राइडर (Ryder) ने ठीक ही कहा है कि यह योजना एक दैवी घटा है जो नाटक को आच्छादित किये हुए है, किन्तु जो मानवी प्रणय के आलोक को पर्याच्छिन्न नहीं करती, प्रत्युत उसे असाधारण व्यापकता एवं सार्वलौकिकता प्रदान करती है। अन्ततः शारद्वत और शार्ङ्गरव नामक कण्व के दो शिष्यों, शकुन्तला की मातृस्थानीय वृद्धा तापसी गौतमी, राजपुरोहित, माढव्य नामक विदूषक, वैखानस, सेनापति इत्यादि अनेक पात्रों की उद्भावना कर तथा शकुन्तला को प्रकृति-कुमारी के रूप में चित्रित कर, नाटककार ने 'शाकुन्तल' के संसार को सर्वथा अनूठा, प्रशस्य एवं स्पृहणीय बना दिया है।

पद्मपुराण में वर्णित शकुन्तला की कथा नाटक के कथानक से घनिष्ठ साम्य रखती है। इस आधार पर प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० विंटरनित्स का कथन है कि कालिदास ने अपनी कथावस्तु पद्मपुराण से ली होगी। लेकिन, इस मत का सप्रमाण खंडन किया गया है और यह अनुमान किया गया है कि 'शाकुन्तल' के प्रसंगों तथा महाभारत के ओजस्वी भाषणों को लेकर, पद्मपुराणकार ने "अपने शकुन्तलोपाख्यान की कथरी बनाई है।[1]"

मुद्रिका वाले प्रसंग की योजना में अनेक यूरोपीय पंडितों का विश्वास है कि कालिदास ने यह कल्पना बौद्ध जातकों से ग्रहण की होगी। 'कट्ठहारि' नामक जातक में 'शाकुन्तल' की कथा के समान एक कहानी मिलती है। इसके अनुसार ब्रह्मदत्त नामक राजा जंगल में एक सुन्दर स्त्री को देखता है, उससे कुछ काल तक रमण कर, अपने नगर को लौट जाता है। जाते समय उसको अँगुली में स्मृति के लिए एक अँगूठी पहना देता है। स्त्री एक बालक को प्रसव करती है जो बोधिसत्त्व कहलाता है। उसके बड़े होने पर वह स्त्री राजा के पास जाती है और अँगूठी दिखलाती है, तो भी राजा उसे स्वीकार नहीं करता। तब स्त्री बालक को पैर पकड़ कर आकाश में फेंक देती है जहाँ वह सुरक्षित पालथी मारकर बैठ जाता है। यह देखकर किसी को उसके जन्म के विषय में संशय नहीं रहता और तब राजा स्त्री को

१. प्रो० मिराशी : 'कालिदास', पृ० २०४

स्वीकार कर बालक को युवराज-पद प्रदान करता है। स्पष्ट है कि इस कहानी का पूर्वार्ध 'शाकुन्तल' की कथा से मिलता है। लेकिन जैसा भारतीय विद्वानों का अनुमान है, बौद्धों ने यह कथा हिन्दू-ग्रन्थों से ग्रहण की और उसे गौतम बुद्ध के जन्म के साथ जोड़ दिया। बिजैंटियम के सम्राट् जस्टिनियन और उसकी पत्नी ऐंटोनिया के विषय में ऐसी ही कहानी कही जाती थी। Old Testament में वर्णित ज्यूडा (Judah) की वंशावली में टमर (Tamar) और ज्यूडा के विषय में यह कहा गया है कि ज्यूडा ने टमर के साथ वेश्या के समान संभोग किया और जाते समय उसे एक अँगूठी छोड़ गया। जब वह गर्भवती हुई तो इसी अँगूठी के सहारे वह ज्यूडा द्वारा पहचानी गई। अतएव; यह एक निजंधरी प्रसंग (Legendary Theme) है जिसका मूल वस्तुगत सचाई में संनिहित हो सकता है। उन वंशों में इसका विशिष्ट महत्त्व था जिनमें वंशावली की विशुद्धता की रक्षा करना तथा सन्दिग्ध सन्तानों की वास्तविकता को प्रमाणित करना आवश्यक था।[1]

किन्तु, अँगूठी वाली कल्पना के लिए कालिदास किसी अभारतीय स्रोत के ऋणी होंगे—ऐसा समझना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। यह कल्पना उन्हें वाल्मीकीय रामायण के सीता वाली मुद्रिका के प्रसंग से सूझी होगी। पुनः लोक-कथाओं में ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जिनमें किसी राजा ने अपनी विप्रयुक्ता अथवा परित्यक्ता रानी को, प्रणय-भोग की स्मृति में अपने द्वारा दी गई अँगूठी के दर्शन से, पहचान लिया है और उस रानी के प्रति अन्याय एवं अत्याचार करने वाले व्यक्तियों को दंडित किया है। कालिदास के समय में भी ऐसी लोककथाएँ प्रचलित होंगी और संभव है, उन्होंने दुष्यन्त की अँगूठी वाली कल्पना वहीं से ली होगी। यह भी ध्यातव्य है कि 'मालविकाग्निमित्र' में भी नाटककार ने अँगूठी का उपयोग पहचान के लिए किया है।

धीवर वाले प्रसंग के लिए कतिपय, विद्वानों के मतानुसार, कालिदास हेरोडोटस नामक यूनानी इतिहासकार के ग्रंथ में दिए एक प्रसंग के ऋणी हैं—'पालिक्रेट्स नामक एक राजा ने एक दिन अपने भाग्य की परीक्षा के लिए अत्यंत मूल्यवान् रत्नखंड से जटित अपनी मुद्रिका समुद्र में डाल दी। फिर, पाँच-छः दिनों में वह एक धीवर द्वारा लाई गई मछली के पेट में मिली।' किन्तु, कालिदास ने अन्यत्र भी यूनानी कथाओं का उपयोग किया हो, ऐसा लक्षित नहीं होता। अंगुलीयक के स्मृति-चिह्न के रूप में उपयोग करने की कल्पना जैसे उन्हें लोक-कथाओं से मिली होगी, वैसे

१. Walter Ruben : 'Kalidasa', पृष्ठ ५१

की मुद्रिका की मछली के पेट में से निकलने वाली कल्पना भी लोककथाओं से सूझी होगी। लोक-साहित्य शिष्ट साहित्य को प्रभावित करता है और उससे प्रभावित भी होता है। लेकिन हमारा यह अनुमान है कि अँगूठी वाली कल्पना स्वयं वाल्मीकि को लोक-साहित्य से मिली होगी और कालिदास ने भी अंगुलीयक तथा उसके मछली द्वारा निगले जाने की कल्पना वहीं से ग्रहण की होगी।

कालिदास के 'शाकुन्तल' की कथानक-रचना में वाल्मीकीय रामायण से प्रभावित होने की कल्पना का कुछ विद्वानों ने विशद विवेचन किया है। वाल्टर रुबेन का कथन है कि कालिदास ने इस नाटक में आद्योपान्त रामायण महाकाव्य का अनुसरण किया है। महाभारत की पुरानी कथा में तरुणी माता ने छः वर्षों तक प्रतीक्षा की और तब पुत्र को साथ लाकर, दुष्यंत के सम्मुख उसकी सही स्थिति को प्रमाणित किया। लेकिन कालिदास ने गर्भवती शकुन्तला को राजा के पास पहुँचा दिया और उसके द्वारा पहचानी न जाने पर, उसे पुनः दूसरी बार पति से वियुक्त बना दिया जब कि शकुन्तला किसी दिव्यज्योति द्वारा हटा ली जाती है तथा पुत्र को प्रसव करती है और जब बालक बड़ा होकर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है, तो माता पिता और पुत्र तीनों पुनः संयुक्त हो जाते हैं। रामायण में सीता दो बार राम से विप्रयुक्त होती हैं। पहली बार वे रावण द्वारा हरी गईं और लंका से लौटने पर अग्निपरीक्षा में अपने सतीत्व को प्रमाणित कर, राम द्वारा राजमहल में स्वीकार की गईं। दूसरी बार, वर्षों बाद, राम ने लोकभय से गर्भावस्था में सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ दिया जहाँ उन्होंने एक युग्म को जन्म दिया और बालकों के बड़े होने पर ही, राम सीता और पुत्रों से मिल सके। सीता ने पृथिवी से उसके गर्भ में शरण पाने की प्रार्थना की जब कि शकुन्तला किसी अप्सरा द्वारा पृथिवी पर से उठा ली गई। पुनः दोनों के बालकों को ऋषि-आश्रमों में लालित-पालित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। 'शाकुन्तल' और 'रामायण' की कथाओं में उपलब्ध इन साम्यों के आधार पर, रुबेन का कथन है कि नाटक वास्तव में महाकाव्य का ही संशोधित रूपान्तर है।[1]

रामायण और 'शाकुन्तल' की कथाओं में सबसे बड़ा सादृश्य यह है कि दोनों पत्नियों का अपने पतियों से दो बार विप्रयोग घटित हुआ है। ऊपर जिन स्रोतों का निर्देश हुआ है, उनमें पति-वियोग की इस द्विविधता (Twiceness) का कोई उल्लेख नहीं है। अतएव, रुबेन का यह अनुमान मान्य समझा जा सकता है कि कालिदास ने अपने कथानक के निर्माण में वाल्मीकि के आदिकाव्य से प्रेरणा ग्रहण की, यद्यपि दुष्यन्त और शकुन्तला के चरित्र-चित्रण में उन्होंने राम और सीता की

---

१. वही पृ० ५६

तुलना में, युग के परिवर्तित आदर्शों के अनुरूप पर्याप्त भिन्नता सन्निविष्ट कर दी

कतिपय विद्वानों का मत है कि 'शाकुन्तल' पर भास के नाटकों का प्रभाव पड़ा है। 'प्रतिमा' नाटक की वल्कल तथा वृक्ष-सेचन की घटनाएँ, 'स्वप्नवासवदत्त' की कल्पनाएँ तथा उसका तपोवन वाला दृश्य और 'अविमारक' का शृंगारिक तत्त्व—ये सभी बातें 'शाकुन्तल' में अतीव आवर्जक ढंग से समाविष्ट हैं। 'शाकुन्तल' के तृतीय अंक तथा 'अविमारक' के तृतीय अंक में घटनाओं एवं शब्दावली का घनिष्ठ साम्य उपलब्ध है; इससे भी कालिदास के भास द्वारा प्रभावित होने की बात का समर्थन मिलता है। अतएव, यह स्वीकार किया जा सकता है कि कालिदास ने भास से अनेक भाव एवं प्रसंग लिये होंगे, किन्तु उन सबको उन्होंने अपनी प्रवीण प्रतिभा के पारस से संयुक्त कर, एक सर्वथा अभिनव सृष्टि उत्पन्न कर दी है। इसमें विवाद का अवकाश नहीं है।

(४)

'शाकुन्तल' की वस्तु-संघटना सुगठित एवं मनोरम है। 'मालविकाग्निमित्र' के कथानक के समान इसका कथानक जटिल और उलझा हुआ नहीं है। तथापि इसमें विभिन्न प्रसंगों की योजना इतने कौशल से की गई है कि उनमें तारतम्य एवं सामञ्जस्य बना रह गया है और सामाजिकों का औत्सुक्य अन्त तक भंग नहीं होने पाया। विविध घटनाओं के विन्यास में स्वाभाविक क्रमिकता वर्तमान है और वे सभी न्यूनाधिक रूप में मूल कथा के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं। कोई ऐसा दृश्य अथवा प्रसंग नहीं, जो अहेतुक अथवा निष्प्रयोजन हो।

नाटक के आरम्भ में मृगया-दृश्य की योजना हुई है जिसमें दुष्यन्त रथ पर आरूढ़ दिखाई पड़ता है। इस दृश्य में कवित्वमयता एवं वर्णनात्मकता अधिक है, नाटकीयता कम। द्वितीय अंक प्रथम अंक का ही परिणाम है जिसमें हमें प्रणय-दग्ध राजा के मुख से प्रथम अंक की शकुन्तला की शारीरिक और मानसिक अवस्था का आभास मिलता है। इस अंक में नाटक का द्वन्द्व मुख्यतया आन्तरिक है। यों तो दुष्यन्त के हृदय में ही पहले यह उथल-पुथल मचती है कि शकुन्तला उपभोग के योग्य है या नहीं। लेकिन, वास्तविक अन्तर्द्वन्द्व शकुन्तला के भीतर घटित होता है जब नवोत्थित प्रणयावेग उसे एक ओर खींचता है और उसका मुग्ध स्वभाव, तपो-वनोचित संस्कार तथा कन्योचित लज्जा दूसरी ओर खींचते हैं। चौथे अंक का विष्कम्भक कथानक में मौलिक परिवर्तन का सूत्रपात करता है। इसे भावी विपत्ति का प्रथम सूचक समझा जा सकता है। प्रातःकाल का वर्णन—"सूर्य-चन्द्रमा के एक

साथ उदय-अस्त द्वारा मानों संसारियों का भाग्यचक्र नियंत्रित हो रहा है।"—यह सूचित करता है कि जीवन अथवा प्रणय निरा आनन्दमय ही नहीं है। दुर्वासा के शाप जैसी महत्त्वपूर्ण घटना को 'विष्कम्भक' में उल्लिखित कर अपूर्व नाट्य-कौशल का परिचय दिया गया है। शकुन्तला के प्रयाण के दृश्य में मानो मानव-हृदय ही, शतधा-सहस्रधा, मुखरित हो उठा है। करुणा की यह भावना पाँचवें अङ्क के हंसपादिका के गीत से तीव्रतर हो जाती है। इस अंक में नाटक का कथानक शकुन्तला के प्रत्याख्यान से अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। चौथा अंक जितना ही कवित्वमय है, पाँचवाँ अंक उतना ही नाटकीय है। दुर्वासा का शाप कार्यरूप में परिणत हो चुका है। पर शकुन्तला ने न पहचाने जाने की दशा में अपनी अँगूठी पर ही सारी आशाएँ लगा रखी हैं। फिर हम देखते हैं कि इस अंक में एक प्रेमी पति पूर्णतया अपरिचित बन जाता है, और उसकी गर्भवती पत्नी उससे शरण और आश्रय की याचना करती है। एक ओर बेचारी शकुन्तला का अपने प्रेमी की स्मृति जाग्रत करने का करुण प्रयास और दूसरी ओर राजा का राजोचित गर्व और निर्मम व्यवहार है। शारद्वत राजा के प्रति शकुन्तला की ओर से जो उत्तेजनात्मक शब्द कहता है उससे शकुन्तला की निःसहाय स्थिति का आभास और भी तीव्र हो जाता है। अन्त में शकुन्तला को एक दिव्य ज्योति उठा ले जाती है। छठे अंक के प्रवेशक में कवि ने पुलिस अधिकारियों और धीवर के बीच वार्तालाप द्वारा लोकजीवन का अत्यन्त वास्तविक और स्वाभाविक चित्रण किया है। छठा अंक पाँचवें अंक का ही परिणाम है, जो प्रत्यभिज्ञान, अँगूठी, की उपलब्धि से आरम्भ होता है। उसमें दुष्यंत के अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान-जनित मानसिक परिताप का प्रगाढ़ अंकन है। समुद्र-वणिक् की मृत्यु की घटना से राजा का आग्रह अपनी प्रियतमा की ओर से हटकर अपने पुत्र के प्रति हो जाता है, और यह भी दर्शनीय है कि पुत्र के अभाव-ज्ञान से ही प्रियतमा का प्रत्यभिज्ञान होता है। यह करुण दृश्य मातलि-विदूषक के संवाद द्वारा अकस्मात् आश्चर्य, क्रोध और विनोद के दृश्य में परिणत हो जाता है। अन्तिम अंक का घटनास्थल पृथिवी के उपरिवर्ती लोकों में है। मारीच-आश्रम की अलौकिक पवित्रता और सुन्दरता के बीच चरम नाटकीय अवस्था का शनैः शनैः उद्घाटन होता है—राजा का अपने पुत्र और पत्नी से मिलन होता है। ऋषि और उनकी पत्नी राजा और उनके कुटुम्ब पर आशीर्वाद की वृष्टि करते हैं। ऐसे पावन और शान्त वातावरण में नाटक समाप्त होता है।'[1]

---

१. चन्द्रशेखर शास्त्री : 'संस्कृत साहित्य की रूपरेखा', पृ० ११७-११८

(५)

रस-व्यंजना की दृष्टि से 'शाकुन्तल' का महत्त्व सर्वोपरि है। सम्भोग की मादकता तथा विप्रलम्भ की मर्मद्रावक विह्वलता—दोनों शृंगारों की ऐसी ललित एवं हृदय-स्पर्शी मन्दाकिनी इसमें प्रवाहित हुई है कि सहृदय भावक उसमें अवगाहन करते नहीं अघाता। अन्य रसों की भी मधुर छींटें, अथवा मोहक ऊर्मियाँ, इस मन्दाकिनी की महिमा में योग देती हैं। प्रथमांक के आरम्भ में दुष्यंत के सामने अपने प्राण बचाने के लिए भागते हुए मृग के तथा उसके अंत में हाथी द्वारा किये गये विध्वंस के चित्रण में भयानक रस, दूसरे अंक में विदूषक के विनोदपूर्ण भाषण में हास्यरस और चौथे अंक में आकाशवाणी तथा वनदेवता द्वारा दिये हुए वस्त्राभूषणों के वर्णन में अद्भुत रस की छटा दृष्टिगोचर होती है। किन्तु, चतुर्थ अंक की प्राणवत्ता करुण एवं वत्सल रसों का समन्वित अपूर्व प्रवाह है तथा विद्वानों की सम्मति में इसकी प्रतिस्पर्धा करने वाला प्रसंग सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। पंचम अंक में राजा से परित्यक्त शकुन्तला की स्थिति में करुण और अन्त में अप्सर-स्तीर्थ के पास उसके अन्तर्धान हो जाने में अद्भुत रस का उत्थापन हुआ है। छठे अंक में राजा के करुण शृंगार को विदूषक के हास्य से जोड़ दिया गया है। अंतिम अंक में सर्वदमन और दुष्यंत के मिलन वाले प्रसंग में वत्सल एवं अद्भुत की मनोरम व्यंजना हुई है। नाटकांत के अनेक रसों की चर्वणा के अनंतर सामाजिकों की चित्त-वृत्ति शान्त रस में निमज्जित हो जाती हैं—

"ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।"

—'अपने से ही उत्पन्न होने वाले तथा चारों ओर अपनी शक्ति का विस्तार करने वाले महादेव जी ऐसी कृपा करें कि मुझे पुनः संसार में जन्म न लेना पड़े।'

(६)

दुष्यंत कालिदास के नायकों में सर्वश्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है। जितनी सावधानी एवं सतर्कता से नाटककार ने उसके चरित्र की अवतारणा की है, वह अन्य नायकों को प्राप्त नहीं हो सकी है। अग्निमित्र सशंक एवं परावलम्बी प्रेमव्यसनी है; यह उसका सौभाग्य है कि वह सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र है और इसी नाते वह राजा के सम्पूर्ण परिचित परिवेष्टनों से आचित है। पुरूरवा राजर्षि है, विक्रमी है और है प्रथम श्रेणी का अनन्य-साधारण प्रेमी, जो प्रेयसी के विश्लेष में अपना मानसिक संतुलन अल्पकाल के लिए खो बैठता है। अग्निमित्र की तुलना में पुरूरवा अधिक प्रिय, अधिक प्रभविष्णु-चरित्र है। तथापि; कालिदास की प्रबुद्ध चेतना के तार एक साथ झनझना

कर जैसे मधुर एवं उदात्त संगीत से दुष्यंत के चरित्र का शृंगार कर सकने में समर्थ हुए हैं, वह पुरूरवा के चरित्र में उपलब्ध नहीं है। दुष्यंत राजा और प्रेमी, विवेकवादी और हृदयवादी, दोनों रूपों में सँवारा गया है। प्रथम रूप में उसकी चित्तवृत्तियाँ स्वस्थ हैं, लोकविहित हैं। दूसरे रूप में उसकी मनोवृत्तियाँ सम्मोहित हैं, व्यक्तिनिष्ठ हैं। नाटककार ने इन दोनों रूपों को इस कौशल से मिला दिया है कि पहले का आस्वाद, प्रधान होते हुए भी, दूसरे को विलुप्त नहीं कर सका है, अपितु उसके मिश्रण से वह उसी भाँति और भी समृद्ध बन गया है जैसे दूध में चीनी स्वतः घुलकर, उसके आस्वाद को और भी बढ़ा देती है। दुष्यंत का चरित्र दूध के समान निर्मल एवं स्वस्थ तत्त्वों से परिपूरित है। प्रणय ने उसमें प्रविष्ट होकर वह रूपान्तर उत्पन्न कर दिया है जो मानवता के मर्म को सीधे पकड़ता है, अधिशासित करता है।

(१) दुष्यंत के स्वस्थ स्वरूप को नाटककार ने दो रूपों में चित्रित किया है प्रथम, आदर्श राजा और द्वितीय, आदर्श मनुष्य।

(क) आदर्श राजा :

दुष्यन्त 'आर्यपुरुषत्व के श्रेष्ठतम गुणों का प्रतीक' है। वह वस्तुतः धर्मभीरु व्यक्ति है और राजा के रूप में वर्णाश्रमधर्म की रक्षा वह अपना पावन कर्त्तव्य समझता है। मृगया का अनुरागी होते हुए भी, ज्यों ही उसके कानों में यह ध्वनि सुनाई पड़ती है कि "राजन् आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः" त्यों ही वह बाण उतार देता है क्योंकि वह पुरुवंश का प्रदीप है और उसके शस्त्र पीड़ितों के परित्राण के लिए हैं, निरपराधों के प्रहार के लिए नहीं। ऋषि-मुनियों के प्रति उसके हृदय में असीम श्रद्धा है और इसीलिए वह कण्व के पावन आश्रम के दर्शन से अपने को भी पुनीत बनाने का अभिलाषी है—

"पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।"

आश्रम के प्रति उसकी पूज्यभावना इतनी गहरी है कि वह अपने सम्पूर्ण बसनाभरणों को उतार कर 'विनीतवेष' होकर ही वहाँ प्रवेश करता है। महर्षि कण्व में उसकी भक्ति है और उसने शकुन्तला का आतिथ्य इसी हेतु स्वीकार किया है कि वह उनके लौट आने पर उसकी श्रद्धा-भावना को उनसे निवेदन कर देगी। अतएव, दूसरे अंक के अन्त में जब वह विदूषक से झूठ बोलता है कि "न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः", तब भी उसके इस कथन में तो सत्यांश है ही कि "वयस्य ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि"—'हे मित्र मैं ऋषि के गौरव के कारण आश्रम में जाता हूँ।' शार्ङ्गरव एवं शारद्वत को देखकर वह अपने आसन से उठ जाता है और उनका अभिवादन करता है। ऋषियों के कल्याण की कामना

उसमें इतनी सजग है कि वह कण्व के भेजे दोनों तापसों से यही प्रश्न पहले करता है कि "अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः।"

अन्य राजोचित गुणों में भी दुष्यन्त आदर्श है। वह भीतर-बाहर, प्रत्येक अवस्था में (केवल प्रणय-संसर्गों को छोड़कर) राजा है, राजा के समान गरिमामय आचरण करता है। पंडितों की यह सम्मति पूर्णतया युक्तिसंगत है कि कालिदास ने उसका जैसा भव्य चित्र अंकित किया है, वह आंग्ल नरेशों के चित्रों से, यहाँ तक कि शेक्सपीयर द्वारा चित्रित हेनरी पञ्चम के चित्र से भी; अधिक श्रेष्ठ एवं उदात्त है। सम्पूर्ण नाटक में वह 'राजर्षि' कहा गया है। 'रघुवंश' में क्षत्रिय को 'राजर्षि' कहने का यह कारण बताया गया है कि वह लोगों को अनिष्ट एवं अपकार से बचाता है। दुष्यन्त की शक्ति भी आर्त्तजनों के त्राण एवं उद्धार के हेतु प्रयुक्त होती है— "आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा।" महर्षि कण्व के आश्रम के ऋषि उसकी रूप-महिमा से चकित एवं प्रभावित हो गए हैं। "अहो, दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुषः अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि"—'अहा! ये इतने तेजस्वी हैं कि इन्हें देखकर ही मन आश्वस्त हो जाता है; अथवा यही सच है कि ये राजा भी ऋषियों के ही समान हैं।'

दुष्यन्त को अपने वंश की उज्ज्वल परम्परा पर अभिमान है। उसे विश्वास है कि जब तक कोई भी पौरव पृथिवी पर राज्य कर रहा है, तब तक तपोवन, उसकी मर्यादा, उसमें निवास करनेवाले ऋषिमुनियों तथा उनकी कन्याओं का कथमपि कोई अनिष्ट नहीं हो सकता।

लोक-व्यवस्था की रक्षा करना भारतीय राजाओं का पुनीत कर्तव्य माना गया है। यद्यपि दुष्यन्त ने स्वतः सम्मोहित की अवस्था में महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला के साथ मर्यादा भंग की है, तथापि स्वस्थ मनःस्थिति में वह बड़ी निष्ठा एवं मनोयोग से व्यवस्था का पालन करने के लिए लालायित एवं सन्नद्ध है। हस्तिनापुर की राजसभा में दुष्यन्त सचमुच राजा है। इसीलिए जब उससे शकुन्तला को ग्रहण करने की बात कही जाती है, तब वह "अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्" "कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः" "अनार्यः परदारव्यवहारः" (पराई स्त्री पर आँख नहीं डालनी चाहिये, 'यह कहाँ का असत् कल्पना वाला प्रश्न है, 'अन्य की स्त्री के साथ संसर्ग आर्योचित नहीं है) इत्यादि तर्कनायें प्रस्तुत करता है। वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा उसके रोम-रोम में व्याप्त है यहाँ तक कि शारङ्गरव जैसा खरी टीका करने वाला पंडित भी यह स्वीकार करता है कि—

"महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ।
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते (५।१०)

(यह महाभाग्यवान् राजा कभी अपनी मर्यादा का त्याग नहीं करता। इसके राज्य में रहनेवाला कोई प्रजाजन किसी प्रकार का अधर्म अथवा अनाचार नहीं करता।)

व्यवस्था-पालन के साथ-साथ, प्रजावात्सल्य दुष्यन्त-चरित्र का दूसरा नियामक तत्त्व है? लोक-रक्षण में लीन रहनेके कारण, वह एक प्रकार की तपस्साधना ही किया करता है—"रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति" कान्ता-विश्लेष के अवसाद से अभिभूत होने की अवस्था में भी, वह अमात्य को यह आदेश प्रेषित करता है कि 'देर से जगने के कारण मैं आज धर्मासन पर बैठने के लिए सभा-भवन में उपस्थित नहीं हो सकता हूँ, अतएव जो कुछ भी राज्य-कार्य हो, उसे पत्र द्वारा मेरे पास लिखकर भेज दें।' वस्तुतः उस दीन-दुखित मनःस्थिति ने उसकी प्रजावत्सलता तथा सहानुभूतिमयता में और भी वृद्धि कर दी है। समुद्र-व्यवहारी व्यापारी धनमित्र के सिस्सन्तान मरने पर वह अमात्य के इस निर्देश की अवमानना करता है कि उसका सम्पूर्ण अर्थसंचय राजकोष में चला आना चाहिए और यह आदेश देता है कि सेठ की जो एक पत्नी-गर्भवती है, उससे उत्पन्न होनेवाला बालक ही उस धन का अधिकारी होगा। किंबहुना, वह यह घोषणा भी करवा देता है कि पापियों को छोड़कर, उसकी प्रजा में जो भी निकट-स्नेहियों एवं बन्धुओं से विहीन है, वह उनका कुटुम्बी समझा जाय। वैतालिकों की यह प्रशस्ति अतिरञ्जना अथवा चाटुकारिता नहीं है, अपितु वास्तविक तथ्य है—"अपने सुख की इच्छा छोड़कर आप प्रजा की भलाई में लगे रहते हैं। एक प्रकार आप अपना धर्म ही पाल रहे हैं, क्योंकि वृक्ष अपने सिर पर तो कड़ी धूप सहता है किन्तु तले में बैठे जीवों का परिताप अपनी शीतल छाया से दूर करता है। दुष्टों को आप अपने राजदण्ड से नियंत्रित रखते हैं और लोगों के पारस्परिक विवादों को मिटाकर प्रजा की रक्षा करते हैं। धनियों के तो अनेक सगे सम्बन्धी होते हैं, लेकिन सामान्य प्रजा के बन्धु-बान्धव तो आप ही हैं।" राज्य-कार्य की गुरुता एवं महत्ता का गहन अनुभव उसे निरन्तर चिन्तित किये रहता है। राज्य-लक्ष्मी राजपद के अभिलाषियों से कितना गहरा मूल्य माँगती है, यह उसकी निम्नोद्धृत उक्ति में द्रष्टव्य है—

"सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः।
औत्सुक्यमात्रमवसाययति.................. ॥" (५।६)

'अभिलषित वस्तु पाकर सभी लोग सुखी होते हैं। लेकिन, राजाओं को तो अभीष्ट-लाभ से दुःख ही होता है। राजा बनकर प्रतिष्ठा पा लेने से मन की उमंग तो पूरी होती है, किन्तु जब उपलब्ध राजपद का पालन करना पड़ता है, तब महान कष्ट और क्लेश होता है। अतएव, राज्य उस छतरी के समान है जिसकी मूठ अपने हाथ में ले लेने से थकावट ही अधिक होती है, विश्राम कम मिलता है।'

दुष्यन्त राजोचित शौर्य एवं पौरुष का धनी है। "नीले समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी पर वह नगर के फाटक की अर्गला के समान लम्बी भुजाओं से ("नगरपरिघ-प्रांशुबाहुः") अकेले शासन करता है और इन्द्र के वज्र के साथ-साथ सुर-युवतियाँ इसके ही चढ़े हुए धनुष पर विजय की आशा लगाए रहती हैं (२।१५)

देवराज इन्द्र, विपत्तियों के अवसर पर उसके पौरुष एवं पराक्रम की याचना करते हैं और देवता लोग उसके शौर्य एवं विक्रम के गीत बना-बनाकर, कल्पवृक्षों के वसनों पर रंगों से लिख रहे हैं जो अप्सराओं के शृंगार से अवशिष्ट रह गए हैं—

"विच्छित्ति शेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमीकल्पलतांशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥" (७।५)

धनुर्विद्या में दुष्यंत नितान्त प्रवीण है। बिना देखे भी वह लक्ष्य को भेद सकता है। माढव्य की आर्त्तवाणी सुनकर, उसे शूरोचित रोष आ जाता है और वह इस गर्वोक्ति के साथ बाण चढ़ाता है कि जैसे हंस जलमिश्रित दूध में से दूध पी जाता है और पानी छोड़ देता है, वैसे ही उसका वह बाण आततायी का वध कर देगा और रक्ष्य की रक्षा कर लेगा—

"यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥" (६।२८)

वह गुण जो राजा दुष्यन्त के चरित्र की शोभा सविशेष बढ़ा देता है, उसकी विनयशीलता है। इन्द्र ने उसकी महान् सेवाओं के लिए जो सम्मान उसे प्रदर्शित किया है, उससे उसे संकोच ही हो रहा है। वह अपने को न वीर समझता है और न इसीलिए सम्मान का अधिकारी। दैत्यों के दमन में मिली अपनी सफलता का अभिश्रेय वह महेन्द्र को ही समर्पित करता है और अपने को केवल निमित्त ही समझता है—

"सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः।
सम्भावना गुणमवेहि तमीश्वराणाम् ॥
किं वा भविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता।
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥" (७।४)

—'यदि कोई सेवक बड़ा भारी काम करके आवे तो यही समझना चाहिये कि स्वामी ने यह काम सौंप कर उसे जो बड़ा सम्मान दिया था, उसी का वह फल है।

यदि सूर्य आगे-आगे अरुण को न ले चले, तो भला अरुण में इतनी शक्ति कहाँ कि वह अन्धकार को दूर भगा सके ?'

अन्तिम, यद्यपि हीनतम नहीं, गुण जो दुष्यन्त को सामान्य शासकों की कक्षा के ऊपर उठा देता है, लोकमत के प्रति उसकी संवेदनशीलता है। इसकी ओर नाटककार ने केवल एक क्षीण संकेत प्रक्षिप्त किया है। मारीच से जब वह सुनता है कि शकुन्तला-परित्याग में दुर्वासा का शाप मूल कारण है, तो उसे महान् सन्तोष मिलता है कि उसने परिणीता पत्नी को जो अपमान एवं तिरस्कार प्रदान किया है, उसके लिए वह स्वयं अपराधी नहीं है—"एव वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।" वास्तव में, यहाँ कवि ने राजनीतिक के सम्बन्ध में एक महनीय तत्त्व की ओर निर्देश किया है—यह कि राज्य-सत्ता को जीवन में सदाचरण, पवित्रता एवं कठोर संयम के तत्त्वों से संयुक्त होना चाहिये क्योंकि तभी वह प्रतिष्ठा एवं सम्मान पाने की अधिकारिणी होगी और सम्पूर्ण संसार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकेगी।[1]

(ख) आदर्श मनुष्य

सामान्य, सुसंस्कृत मनुष्य के रूप में भी दुष्यन्त आदर्श है। उसकी विनयशीलता एवं धर्मपरायणता का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। वह 'प्रकृति-गम्भीर'' है, सत्यनिष्ठ है और आत्मनियमन के महान् गुण से विभूषित है। शार्ङ्गरव की कटूक्तियों से उसके पद पर आसीन कोई भी व्यक्ति विचलित एवं विक्षुब्ध हो सकता था। लेकिन दुष्यन्त ने जिस प्रकार उन व्यंग्य-प्रहारों का सहन किया है, वह निश्चयमेव प्रशस्य है। उसके चरित्र के कठोर आत्मसंयम की प्रतीति भावक को तब होती है जब एक असाधारणरूपशालिनी तरुणी उससे पत्नी-रूप में स्वीकार किये जाने की प्रार्थना करती है; ऋषि भी यही तर्कना करते हैं कि उसे स्वीकार करना उचित है और तब भी दुष्यन्त का आत्मसंयमी मन डिगता नहीं है। उसके इस दृढ़ व्रत को देखकर, कंचुकी विस्मित हो उठा है, "अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति।"

लेकिन, दुष्यंत निसर्गतः रूप-लक्ष्मी की अवहेलना करनेवाला व्यक्ति नहीं है। उस विचित्र अवस्था में उसका अन्तर्द्वन्द्व कितना तीव्र एवं मार्मिक होगा, यह उसकी इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है—

---

१. K. S. Ramaswami Sastri : 'Kalidas' पृ० २१७

"इममुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्नवेत्यव्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥" (५।१६)

—'मैं ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि अपने आप यहाँ उपस्थित हुई सुन्दरी के साथ मैंने पहले कभी विवाह किया है या नहीं। इसीलिए, जैसे प्रातःकाल की ओस पड़े हुए कुन्द के फूल पर भौंरा न बैठता ही है, न उसे छोड़कर जाता ही है, वैसे ही मैं भी न इसे ग्रहण ही कर पा रहा हूँ और न छोड़ ही पा रहा हूँ।'

इस मनःस्थिति में मूलतत्त्व है, राजा की धर्म-भीरुता। यदि शकुन्तला उसकी परिणीता वधू है, तो उसे वह स्वीकार होनी चाहिए और यदि वह केवल छल-भाषण कर रही है, तो केवल उसके सौन्दर्य के कारण उसे स्वीकार करना पाप ही होगा। धर्म-भावना को यदि महत्त्व न दिया जाय, तो भी इस आन्तरिक द्वन्द्व को कर्त्तव्याकर्त्तव्य की उस भावना का प्रतीक समझा जायेगा जो मानव संस्कृति का प्रमुख तत्त्व है।

यद्यपि वह मृगया का व्यसनी है, तथापि परिस्थिति के प्रति वह सतत जागरूक है। आश्रम को याद दिलाई जाने पर, वह झटिति बाण रख देता है और उसकी भाव-भंगी में भी अवसरोचित परिवर्तन हो जाता है, मृगया की तीव्र उत्सुकता तपोवन-निरीक्षण की प्रशान्त अभिलाषा में बदल जाती है। दुष्यंत का नीरीक्षण भी नितान्त सूक्ष्म है। रथ के आगे-आगे भय-ग्रस्त होकर भागने वाले मृग का, अश्वों के तीव्र गति से दौड़ने के कारण दृश्यमान पदार्थों के स्वरूप में परिवर्तनों का तथा तपोवन की विविध छवियों का जैसा सूक्ष्म वर्णन वह करता है, उससे यह प्रमाण मिलता है कि वह अपने परिवेशके प्रति सजग एवं सूक्ष्म दृष्टि रखता है। आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति भी उसमें विद्यमान है जो उसको स्वाभाविक विचारशीलता की विज्ञप्ति करता है। माधव्य के सताए जाने के संवाद से वह चिन्तित मुद्रा में कहता है—"जब मनुष्य यही नहीं जानता कि वह स्वतः भूल से नित्य कितने पाप कर बैठता है, तब यह कैसे पता चल सकता है कि प्रजा में कौन, किस समय, क्या कर रहा है ?" (६।२६)।

राइडर (Ryder) की यह टिप्पणी है कि दुष्यन्त में "चिन्ताशीलता का अंश कुछ इतना अधिक है कि वह और सतर्क, सावधान एवं सन्नद्ध पुरुषत्व के हमारे आदर्श के मेल में नहीं बैठता।" यह टीका युक्ति-संगत नहीं है। 'आदर्श-पुरुषत्व' यदि सुसंस्कृत एवं संतुलित होगा, तो उसमें चिन्ताशीलता का यथेष्ट

परिमाण रहना आवश्यक एवं स्पृहणीय है। दुष्यंत के पौरुष एवं पराक्रम की बात हम कह आए हैं। वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य प्रतिभा नरपतियों में शौर्य एवं लालित्य, कठोरता एवं कोमलता के समन्वय की कल्पना कर ही नहीं सकती। कालिदास के वातावरण में ऐसे नरेशों का अभाव नहीं था जो ललित तथा कर्कश की साधना युगवत् किया करते थे। यही नहीं, आर्यों की यह परम्परा थी कि वे कर्मठ और साहसी होने के साथ ही, जीवन में से उतना रस खींच ही लेते थे जितना उनकी परिस्थितियों में सम्भव था। दुष्यंत में जो चिन्ताशीलता का अंश वर्तमान है, उससे उसके चरित्र में वह सौन्दर्य भर गया है जिसके सौरभ से भावक चिरकालतक मुग्ध बना रह जाता है।

कालिदास की दृष्टि-भंगिमा ही निराली है। दुष्यंत के रूप एवं शील को उन्होंने अत्यंत सजग, यद्यपि संक्षिप्त, भाव से सँवारने का उद्योग किया है, और उसमें चिन्ताशीलता का तत्त्व उचित परिमाण में सन्निविष्ट कर, उन गुणों के आधान के लिए उपयुक्त भूमिका प्रशस्त कर दी है जो सुसंस्कृत नागरक की शोभा बढ़ानेवाले कहे गए हैं। प्रियंवदा की इस प्रतिक्रिया में दुष्यंत के रूप एवं शील की युगपद् व्यंजना हुई है—

"अनुसूये, को न खल्वेषे चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते।"

—'ऐ अनुसूया ? ये चतुर एवं गम्भीर दिखाई देनेवाले तथा प्रिय एवं मधुर बोलनेवाले प्रभावशाली व्यक्ति जान पड़ते हैं।' दुष्यंत के मधुर आलाप से विश्रब्ध होकर, अनुसूया जिस मधुर भाषा में उससे उसका परिचय पूछती है—"आर्य ने किस राजवंश को सुशोभित किया है, किस देश की प्रजा को अपने विरह से व्याकुल करके आप यहाँ पधारे हैं और ऐसा कौन सा कार्य आ पड़ा है जिसके कारण आपने अपने सुकुमार शरीर को कष्ट देकर तपोवन में पदार्पण किया है।"

—उसमें भी नाटककार का एक कलात्मक उद्देश्य है, यह कि वह रूपवान एवं सुकुमार अभ्यागत ऐसे शील का धनी होगा, ऐसे गुणों का अभ्यासी होगा, जो उसे लोकप्रिय बनाने में सहायक हुए होंगे। हमने अभी ही दुष्यंत की, नगर के फाटक की अर्गला के समान लम्बी भुजाओं ("नगरपरिघप्रांशुबाहुः") का अनुभव किया है और अब उसके सुकुमार शरीर की प्रतीति कर रहे हैं। शौर्य एवं सौकुमार्य की एकत्र स्थिति का यह विरोधाभास दुष्यंत के चरित्र की अत्यंत प्रिय विशेषता है। कवि ने और आगे बढ़कर उसके रूप को सभी अवस्थाओं में रमणीयता से समन्वित[1] बताकर, यह कह दिया है कि वह वियोग में पश्चात्ताप की अग्नि से दग्ध

---

१. "अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्।"

होने पर भी, उसी प्रकार क्षीण नहीं दिखाई देता जिस प्रकार खरादकर काटा गया मणि-खंड अपनी सहज चमक के कारण क्षीण नहीं भासित होता—

"संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते।" (६।६)

कवि ने दुष्यंत के इस 'प्रियदर्शन' रूप में चिन्ताशीलता का जो तत्त्व रख दिया है, उससे दुष्यंत के चरित्र में एक अनुपम छवि प्रविष्ट कर गई है। सौंदर्य के अभिशंसन में तन्मय होने तथा चित्र, संगीत इत्यादि ललित कलाओं के प्रति स्वाभाविक अनुराग की उसकी प्रवृत्तियाँ उसकी चिन्ताशीलता की ही प्रसूति समझी जायेंगी।

आश्रम-द्वार में प्रवेश करने पर, दुष्यंत की दाहिनी भुजा फड़कती है और वह भवितव्यता में विश्वासकर, अनागत के प्रति किंचित् आशावान् होकर आगे बढ़ता है। तपस्विकन्यकाओं को देखकर; उसके चिन्तनशीलमानस की सुकुमार तंत्री के सौंदर्योपजीवी तार अकस्मात् झनझना उठते हैं—"अहो, मधुरमासां दर्शनम्।"—

—'अहो! कितना मधुर है इनका दर्शन।' यह दुष्यंत के सौंदर्य के साक्षात् से उत्पन्न प्रथम प्रतिक्रिया है। तत्क्षण उसकी दूसरी प्रतिक्रिया यह होती है—

"शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥" (१।१७)

वन की लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को लज्जित कर दिया है। स्पष्ट है कि दुष्यंत का सौंदर्यास्वादन केवल चाक्षुषस्तर तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह सौन्दर्य की सूक्ष्म परख भी कर सकता है, सहज-सुषमा और बाह्य उपचारों से सजे-सँवारे कृत्रिम सौन्दर्य में भेद भी कर सकता है। उसकी तीसरी प्रतिक्रिया यह होती है कि शकुन्तला के सहज सुन्दर शरीर को आश्रम के कामों में लगाकर मुनि कुछ अनुचित कर रहे हैं। यह टीका दुष्यंत की इस सहानुभूतिमूलक मान्यता से प्रसूत है कि सौंदर्य आदर की वस्तु है और उसे काम अथवा आज की भाषा में, 'उत्पादन' में लगाकर उसका अपमान किया जा रहा है। दुष्यंत की सौन्दर्य-भावना इतनी गहरी है, इतनी पटु एवं प्रवीण है कि वह हीन तथा क्षुद्र परिवेष्टनों में बन्दी बनी हुई सुषमा को भी पहचान सकता है, उसकी अभिशंसना में आत्मविभोर हो सकता है। 'जलनील से आवद्ध सरसिज जैसे शोभा पाता है और चन्द्रमा में पड़ा कलंक भी जैसे उसकी शोभा बढ़ाता है, वैसे ही वल्कल से लिपटी होने पर भी, शकुन्तला और भी मनोज्ञ एवं अभिराम दिखाई पड़ रही है'—यह दुष्यंत की पैनी पहचान है सुन्दरता की, और इसी के अनुरूप है उसका सिद्धान्त निरूपण : "किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्'—मधुर आकृतियों के लिए

कौन-सी वस्तु अलंकार नहीं बन जाती ? दुष्यंत कवि की अपनी ही सौन्दर्य-साधना का प्रवक्ता है, व्याख्याता है। इसी लिए कवि ने उसके चरित्र का संस्कार किया है, उत्कृष्ट सौन्दर्य-भावक एवं सौन्दर्य-समीक्षक के रूप में।

दुष्यंत ललित कलाओं का मर्मज्ञ तथा अनुरागी है। हंसपादिका के संगीत को सुनकर उसकी यह टिप्पणी, "अहो, रागपरिवाहिनी गीतिः" उसकी कलाभिज्ञता की परिचायक है। चित्रकला में तो वह नितांत प्रवीण है और वह उसका व्यसन (Hobby) प्रतीत होती है। शकुन्तला का उसने जो चित्र बनाया है, उसमें उसके अङ्गों का सौष्ठव ही नहीं उतर आया है, अपितु उसके मन के भाव तक सजीव हो उठे हैं। देखिये, विदूषक क्या कहता है—

"साधु वयस्य! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः। स्खलतीव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु।"

कुछ विदूषक ही नहीं, स्वर्ग की अप्सरा सानुमती का यह उद्गार है "अहो एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रता मे वर्तत इति" (अहा ! राजर्षि की यह निपुणता ! ऐसा जान पड़ता है मानों मेरी प्यारी सखी मेरे सामने खड़ी हो)।

इन टिप्पणियों के अनन्तर दुष्यंत की अपनी यह टिप्पणी भी द्रष्टव्य है—

"यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥" (६।१४)

—'यद्यपि मैंने इस चित्र की त्रुटियों को ठीक कर दिया है, तदपि इन रेखाओं में देवी का लावण्य बहुत थोड़ा ही खिंच पाया है।' दुष्यंत के इस कथन में सौन्दर्य के मूलतत्त्व 'लावण्य' की अग्राह्यता का विद्योतन हुआ है जो पुनः उसकी सौंदर्यानुभूति की गहराई की व्यञ्जना करता है।[1]

प्रणय मनुष्य की सच्ची कसौटी है जिसमें उसका नग्न एवं सुसंस्कृत, दोनों प्रकार का रूप पूरे निखार के साथ अभिव्यक्ति होता है। कान्ताविश्लेष की अवस्था में जब दुष्यंत को यह ज्ञात हो गया है कि उसने शकुन्तला का अनुचित तिरस्कार किया है, तब वह सुन्दर और आनन्ददायी वस्तुओं का भी तिरस्कार कर देता है जो उसके सुसंस्कृत व्यक्तित्व का प्रमाण है।[2] उसके चतुर एवं मधुर आलाप

---

१. बिहारी ने निम्न दोहे में यही भाव अपने ढंग से लिखा है—
"लिखनि बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥ (बिहारी सतसई)
२. दे० ६।५

की प्रशंसा हम आरम्भ में ही प्रियंवदा के मुख से सुन चुके हैं। साथ ही, वह अपनी गम्भीर प्रकृति के धरातल से थोड़ा नीचे उतर कर, जीवन के हास्यगर्भित पटल का भी अनुभव कर सकता है। "नाटक में आद्योपान्त उसके भाषण में संयत यद्यपि कम्पनवती कल्पनाशीलता और विचार एवं शब्दावली की उपयुक्तता का ललित सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है और यह केवल उसी व्यक्ति के लिए शक्य है जिसका अन्तःकरण संस्कृति की श्रेष्ठतम स्फुरणाओं से स्पन्दनशील है।"[1]

(२) **सम्मोहित स्वरूप** में दुष्यंत प्रेमी है, प्रणय का याचक एवं भोक्ता है। प्रेमी के रूप में भी वह आदर्श है। वस्तुतः उसके प्रणय के स्वरूप विकास का उद्घाटन ही नाटक का प्रधान उद्देश्य है। केवल चतुर्थ अंक ही ऐसा अंक है जिसमें दुष्यंत का कहीं साक्षात्कार नहीं होता, तथापि वहाँ भी समग्र क्रियाकलाप का केन्द्र-विन्दु वही है। प्रथम अंक में उसकी 'आसक्ति', द्वितीय में उसका 'आयास' और तृतीय में 'आभोग' वर्णित है। अतएव इन तीन अंकों में दुष्यन्त के प्रणय का संभोग-पक्ष चित्रित हुआ है। पाँचवें अंक में उसका 'प्रेमी' शाप के प्रभाव से अवसन्न अथवा अवदमित हो गया है और उसकी कठोर 'प्रमा' अथवा 'बुद्धि' उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य की तर्कना में उलझा कर उसे निर्मम नैतिकतावादी बना देती है। छठे अंक में अंगूठी मिल जाने से उसका सोया हुआ प्रणय नई अर्थवत्ता से पुनः जाग्रत हो जाता है और तब उसके विप्रलम्भ-पक्ष का जो स्वरूप उन्मीलित हुआ है, वह अत्यन्त मर्मद्रावक है। अन्तिम अंक में शकुन्तला की प्राप्ति पर दुष्यंत का जो चित्र उपस्थित हुआ है, वह उसे आदर्श प्रेमी की कक्षा में उन्नमित कर देता है।

दुष्यंत 'धीरोदात्त' नायक है। अन्य राजाओं की भाँति वह भी बहुपत्नीक है और दाक्षिण्य उसमें भी वर्तमान है। रानी वसुमती के प्रति उसके हृदय में यथेष्ठ सम्मान है और यद्यपि हंसपादिका के गीत से यह ध्वनि निकलती है कि वह 'अभिनव-मधु-लोलुप' है, तथापि उसकी मधुकरी वृत्ति का अन्यत्र कोई संकेत उपलब्ध नहीं है। स्वयं तरुण होने के कारण, वह "कुसुममिव लोभनीयं यौवनं" का लोभी अवश्य है, लेकिन उसके चरित्र में इतनी गम्भीरता एवं चिन्तन-शीलता विद्यमान है कि हंसपादिका का उक्त आरोप उन्मुक्त भाव से स्वीकार नहीं किया जा सकता—बहुपत्नीक होने के कारण सम्भव है, हंसपादिका की ओर से दुष्यंत किंचित् काल तक उदासीन हो गया है। शकुन्तला को छोड़कर वह कहीं, किसी दृश्य वा प्रसंग में किसी 'देवी' के साथ नहीं दिखलाया गया है। सौन्दर्य की जैसी

---

१. K. S. Ramaswami Sastri : 'Kalidasa', पृ० २१२

परख उसे उपलब्ध है, सौन्दर्यानुभूति उसकी जैसी गहरी एवं प्रवीण है, उसे देखते हुए यही जान पड़ता है कि शकुन्तला से कम सुन्दर युवती उसके हृदय का दान नहीं पा सकती थी। पं० चन्द्रबली पाण्डेय का कथन है कि आश्रम-द्वार तक दुष्यंत स्वस्थ दशा में रहा क्योंकि सारथी तब तक उसके साथ था। आश्रम में प्रवेश करते ही उसने सारथी को बाहर छोड़ दिया और सम्मोहन में फँस गया सारथी वा सूत बुद्धि का प्रतीक है कठोपनिषद के अनुसार—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥"

लेकिन, यह कहना कि 'बुद्धि' का नियंत्रण हट जाने से दुष्यंत प्रेमलीला में फँसा, युक्तिसंगत नहीं है। सचाई यह है कि सहज सौंदर्य की पवित्रता एवं उत्फुल्लता के साक्षात् से 'बुद्धि' स्वयं नेपथ्य में चली गई, रंग-मंच छोड़ दिया। सौन्दर्यास्वादन दुष्यंत जैसे चिन्तनशील व्यक्ति के सम्बन्ध में पूर्णतया 'स्वस्थ' व्यापार था। और यदि सारथी उस अवधि में उसके निकट न रहा तो इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कवि 'बुद्धि' के विलोप को महत्त्व दे रहा है। ध्यातव्य यह है कि विदूषक माधव्य भी राजा के पास उस अवधि में नहीं है। कवि का वास्तविक अभिप्राय यह दिखाना है कि दुष्यंत जैसे संयमी और गम्भीर नायक का प्रणय-परिपोष सारथी और विदूषक जैसे हीन परिचारकों के सान्निध्य में उचित एवं स्पृहणीय नहीं।

दुष्यंत प्रणय में भी वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं से बँधा हुआ है। शकुन्तला को देखकर उसे यही सन्देह होता है कि क्या ऋषि की यह कन्या किसी दूसरे वर्ण की स्त्री से तो उत्पन्न नहीं है—"अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्?" लेकिन, उसकी तर्कना है कि जब उसका शुद्ध मन भी शकुन्तला की ओर आकृष्ट हो गया है, तो यह निश्चय है कि उसका विवाह क्षत्रिय से हो सकता है, क्योंकि सन्दिग्ध अवस्थाओं में सज्जनों के अन्तःकरण की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ ही प्रामाण्य मानी जानी चाहिये—

"असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥" (१।२१)

दो बातें यहाँ ध्यान में आती हैं। पहली यह कि दुष्यंत का मन कुपथ पर विचलित नहीं हो सकता, अयोग्य पात्र की ओर उनका मन ढल नहीं सकता। दूसरी

यह कि अन्तःकरण-प्रवृत्तियाँ सदैव सटीक एवं अनुगम्य होती हैं। दुष्यंत का यह अगाध विश्वास कि उसकी भीतरी प्रेरणाएँ उसे पथभ्रष्ट नहीं कर सकतीं, उसके प्रणय की सबसे बड़ी विशेषता है। यहाँ वह 'प्रमा' की पकड़ से बाहर चला जाता है और 'अन्तःकरणवाद' का शासन स्वीकार कर लेता है। लेकिन, जैसा हमने पहले दिखाया है, कवि ने इस 'अन्तःकरणवाद' की प्रामाणिकता सदैव रक्षित की है। शाप की बात तो दुष्यंत को अन्त में ज्ञात होती है, उसे सतत यह सन्देह बना रहा है अथवा क्षीण आभास मिलता रहा है कि शकुन्तला के प्रति उसके द्वारा प्रदर्शित अवमानना कदाचित् उचित नहीं है। इतना 'अन्तःकरणवादी' प्रेमी अन्यत्र साहित्य में कठिनाई से मिलेगा।

यह निश्चित कर लेने पर कि मेरा मन अयोग्यपात्र की ओर आकृष्ट नहीं हो सकता, दुष्यंत पूर्णतया सम्मोहन के जाल में फँस जाता है। छिपकर वह शकुन्तला की रूप-वारुणी का भरपूर पान करना प्रारम्भ कर देता है और भ्रमर को भी ईर्ष्या में अपना प्रतिस्पर्धी समझने लगता है—

"चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥" (१।२२)

—'अरे भौंरे! तुम सचमुच भाग्यवान् हो। इधर तो हम सच्ची बात का पता लगाने में ही लुट गए, और उधर तुम चंचल चितवन वाली काँपती हुई बाला को बार-बार छूते जा रहे हो; उसके कानों के पास जाकर धीरे-धीरे ऐसे गुनगुना रहे हो मानों कोई बड़े रहस्य की बात उसे सुनाना चाहते हो और बार-बार उसके हाथों से झटके जाने पर भी, तुम उसके रसभरे अधरों को पीते जा रहे हो।'

शकुन्तला के कुल-शील का सही-सही परिचय प्राप्त करने के लिए दुष्यंत सचेष्ट है। उसके जन्म का वृत्तान्त अनुसूया से सुनकर और यह जानकर भी कि शकुन्तला का उससे परिणय हो सकता है, दुष्यंत की द्विविधा पूरी तरह दूर नहीं होती। अभी भी उसके मन में संदेह है कि क्या शकुन्तला का विवाह होगा भी या नहीं? देखिये, कितनी ललित एवं विदग्ध शैली में वह पूछता है—

"वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥ (१।२५)

—मदन की गति को रोकनेवाला यह जो तपस्वियों का वेष इन्होंने धारण किया है, वह विवाह होने तक ही रहेगा, अथवा ये अपना सारा जीवन मद-भरी आँखों के कारण, प्यारी हरिणियों के बीच में रह कर यों ही बिता डालेंगी?'

प्रियंवदा के यह कहने पर ही कि अनुरूप वर मिलने पर पिता जी उसका विवाह कर देंगे, दुष्यंत पूर्ण आश्वस्त हो जाता है कि अब शकुन्तला से प्रणय-निवेदन करने में कोई नैतिक अवरोध नहीं है। छुक-छिपकर तपस्विकन्यकाओं का रूप-दर्शन करने और उनके परिहासपूर्ण वार्तालाप सुनने के लिए दुष्यंत की आलोचना की गई है। लेकिन, ऐसा करते समय चित्र के दूसरे पहलू को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। सम्मोहन में पड़ा तरुण, स्वस्थराजा अपनी अन्तःप्रवृत्तियों पर कितना नियंत्रण रखता है, इस निश्चय के लिए कितनी निष्ठा एवं ईमानदारी के साथ यत्न कर रहा है कि शकुन्तला उसके लिये ग्राह्य है अथवा नहीं! यह मानसिक अवरोध दुष्यंत को सामान्य प्रेमियों की कक्षा से बहुत ऊपर उठा देता है।

पूर्वानुराग की अवस्था में दुष्यंत शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य के ध्यान में निरत रहता है। विदूषक का कथन है कि "साम्प्रतं नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति। अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः प्रभातमासीत।" फिर भी, राजा की यह अवस्था इस लिये और भी हुई है कि वह जानता है कि मिलन की उतावली दोनों ओर है—"अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते।" उसका मन आखेट से ऊब गया है—क्योंकि अब वह उन हरिणों पर बाण चलाना नहीं चाहता जिन्होंने उसकी प्रिया के साथ रहकर उसे भोली चितवन सिखाई है—"सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः।" प्रेम ने उसकी सम्पूर्ण वृत्ति ही बदल दी है। शकुन्तला की मुग्ध चितवन पर तो वह आकृष्ट है ही, साथ ही उसके संसर्ग में रहनेवाले मृगों पर भी वह दयार्द्र बन गया है। सबसे बड़ी बात यह है कि शकुन्तला की अस्पृश्य, अखंडित, पवित्र रूपलक्ष्मी ने ही उसे उसके उपभोगके लिए लालायित बना दिया है (२।१०)। विदूषक की टिप्पणी है कि राजा रनिवास की एक से एक बढ़ी सुन्दरियों को भुलवाकर शकुन्तला पर वैसे ही लट्टू हो गए हैं, जैसे कोई मीठा छुहारा खाते-खाते ऊबकर इमली पर ही टूट पड़े—'यथा कस्यापि पिंडखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्' तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।" किन्तु, राजा के पास इस आक्षेप के दो उत्तर हैं—एक तो यह कि 'वनलताओं' के निश्छल सौंदर्य ने 'उद्यानलताओं' के बनावटी सौंदर्य को परास्त कर दिया है; और दूसरा यह कि "अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं····" इत्यादि की तरह शकुन्तला पवित्र है; अर्थात्, सहज सौंदर्य एवं उस सौंदर्य की अखंड पावनता, ये ही तत्त्व हैं जो दुष्यंत को मदन-पाश में निबद्ध कर लेते हैं। साथ ही, उसे यह भी आन्तरिक प्रतीति स्पंदित कर रही है कि वह किसी कुपथ पर पाँव नहीं रख रहा है क्योंकि वह विदूषक से कहता है कि पुरुवंशियों का मन असत् वस्तुओं की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता—"सखे, न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते।"

"सन्देहपदेषु वस्तुषु" में अन्तःकरण की प्रवृत्तियों की विशुद्धता का निर्णय वह पहले ही कर चुका है। पुनः, यद्यपि माता के घर लौटने वाले आदेश की उपेक्षा थोड़ी खटकती अवश्य है, तो भी ऋषियों का अनुरोधपूर्ण निमंत्रण उसे मिल चुका है कि कुलपति के आनेतक वह आश्रम की रक्षा करे? अतएव, पवित्र रूप-श्री का आवर्जन असत् मार्ग पर न चलने का आन्तरिक विश्वास तथा ऋषियों का साग्रह अनुरोध, इन सभी बातों ने मिलकर दुष्यंत को कण्वाश्रम में रहने के लिए अनुप्रेरित किया है, और तब यदि कुछ काल तक वह वहाँ रुक कर अपने प्रणय का परिपोष करता है, तो इसमें उसका कौन-सा अपराध है, कौन-सी विच्युति है?

डा० उपाध्याय का कथन है: "प्रेम का संचार पहले दुष्यन्त के हृदय में ही होता है और उसकी वृत्ति चोर की-सी हो जाती है। साधारण ग्राम्य रूप उसके प्रेम का नहीं दीखता, बल्कि लुका-छिपा नागर प्रेम का प्रत्यक्षीकरण होता है। ग्राम्य प्रेम खरा और निश्छल होता है, नागर प्रच्छन्न और मिश्रित। ग्राम्य प्रेम का अन्त प्राजापत्य विवाह में होता है, नागर का प्रायः गान्धर्व में। नागर प्रेम से ओत-प्रोत दुष्यंत शकुन्तला के शरीर-गठन की कमनीयता को चोर की भाँति छिपकर वृक्ष की ओट से देखता है। शकुन्तला भी जब दुष्यंत को देखती है, उसी की हो जाती है। दोष किसका है? दुष्यंत का या शकुन्तला का? क्या यह दोष भी है? मनुष्य जहाँ होते हैं, वहीं उनकी दुर्बलताएँ भी होती हैं'।[1]

प्रस्तुत उद्धरण में विद्वान् लेखक ने दुष्यन्त के आचरण का परिमार्जन करने का जो प्रयत्न किया है वह हमें भी मान्य है। मनुष्य की दुर्बलताएँ होती हैं किन्तु दुष्यंत की दुर्बलताओं के प्रस्फुरण के लिए कितनी उपयुक्त भूमि तैयार हो गई है, यह हमने अभी दिखाया है। दुष्यंत का प्रेम 'ग्राम्य' नहीं है, यह कथन सही है। लेकिन, क्या दुष्यंत जैसे शिष्ट एवं सुसंस्कृत व्यक्ति के प्रेम का स्वरूप ग्राम्य हो सकता था? क्या कवि को वह अभिप्रेत था? क्या जिस आस्वादयितृ-वर्ग के लिए नाटक रचा गया, उसके निकट गाम्यप्रेम स्वीकार्य अथवा प्रशस्य हो सकता था? पुनः यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि दुष्यंत की 'वृत्ति' चोर की-सी हो जाती है? जिस प्रेम के उद्भव और विकास में अनुसूया और प्रियंवदा सा सक्रिय सहयोगी है, उसे चोर का-सा प्रेम नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य है कि ये सखियाँ भी दुष्यंत-शकुन्तला की प्रणयासक्ति को अन्यों से छिपाना चाहती हैं, लेकिन इससे दुष्यंत की चौर-वृत्ति का उन्मीलन नहीं होता, प्रत्युत उसकी शिष्ट, सुसंस्कृत आचार-प्रियता की ही विज्ञप्ति होती है और यदि वह लुक-छिपकर शकुन्तला के सौन्दर्य का

---

१. डा० भगवतशरण उपाध्याय: 'कालिदास और उनका युग', पृ० १०६.

अवलोकन करता है अथवा उसके प्रणय-निवेदनों को सुनता है, तो इसमें अवद्य क्या है? मदन के बाणों से वह अनुविद्ध तो है ही। तथ्य यह है कि शकुन्तला के संसर्ग से दुष्यंत एक सर्वथा अभिनव प्राणी बन गया है। अनुसूया के यह अश्वासन चाहने पर कि उसकी प्रिय सखी को सौतों के कारण कोई कष्ट न हो, वह कहता है कि रनिवास की इतनी रानियों के होते हुए भी, मेरे कुल में दो ही बड़ी समझी जायेंगी—एक तो सागर से घिरी पृथ्वी और दूसरी तुम्हारी सखी शकुन्तला—

"परिग्रहबहुत्वे द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥" (३।१८)

दुष्यन्त गांधर्व विवाह करता है और शकुन्तला सगर्भा बन जाती है। जैसा विदूषक ने कहा है, राजा ने तपोवन को प्रमोदवन बना दिया और शकुन्तला के साथ नई गृहस्थी प्रारम्भ करने की भूमिका भी प्रशस्त कर दी। यह आश्वासन देकर कि निकट भविष्य में ही उसके आदमी शकुन्तला को लेआने आश्रम में आयेंगे, वह राजधानी लौट जाता है। जैसा आलोचकों ने कहा है, बिना कोई स्पष्ट कारण दिये, उसका शकुन्तला को छोड़कर वापस चला जाना कुछ अनुचित-सा जान पड़ता है। यद्यपि कवि ने उसके प्रणय-व्यापार को परिमार्जित एवं प्रक्षालित प्रतिपन्न करने का प्रचुर प्रयत्न किया है, तथापि उसके इस आचरण के लिए कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता। हो सकता है, बहुत दिन तक राजधानी से दूर रहने के कारण, वह अधिक रुकना वहाँ नहीं चाहता था। लेकिन, ऐसा भी लगता है कि शकुन्तला का उपभोग कर चुकने के अनन्तर वह कण्व के साक्षात्कार से घबड़ाता भी था और इसीलिए उनके लौटने के पूर्व ही उसने तपोवन छोड़ दिया। शकुन्तला के अपहरण की बात भी उसके मन में आई थी, लेकिन तपस्वियों की शक्ति के स्मरण से वह उस विचार का परिपोष नहीं कर सका—"जाने तपसो वीर्यं" में यही भाव है। अतएव, अपने आचरण की अवैधता तथा ऋषियों की सामर्थ्य की प्रतीति ने मिलकर उसे कण्व के लौटने के पूर्व आश्रम छोड़ने को प्रेरित किया होगा—ऐसा अनुमान असंगत नहीं प्रतीत होता, यह अन्य बात है कि न तो कण्व ने और न किसी अन्य तपोधन ने उसके आचरण की टीका-टिप्पणी की है।

हस्तिनापुर में दुष्यन्त का प्रेमी उसके राजा में निमज्जित हो गया है, यद्यपि हमने पहले दिखाया है कि उसके भीतरी मानसिक अन्तरालों में उसके प्रणय की छाया, क्षीण रूप में ही सही, निरन्तर वर्तमान रही है। पंचमांक के अन्त में उसका विस्मृत प्रणय प्रत्यक्ष धरातल पर आने के लिए मचल रहा है—

"कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥" (५।३१)

—'यद्यपि विवाह की सुधि न होने से मैंने उसका अत्यन्त तिरस्कार किया है, तो भी मेरा कसकता हुआ हृदय न जाने क्यों रह रहकर, उसकी बातों में विश्वास करने को मचल रहा है।' जिस प्रणय की यह वाणी है वह धर्म-बुद्धि से आक्रान्त है, शाप-जन्य अनिश्चय की भावना से दोलायमान है।

अँगूठी मिलने के साथ ही, दुष्यंत को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है और तब उसका वियोगी रूप हमारे सामने उद्घाटित होता है। वह पश्चात्ताप की अग्नि में दग्ध हो रहा है। कोई सुन्दर वस्तु अब उसे पसन्द नहीं आती, वह पूर्ववत् मंत्रियों के साथ अब नित्य बैठता नहीं, पलंग पर करवटें बदलते पूरी रातें जाग-जागकर बिता देता है। रनिवास की रानियों के कारण पूछने पर भूल से शकुन्तला का नाम उसके मुँह से निकल आता है जिससे वह देर तक लजाए रह जाता है। वैमनस्य के कारण वसन्तोत्सव वह रोक देता है; फिर भी उसे मारने के लिए अपने धनुष पर आम की मंजरियों का नया बाण चढ़ाकर कामदेव भी आ धमकता है। उसे बार-बार यह पछतावा हो रहा है—'उस समय जब वह मृगाक्षी प्यारी शकुन्तला मुझे बार-बार समझा रही थी, तब तो मेरी आँखें खुली नहीं और अब केवल पश्चात्ताप का दुःख सहने के लिए मेरा यह अभागा हृदय जगा है।' विदूषक से तो उसने अपने शकुन्तला-विषयक प्यार का पहले प्रत्याख्यान किया था, लेकिन अब वह उसे उपालम्भ दे रहा है कि शकुन्तला को लौटाते समय तुमने मुझे पुरानी बातें स्मरण नहीं दिलाईं। उसके द्वारा तिरस्कृत होने पर जब शकुन्तला ऋषियों के पीछे-पीछे जाने लगी थी, तब उन्होंने उसे डाँटकर वहीं रहने के लिए कहा था। "उस समय आँखों में आँसू भरकर, मुझ निष्ठुर की ओर उसने जो देखा था, वह मुझे पीड़ा दे रहा है जैसे किसी ने विष से बुझे हुए शस्त्र से मेरे शरीर में घाव कर दिया हो।" (६।६)। अँगूठी को देख-देखकर, वह विलख रहा है और उसे भी अपने ही समान हतभाग्य समझता है; नहीं तो शकुन्तला की लाल नखों वाली अँगुलियों से भला वह क्यों निकल कर गिर पड़ती? उन मधुर-कोमलांगुलियों को छोड़कर पानी में वह क्यों कूद गई? किन्तु अँगूठी तो अचेतन थी, अतएव वह गुण की परख न कर सकी; वह अपने को क्या समझे जिसने चेतन होकर भी प्रिया-निरादर कर दिया—

"अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया।" (६।१३),

अब उसकी आशाएँ कपूर की नाईं उड़ गईं हैं और वह शकुन्तला के पूर्व-मिलन की वास्तविकता में ही सन्देह करने लग गया है—

'स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत् फलमेव पुण्यैः।
असंनिवृत्यै तदतीतमेव मनोरथानामतटप्रपाताः॥' (६।१०)।

—'मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ कि शकुन्तला का वह मिलाप सपना था, या जादू था, या भ्रम था, या किसी ऐसे पुण्य का फल था जिसका भोग पूरा हो चला था। सचमुच इन बातों ने मेरे सारे मनोरथों को खड़े पहाड़ से गिराकर चूर-चुर कर डाला है।'

स्वनिर्मित शकुन्तला के चित्र को देखते-देखते दुष्यन्त उसे वास्तविक प्रिया समझ लेता है और चित्रांकित भौंरे को यह डाँट-फटकार बताता है—

"अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्॥" (६।२०)

—'मेरी प्यारी का जो ओठ अछूते, नन्हें पौधे की कोमल कोपलों के समान लाल है और जिसे मैंने रति के समय बहुत बचा बचाकर पिया था, उसे यदि तूने स्पर्श किया, तो मैं तुझे कमल के कोश में डालकर बन्दी बना दूँगा।'

दुष्यन्त का यह वियोगी रूप अत्यन्त मर्मद्रावक है। पुरूरवा के समान यह प्रमत्त एवं उन्मादग्रस्त नहीं हुआ है, क्योंकि उसकी तुलना में दुष्यन्त अधिक संयमी एवं प्रकृति-गम्भीर चित्रित किया गया है।

मारीच के आश्रम में शकुन्तला के पुनर्मिलन पर दुष्यन्त के प्रणय का नितान्त स्वस्थ स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। शकुन्तला के आँसू पोंछने के व्याज से उसने मानों अपने ही पाप का प्रक्षालन किया है—"तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम्।" (७।२५)

दुष्यन्त के प्रणय पर की गई निम्नोद्धृत टिप्पणी अत्यन्त सटीक है—

"शकुन्तला के प्रति उसका प्रेम केवल वासना-प्रेरित ही नहीं है जैसा भीतर से काव्यात्मक होते हुये भी, विषयानन्द से ओत-प्रोत ऐंटानी का (प्रेम क्लिओपेट्रा के प्रति) था[1] यहर प्रेम परिवार एवं राज्य को विनष्ट नहीं करता। यह एक साथ ही व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन तथा जातीय जीवन की समन्वित उपलब्धि है[2]।"

---

१. सेक्सपियर के नाटक 'Artony and Cleopatra' में ऐंटानी नामक है और क्लियोपेट्रा नायिका है।

२. K. S. Ramaswami Sastri 'Kalidasa' पृ० २९३।

शकुन्तला नाटक की नायिका है, और उसके शील-निरूपण में कालिदास ने अपनी कला की समस्त शक्ति एवं गरिमा व्यय कर दी है। जिस सजगता से कवि ने उसके रूपसौन्दर्य को विवृत करने का उद्योग किया है, उसी सावधानी एवं कलात्मक नैपुण्य से उसने उसके शील के सौरभ को भी अनावृत करने का प्रयास किया है। शकुन्तला की कल्पना में, उसके चरित्र को भावित एवं आस्वादित करने के उपक्रम में, कवि को अपनी रसार्द्र चेतना तथा कठोर कर्तव्य-भावना को समरस बनाने का अपूर्व स्वर्ण-संयोग मिल गया है। शकुन्तला के जीवन में रोमांस की मादकता और यथार्थ की निर्ममता, दोनों का प्रभावशाली पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ है। रोमांस यदि केवल रोमांस रह गया होता, अथवा यथार्थ यदि केवल यथार्थ रह गया होता, तो कालिदास भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि एवं पुरस्कर्त्ता नहीं बने होते। "कुसुममिव लोभनीयं यौवनं" का जैसा सम्मान सत्कार हुआ है, वैसी ही कदर्थना एवं विडम्बना भी उसकी हुई है। कालिदास की नायिकाओं में पार्वती एवं शकुन्तला दो ही ऐसी हैं जिनकी रूप-लक्ष्मी का शृङ्गार करने में उन्होंने अपनी सौन्दर्यानुभूति की समग्र ऐन्द्रिय ऊष्मा का विनियोग किया है; और इन दोनों को अपने रूप-वैभव का मिश्रित पुरस्कार प्राप्त हुआ है। किन्तु यदि पार्वती सर्वथा अलौकिक अपार्थिव हैं, तो शकुन्तला मानवी-स्वर्गीय है, क्योंकि वह महर्षि विश्वामित्र तथा अप्सरा मेनका की कन्या है। अतएव, पार्वती ने तो स्वयं रूप की निन्दा की क्योंकि वह प्रिय को आकर्षित कर सकने में असमर्थ सिद्ध हुआ था—'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'—किन्तु, शकुन्तला की रूप-सम्पदा खंडित हुई और जब वह, गर्भवती होने के बाद, प्रिय के निकट अन्तिम रूप से आत्मसमर्पण करने के लिए उपस्थित हुई, तब उसे वह फटकार तथा अपमान मिला जिसकी भावना से सहृदय काव्य-मर्मज्ञ एकदम काँप उठते हैं। वस्तुतः शकुन्तला जैसी रूपवती, सरला, निश्छला, दुर्बला, सबला, दण्डिता, पुरस्कृता, क्षमाशालिनी एवं गौरवशालिनी रमणी विश्व-साहित्य में अन्यत्र कठिनाई से उपलब्ध होगी, कदाचित् उपलब्ध होगी ही नहीं।

शकुन्तला विधाता की चरम सौन्दर्य-भावना का मूर्त्तरूप है, संसार के सकल 'रूपोच्चय' के आधार पर अन्तश्चित्त में कल्पित, वर्धित, पोषित सौन्दर्यादर्श की प्रत्यक्षीकृत प्रतिमूर्ति है। वह 'स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा' है, और है, वह 'प्रभातरल ज्योति' जो वसुधातल से उत्पन्न हो ही नहीं सकती। वल्कलवसन भी उसकी मधुर आकृति के लिए मनोज्ञ मंडन बन गया है। उसका 'अव्याजमनोहर' 'अक्लिष्टकान्ति' रूप चित्र में उतारा नहीं जा सकता; दुष्यन्त जैसा कुशल चित्रकार भी उसके लावण्य को रेखाओं में बाँध नहीं सका। और उस रूप की 'पवित्रता'? हाँ, अपवित्र

रूप की कल्पना कालिदास कर ही नहीं सकते थे। शकुन्तला वैसी ही पवित्र है जैसे अनाघ्रात कुसुम, जैसे नखों से अस्पृष्ट किसलय, जैसे अनाविद्ध रत्न, जैसे अनास्वादित मधु जैसे पुण्यों का अखंडित फल। इस पवित्रता में कितना सान्द्र आकर्षण है, कितनी गहरी ऐन्द्रियता है, कितनी अ-माप विस्मयावहता है! दुष्यन्त तो अपनी नागरी दृष्टि से यही समझता है कि उस सौन्दर्य का मुनि के आश्रम में अनुचित उपयोग हो रहा है, कि 'सुर-युवती' द्वारा परित्यक्त होने पर वह जो वहाँ लाई गई है, वह कुछ वैसी ही अनुचित, अशोभन घटना है जैसे नवमालिका कुसुम अपने वृन्त से शिथिल होकर, मदार के ऊपर गिर पड़ा हो—"आर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्"। फिर भी, वह 'वनलता' है जिसने 'उद्यानलताओं' को हतदीप्ति, हतगर्व बना दिया है।

लेकिन, हमें ऐसा लगता है कि नाटककार ने शकुन्तला के शीलनिरूपण में उसका 'वनलता' वाला रूप, अद्वैतभाव से, वर्धित एवं परिपोषित नहीं किया है। वह प्रकृति-किशोरी अवश्य है, किन्तु वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) की ल्यूसीग्रे (Lucy Gray) के समान प्रकृति ही उसके लिए एक मात्र 'प्रेरणा एवं विधि-निषेध (Law and impulse)' नहीं है। ल्यूसी को प्रकृति ने अपने निजी निरीक्षण में ले लिया था और उसे 'अपनी ही रमणी' बनाने का संकल्प किया था—

"She shall be mine, and I will make A lady of my own".

प्रकृति की ल्यूसी के शिक्षण के लिए, यह योजना थी—'ल्यूसी पर्वतीय मृगशावक के समान क्रीडाशील होगी; मन्द-सुगन्ध समीर तथा निस्पन्द पदार्थों की स्थिर शान्ति की वह एकमात्र उपभोक्ता होगी; व्योम-विहारी पयोद उसके आचरण में भव्यता का तत्त्व विकसित करेंगे, लता उसे विनम्रता का गुण सिखायेगी; झंझा के संचार में उसे वह सुषमा मिलेगी जो उसके पवित्र व्यक्तित्व का शृंगार होगी। पुनः, अर्ध-निशीथ के नक्षत्र उसे प्रिय रहेंगे; अथच विविध गुह्य स्थलों में छिपकर, वह कल-कलनिनादिनी सरिताओं के मधुर संगीत का श्रवण करेगी जिससे उसकी मुखाकृति में अपूर्व सौन्दर्य का आविर्भाव होगा। उसके भीतरी आनन्द-भाव जीवन का परिपोष करने वाले होंगे, और इस प्रकार ल्यूसी तथा प्रकृति दोनों पूर्ण समरसता में सहवास करेंगे'—

"And vital feelings of Delight
Shall rear her form to stately height,
Her virgin bosom Swell;
Such thoughts to Lucy I will give

while she and I together live
Here in this happy dell."

लेकिन, ल्यूसो की तुलना में शकुन्तला हीन कथमपि नहीं ठहराई जा सकती। वस्तुतः वर्ड्सवर्थ यूरोप की तत्कालीन भौतिक सभ्यता से ऊब कर, प्रकृति के प्रांगण में लौट जाने का अभिलाषी था क्योंकि मानव-संसार की तुलना में उसे प्रकृति-संसार पवित्र, एवं निष्कलुष भासित होता था तथा वहाँ उसे आनन्द का अखंड प्रसार दिखाई पड़ता था। वर्ड्सवर्थ की इस दृष्टि-भंगी में एक प्रकार का 'पलायनवाद' अन्तर्निहित था और उसकी ल्यूसी वाली कल्पना से लोक-जीवन को किसी प्रकार की स्थायी परिष्कृति अथवा प्रेरणा नहीं मिल सकती थी, क्योंकि ल्यूसी लोकनिरपेक्ष प्रकृति-रमणी बननेवाली थी। कालिदास अपने युग की समृद्धिशालिनी सभ्यता के उपभोक्ता एवं पुरस्कर्त्ता थे; अतएव, भौतिकता से पलायन कर, किसी मधुर अवलेह की खोज में वे प्रकृति-साहचर्य का सिद्धान्त निरूपित कर ही नहीं सकते थे। रोमांस की रंग-रेलियों की चर्वणा करते हुए भी, वे लोक-निरपेक्ष नहीं बन सकते थे। यही कारण है कि शकुन्तला 'निसर्ग-कन्या' होते हुए भी, निसर्ग अथवा प्रकृति को, अशेष भाव से अपनी नियामिका नहीं बना सकती थी। अतएव, प्रकृति-संसर्ग से प्राप्त सरलता एवं निश्छलता, तथा लोक-व्यवहार से प्राप्त शील-संकोच एवं मर्यादा-भावना वस्तुतः इनका द्वैत ही उसके चरित्र के अप्रतिम सौरभ का रहस्य है।

'प्रकृति-पेलवा' शकुन्तला प्रकृति के प्रति असीम अनुराग रखती है। आश्रम के पादपों को वह अपना सहोदर समझती है—"अस्ति मे सोदरस्नेह एतेषु।" इसी स्नेह के कारण, वह अपने अलंकरण के हेतु इनके पत्र तोड़ना अनुचित समझती है। उनके प्रथम पुष्पोद्गम होने पर वह उसका उत्सव मनाती है। पति-गृह को जाते समय 'वनज्योत्स्ना' नामक लता को 'बहन' कहकर, उसे प्रेम का आश्लेष प्रदान करती है। उसका कथन है कि यदि वह इन लता-वृक्षों को भूल जाय, तो वह स्वयं अपने को भूल जाएगी—"तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि।" उसकी यह बलवती आस्था है कि वृक्ष उसे अपनी पवन-प्रेरित करांगुलियों से आह्वान करते हैं। उसकी विदाई के अवसर पर वृक्षों ने उसके शृङ्गार-हेतु मांगलिक वसन तथा लाक्षारस-प्रदान किए तो वनदेवियों ने कोपलों से स्पर्धा करके वृक्षों में से हाथ निकाल कर बहुत से आभूषण दे दिए—"अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितैर्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।" कण्व के आह्वान करने पर, वनदेवियों ने जो शकुन्तला को मंगल-सूचक आशीर्वाद दिया है, वह उस प्रकृति-किशोरी के आचरण के सर्वथा अनुरूप है—

"रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।

भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः" ॥ (४।११)

—'इसके मार्ग के बीच में नीली कमलिनियों से पूरित तालाब हों; नियम से थोड़ी-थोड़ी दूर पर लगे हुए, धूप से बचानेवाली घनी छाँहवाले वृक्ष हों; धूल में कमल के पराग की कोमलता हो; सुख देनेवाला पवन हो और मार्ग कल्याणमय हो।'

लताविटपों के प्रति ही शकुन्तला का "सोदर्यस्नेह" नहीं है; पशु-पक्षियों पर भी उसका प्रगाढ़ अनुराग है। ज्यों-ज्यों उसकी बिदाई की घड़ी निकट आती जाती है, त्यों-त्यों तपोवन भी उदास दिखाई पड़ता जा रहा है। देखिए, प्रियंवदा क्या कहती है—

"उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥" (४।१२):

—'हरिणियाँ चबाई हुई कुशा के ग्रास उगल रही हैं, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताओं से पीले-पीले पत्ते झड़ते जा रहे हैं जैसे उनके आँसू गिर रहे हों।' गर्भमन्थरा मृगवधू को देखकर, शकुन्तला कण्व से प्रार्थना करती है कि जब हरिणी को सुखपूर्वक बच्चा हो जाय, तब वह प्यारा संवाद मेरे पास भिजवा दीजिएगा। वह जब जाने लगती है तब उसके द्वारा पुत्र के समान पालित मृग, जिसके कुश के काँटे से छिदे हुए मुख को उसने हिंगोट के तैल का लेप कर अच्छा किया था, उसका मार्ग रोककर खड़ा हो जाता है। उस समय वह उसे यों समझाती है—"वत्स! किं सहवासपरित्यागिनी मामनुसरसि। अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्।" (हे वत्स! मुझ साथ छोड़कर जानेवाली के पीछे-पीछे तू कहाँ जा रहा है? तेरी माँ जब तुझे जन्म देकर मर गई थी, उस समय मैंने तुझे पाल-पोस कर बड़ा किया था। अब मेरे पीछे मेरे पिता जी तेरी देखभाल करेंगे। जा, लौट जा।) इन वाक्यों में जो मर्म-व्यथा गर्भित है, उसकी भावना से यह स्पष्ट हो जाता है कि शकुन्तला प्रकृति-किशोरी वास्तविक अर्थों में है क्योंकि आश्रम के लता विटप, पशु-पक्षी, सम्पूर्ण चराचर सृष्टि से वह परम आत्मीयता के सूत्रों में बँध गई है।

नाटककार ने जिस रीति से शकुन्तला के प्रकृति-साहचर्य का चित्रण किया है, उससे एक बात ध्यान में आती है—यह कि शकुन्तला सचमुच प्रकृति-गत जीवन से समरस, एकरस बन गई थी। आश्रम के लतावृक्ष तथा पशु-पक्षी उसे आत्मीय समझते थे जैसे वह उन्हें आत्मीयता का सहज दान दे चुकी थी। कृष्ण के वियोग

में गोकुल की गायों की अधीरता तथा छटपटाहट के चित्रों में हमें अविश्वास नहीं होता क्योंकि लोकानुभव इसका अनुमोदन करता है। उसी प्रकार शकुन्तला की विदाई की छाया से यदि मृग-मयूर अवसन्न हो गए हों, तो इसमें आश्चर्य नहीं है। किन्तु कवि का अभीष्ट यहीं समाप्त नहीं हो जाता। जिस प्रकार शकुन्तला 'लता-भगिनी' वनज्योत्स्ना से मिलती है, उससे यह ध्वनि भी निकलती है कि वह लता भी शकुन्तला के आलिङ्गन को अनुभूत करती है, उसे 'अप्रीशियेट' करती है। शकुन्तला के शृंगार के लिए वृक्षों तथा वनदेवियों ने जैसे भिन्न-भिन्न उपादान प्रदान किए हैं, उससे भी कवि का ध्वन्यार्थ यही है कि आश्रम के विटपों और वनस्पतियों तथा शकुन्तला में नित्यप्रति भाव-विनिमय होता रहता था—शकुन्तला उनकी भाषा समझती थी और वे शकुन्तला की भाषा समझते थे; शकुन्तला उन्हें स्नेहदान देती थी और वे उसे स्नेहदान देते थे। अर्थात्, यह स्नेह-सूत्र दोनों बिन्दुओं से वर्धित एवं पालित होता था।

प्रस्तुत निरूपण के आलोक में देखने से कालिदास की, प्रकृति-कवियों की तुलना में, श्रेष्ठता स्पष्ट झलक जाती है। नाटककार ने शकुन्तला के शील-चित्रण के सन्दर्भ में मानव एवं प्रकृति, दोनों की धमनियों में प्रवहमान प्राण-द्रव की अभिन्नता का, नितान्त नैसर्गिक रीति से, प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से, साहित्य की कोई भी 'प्रकृति-किशोरी' स्नेह-पुत्रिका शकुन्तला की स्पर्धा में टिक नहीं सकती। वर्ड्सवर्थ की ल्यूसी तो फिर, अकाल ही, मृत्यु की गोद में चली गई थी और अपने व्यक्तित्व के उपकरण उसने प्रकृति से अवश्य प्राप्त किए थे, किन्तु उसने प्रकृति को, उसके अंगीभूत लता-वीरुधों एवं पशु-पक्षियों को, अपना कुछ भी दान नहीं दिया था; ल्यूसी पूर्णतया आत्म-केन्द्रित थी जब कि शकुन्तला पूर्णतया आत्म-समर्पणशील। अतएव, ल्यूसी अथवा इस कोटि की अन्य बालाएँ स्वभावतः शकुन्तला की कोटि में गृहीत नहीं हो सकतीं।

कालिदास ने, जैसा ऊपर कहा गया है, अपने इस 'स्त्रीरत्न' के चरित्र में शील-संकोच का तत्त्व भी सन्निहित किया है। वस्तुतः कुलपति कण्व का आश्रम ही ऐसा स्थान था जहाँ प्रकृति-गत सुषमाओं के राज्य में लोक-व्यवहार की मर्यादाओं का भी पालन किए जाने की प्रेरणा कार्यशील थी क्योंकि ये ऋषि लोक से पृथक् रहते हुए भी, लोक-निरपेक्ष नहीं थे। शकुन्तला केवल सेचनघटों से वृक्षों के आलवाल ही नहीं भरती थी; प्रत्युत अतिथियों के स्वागत-सत्कार का दायित्व भी उसी को सौंपा गया था। अतएव, प्रकृति के साहचर्य के साथ-साथ, अन्य आगन्तुकों के संसर्ग में भी उसे आना पड़ता था। इस कारण, उसके चरित्र में अनियंत्रित स्वच्छन्दता का

विकास नहीं हो सकता था। दुष्यन्त के प्रथम साक्षात्कार से लेकर अन्तिम मिलन तक शकुन्तला का स्वरूप पूर्णतः शील-संवलित तथा मर्यादानिष्ठ रहा है।

दुष्यन्त के यह पूछने पर कि "अपि तपो वर्धते", शकुन्तला मुँह नीचे कर चुपचाप खड़ी रह जाती है, और जब उसके मनमें राजा के दर्शन से 'विकार' उत्पन्न होता है, तब वह कहती है—"किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता।" वह 'विकार' तपोवनविरोधी है, इसकी प्रतीति उसे हो रही है। तथापि, वह उस मनोविकार की अवहेलना तो कर सकती नहीं थी, वैसा करना उसको अवस्था के विपरीत पड़ता। उसका मन तो उसके हाथों में है नहीं—"यद्यात्मनः प्रभविष्यामि।" तथापि, वह शील-संकोच को तिलांजलि नहीं दे सकती। देखिए, उसका अन्तर्द्वन्द्व कितनी सुन्दरता से नाटककार ने व्यञ्जित किया है—

> "वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
> कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
> कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना
> भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥" (१।२६)

—'यद्यपि वह मुझसे बातचीत नहीं करती, तौभी जब मैं बोलने लगता हूँ, तब वह कान लगा कर मेरी बातें सुनने लगती है और यद्यपि मेरे सामने मुँह करके वह नहीं बैठती, तौभी उसकी दृष्टि मेरे ही ऊपर लगी रहती है।'

दुष्यन्त विदूषक से उसके भोलेपन तथा 'मदन' एवं विनय दोनों के प्रति उसकी संवेदनशीलता का, अन्यत्र, यों बखान करता है—

"वयस्य! निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः। तथापि तु"—

> "अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
> विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः॥" (२।११)

—'मित्र! ऋषिकन्याएँ स्वभाव से ही भोली-भाली होती हैं। तथापि जब मैं उसकी ओर मुँह करता था, तब वह आँखें चुरा लेती थी और किसी-न-किसी बहाने हँस भी देती थी। वह विनय से इतनी दबी हुई थी कि वह अपने प्रेम को न छिपा ही पा रही थी और न उसे खोल ही पा रही थी।'

शकुन्तला का प्रेम बहुत आगे बढ़ गया है—"बलवान्खलु मेऽभिनिवेशः।" वह दिन-पर-दिन सूखती जा रही है; उत्फुल्ल यौवन का फूल मुरझाता जा रहा है; केवल "लावण्यमयी छाया" ही भर उसके गात्रों में बच गई है; पवनस्पर्श से मुरझायी माधवीलता की नाईं वह सुन्दर एवं दयनीय दोनों दिखाई पड़ रही है—

'शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते ।' लता-कुञ्ज में यही शकुन्तला दुष्यन्त के साथ अकेली छोड़ दी गई है जहाँ मदन-रसिक नागर नरेश उसे अपनी भुजाओं के पाश में बाँध लेने के लिए ललक रहा है। उस स्थिति में भी, शकुन्तला अनुरोध करती है—"पौरव ! कुछ तो शील का ध्यान रखो। प्रेम से व्याकुल होने पर भी मैं अपने मन से कुछ भी नहीं कर सकती।' कम-से-कम वह सखियों से तो पूछ ले (क्योंकि तातकाश्यप के आने में विलम्ब हो सकता है)—"मुञ्च तावन्मां ! भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये।"

इस प्रकार, कवि ने शकुन्तला के चरित्र को शील एवं विनय से विभूषित कर दिया है। और, यदि वह अन्ततः पराजित हो गई, तो इसमें उसका कुछ दोष नहीं मानना चाहिए, कारण कि उसकी अवस्था, स्थिति, सखियों का प्रोत्साहन, सरल एवं निश्छल स्वभाव, लताविटपों तथा पशुपक्षियों के प्रति दिए गए स्नेहदान के निरन्तर अभ्यास से उसके कोमलीकृत हृदय की आत्मसमर्पणशील वृत्ति—ये सभी बातें शकुन्तला की पराजय के लिए उत्तरदायी हैं।

दुष्यन्त का अथक आग्रह तो सबसे बड़ा कारण है। 'मदन' के अनुरोधों की अवहेलना वह कदाचित् कर सकने में समर्थ हो जाती क्योंकि विनय का अंश भी उसके स्वभाव में यथेष्ट था। दुष्यन्त को इसकी आशंका बनी हुई थी। शकुन्तला को 'गुरुजनों' का भय था और तपोवन की मर्यादा खण्डित होने की भावना भी भीतर-भीतर कार्य कर रही थी। अतएव दुष्यन्त ने अपनी विजय के लिए अन्तिम तर्कास्त्र का प्रयोग किया। देखिए वह क्या कहता है—

"भीरु अलं गुरुजनभयेन ! दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्र भवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। पश्य—

"गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥" (३।२१)

—'अरी डरपोक ! गुरुजनों से डरो मत। पूज्य कुलपति कण्व धर्म भलीभाँति जानते हैं। ये बातें जानने पर भी, वे बुरा नहीं मानेंगे। देखो, बहुत-से राजर्षियों की कन्याओंने गान्धर्वविवाह किया है और यह भी सुना जाता है कि उनके पिताओंने उनका अनुमोदन ही किया।'

अब कौन-सा मानसिक अवरोध हो सकता था ? राजर्षि कन्याओंने गान्धर्वविवाह किया भी है, और धर्म-मर्मज्ञ कण्व, अन्य पिताओंके समान, उसका अभिनन्दन ही करेंगे ! मेरी सम्मति में, इसी अन्तिम तर्कना ने शकुन्तलाको निःसंदिग्ध कर दिया। अतएव, यह स्पष्ट है कि नाटककार ने अपनी स्नेहशीला नायिका के पराभव के लिए पुष्कल औचित्य उपस्थित किया है।

शकुन्तला सखी और पुत्री रूप में भी आदर्श है। अनुसूया एवं प्रियंवदा उससे अनेकानेक हास-परिहास करती हैं, किन्तु वह कभी उसे बुरा नहीं मानती। वस्तुतः वह उनसे कोई बात छिपाती नहीं है। दुष्यंत के अत्यधिक आग्रह करने पर उसने यही कहा कि सखियों से तो मुझे पूछ लेने दीजिए। आश्रम में सखियों के साहचर्य में ही उसने लेखन, वाचन, काव्य, इतिहास इत्यादि की शिक्षा पाई थी। उन्हीं के अनुरोध पर उसने दुष्यंत के लिए "ललितपदबन्ध" अर्थात् प्रेम-कविता बनाई है।[१] लता-भवन में उसे दुष्यन्त के साथ अकेली छोड़कर जब सहेलियाँ जाने लगती हैं, तब वह कहती है—"हला अशरणाऽस्मि। अन्यतरा युवयोरागच्छतु।" (अरी! मुझे क्यों अशरण छोड़ रही हो? दोनों में से एक तो रुक जाओ)। विदाई के अवसर पर जब वे उससे उसका मंगल-शृंगार करने का प्रस्ताव करती हैं, तब वह सिसकते हुए कहती है—"इदमपि बहुमन्तव्यं दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यतीति।" उसके वृक्षों की ओट में ओझल हो जाने पर, सखियाँ बेहाल हो गई हैं और आश्रम अब उन्हें काटता-सा दिखाई पड़ता है। "तात शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः?" उनका यह मर्मोद्‌गार इस बात का व्यंजक है कि वह अपने सरल एवं निश्छल स्वभाव के कारण सखियों की अत्यंत प्रिय बन गई थी।

पुत्री-रूप में शकुन्तला को महर्षि कण्व तथा गौतमी का अविचल स्नेह प्राप्त है। कण्व ने जिस भावार्द्रता के साथ उसको पतिगृह के लिए प्रस्थित कराया है, उसका चित्रण कालिदास ने नितान्त निपुणतापूर्वक किया है। शकुन्तला कण्व का आश्लेष कर अत्यन्त दैन्यभाव से निवेदन करती है कि पिताजी की गोद से अलग होकर, मलयाचल से उन्मूलित चन्दनलता के समान परदेश में पहुँच कर कैसे जीवन धारण करूँगी? किन्तु, साथ ही, उसे तात कण्व के स्वास्थ्य की चिन्ता भी सता रही है। पुनः उनसे गले लगकर वह निवेदन करती है—"हे तात! आप तो यों ही तप के कारण दुर्बल हो गये हैं, अतएव आप मेरी अधिक चिन्ता मत कीजिएगा।" वीतराग ऋषि भी उसकी विदाई की कल्पना से एकदम शिथिल एवं स्तंभित हो गये हैं तथा अपनी गहरी वेदना की यों व्यंजना करते हैं—

"वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः।
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥" (४।६)

—'जब मुझ जैसे तपोधन की ऐसी दशा हो रही है, तब उन गृहस्थों को कितनी

---

१. "तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि!
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइँ अङ्गाइँ॥" (३।१४)

पीड़ा होती होगी जो पहले पहल अपनी कन्या को विदा करते होंगे!' कण्व के इस वात्सल्य में न केवल उनकी ही मृदुहृदयता की व्यंजना हो रही है, प्रत्युत प्रकारान्तर से शकुन्तला की पितृ-भक्ति तथा विनयशीलता का भी प्रकाशन होता है।

उसके भोलेपन की चर्चा ऊपर हो चुकी है। प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही वह मौग्ध्य-भाव से मंडित दिखाई पड़ी है—अधररस का पान करने वाले भ्रमर का निवारण तथा उससे पलायन की चेष्टा में उसका भोलापन अभिव्यक्त होता है। "न एष दुष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति। हला परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन, मधुकरेण अभिभूयमानाम्"—ये वाक्य उसके चरित्र को अत्यंत प्रिय एवं निष्कलुष बना देते हैं। नाटककार ने इस सरलता एवं भोलेपन की रक्षा अन्त तक की है। तपोवन से विदा होते समय उसे अतीव उत्कट वेदना हो रही है, लेकिन तब भी वह सखी से स्वीकार करती है कि आर्यपुत्र के दर्शनों के लिए मैं बड़ी उद्विग्न हो रही हूँ। यह उसकी निश्छलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। दुष्यन्त के राजभवन में उपस्थित होने पर उसको उसके पूर्व प्रणय का विश्वास दिलाने के लिए शकुन्तला ने जो प्रमाण दिया है—

"मेरे पाले हुए दीर्घापांग नामक मृगशावक ने जब आपके हाथ से पानी न पिया और फिर वही पानी मेरे दिखलाने पर वह पीने लगा, तब आप हँसकर बोले थे, 'प्रत्येक जन्तु का अपने सजातीय पर विश्वास होता है; तुम दोनों अरण्य-वासी हो।"

वह उसके स्वभाव की सरलता को असंदिग्ध भाव से विज्ञत करता है।

किन्तु जब उसके प्रेम की अवहेलना होती है, तब यही सरल बाला कितनी क्रुद्ध हो जाती है! पहले तो वह बड़ी शालीनता एवं धैर्य से राजा के व्यंग्यपूर्ण वचनों को सुनती है। जब दुष्यन्त यह कहता है कि अपना कार्य सिद्ध करने वाली स्त्रियों की झूठी किन्तु मधुर बातों में विषयी लोग ही फँसते हैं, तब भी शकुन्तला अपनी उद्वेग-शील भावनाओं को नियन्त्रित किए हुए है। गौतमी के यह प्रतिवाद करने पर कि हे महाभाग! आपको ऐसा कथन शोभा नहीं देता क्योंकि तपोवन में पली कन्या छल-कपट की बात क्या जानती है ('तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य')। जब राजा यह व्यंग्य करता है कि "हे वृद्ध तापसी! जो स्त्रियाँ मानवी नहीं हैं, जब वे भी बिना सिखाए-पढ़ाए चतुर हो जाती हैं, तब इन समझ वाली स्त्रियों का क्या पूछना? जानती हो! जब तक कोयल के बच्चे उड़ना नहीं सीखते, तब तक वह दूसरे पक्षियोंसे ही उनका पालन कराती है।"—तब शकुन्तला की सात्विक क्रोधाग्नि भभक उठती है और वह दुष्यन्त को 'नीच' तथा 'अनार्य' तक कह डालती है। देखिए, उसके संतप्त एवं प्रतारित हृदय के क्या उद्गार हैं!

"अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे ! क इदानीमन्यधर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणाच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।

सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृताऽस्मि याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता।" (इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति।)

—'अनार्य ! तुम सबके हृदय को अपने ही हृदय के समान खोटा समझते हो ! तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूस से ढँके हुए कूप के समान धर्म का ढोंग रचकर ऐसा नीच काम करेगा।

तुमने अच्छा ही किया जो मुझे कुचाली स्त्री तक बना दिया। क्योंकि पुरुवंश जैसे ऊँचे कुल के धोखे में आकर मैं ऐसे नीच के हाथों में जा पड़ी, जिसके मुँह में मधु और हृदय में विष भरा हुआ है।' (ऐसा कहकर, आँचल से मुँह ढँक कर रोने लगी।)

शकुन्तला का यह रूप हमें चकित नहीं करता क्योंकि हिन्दू-रमणी का आदर्श रूप यही है। उपयुक्त स्थितियों में शकुन्तला ने अपने हृदय एवं शरीर का दान दे दिया, किन्तु जब उसका अपमान एवं तिरस्कार हुआ, तब वह एकदम तिलमिला गई और उसके अन्तस् की आग पानी बनकर, नेत्रों के पथ से धाराओं में बाहर निकलने लगी। शार्ङ्गरव की भर्त्सना से शकुन्तला के मर्म पर अन्तिम चोट पहुँची और उसने पृथ्वी माता से प्रार्थना की, "भगवति वसुधे ! देहि मे विवरम्"। उस के अपमान एवं तिरस्कार की परकाष्ठा हो गई, जब उसके आत्मीय ने भी उसपर अविश्वास किया और ऐसी परिस्थिति में वह बाह्य संसार को अपना मुख क्योंकर दिखा सकती थी ? इसलिए, तत्काल स्त्री जैसी एक स्वर्गीय ज्योति आई और उसे अपनी गोद में उठा कर अप्सरातीर्थ की ओर चली गई—

"स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम।" (५।३०)

शकुन्तला जैसी द्रवणशील एवं अनलशील बाला अन्यत्र कहाँ मिल सकती है ?

अन्तिम अंक में, शकुन्तला पतिवियोग के कारण मलिन वस्त्र तथा एक वेणी धारण करने वाली, व्रतोपवासादि से शरीर सुखा देनेवाली "शुद्धशीला" पतिपरायणा, पुत्रवत्सला प्रौढ़ा नारी के रूप में परिणत दिखाई पड़ती है— "वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।" जैसे प्रातःकाल ओस की बूँदों में स्नात कोमल कलिका धीरे-धीरे सुन्दर पुष्प के रूप में विकसित होकर सूर्य के प्रखर ताप से झुलस कर, सायंकाल सूख जाती है, वैसे ही शकुन्तला के चरित्र में क्रमिक परिवर्तन हुआ है। मारीच के आश्रम में शकुन्तला को आध्यात्मिक पुनर्जीवन प्राप्त हुआ है। "उसे इस आश्रम में उन सखियों का साथ नहीं जो राजा दुष्यन्त से लगा दें पर यहाँ उन तापसियों का योग

है जो दुष्यन्त को झुका दें।" अदिति के द्वारा परिवर्धित मन्दारवृक्ष से भरे प्रजापति कश्यप के आश्रम में स्वर्ग से बढ़कर भी अखंड शान्ति व्याप्त है और दुष्यन्त को ऐसा अनुभव हो रहा है जैसे वह अमृत के सरोवर में कूद पड़ा हो—"स्वर्गादधिकतरं निर्वृत्तिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।' वातावरण तो है यहाँ भी प्रकृति का ही, किन्तु शकुन्तला यहाँ आलवालों को जल से पूरित नहीं किया करती। यहाँ के तपस्वियों का जीवन बिलकुल भिन्न है। वे कल्पवृक्ष के वन का वायु पीकर जीवन धारण करते हैं और 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' विकारों के बीच में रह कर भी निर्विकार-भाव से रत्नशिलाओं पर बैठ कर तपस्या करते हैं।[1] और यहाँ ऋषियों का उपदेश चलता है पातिव्रत्य धर्म पर—महात्मा कश्यप स्वयं ऋषिपत्नियों को पतिव्रताधर्म की व्याख्या सुना रहे हैं—"दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्ठस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति।" ऐसे आश्रम एवं परिवेश में उपन्यस्त कर; नाटककारने शकुन्तला की क्षतविक्षत अन्तरात्मा को पुष्ट एवं स्वस्थ बनाने के लिए वह 'भोजन' प्रदान किया है जिसके अनवरत आस्वादन से वह "स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा" वास्तविक अर्थों में रमणी-रत्न बन गई है—शरीर से क्षीण-क्षाम किन्तु अन्तस् से पवित्र, निर्मल, निर्विकार सौवर्ण।

कालिदास ने शकुन्तला की जीवनचर्या का विशद चित्रण, इस अन्तिम अवस्था में, नहीं किया है। पुत्र-वत्सला तो वह अवश्य है, किन्तु पुत्र के लालन-पालन का दायित्व कदाचित् उसपर नहीं है। यह काम तो सुव्रता इत्यादि तापसियाँ किया करती थीं जिन्होंने ऋषिकुमार मार्कण्डेय द्वारा "वर्णचित्रित मृत्तिकामयूर" जैसे विविध खिलौनों ('क्रीडनक') का संग्रह कर लिया था और सर्वदमन को, 'बालमृगेन्द्र' को, सताने से रोकती रहती थीं। अतएव, शकुन्तला यहाँ तपस्या में, शान्ति-सेवन में, धर्मशिक्षा अर्जित करने में ही अपना जीवन व्यतीत करती है—क्योंकि मानसिक आघात तथा आध्यात्मिक उद्वेलन जो उसे सहने पड़े हैं, उनके शमनार्थ एतादृश उपकरणों की ही आवश्यकता होती है।

तथापि, "नियमव्यापृता" शकुन्तला, अन्तिम रूप में, विजयिनी चित्रित की गई है। दुष्यन्त तो उसे उस अतिदयनीय दशा में भी देखकर, तत्काल पहचान जाता है—"अये सेयमत्रभवती शकुन्तला।" किन्तु, शकुन्तला स्वयं राजा को नहीं पहचान

---

१. "प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी" ॥ (७।१२)

पाती। सर्वदमन के गात्रसंसर्ग से अपने अंगों को दूषित करने वाले दुष्यन्तको देखकर वह यही कहती है, "न खल्वार्यपुत्र इव। ततः क एष इदानीं कृतरक्षामंगलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति।" उसका यह न पहचानना दुष्यन्त के लिए सबसे बड़ा दण्ड है—"प्रिये क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वयाऽ-प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि।" राजा पुनः शकुन्तला के चरणों में प्रणिपात करके, भूरिशः पश्चात्ताप व्यक्त करता है और उसकी कुटिल बरौनियों में लगे हुए आँसुओं को पोंछता है तथा ऐसा करके ही, मानसिक शान्ति पाता है।[1] शकुन्तला एक शब्द भी उपालम्भ का नहीं कहती। केवल यही निवेदन करती है: "उठिये, आर्यपुत्र! उन दिनों पूर्वजन्मों का कोई पाप-फल रहा होगा कि आप जैसे दयालु भी मुझपर कठोर बन गए।" शकुन्तला की इस क्षमाशीलता में उसकी सच्ची विजय सन्निहित है।

दुष्यन्त की पहचान के प्रसंग में चित्रित शकुन्तला का स्वरूप नितान्त मर्मद्रावक है। उसके इन उद्गारों में जैसे उसका हृदय शतशः सहस्रशः चूर्णविचूर्ण होता जा रहा है—

"धीरज धरो, मेरे हृदय! आज दैव ने पिछला सब वैर भुलाकर मेरी सुन ली है। सचमुच ये तो आर्यपुत्र ही हैं।"

"जय हो, आर्यपुत्र, जय ..." (इतना कहते ही गला भर आता है।) बालक के यह पूछने पर कि "मातः क एष", वह कहती है, "वत्स, ते भाग्यधेयानि पृच्छ। (बेटा, अपने भाग्य से पूछ।)"

शकुन्तला के स्वभाव में यह जो परिवर्तन हुआ है, वह उसकी आध्यात्मिक परिपक्वता का परिणाम है। सच्ची हिन्दू नारी अपनी विपदाओं के लिए पति को कभी दोषी नहीं ठहरा सकती। वह तो केवल 'श्रद्धा' है जिसे 'क्रिया' का संयोग प्राप्त करना ही है क्योंकि तभी उसका जीवन सार्थक हो सकता है—

"दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्॥" (७।२९)

(मारीच कहते हैं—'आज सौभाग्य से यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक

---

१. "मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम्॥" (७।२५)

तथा तुम तीनों ऐसे मिल गए जैसे श्रद्धा, धन एवं क्रिया, तीनों एक साथ मिल जायँ।)

शकुन्तला के तीन रूपों का चित्रण कर, नाटककार ने अपनी कला का चरम उत्कर्ष दर्शित कराया है। पहले रूप में शकुन्तला वह थी जिसने चलते-चलते, लतापुञ्जों को केलि-विहार के लिए पुनः निमन्त्रण दिया था—'लतावलयसन्तापहारकश्रामन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।' दूसरे रूप में शकुन्तला वह थी जिसने दुष्यन्त को 'नीच' एवं 'अनार्य' कह कर डाँट-फटकार बताई थी। और तीसरे रूप में शकुन्तला वह है जो अपने भाग्य-विपर्यय का दोष अपने पूर्वजन्मार्जित कृत्यों पर आरोपित करती है और महर्षि मारीच से दुर्वासा के शाप वाली बात को सुनकर इस प्रकार अपना मानसिक समाधान खोज लेती है—

"दिष्टयाऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः। न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि। अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः। अतः सखीभ्यां संदिष्टाऽस्मि भर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति।"

—'सौभाग्य की बात है कि आर्यपुत्र ने मुझे अकारण ही नहीं छोड़ा था। किन्तु, यह तो स्मरण नहीं आ रहा है कि मुझे शाप कब मिला? या हो सकता है कि विरह-तप्त होने के कारण मेरा हृदय शून्य हो गया हो और मुझे शाप का पता ही न चला हो। अब मेरी समझ में आ रहा है कि चलते समय मेरी सखियों ने यह क्यों कहा था कि पति को अँगूठी दिखला देना।'

शकुन्तला के चरित्र का यह विकास परम स्वाभाविक परिस्थितियों में, अत्यन्त सहज भाव से, सम्पन्न हुआ है; और गेटे ने जो 'फूल और फल' वाली बात कही है, वह इस रूपान्तरण की नैसर्गिक सुषमा के प्रति ही अनवद्य प्रशस्ति है।

कालिदास की नायिकाओं में शकुन्तला कई दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ है। पार्वती का कठोर संयम एवं तपश्चरण उसमें अवश्य नहीं है, किन्तु पार्वती ने गंधमादन की रमणीय छवियों के बीच जो घोर केलि-विहार किया है, वह भी शकुन्तला को कहाँ मिल सका? पुनः, शिव-पार्वती देवाधिदेव हैं, उनका प्रणय लोक का आदर्श नहीं बन सकता। सीता के साथ भी कुछ ऐसे ही सम्बन्ध लगे हैं, और कवि ने उसके चरित्र को पूर्णतया उभारने की चेष्टा भी नहीं की है। इन्दुमती अनिन्द्य सुन्दरी है, लेकिन उसके शील का चित्रण कवि ने नहीं किया है—केवल अज के विलाप से उसकी व्यक्तिगत कलाप्रियता का पता चलता है। उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा है, ऐसी अप्सरा है जिसे महेन्द्र, तपोधनों की तपस्साधना को विनष्ट करने के लिए, मदन के 'सुकुमार अस्त्र' रूप में पृथिवी पर भेजा करते हैं। प्रणय में उसे स्वयं कष्ट नहीं सहना

पड़ा है; लतारूप में वह पुरूरवा को ही तड़पाती रही है। अन्ततः उसकी धर्म-संगिनी बन जाने पर भी, उसे लोकमत का भय सदैव बना रहा है। मालविका विशुद्ध एवं निर्दोष है, किन्तु उसका लालन-पालन राजमहल के परिवेश में हुआ है और उसके चरित्र में नागरी गुणों का विकास है। उर्वशी तथा मालविका, इनके प्रणय में कोई ऐसा तत्त्व वर्तमान नहीं है जिससे लोक-जीवन को पोषक सामग्री मिल सके। किसी ज्योतिषी की वाणी के अनुरूप मालविका को कुछ काल तक परिचारिका की वृत्ति करनी पड़ी है, लेकिन उस अवस्था में भी वह नाचना-गाना सीखती रही है— अर्थात् अपमान एवं तिरस्कार की भट्ठी में उसे कभी जलना, झुलसना नहीं पड़ा है। शकुन्तला इन सभी से एकदम भिन्न है। वह स्वर्ग एवं पृथिवी की सन्तान है। मेनका के रज से उत्पन्न होने के कारण, संभवतः उसके रक्त में ऐसे कीटाणु हैं जो अदृश्यभाव से उसे दुष्यन्त के प्रति आत्मसमर्पण करने को प्रेरित करते हैं। तथापि, वह पवित्र, निर्दोष एवं शुद्धशीला है। शाप का भयंकर परिणाम जो उसे सहन करना पड़ा है, उसकी छाया भी अन्य किसी नायिका को स्पर्श नहीं कर सकी है। "जीवन के नागरी आनन" (Sophisticated face of Life) पर शकुन्तला अनवद्य सुषमा एवं पवित्रता के नक्षत्र के समान चमकती है। उसे अधिकतम प्यार-दुलार, अधिकतम स्वच्छन्दता, अधिकतम संयम, अधिकतम अपमान-तिरस्कार, अधिकतम उद्वेजना, अधिकतम शान्ति तथा ऋषियों के अधिकतम स्नेह-सद्भाव का जो मिश्रित प्रसाद मिला है, उससे शकुन्तला शरीर एवं आत्मा दोनों से पवित्र होकर, ऐसे सिंहासन पर आसीन हो गई है जहाँ से वह संयम की कठोरता, शाप की निर्ममता, राजसी जीवन की विलासिता एवं प्रणय की एकान्त लोक-निरपेक्षता को एक साथ चुनौती देती है।

नायक और नायिका के बाद, पुरुष पात्रों में महर्षि कण्व तथा उनके दो शिष्यों और नारी पात्रों में शकुन्तला की दो सखियों के चरित्रों पर एक हलकी दृष्टि डाली जा सकती है।

कण्व 'कुलपति' हैं, अर्थात् ऐसे महर्षि हैं जो दस सहस्र मुनियों का पोषण तथा अध्यापन करते हैं—

"मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः।"

वे बड़े तपस्वी तथा अन्तर्ज्ञानी हैं। मारीच का कथन है कि तप के प्रभाव से कण्व को सभी बातें ज्ञात हो जाती हैं—"तपःप्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।" ऐसे महान् तपस्वी होने पर भी, वे शकुन्तला को अपनी पुत्री के समान मानते और

प्यार करते हैं। उसके दैव की शान्ति के लिए वे नाटकारम्भ में सोमतीर्थ गए हुए हैं। चौथे अंक में उनके वात्सल्य की कुल्या बड़े वेग एवं गहराई से फूट पड़ी है। शकुन्तला की विदाई के समय वे अत्यन्त विह्वल हो गए हैं और सम्पूर्ण संसारी पिताओं के प्रतिनिधि बन गए हैं। शकुन्तला को जो उपदेश उन्होंने दिए हैं, वे आज भी हिन्दू पिताओं द्वारा बालिकाओं को दिए जाते हैं; और उसे पतिगृह भेज कर जो महान् संतोष उन्हें हुआ है, वह प्रत्येक भारतीय पिता की भावना को सही-सही मुखरित करता है—

"अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पिन्यास इवान्तरात्मा॥" (४।२२)

कण्व आदर्श ऋषि एवं आदर्श पिता के रूप में चित्रित हुए हैं। शकुन्तला के गान्धर्व विवाह की बात सुनकर वे रंचमात्र भी असन्तुष्ट नहीं हुए हैं, यद्यपि शकुन्तला स्वयं जानती है कि उसका आचरण मूलतः 'तपोवनविरोधी' रहा है। उनसे बढ़कर क्षमाशील एवं उदार-बुद्धि पिता मिलना कठिन है। तपस्वी इतने कठोर हैं कि विदा होते समय जब शकुन्तला अपने मर्मस्पर्शी उद्गारों द्वारा विलम्ब करती है, तब वे कहते हैं—"वत्से उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्।" (हे वत्से जाओ मेरे तप के अनुष्ठान में बाधा पड़ रही है) वास्तव में, कण्व के अभाव में शकुन्तला तथा 'शाकुन्तल' की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

कण्व के शिष्यों शार्ङ्गरव और शारद्वत का चित्रण अत्यन्त अल्प हुआ है। तथापि, उनकी वैयक्तिक विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। शार्ङ्गरव, ऋषियों का एकान्त तपोवन वाला जीवन पसन्द करता है। राजभवन में प्रवेश करने पर उसे ऐसा प्रतीत हुआ है, मानो अग्नि से भरे हुए किसी गृह में आ गया हो। उसके नाम से ही यह ध्वनि निकलती है कि वह बड़ा क्रोधी एवं कठोर होगा 'शार्ङ्गरव' का शाब्दिक अर्थ है धनुष के समान शब्द करने वाला। जब दुष्यन्त ने शकुन्तला को ग्रहण करने से इनकार किया, तब शार्ङ्गरव ने उसे डाँट-फटकार बताई और जब शकुन्तला उन लोगों के साथ वापस जाना चाहती है, तब वह उसे भी अत्यन्त निर्ममता-पूर्वक डाँटता है—"किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे।" (क्यों री दुष्टे! मनमानी करना चाहती है?) शार्ङ्गरव की यदि यह तीखी फटकार न मिली होती, तो कदाचित् शकुन्तला कण्वाश्रम को वापस लौट जाती और समस्त घटना-क्रम ही उलट जाता। शार्ङ्गरव की योजना, अतएव, नाटककार ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ की है। शारद्वत शान्तिप्रिय तथा अधिक संयमी एवं समझदार है। इस प्रकार, वह शार्ङ्गरव के ठीक विपरीत पड़ता है।

शकुन्तला की दो सखियों के चित्रण में कालिदास ने यथेष्ट सतर्कता दिखाई है। वे दोनों सुन्दर, प्यार करने योग्य तथा क्रीडनशील एवं चुलबुली हैं। लेकिन, दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। अनुसूया में शान्तिप्रियता तथा आचारगत विवेक अधिक है। प्रियंवदा में अधिक विनोदप्रियता, अधिक चपलता तथा अधिक 'फर-फराहट' है। अनुसूया अधिक व्यवहारकुशल है जबकि प्रियंवदा अधिक भावुक है। अनुसूया अधिक डरने वाली तथा सहमने वाली है, किन्तु प्रियंवदा अधिक विश्वस्त एवं आश्वस्त है। वे दोनों शकुन्तला को अत्यधिक प्यार करती हैं और वह भी दोनों को बहुत प्यार करती है।

तथापि, प्रियंवदा के स्वभाव तथा भाषण का आकर्षण सम्पूर्ण नाटक में छल-कता दिखाई पड़ती है। जब शकुन्तला उससे कहती है कि तुमने मेरी चोली अत्य-धिक कस दी है, तब प्रियंवदा उत्तर देती है कि दोष मेरा नहीं है, अपितु दोष है तुम्हारे प्रफुल्ल, पूर्ण-प्रस्फुट यौवन का। जब शकुन्तला सखियों से कहती है कि केशर का वृक्ष उसे वायु-प्रेरित पत्तियों रूपी अँगुलियों से बुला रहा है, तो प्रियंवदा उससे वहाँ ठहर जाने के लिए कहती है क्योंकि वह (शकुन्तला) स्वर्णलता के तुल्य है। जब शकुन्तला वनज्योत्स्नालता तथा आम के वृक्ष की ओर सानुराग दृष्टि से देखती है, तब प्रियंवदा हास्य करती है कि वह भी लता के समान किसी प्रेमी की खोज में व्यग्र है। जब शकुन्तला के जन्म के विषय में पूछकर दुष्यन्त मानसिक द्विविधा में पड़ जाता है, तब वही उससे कहती है कि आप शकुन्तला की विवाह-विषयक अपनी अकथित पृच्छा पूछ डालिए। शकुन्तला के जाने लगने पर, वह उसे यह कहकर रोकती है कि उसे अपना 'ऋण' (वृक्षसेचन) चुका कर जाना पड़ेगा। दुष्यन्त भी मदन-शर से व्यथित है, इसे प्रियंवदा ही लक्षित करती है। उसी ने शकुन्तला से दुष्यन्त के लिए "मदनलेख" लिखने का निर्देश किया है। जब अनुसूया राजा की विस्मृति के लिए उसे दोषी ठहराती है, तब प्रियंवदा कहती है कि उसके समान श्रेष्ठ-सुन्दर रूपवाला व्यक्ति ऐसा दोषपूर्ण कृत्य नहीं कर सकता— "न तादृश आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।" प्रियंवदा के इस कथन से शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'टेम्पेस्ट' में फर्डिनैण्ड के विषय में मिरैण्डा द्वारा की गई टिप्पणी की याद हो आती है—

"There is nothing ill can dwell in such a temple: If the ill Spirit have so fair an house, Good things will to swell with it."

तथापि, अनुसूया की भी अपनी विशेषताएँ हैं। राजा के शकुन्तला से यह पूछने पर कि "अपि तपो वर्धते" अनुसूया उत्तर देती है कि आप जैसे अतिथि-विशेष

के आगमन से तप सफल ही समझा जाएगा और शकुन्तला से स्वागत-सामग्री लाने को कहती है। दुष्यन्त से उसका परिचय जिन शब्दोंमें अनुसूया पूछती है, उनसे उसकी वाग्विदग्धता का पता चलता है—"आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलंक्रियते कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कुतो देशः किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः।" शकुन्तला के जन्म तथा लालन-पालन की कहानी अनुसूया ही राजा को सुनाती है और जब लज्जा से शकुन्तला जाना चाहती है, तब वह कहती है कि अतिथि का उचित सत्कार किए बिना जाना अनुचित कहा जाएगा। शकुन्तला जब प्रेम से सूखती जा रही है, तब अनुसूया उससे कहती है, "हमलोग प्रेम तो नहीं जानती हैं फिर भी कथा कहानियों में हमने कामियों की जो बातें सुनी हैं, ठीक वैसी ही दशा तुम्हारी दिखाई पड़ रही है। तुम किसके लिए इतनी बेचैन हो? जब तक रोग का पता न चल जाय तब तक उसका क्या उपाय किया जा सकता है?"[1]

वही यह प्रस्ताव करती है कि शकुन्तला के विवाह-सुख के निमित्त सौभाग्य-देवता से प्रार्थना करनी चाहिए। दुर्वासा जब क्रोध से बड़बड़ाने लगते हैं, तब अनुसूया स्वयं उनके सत्कार की वस्तुएँ लाने के लिए दौड़ जाती है और चतुर प्रियंवदा को उन्हें शान्त करने के लिए भेज देती है।

नाटककार ने अनुसूया तथा प्रियंवदा, दोनों के शीलचित्रण में यथेष्ट सावधान दिखाई है और प्रकृति-किशोरी शकुन्तला के शील-विकास में इन सखियों के योगदानो की असंदिग्ध-भाव से विज्ञप्ति की है।

'शाकुन्तल' की तुलना प्रायः शेक्सपियर के सुखान्तकी नाटक 'टेम्पेस्ट' ('तूफान') से की गई है और शकुन्तला की तुलना उसकी नायिका मिराण्डा से की गई है। दोनों नाटक महान् रचनाएँ हैं; लेकिन दोनों की कल्पना में मौलिक अन्तर है। इसे दिग्दर्शित करने के पहले 'टेम्पेस्ट' की कथावस्तु पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

'एक द्वीप के केवल दो निवासी हैं—प्रास्पिरो और उसकी नवयौवना सुन्दरी कन्या मिराण्डा। प्रास्पिरो बारह वर्ष पूर्व मिलन (इटली का एक नगर) का ड्यूक था और मिराण्डा अत्यन्त छोटी आयु की, उसकी एकमात्र उत्तराधिकारिणी थी। प्रास्पिरो एकान्त-सेवन तथा अध्ययन का व्यसनी था और उसने इस कारण राज्य

---

१ "हला शकुन्तले अलब्धान्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य, किन्तु यादृशी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं ते पश्यामि। कथय किं निमित्तं ते संतापः। विकारं खलु परमार्थतः अज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य।"—अंक ३।

का समस्त कार्य अपने अनुज एंटोनियो को सौंप दिया था। एंटोनियोने प्रजाओं को मिलाकर नेपुल्स (इटली का दूसरा नगर) के राजा की सहायता से प्रास्पिरो को अधिकारच्युत कर दिया और उसे एवं उसकी कन्या मिराण्डा को एक छोटी नाव पर चढ़ाकर समुद्र में छोड़ दिया। लेकिन, एक वफादार सामन्त की सहायता से उस नाव में भोजनादि की सामग्री आवश्यक परिमाण में रख दी गई थी। इस कारण, पिता-पुत्री डूबनेसे बच गए और इस द्वीप में पहुँच कर यहीं के एकमात्र निवासी बन गए। यहाँ प्रास्पिरो ने मिराण्डा को सिखाया-पढ़ाया है और स्वयं इन्द्रजाल से सम्बन्धित पुस्तकों के अध्ययन में व्यस्त रहा है।

वर्तमान द्वीप में प्रास्पिरो के दो और साथी हैं, किन्तु वे मानव नहीं, प्रेत हैं। एक है एरियल जो उत्तम कोटि का प्रेत है और प्रास्पिरो की आज्ञा का पालन करने में अत्यन्त तत्पर एवं सत्यनिष्ठ है। दूसरा है कैलिबन जो अधम जाति का प्रेत है और जिसे लकड़ी लाने तथा अन्यान्य कष्टसाध्य कार्य सम्पादित करने पड़ते हैं। वह प्रास्पिरो का दास है और उसके ऊपर एरियल का नियन्त्रण है। कैलिबन की माँ साइकोरैक्स ने एरियल को अन्य उत्तम प्रेतों के साथ वृक्ष के कोटर में बन्दी बना दिया था जहाँ उसे अधिक कष्ट एवं यातना सहनी पड़ी थी। प्रास्पिरो इन्द्रजाल का पंडित था। अतएव, यहाँ आकर उसने इन सभी उत्तम प्रेतों को बन्धन-मुक्त किया और इसी कारण एरियल उसका अत्यन्त आज्ञानुपालक सहयोगी सिद्ध हुआ है। इन शक्तिशाली प्रेतों की सहायता से प्रास्पिरो समुद्र की लहरों और हवाओं पर शासन करता है।

एक दिन प्रास्पिरो ने समुद्र में तूफान उत्पन्न करा दिया। उस झंझा में एक बड़ा पोत फँस गया और ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे उस पर के सभी मनुष्य जल-समाधि ग्रहण कर लेंगे। मिराण्डा वह दृश्य देख कर, करुणा से द्रवीभूत हो गई और उसने पिता से प्रार्थना की कि वह उन दुर्भाग्यताड़ितों को बचा ले। उसकी यह प्रार्थना सुन कर, प्रास्पिरो ने उसे आश्वस्त किया कि जहाज डूबेगा नहीं क्योंकि उसने अपनी इन्द्रजाली विद्या से ऐसी व्यवस्था कर दी थी। इसी समय उसने ऊपर वाली कहानी मिराण्डा को सुनाई और यह बताया कि इस तूफान में फँसने वाले व्यक्ति नेपुल्स का राजा और उसका अनुज एण्टोनियो ही हैं और अब वे उसी द्वीप के किनारे आ पड़े हैं। इतना कहने के बाद, प्रास्पिरो ने मिराण्डा को अपनी इन्द्रजाली छड़ी के स्पर्श से सुला दिया और तब एरियल ने उसे बताया कि जहाज के सभी लोग सुरक्षित हैं, यद्यपि प्रत्येक यही समझता है कि उसे छोड़कर अन्य सभी नष्ट हो गए हैं। नेपुल्स का राजकुमार फर्डिनेण्ड द्वीप के एक कक्ष में सुरक्षित है और उसका पिता एवं ऐंटोनियो, दोनों उसे खोज रहे हैं।

प्रास्पिरो की आज्ञा से राजकुमार एरियल द्वारा वहाँ लाया जाता है। वह मिराण्डा जैसी अप्रतिम सुन्दरी को देखकर अत्यन्त विस्मित होता है और उसे उस द्वीप की अधिष्ठात्री देवी समझ कर सम्बोधित करता है। मिराण्डा भी उसके सौन्दर्यशाली रूप पर रीझ जाती है और ऐसा स्पष्ट आभास मिलता है कि वे दोनों एक दूसरे के प्रेम में फँस गए हैं। प्रास्पिरो उनके प्रेम की दृढ़ता की परीक्षा करना चाहता है और इस उद्देश्य से वह फर्डिनैण्ड को लकड़ी के भारी कुन्दे इकट्ठे करने का काम सौंपता है। राजकुमार ऐसे कामों का अभ्यस्त नहीं है, इसलिए वह शीघ्र थक जाता है। प्रास्पिरो अपने अध्ययनकक्ष में चला गया है। उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर, मिरांडा वहाँ आती है और अब वे दोनों एक दूसरे के प्रति अपने प्यार की विज्ञप्ति करते हैं। प्रास्पिरो उनके संलाप को छिप कर सुनता है और जब उसे विश्वास हो जाता है कि दोनों का पारस्परिक प्रेम दृढ़ एवं सच्चा है, तब वह उनके सामने उपस्थित होता है और फर्डिनैण्ड को वचन देता है कि मिरांडा उसकी पत्नी बन जाएगी। वस्तुतः प्रास्पिरो ने ही जानबूझ कर वह प्रेम-मिलन नियोजित किया है क्योंकि वह चाहता है कि उसकी लड़की नैपुल्स की रानी बन जाय।

बाद को, प्रास्पिरो की आज्ञा से एरियल नैपुल्स के राजा और एंटोनियो इत्यादि को भी वहाँ उपस्थित करता है। जान-पहचान होने के बाद, राजा और एंटोनियो, दोनों अपने पूर्व जघन्य कृत्य के लिए प्रास्पिरो से क्षमा-याचना करते हैं। इसी समय मिरांडा और फर्डिनैंड भी चौपड़ खेलते हुए उपस्थित होते हैं। मिरांडा इन नए मानवों को देखकर विस्मय से भर जाती है क्योंकि उसने अपने पिता को छोड़कर अन्य किसी मनुष्य को उस द्वीप में नहीं देखा था। फर्डिनैण्ड पहला बाहरी व्यक्ति था जिसके रूप सौन्दर्य पर वह रीझ कर उसके प्रणयसूत्र में बँध गई थी, और अब इन व्यक्तियों को देखकर वह हर्ष मिश्रित विस्मय से बोल उठी—"अरे! आश्चर्य है! ये कितने सुन्दर जीव हैं! जिस संसार में ऐसे लोग हैं, वह संसार अवश्य ही अत्यन्त रमणीय होगा।"

इस मिलन में अपराधी अपने कृत्यों पर अनुताप व्यक्त करते हैं और प्रास्पिरो उनसे उन सभी बातों को भूल जाने का उदारतापूर्वक अनुरोध करता है। वह एरियल को मुक्त कर देता है और वे सभी नैपुल्स पहुँचते हैं जहाँ मिरांडा तथा फर्डिनैण्ड का विवाह बड़े समारोह के साथ सम्पन्न होता है।

'शाकुन्तल' तथा 'टेम्पेस्ट' की कथावस्तु में जो सादृश्य दिखाई पड़ता है, वह स्पष्ट है। निर्जन द्वीप में लालित-पालित मिरांडा के साथ फर्डिनैण्ड का प्रणय वैसा ही है जैसा तपोवन-पालिता कण्व-दुहिता शकुन्तला के साथ दुष्यन्त का प्रणय

है। शकुन्तला की शिक्षा कण्व के निरीक्षण में हुई है जैसे मिरांडा की शिक्षा प्रास्पिरो की देखरेख में सम्पन्न हुई है! पुनः दोनों तरुणियाँ स्वभाव से निश्छल एवं निष्कलुप हैं तथा इसी कारण, दोनों अपने-अपने प्रेमियों के प्रति सहज भाव से आत्मदान दे देती हैं। घटनास्थल भी दोनों नाटकों में लगभग समान है, एक ओर समुद्रवेष्टित द्वीप है और दूसरी ओर तपोवन है। दोनों में अपनी-अपनी जातीय संस्कृतियों के अनुरूप अतिलौकिक तत्त्व अनुस्यूत हैं। तथापि, कथावस्तु में सादृश्य होते हुए भी, दोनों नाटकों के "काव्यरस का स्वाद" एकदम भिन्न है—इसे सभी विचारशील काव्यमर्मज्ञ भलीभाँति समझ सकते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक निबन्ध में इस विषय पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उनकी तर्कनाओं का सार हम यहाँ प्रस्तुत करना उपादेय समझते हैं।

"जैसा गेटे ने कहा है, 'शाकुन्तल' में एक गंभीर परिणति का भाव है; वह परिणति फूल की फल में, मर्त्य की स्वर्ग में और स्वभाव की धर्म में है। 'मेघदूत' में जैसे 'पूर्वमेघ' और 'उत्तरमेघ' हैं। अर्थात् पूर्वमेघ में पृथिवी के विचित्र सौन्दर्य का पर्यटन करके उत्तरमेघ में अलकापुरी के नित्य सौन्दर्य में उत्तीर्ण होना पड़ता है, वैसे ही 'शाकुन्तल' में एक पूर्व-मिलन और दूसरा उत्तर-मिलन है। प्रथम अंक के मर्त्यलोक-संबंधी चंचल, सौन्दर्यमय तथा विचित्र पूर्व-मिलन से, स्वर्ग के तपोवन में शाश्वत तथा आनन्दमय उत्तर-मिलन की यात्रा ही 'शाकुन्तल' नाटक है। यह किसी विशेष भाव की अवतारणा नहीं है और न विशेषतः किसी चरित्र का विकास ही है। बल्कि यह है, सारे काव्य को एक लोक से अन्य लोक में ले जाना और प्रेम को स्वभाव-सौन्दर्य के देश से मंगल-सौन्दर्य के अक्षय स्वर्ग-धाम में उत्तीर्ण कर देना।"

शकुन्तला का पराभव जिस प्रकार अत्यन्त सहज भाव से चित्रित हुआ है, उसी प्रकार उसका पतन होने पर भी उसका स्वाभाविक तथा अक्षुण्ण सतीत्व बिना प्रयास ही प्रकट होता है। यह भी उसकी सरलता का निदर्शन है। "जो कृत्रिम फूल घर की शोभा बढ़ाते हैं, यदि उनकी धूल हर रोज झाड़ी न जाय, तो उनकी रंगत खराब हो जाती है। किन्तु, जंगली फूलों की धूल झाड़ने वाला कोई आदमी नहीं रहता। वे खुली हवा में रहते हैं; उनमें धूल लगती है, तो भी वे सहज ही अपनी सुन्दरता और निर्मलता बनाये रहते हैं। शकुन्तला के भी धूल लगी थी। वह इस बात को जान भी न सकी थी। वह जंगल की सरला मृगी की भाँति, निर्झरों की जलधारा की भाँति, मलिनता के सम्पर्क में रहने पर भी बिना प्रयास ही अपनी निर्मलता बनाये हुए थी।"

शकुन्तला एक ओर तरुलता-फलपुष्प की भाँति आत्मविस्मृत हुई, स्वभाव-

धर्म का अनुगमन करती हुई दिखाई पड़ती है और दूसरी ओर एकाग्र, तपःपरायण और कल्याण-धर्म के शासन में एकान्त भाव से नियंत्रित चित्रित की गई है। उसकी आन्तरिक नारी-प्रकृति संयत और सहिष्णु है। कालिदास ने अपने विचित्र रचना-कौशल से अपनी नायिका को लीला और धैर्य, स्वभाव और नियम तथा नदी और समुद्र के ठीक संगम पर खड़ा कर दिया है। तपोवन में उसका लालन-पालन हुआ है जहाँ स्वभाव और तपस्या का, सौन्दर्य और संयम का, एकत्र संयोग हुआ है। वहाँ समाज का कृत्रिम विधि-विधान नहीं है, पर धर्म के कठोर नियम विराजमान हैं। गान्धर्व विवाह भी वैसा ही व्यापार है; उसमें उद्दाम प्रकृति भी है और विवाह का सामाजिक बन्धन भी। बन्धन और अबन्धन के संगमस्थल पर स्थापित होने ही से 'शकुन्तला' नाटक में एक अपूर्व विशेषता झलक रही है। उसके सुख-दुःख, संयोग और वियोग, सभी कुछ इन्हीं दोनों के घात-प्रतिघात हैं।

'टेम्पेस्ट' में यह भाव वर्तमान नहीं है। कारण कि शकुन्तला और मिरांडा, दोनों की अवस्था, घटना तथा प्रकृति में बड़ा अन्तर है। मिरांडा का लालन-पालन बचपन से ही जिस निर्जन स्थान में हुआ है, शकुन्तला वैसी निर्जनता में पालित नहीं हुई है। मिरांडा को केवल अपने पिता का साहचर्य प्राप्त था, अतएव उसके स्वभाव का पूर्ण विकास सम्पन्न नहीं हो सका। शकुन्तला का समय समवयस्का सखियों के सान्निध्य में व्यतीत हुआ है। उनके बीच भावों का आदान-प्रदान, हास्यविनोद, वार्तालाप इत्यादि चलते रहे हैं; इसलिए उसके चरित्र में स्वाभाविक विकास घटित हुआ है। यदि शकुन्तला दिन-रात कुलपति कण्व के साथ रहती, तो उसके शील-विकास में बाधा पहुँचती; उसकी सरलता अज्ञता में परिणत हो जाती और वह "स्त्री-ऋष्यशृंग" बन जाती। "वस्तुतः शकुन्तला की सरलता स्वाभाविक है और मिरांडा की अस्वाभाविक। दोनों की अवस्था के भेद के अनुसार वह संगत है। मिरांडा की भाँति शकुन्तला की सरलता अज्ञता से घिरी नहीं है, यह हम पहले ही अंक में पढ़ चुके हैं। शकुन्तला का जब नवयौवनोन्मेष हुआ है, तब कौतुकप्रिय सखियों ने उसे इसका ज्ञान भी करा दिया है, उसने लज्जा की भी शिक्षा पाई है। किन्तु ये सब बातें बाहर की हैं। उसकी सरलता बड़ी गम्भीर और पवित्रता आन्तरिक है। बाहरी अभिज्ञता उसे कुछ भी नहीं है, इस बात को कवि ने अन्ततक दिखलाया है। शकुन्तला की सरलता आभ्यन्तरिक है। वह सांसारिक बातें कुछ भी नहीं जानती, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि तपोवन संसार की सीमा से बाहर नहीं है। तपोवन में भी गृहधर्म का पालन होता है। बाहरी बातों से शकुन्तला अपरिचित है, तो भी वह अज्ञ नहीं कही जा सकती। उसके हृदय में विश्वास का सिंहासन है। उसी विश्वासनिष्ठ सरलता ने उसे क्षणभर के लिए पतित बनाया था, किन्तु सदा के

लिए उसका उद्धार भी कर दिया। इसी विश्वासनिष्ठ सरलता से वह दारुण विश्वासघात का आघात सह सकी; धीरता, क्षमा और कल्याण से विमुख न हो सकी। मिरांडा की सरलता की कभी अग्नि-परीक्षा नहीं हुई; संसार-ज्ञान से उसको आघात नहीं हुआ। हमने मिरांडा को प्रथमावस्था में ही देखा है और शकुन्तला को कवि ने प्रथमावस्था से लेकर अन्तिम अवस्था तक दिखलाया है।"

मिरांडा ऐसे द्वीप में पली है जहाँ जन-मानव का नाम नहीं है, जो तरंगों के आघात से मुखर तथा पहाड़ों से बीहड़ बन गया है। लेकिन, उस द्वीप की प्रकृति के साथ उसकी कोई घनिष्ठता दृष्टिगोचर नहीं होती। उस भूमि की गोद से जिसमें वह पली है, उसे हटा कर यदि दूसरी जगह रखें, तो भी उसका आकर्षण उस भूमि की ओर होना सम्भव नहीं है। वहाँ मिरांडा का सहवास मनुष्यों से नहीं हुआ है, और यही अभाव उसके चरित्र में प्रतिफलित हुआ है। वहाँ के समुद्र-पर्वतों के साथ उसके अन्तःकरण का कोई भावात्मक योग नहीं दिखलाई पड़ता। निर्जन द्वीप केवल नाटक के कथाभाग के लिए आवश्यक है, चरित्र के लिए नहीं।

शकुन्तला के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। वह तपोवन का एक अंग बन गई है। तपोवन को निकाल देने से नाटकीय कथा को ही व्याघात नहीं पहुँचेगा, अपितु शकुन्तला भी अधूरी रह जाएगी। शकुन्तला मिरांडा की तरह पृथक्, स्वतंत्र नहीं है; वह अपने चारो ओर एकात्म-भाव से संबद्ध है। उसका मधुर चरित्र अरण्य की छाया तथा माधवीलता की पुष्प-मंजरी के साथ व्याप्त एवं विकसित हुआ है, पशु-पक्षियों के अकृत्रिम सौहार्द से ओतप्रोत हो गया है। मिरांडा का परिचय हमें फर्डिनेंड के साथ उसके प्रणय-व्यापार में ही मिला है। तूफान में नाव के डूबने के संदर्भ में ही उसके व्यथित हृदय की करुणा की विज्ञप्ति हुई है। लेकिन, शकुन्तला का परिचय प्रणयातिरिक्त अन्य स्थलों में भी मिलता है। उसकी हृदय-लतिका ने चेतन-अचेतन सभी को स्नेह के ललित बन्धन से बाँध रखा है। तपोवन छोड़कर जब वह जाने लगी है, तब पदे-पदे उसका मन तपोवन की ओर खिंचता रहा है, पदे-पदे तपोवन-त्याग का दुःख द्विगुणित होता गया है। मिरांडा इस दृष्टि से शकुन्तला की छाया में पीली पड़ जाती है।

''टेम्पेस्ट' में बाह्य प्रकृति ने मनुष्य का आकार एरियल के रूप में धारण किया है, किन्तु तो भी वह मनुष्य के साथ आत्मीय भाव स्थापित नहीं कर सकी है। मनुष्य के साथ वह स्वाधीन होना चाहती है, किन्तु मानव-शक्ति के द्वारा पीड़ित-आबद्ध होकर भृत्य की भाँति काम करती है। उसके हृदय में न तो स्नेह है और न आँखों में आँसू, मिरांडा का स्त्री-हृदय भी उसकी ओर स्नेह-प्रवण नहीं होता। द्वीप से यात्रा करने के समय प्रास्पिरो और मिरांडा के साथ एरियल

का स्निग्ध विदाकालीन मधुर सम्भाषण नहीं हुआ। 'टेम्पेस्ट' में पीड़न, शासन और दमन है; 'शाकुन्तल' में प्रीति, शान्ति और सद्भाव। 'टेम्पेस्ट' में प्रकृति ने मनुष्य का आकार धारण किया है, तो भी वह उसके साथ हृदय का संबंध नहीं जोड़ सकी। परन्तु, शाकुन्तल' में वृक्षलता, पशु-पक्षी, सब आत्मस्वरूप की रक्षा करते हुए भी, मनुष्य के साथ मधुर आत्मीय-भाव से मिल गए हैं।" "अनुसूया और प्रियंवदा जैसी हैं, कण्व जैसे हैं, दुष्यन्त जैसे हैं, तपोवन की प्रकृति भी 'शाकुन्तल' में वैसी ही एक विशेष पात्र है।"

'टेम्पेस्ट' में मनुष्य, संसार में मंगल-भाव और प्रीति-योग प्रसारित करके अपने को बड़ा नहीं बना सका है, अपितु संसार को तुच्छ करके, दमन करके, अपने को उसका स्वामी बनाने को उत्सुक हुआ है। वस्तुतः आधिपत्य के लिए ही द्वन्द्व-विरोध एवं प्रयास 'टेम्पेस्ट' के मूल भाव हैं। उसमें प्रास्पिरो स्वराज्याधिकार से वंचित होकर प्रकृति-राज्य के ऊपर मन्त्र-बल से कठोर आधिपत्य फैला रहा है। आसन्न मृत्यु के मुख से किसी तरह निकल कर जो कई एक प्राणी बच गए हैं, उनमें भी उस शून्यप्राय द्वीप में आधिपत्य जमाने के लिए षड्यन्त्र, विश्वासघात और गुप्त हत्या की ही चेष्टा दीख पड़ती है। "परिणाम में इसकी निवृत्ति हुई है; किन्तु अन्त हो गया, यह बात कोई नहीं कह सकता। भय, शासन और अवसर के अभाव से दानव-प्रकृति, पीड़ित कैलिबन की भाँति, रुक तो गई, किन्तु उसके दाँतों की जड़ में और नखों के अग्रभाग में विष बना ही रह गया। जिसका जो प्राप्य था, वह उसे मिल गया; किन्तु सम्पत्ति-लाभ तो बाह्य लाभ है। वह धनियों का लक्ष्य हो सकता है, पर काव्य का अन्तिम परिणाम नहीं होना चाहिए। 'टेम्पेस्ट' नाटक का जैसा नाम है, वैसा ही उसके भीतर का व्यापार भी है। मनुष्य का प्रकृति के साथ विरोध है, मनुष्य का मनुष्य के साथ विरोध है, और उस विरोध की जड़ है क्षमता या शक्ति-लाभ का प्रयत्न।"

कालिदास ने अपने नाटक में दुरन्त प्रवृत्ति के दावानल को अनुतप्त हृदय के अश्रु-वर्षण से शान्त किया है। "किन्तु, उन्होंने प्रवृत्ति की व्याधि को लेकर वर्णन का बाजार गर्म नहीं किया, केवल उसका आभास दिया है और उस पर एक परदा डाल दिया है। ऐसी जगह संसार में जो स्वभावतः हो सकता है, वह दुर्वासा के शाप से संघटित किया गया है। नहीं तो वह ऐसा निष्ठुर क्षोभजनक दृश्य होता कि उससे सारे नाटक की शृङ्खला भंग हो जाती, शान्ति का नाम मिट जाता और 'शाकुन्तल' में कालिदास का जिस रस की ओर लक्ष्य था, वह इस अत्युत्कट आन्दोलन में सुरक्षित नहीं रह सकता। दुःख और वेदना को उन्होंने समान भाव से ही रहने दिया है, केवल राजा की बीभत्स कायरता को छिपा छोड़ा है।"

किन्तु, दुष्यन्त की यह कायरता, यह पाप उसकी निसर्गोत्थित वियोग-वेदना की आँच में झुलस कर स्वतः दग्ध हो गया है। कठिन दुःख में पड़कर वह प्रकृत प्रेम का अधिकारी बन गया है और उसकी नागरिकवृत्ति एकदम बन्द हो गई है। 'टेम्पेस्ट' में प्रास्पिरो ने फर्डिनैण्ड के प्रेम की कठिन कष्ट-साधना से परीक्षा कर ली है। किन्तु वह बाहर का क्लेश है। केवल कष्ट-भार उठाने से ही परीक्षा का अन्त नहीं हो जाता। आभ्यन्तरिक उत्ताप और दबाव से कोयला हीरा बन जाता है। कालिदास ने इस बात को दिखाया है। उन्होंने कोयले की कालिमा को उसके भीतर से ही उज्ज्वल बना दिया है—उसकी भंगुरता को दबाव के प्रयोग से दृढ़ता दान कर दी है। कालिदास की इस रचना में हमें इस बात का "पक्का प्रमाण" मिलता है कि संसार में, विधाता के विधान में, पाप भी मंगल-कार्य सम्पन्न करने में नियुक्त है। "पाप के अभिघात के बिना मंगल अपनी शाश्वत दीप्ति और शान्ति को लाभ नहीं करता।"

"काव्य के आरम्भ में ही हम शकुन्तला को एक निष्कलंक सौन्दर्यलोक में देखते हैं। वहाँ वह सरल आनन्द के साथ अपनी सखियों तथा तरु-लताओं में मिली-जुली है। उस स्वर्ग में छिपे-छिपे पाप ने प्रवेश किया और वह स्वर्ग-सौन्दर्य कीट-दष्ट कुसुम की भाँति विशीर्ण और स्रस्त हो गया। इसके अनन्तर लज्जा, संशय, दुःख, विच्छेद और अनुताप हुए। और सबके अन्त में विशुद्धतर, उन्नततर स्वर्गलोक में क्षमा, प्रीति और शान्ति दिखलाई पड़ने लगी। इसी कारण, 'शाकुन्तल' नाटक एक तरह से 'Paradise Lost और 'Paradise Regained' कहा जा सकता है।"

"पहला स्वर्ग बड़ा ही कोमल और अरक्षित था। यद्यपि वह सुन्दर और सम्पूर्ण था, तथापि पद्मपत्र के शिशिर-विन्दु की भाँति सद्यःपाती था। इस संकीर्ण सम्पूर्णता की सुकुमारता से छुटकारा पाने में ही हमारी भलाई है, क्योंकि न तो वह स्थायी है और न उससे हमारी परिपूर्ण तृप्ति ही होती है। अपराध ने मत्त गज की भाँति आकर पद्मपत्र के बन्धन या घेरे को तोड़ दिया; आलोड़न के विक्षोभ से सारे चित्त को उन्मथित कर दिया। सहज स्वर्ग इस प्रकार सहज ही नष्ट हो गया। अब बाकी रह गया साधना का स्वर्ग। अनुताप के द्वारा, तपस्या के द्वारा जब इस स्वर्ग को जीत लिया, तब कोई शंका बाकी नहीं रही। यही स्वर्ग शाश्वत, चिरस्थायी है।"

कालिदास ने अपने नाटक में बाहरी शान्ति और सुन्दरता को कहीं भी अत्यन्त क्षुब्ध न करके अपने काव्य की आभ्यन्तरिक शक्ति को निस्तब्धता के भीतर सदा सबल और सक्रिय बना रखा है। "यहाँ तक ही नहीं, उनके तपोवन की बाहरी

प्रकृति ने भी सर्वत्र आन्तरिक कार्यों में योग दिया है। कभी तो उसने शकुन्तला की यौवन-लीला को अपना लीला-माधुर्य अर्पण किया है; और कभी अपना कल्याण-मर्मर मंगल-आशीर्वाद के साथ मिश्रित कर दिया है। कभी तो विच्छेद-कालीन व्याकुलता से, शकुन्तला की विदाई के समान, अपनी मूक भाषा को करुणापूर्ण कर दिया है; और कभी अपने अपूर्व मन्त्र-बल से शकुन्तला के चरित्र में एक प्रकार की पवित्र निर्मलता, एक स्निग्ध माधुर्य की किरणें व्याप्त कर दी हैं। इस शकुन्तला-काव्य में निस्तब्धता यथेष्ट है, किन्तु सबकी अपेक्षा अधिक निस्तब्ध, साथ ही व्यापक भाव से, कवि का तपोवन कार्य कर रहा है। वह 'टेम्पेस्ट' के एरियल की भाँति शासनबद्ध दासत्व का बाहरी कार्य नहीं है—वह सौन्दर्य का कार्य है, प्रीति का कार्य है, आत्मीयता का कार्य है और अभ्यन्तर का निगूढ़ कार्य है।

"'टेम्पेस्ट' में भी शक्ति है और 'शाकुन्तल' में भी। 'टेम्पेस्ट' में बल के द्वारा विजय है और 'शाकुन्तल' में मंगल के द्वारा सिद्धि। 'टेम्पेस्ट' की समाप्ति असम्पूर्णता में है और 'शाकुन्तल' की समाप्ति सम्पूर्णता में। 'टेम्पेस्ट' में मिरांडा सरलता और मधुरता की मूर्ति है, पर उस सरलता की प्रतिष्ठा अज्ञता और अनभिज्ञता के ऊपर है। शकुन्तला की सरलता अपराध में, दुःख में, अभिज्ञता में, धैर्य में और क्षमा में परिपक्व है, गम्भीर है और स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुकरण करके, फिर भी हम कहते हैं कि 'शाकुन्तल' में आरम्भिक तरुण सौन्दर्य ने मंगलमय परम परिणति में सफलता लाभ करके मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित कर दिया है।"[1]

विक्रमोर्वशीय

'विक्रमोर्वशीय' रचनाक्रम की दृष्टि से कालिदास की दूसरी नाट्य-कृति है तथा कलात्मक पूर्णता की दृष्टि से यह 'मालविकाग्निमित्र' एवं 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की मध्यवर्ती भूमिका में पड़ता है। शास्त्रीय शब्दावली में, इसे 'त्रोटक' कहा जा सकता है क्योंकि इसमें पाँच अंक हैं और इसके नायक-नायिका, मानवी एवं दैवी दोनों कोटियों से सम्बन्ध रखते हैं। पण्डितों का अनुमान है कि यह नाटक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त के राज्याभिषेक के समय रंगमंच पर अवतरित किया गया होगा क्योंकि इसके अन्त में नायक पुरुरवा के आयु नामक पुत्र के यौवराज्या-

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'प्राचीन साहित्य' (अनुवादक पं० रामदहिन मिश्र), तृतीय संशोधित संस्करण, पृ० ४०–६४

भिषेक का प्रसंग वर्णित है[1] "-'मालविकाग्निमित्र' प्रमदाओं का नाटक है। इसकी कथावस्तु रमणियों के अन्तःपुर एवं राजप्रासाद के प्रमदवन की सीमाओं में नियोजित की गई है तथा यह ललितांगनाओं के वस्त्रों की सरसराहट, उनके आभूषणों की खनखनाहट, उनकी वेणियों की मादक सुगन्ध एवं उनकी वाणियों के मोहक संगीत से परिपूर्ण है। 'विक्रमोर्वशीय' में नाटक के चित्रपट का अर्धांश केवल नायक के लिए सुरक्षित है। अतएव, इसमें नारी-चरित्रांकन के लिए अवकाश सीमित हो गया है। लेकिन, जो कुछ बच गया है, उसे कालिदास ने चमकती सुन्दर आकृतियों एवं रम्यरुचिर आननों से भर दिया है।"[2]

'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास ने राजा पुरूरवा और उर्वशी की प्रणय-कथा वर्णित की है। भारतीय साहित्य में इस कहानी की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद के दशम मंडल, ६५ वें सूक्त, में पुरूरवा और उर्वशी का संवाद दिया गया है। उर्वशी एक अप्सरा है जिसके रूपजाल में पुरूरवा फँस जाता है। उर्वशी कहती है कि मैं चार शरदों तक दूसरा रूप ग्रहण कर मर्त्यों के बीच घूमती रही तथा कई रातों तक उनके साथ रही। पुरूरवा उससे लौट आने की प्रार्थना करता है, लेकिन उसकी विनती अस्वीकृत होती है यद्यपि वह अमरत्व का आश्वासन प्राप्त करता है। इस प्रसंग में उस निर्मम प्रेयसी का (आंग्ल कवि कीट्स की प्रसिद्ध परी 'ला बेली डेम सान्स मर्सी' का यहाँ स्मरण हो आता है) यह कथन द्रष्टव्य है— "हे पुरूरवा ! मेरे लिए तुम प्राणत्याग मत करो। कुत्तों और सियारों से अपने को मत नोचवाओ। स्त्रियों की प्रीति स्थायी नहीं होती क्योंकि वे हृदयतः सियार और भालू होती हैं।"

शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी और पुरूरवा के परिचय तथा गन्धर्वों के छल के कारण उनके विच्छेद का वर्णन मिलता है। उसमें यह उल्लिखित है कि उर्वशी के अन्तर्धान हो जाने पर पुरूरवा उद्विग्न हो, उसे खोजता-फिरता है जब कि वह उसे एक कमलों से आकीर्ण जलाशय में, अन्य अप्सराओं के साथ, जल-पक्षी के रूप में तैरती हुई देखता है; उसकी प्रार्थनाओं से द्रवित होकर उर्वशी, अपने को प्रकट करती है तथा एक वर्ष के बाद एक रात भर उसके साथ रहने का वचन देती है।

बाद को पुरूरवा गन्धर्वों को सन्तुष्ट कर, उनके निर्देशानुसार मनुष्य लोक में स्वर्गीय अग्नि लाकर यज्ञ करता है तथा गन्धर्व-रूप प्राप्त कर लेता है, जिससे वह अपनी प्रेयसी के साथ सदा के लिए संयुक्त रह सके।

---

१. प्रो० वा० वि० मिराशीः 'कालिदास' पृ० १६३
२. श्री अरविन्द : 'Kalidasa' (Second Series) पृ० ६३

इसी ब्राह्मण के एक दूसरे अवतरण में हवनाग्नि (Ritual fire) में प्रयुक्त होने वाली लकड़ियों का युग्म इन्हीं प्रेमी-युगल से सम्बन्धित किया गया है तथा नीचे की लकड़ी 'उर्वशी' और उसके चारों ओर घूमनेवाली लकड़ी 'पुरूरवा' कही गई है।

शतपथ ब्राह्मण की यह कथा थोड़े भेद से विष्णु पुराण और भागवत पुराण में मिलती है कि मित्रावरुणो का शाप होने से उर्वशी को मर्त्यलोक में रहना पड़ा। 'कथा सरित्सागर' में यह कथा इस रूप में आई है कि पुरूरवा विष्णुभक्त था तथा विष्णु की आज्ञा से इन्द्र ने उसे उर्वशी का साहचर्य प्रदान किया था। एक दिन राजा इन्द्र-सभा में बैठ कर, अप्सराओं के नृत्य-संगीत का आस्वादन ले रहा था कि रम्भा नामक अप्सरा के नाचने में कुछ गलती करने पर उसे हँसी आ गई। उसकी इस अशिष्टता से नृत्याचार्य तुम्बरु रुष्ट हो गए और उन्होंने राजा को उर्वशी से वियोग का शाप दे दिया। तपश्चर्या से विष्णु को प्रसन्न कर, राजा ने उर्वशी को पुनः प्राप्त किया।

मत्स्य पुराण में उर्वशी-पुरूरवा की कथा यों वर्णित है कि धर्म, अर्थ और काम एक बार पुरूरवा के सम्मुख उपस्थित हुए और उससे यह बताने का अनुरोध किया कि उनमें से कौन सर्वश्रेष्ठ है। पुरूरवा के यह कहने पर कि धर्म शीर्षस्थानीय है, अर्थ एवं काम दोनों रुष्ट हो गए और उन्होंने राजा को शाप दे दिया। अर्थ ने यह शाप दिया कि वह लोभ के वशीभूत होकर पतन को प्राप्त करेगा। काम ने यह शाप दिया कि वह अपनी प्रियतमा उर्वशी से विश्लेषित होगा और विक्षिप्ता-वस्था में गन्धमादन पर्वत पर स्थित कुमारवन में घूमता फिरेगा। पुरूरवा ने उर्वशी को पहले ही केशी राक्षस की पकड़ से बचाया था जिस कारण वह उस पर अनुरक्त हो गई थी। एक दिन जब उर्वशी भरतमुनि-कृत 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक में लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी, तब वह अपने प्रेमी की चिन्ता में इतनी व्यस्त हो गई कि अभिनय में उसने गलती कर दी। इस पर भरत ने उसे शाप दे दिया। तब उसका पुनः पुरूरवा से संयोग हुआ और उसने आयु, धृतायु, अश्वायु, धनायु, धृतिमान्, वसु, द्विजात तथा शतायु नामक आठ पुत्रों को जन्म दिया। मत्स्य पुराण की यह कथा 'विक्रमोर्वशीय' की कथा से घनिष्ठ साम्य रखती है तथा कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि कालिदास ने अपनी रचना के पहले तीन अंकों के कथा-क्रम को इसी पुराण से लिया होगा। वास्तविकता जो भी हो, इतना निश्चित है कि कालिदास ने राष्ट्रीय ललित वाङ्मय में उपन्यस्त आख्यान के विविध रूपों एवं तत्त्वों पर गम्भीर विचार कर, उसे ऐसा मनोज्ञ स्वरूप प्रदान किया

है। जिसमें नारी की निर्मम निष्करुणता अप्रतिम मार्दव की मन्दाकिनी में विलीन हो गई है।

(२)

'विक्रमोर्वशीय' की कथा संक्षेपतः यों कही जा सकती है—सूर्य-पूजा करके लौटते हुए पुरूरवा को यह ज्ञात होता है कि कुबेर-भवन से वापस आती स्वर्गीय अप्सरा उर्वशी को केशी नामक दैत्य ने पकड़ लिया है। पुरूरवा थोड़ी देर में दैत्यग्राह से उर्वशी का उद्धार कर लौटता है। वह उर्वशी के सौन्दर्य से अभिभूत होकर उसके प्रेम-पाश में फँस जाता है। उर्वशी का हृदय भी उसके शौर्य एवं मधुर भाषण से उसकी ओर आकृष्ट होता है। इस प्रथम दर्शन के अनन्तर उर्वशी इन्द्रपुरी को और पुरूरवा अपनी राजधानी को लौट आते हैं। लेकिन, दोनों के मनों में एक दूसरे के प्रति जो आसक्ति उत्पन्न हो गई है, वह सान्द्र बनती जा रही है। राजकीय प्रमदवन में दोनों की पुनः भेंट होती है। उर्वशी ने भोजपत्र पर लिख कर एक प्रेम-लेख पुरूरवा को दिया है और अनन्तर वह 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करने के लिए इन्द्रपुरी को लौट जाती है। पुरूरवा की पत्नी रानी औशीनरी को वह पत्र, उसी प्रमदवन में, हाथ लग जाता है और वह रुष्ट होकर दासी के साथ वापस चली जाती है। उक्त नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करनेवाली उर्वशी के मुँह से 'पुरुषोत्तम" की जगह "पुरूरवा" नाम भूल से निकल पड़ता है और भरतमुनि उसे स्वर्गच्युत होने का शाप देते हैं। तब, नम्रशिरस्का उर्वशी को इन्द्र यह आदेश देते हैं कि जब तक पुरूरवा तेरे पुत्र का मुँह न देखे, तब तक तू उसके साथ मर्त्यलोक में रह। इस प्रकार उर्वशी-पुरूरवा समागम सम्पन्न होता है। इसी बीच रानी औशीनरी भी पुरूरवा को अपनी सहानुभूति का त्यागमूलक दान देती है। कुछ काल के उपरान्त, पुरूरवा उर्वशी के साथ विहार करने के लिये गन्धमादन पर्वत पर चला गया है जहाँ राजा के शीलस्खलन के अनुमान से रुष्ट होकर उर्वशी प्रमाद से कार्तिक स्वामी के वन में प्रवेश कर लता हो गई है। यहीं से पुरूरवा को वियोग की आँच में तपना पड़ा है और नाटककार ने उसके उन्माद का विशद चित्रण किया है। संगमनीय मणि के स्पर्श से वह लता पुनः उर्वशी बन जाती है और तब दोनों राजधानी को लौट जाते हैं। उसी संगमनीय मणि के आश्रय से राजकुमार आयु का पता चलता है जिसे उर्वशी ने महर्षि च्यवन के आश्रम में पलने को रख छोड़ा था। अन्त में पुत्र-गोपन का रहस्य खुलता है और नारद के आगमन से उर्वशी तथा पुरूरवा जीवन-भर के लिए पति-पत्नी रूप में बँध जाते हैं।

महाभारत में चन्द्रवंशी राजकुल का प्रथम नरेश पुरूरवा कहा गया है। चन्द्रमा का पुत्र बुध पुरूरवा का पिता है और ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न (मनु की विचित्र पुत्री) इला उसकी माता है। इला की विशेषता यह है कि वह कभी पुरुष और कभी स्त्री बन जाती थी। स्त्री के रूप में वह बुध (उपग्रह) की पत्नी थी जिसने पुरूरवा को जन्म दिया। तदनन्तर, वह सुद्युम्न बन गई जो प्रयाग का प्रथम नरेश था। महाभारत में पुरूरवा को एक हिंसक, अत्याचारी शासक के रूप में वर्णित किया गया है जो ब्राह्मणों का शत्रु था और जो उन्हीं के द्वारा मार डाला गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उसे अत्यन्त लोभी राजा बताया गया है जो अन्य वर्णों से नृशंसतापूर्वक धन उगाहता था। हरिवंश पुराण में जो सम्भवतः बाद की रचना है, पुरूरवा धार्मिक एवं शक्तिशाली राजा के रूप में चित्रित हुआ है जिसने उर्वशी से विवाह कर, हिमालय के अंचलों में गंगा के सुरम्य वन-प्रदेश में उसके साथ उनसठ वर्षों तक आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत किया। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्रों के वंशज प्रयाग में राज करते रहे। सभी पुराणों में लगभग इसी प्रकार की कथा, थोड़े-बहुत भेद से, कही गई है।

महर्षि अरविन्द ने पुरूरवा-उर्वशी की कथा को एक सुन्दर 'रूपक' (Allegory) बताया है। उर्वशी नारायण के जंघे से उत्पन्न अप्सरा है जो विश्व के सकल काल्पनिक सौन्दर्य की सारतत्त्व, वह अप्राप्य आदर्श है जिसके लिए सभी कालों तथा सभी देशों में मनुष्य की आत्मा तड़पती आई है। इसकी प्राप्ति केवल पुरूरवा कर सकता है। जिसका पिता बुध तथा माता इला है जो ईश्वरीय प्रेरणा की प्रतीक है। इस प्रकार पुरूरवा का वंशगत सम्बन्ध सूर्य एवं चन्द्र से है। उर्वशी के लिये वह अपनी मानुषी पत्नी का, सम्पूर्ण पार्थिव एषणा एवं प्रसिद्धि का परित्याग कर देता है और अपनी सम्पूर्ण अन्तरात्मा को उस ईश्वरीय सौन्दर्य में निमज्जित करता है। लेकिन, वह भी अपनी मनःकांक्षित वस्तु का निर्बाध उपभोग नहीं कर सका है। कुमारवन की सीमा का अतिक्रमण करने से उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है। तब उसकी आत्मा सकल प्रकृति में भ्रमण करने लगती है, और उसे तभी उर्वशी की प्राप्ति होती है जब वह संगमनीय मणि को उठा लेता है जो जगजननी उमा के रक्तिम चरणों से प्रसूत है। इस प्रकार से उर्वशी-पुरूरवा का जो अन्तिम संयोग सम्पन्न होता है, उसका परिणाम हुआ है बालक आयुस् जो ईश्वरीय संसर्गों से गरिमान्वित मानव जीवन तथा क्रिया का प्रतीक है। कालिदास ने इस भव्य 'रूपक' को मानवीय प्रेम की अत्यन्त मधुर एवं सुकुमार कहानी में परिणत कर दिया है। [श्री अरविन्द 'Kalidasa' Second Series, पृ० ५४]

'विक्रमोर्वशीय' में वैसे प्रणय का चित्रण हुआ है जो बड़ी सावधानी सहित

पालित एवं वर्धित हुआ है तथा जिसके पूर्ण परिपाक के सम्पादनार्थ संतानोत्पत्ति आवश्यक ठहराई गई है। प्रारम्भ में ही सूत्रधार ने आर्यमिश्रों से जो निवेदन किया है, उसमें प्रणयिजन तथा सद्वस्तु एवं पौरुष के प्रति क्रमशः उदारता तथा सम्मान प्रदर्शित करने का अनुरोध किया है—

"प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तु पुरुषबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य॥" (१।२)

अतएव, 'विक्रमोर्वशीय' के प्रणय-लोक में यदि एक ओर सौन्दर्य की मादकता तथा हृदय की द्रवणशीलता का अन्वंकन हुआ है, तो दूसरी ओर प्रेम को गृहस्थी की मर्यादा में बाँध कर तथा उसे पौरुष का प्रसाद बना कर 'सद्वस्तु' में रूपान्तरित कर दिया गया है। नाटक के आरम्भ में पुरूरवा को उर्वशी का साक्षात्कार होता है, उसके शौर्य के ही फलस्वरूप; और अन्त में इन्द्र के द्वारा उसे दिया गया उर्वशीदान भी सम्पन्न हुआ, उसके द्वारा भविष्य में दिखलाये जाने वाले शौर्य के उपहार स्वरूप, उस सम्भावित देवासुर संग्राम में जिसके लिए इन्द्र की ओर से नारद द्वारा उसे न्योता दिया गया है।

संस्कृत-साहित्य में प्रतिष्ठित नारी-रूप की कसौटी रही है उसकी 'वीर्यक्षोभ' उत्पन्न करने की असीम सामर्थ्य। अप्सरायें विशेषतया इसी दृष्टि से काव्य-संसार में सम्मानित रही हैं। उनमें भी उर्वशी सबकी मौलिमणि है। कालिदास ने उर्वशी को ऐसी सुन्दरी के रूप में चित्रित किया है जिसे बड़े-बड़े तपस्वियों की तपस्साधना विनष्ट करने के लिये महेन्द्र अपने 'सुकुमार अस्त्र' की भाँति नियोजित करते हैं, जो सृष्टि का अलंकार है तथा जो रूपगर्विता लक्ष्मी को भी मात करती है। पुरूरवा को एक विशेष परिस्थिति में उर्वशी का दर्शन होता है जब वह भय से नेत्र बन्द किये, रथ पर मूर्च्छितावस्था में पड़ी है। राक्षसों के भय की सम्भावना का प्रत्याख्यान करते हुए, पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि हे सुन्दरि! धैर्य धरो, और अपने प्रशस्त नयनों को उसी प्रकार खोल दो जैसे प्रातःकाल होने पर कमलिनी अपना फूल खोल देती है—

"तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पंकजम्।" (१।६)

आंग्ल कवि कीट्स ने अपनी प्रसिद्ध नायिका मैडेलाइन की सुषुप्तावस्था के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए, उसे एक ऐसे, पाटलप्रसून से उपमित किया है जो अपनी समग्र प्रफुल्लित शोभा को समेट कर पुनः कली के रूप में परिणत हो गया हो—"As though a rose should shut and be a bud again"—कीट्स की कल्पना में अधिक चारुता एवं व्यंजकता सन्निविष्ट है क्योंकि उसने अपनी

सुन्दरी के जाग्रत सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के अनन्तर उसे सुषुप्ति में प्रक्षिप्त किया है। पुरूरवा उर्वशी को पहले-पहल मूर्च्छितावस्था में देखता है और उसे ऐसा लगता है मानों कोई सुकुमार नलिनी अपना फूल उन्मीलित करने वाली हो। अतएव, कालिदास और कीट्स, दोनों की कल्पनायें अपनी-अपनी जगहों में निराली एवं रमणीय हैं। किन्तु, राजवैभव के अमर गायक कालिदास की सौन्दर्य-दृष्टि अधिक ऐन्द्रियता-मूलक है। उर्वशी का हृदय अभी भी काँप रहा है। पुरूरवा उस नारायणीय रूपसी[1] के पुष्ट पयोधरों के बीच पड़ी हुई मन्दारमाला तथा उच्छ्वास से स्तन पर पड़े वस्त्र के हिलने से यह अनुमान कर रहा है कि इसका कुसुम-कोमल हृदय अभी तक भय से ग्रस्त है। यों तो कवि का प्रकट उद्देश्य उर्वशी के "भयकम्प" की ही विज्ञप्ति है, लेकिन यह कहना भी बड़े साहस की बात होगी कि कवि, पुरूरवा के माध्यम से, उस स्वर्गीय अप्सरा के निश्चेष्ट सौन्दर्य की सम्पूर्ण मादकता की अनुभूति से अनुप्राणित नहीं रहा है। उर्वशी प्रकृतिस्थ होकर, जब आँखें खोलती है, तब पुरूरवा को ऐसा लगता है जैसे चन्द्रमा के निकल आने पर रजनी अन्धकार की कारा से उन्मुक्त हो गई हो, जैसे रात के समय बिना धुयें वाली आग की लपट हो, जैसे गंगा की वह धारा हो जो कगार के गिरने से कलुषित होकर पुनः स्वच्छ एवं निर्मल बन गई हो—

"आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रिर्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा गंगारोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्।" १।६

अँधेरे से छुटी हुई रात, निर्धूम अग्नि-शिखा तथा स्वच्छ गंगा-धार इन अप्रस्तुतों की नियोजना कर, कालिदास ने मूर्च्छा से जगी हुई उर्वशी के रूप-सौन्दर्य की जो विवृति की है, वह अत्यन्त व्यंजक एवं विस्मयावह है।

उर्वशी को पूर्ण स्वस्थावस्था में देख कर उत्पन्न पुरूरवा का मानसिक उद्वेलन निम्नलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः। १।१०

(ऐसा सुन्दर रूप कोई तपस्वी उत्पन्न नहीं कर सकता।)

---

१. कालिदास ने उर्वशी को नारायण मुनिके जंघे से उत्पन्न बताया है—"अरुद्धवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री।"

इसकी सृष्टि के लिए कान्ति प्रदान करने वाला चन्द्रमा स्वयं ब्रह्मा बना होगा, या शृङ्गार-रस के देवता कामदेव ने इसे बनाया होगा, अथवा कुसुमाकर वसन्त ने इसकी रचना की होगी। अन्यथा वेद के अभ्यास से जड़ीभूत तथा विषयोपभोग से दूर रहनेवाले बूढ़े ऋषि ऐसा मनोहर रूप क्योंकर उत्पन्न कर सकते हैं?'

पुरूरवा की उक्ति में सर्वाधिक निराली बात यह है कि वेदानुशीलन का अभ्यास तथा विषय-विमुख वार्धक्य रूप-लक्ष्मी की समुचित अनुशंसना करने में असमर्थ हैं। अर्थात्, कवि नारी-सुलभ सौन्दर्य के रसास्वादन के लिए यौवनोचित मनोवृत्ति एवं विषयोन्मुखता को आवश्यक मानता है, अर्थात्, उसकी दृष्टि में सौन्दर्य उपभोग्य है। अपनी सम्पूर्ण रचनाओं में कालिदास ने नारी-रूप की ऐन्द्रियता को मुखरित किया है।

थोड़ी देर के सम्पर्क में ही उर्वशी तथा पुरूरवा एक दूसरे की ओर आकर्षित हो जाते हैं। "Who ever loved that loved not at first sight?" यह उक्ति उन दोनों के लिए बिलकुल सटीक ठहरती है। चित्रलेखा के पूछने पर उर्वशी स्वीकार करती है, कुछ अप्रत्यक्ष भाव से ही, कि उसके लोचन पुरूरवा के रूप का पान कर रहे हैं क्योंकि उसने उसे विपत्ति से बचाया है। पुरूरवा का मन तो पहले ही ढल चुका है। रथ के हिलने-डुलने से उर्वशी के शरीर का स्पर्श उसके शरीर से हो जाता है जिससे उसे रोमांच हो आया है मानो मनसिज के अंकुर ही उद्भिन्न हो गये हों। उर्वशी विदा लेते समय अपनी सखियों सहित जब उड़ती है, तब लता की शाखा में वैजयन्ती मालाके फँसने का नाट्य कर, राजा की ओर घूमकर देखने का अवसर निकाल लेती है। राजा स्पष्ट ही कहता है जब उर्वशी चली जाती है—

"अहो, दुर्लभाभिलाषी मदनः।
एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरांगना कर्षति खंडिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥" (१।२०)

—'अहो! मदन दुर्लभ वस्तु का ही अभिलाषा करता है। यह अप्सरा आकाश में उड़कर जाती हुई मेरे मन को शरीर से उसी प्रकार बलपूर्वक खींचे लिए जाती है, जिस प्रकार कोई राजहंसी टूटे हुए कमल की नाल से उसका तन्तु (सूत्र) खींचे चली जाती है।'

इस प्रकार प्रथमांक की समाप्ति तक उर्वशी तथा पुरूरवा की पारस्परिक आसक्ति पूर्णतया प्रकट हो जाती है। 'दृष्टि', 'परिचय' तथा 'हार्द' की अवस्थाओं को पार कर इन दोनों का सम्बन्ध त्वरित 'प्रेम' की दशा को प्राप्त कर गया है। यह प्रेम उर्वशी

के लिए 'यत्त' और पुरूरवा के लिए 'ललित' की अवस्था को उपलब्ध कर चुका है ।[1]

युद्ध के बाद का यह प्रेम-दृश्य नाटक की अपनी विशेषता है। उर्वशी और पुरूरवा दोनों अभी भी संकोचशील हैं; लेकिन, जिन परिस्थितियों में पार्वती अथवा शकुन्तला अपने प्रणयाभिलाषियों से मिली हैं; उनकी अपेक्षा बिलकुल भिन्न एवं ऐन्द्रिय रस से परिपूर्ण स्थिति में उर्वशी और पुरूरवा का प्रथम मिलन सम्पन्न हुआ है। कालिदास की यह अपूर्व उद्भावना है और इसके लिए वे किसी साहित्यिक स्रोत के ऋणी नहीं हैं। कालिदास ने इस स्वर्गीय अप्सरा और उसके प्रणय के चित्रण में अपनी कवि-सुलभ कल्पना को खुल कर खेलने का अवसर दिया है।

द्वितीय अंक में पुरूरवा का 'पूर्वराग' वर्णित है। सूर्यपूजा से लौटने पर वह अनमना दिखाई पड़ता है। रानी औशीनरी ने चेरी को राजा की उदासी का कारण जानने के लिए आदेश दे रखा है। पुरूरवा ने भूल से रानी को 'उर्वशी' कहकर सम्बोधित कर दिया है। इस 'गोत्रस्खलन' से उसका नवप्रेम-रहस्य रानी के लिए चिन्ता का प्रश्न बन गया है। वह माणवक से कहता है—"मेरे जिस हृदय में कामदेव ने अपने बाण मार कर उस स्वर्गलोक की सुन्दरी के प्रवेश के लिए द्वार बना दिया था, उसमें वह केवल देखने भर से ही समा गई है।" पुरूरवा उर्वशी के सौन्दर्य से अभिभूत है। उसका कथन है कि "उर्वशी का शरीर आभूषणों का आभूषण है, शृंगार-प्रसाधनों का प्रसाधन है, और उपमाओं का भी प्रत्युपमान है।" प्रमदवन में पहुँचने पर दक्षिण पवन से उसमें स्पर्धा का भाव जगता है क्योंकि वह पवन माधवीलता को सींचता हुआ और कुन्दलता को नचाता हुआ उसे एक कामी के समान प्रतिभात होता है। उद्यान की नवविकसित वसन्त-श्री उसे और भी पीड़क सिद्ध होती है। दुर्लभ उर्वशी की प्राप्ति की दुर्निवार अभिलाषा से कामदेव ने उसके हृदय को पहले से ही चलनी बना दिया था; अब स्त्री-नख के समान लाल कुरवक के फूल, अशोक के रक्त-कुसुम तथा ईषत् दीख पड़ने वाले पराग-कणों से पीली भासित होनेवाली रसाल-मंजरियाँ मधु-श्री को ऐसी शोभा प्रदान कर रही हैं, मानो वह मुग्धा की अवस्था पार कर, अब यौवन में प्रवेश कर गई हो। साँस लेकर पुरूरवा माणवक से यों निवेदन करता है—

"मम कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु।
चक्षुर्बध्नाति धृतिं तद्रूपालोकदुर्ललितम् ॥
तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।" (२।८)

---

१. 'प्रेमरसायनम्', खण्ड २, श्लोक ७-८

—'उसकी रूपश्री के दुर्ललित आकर्षण ने मेरे नेत्रों को मोहनी-पाश में बाँध दिया है। अतएव, इस उपवन की फूली हुई लताएँ और कोमल पौधे मुझे पसन्द नहीं आ रहे हैं। कोई ऐसा उपाय सोचो जिससे मेरे मन की साध पूरी हो जाय।'

पुरूरवा न तो गहरी नींद सो ही सकता है जिससे उसे प्यारी का दर्शन स्वप्न सुलभ हो सके और न चित्र-फलक पर उसकी प्रतिकृति ही बना कर मन-बहलाव कर सकता। क्योंकि बीच में ही उसके नेत्र आँसू से डबडबा उठते हैं। उसकी मनोवेदना सान्द्र होती जा रही है और वह उर्वशी को उपालम्भ देने लगता है कि वह उसके अनुराग की अवमानना कर रही है और चाहती है कि कामदेव उसके मनोरथ को चूर-चूर कर उसे बिलकुल अशक्त बना दे—

"नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम्।
अलब्धफलनीरसं मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथं भवतु पंचबाणः कृती।" (२।११)

उर्वशी और चित्रलेखा, अलक्ष्य ढंग से, राजा का यह उपालम्भ सुनती हैं तथा सखी के कहने पर उर्वशी भोजपत्र पर अपना प्रेमलेख लिख कर राजा के आगे हवा में फेंक देती है। बाद को जब चित्रलेखा प्रकट होकर उर्वशी की प्रणय-पीड़ा का निवेदन करती है, तब पुरूरवा अत्यन्त आर्त्त भाव से प्रार्थना करता है कि यदि हम दोनों का प्रणय एक दूसरे के प्रति समान प्रवृद्ध है, तो एक तपे हुये लोहे को दूसरे तपे हुए लोहे से जोड़ देना ही समीचीन है—"तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्।"

कालिदास ने प्रस्तुत नाटक में एक तप्त लोहे को दूसरे तप्त लोहे से जोड़ दिया है। यह स्मरणीय है कि उर्वशी में 'पूर्णयौवन' की सम्पूर्ण विभूतियाँ उद्भिन्न हो गई हैं—सुन्दर, सुविकसित नितम्ब, कदली-वृक्ष के समान सुष्ठु जंघे ('रम्भोरु'), अत्यन्त पीन परस्पर सटे हुए उरोज ("अल्पकुचान्तरा") तथा देह पोर-पोर झुकी हुई। अतएव, वह शकुन्तला की तरह 'मुग्धा' नहीं है, अपितु प्रारम्भ से ही 'प्रगल्भा' है। ज्योंही वह माया की ओढ़नी फेंक कर प्रकट होती है तथा राजा का अभिवादन करती है, त्यों ही नेपथ्य से उसे आदेश मिलता है कि वह भरतमुनि द्वारा नियोजित 'अष्टरसाश्रय' नाटक में अभिनय करने के लिये स्वर्गपूरी को लौट जावे। पराधीन होने के कारण अपने शरीर पर तो उसका कोई अधिकार है नहीं, लेकिन अपना हृदय, जो सर्वांशतः उसका है, वह पुरूरवा को समर्पण किये जाती

है ।[1] यह मन-मिलन, तन-मिलन की निश्चित भूमिका तैयार कर चुका है जो प्रणय-परिपाक का अन्तिम निकष है । उर्वशी के अदृश्य हो जाने पर, जब उसका लिखा प्रेमपत्र भी हवा में विलुप्त हो जाता है, तब राजा अत्यन्त आर्त्त भावसे निवेदन करता है—"हे बसन्त के प्यारे मित्र दक्षिण पवन ! तुम्हें अपना शरीर सुरभित करना हो, तो तुम लताओं पर खिले हुये फूलों का पराग क्यों नहीं उठा ले जाते ? मेरी प्यारी के हाथ का लिखा पत्र तुम्हारे किस काम आएगा ? तुम तो स्वयं अंजना से प्रेम कर चुके हो। अतएव, तुम जानते ही हो कि ऐसी ही मन बहलाने वाली वस्तुओं को देखकर कामी जन जिया करते हैं ।"

रानी अचानक पहुँच कर जब वह पत्र पा लेती है, तब पुरूरवा झूठ बोलकर अपना अपराध छिपाना चाहता है और ऐसा करने में असमर्थ होकर, रानी के पैरों पर क्षमा-हेतु गिर पड़ता है। रानी के रूठकर चले जाने पर, वह विदूषक से कहता है कि उर्वशी से प्रेम करने पर भी वह औशीनरी को पूर्ववत् प्यार करता है। अर्थात् पुरूरवा 'दक्षिण' नायक है।

तीसरे अंक में नाटककार ने कथानक के अन्य सूत्रों को संकलित किया है। इनमें प्रधान सूत्र यही है कि क्योंकर उर्वशी गोत्रस्खलन के अपराध के कारण स्वर्गच्युत होने का शाप पाती है और तब इन्द्र, शर्त के साथ, उसे पुरूरवा-सहवास की अनुमति प्रदान करते हैं ! इस अंक का एक नवीन तथ्य यह है कि रानी औशीनरी ने 'प्रियानुप्रसादन' व्रत किया है तथा महाराज से यह प्रार्थना की है कि मणिहर्म्य-भवन के पृष्ठ पर वह उनके साथ चन्द्रमा और रोहिणी का मिलन देखना चाहती है। नियत वेला में देवी औशीनरी दासी निपुणिका के साथ नियत स्थान पर पहुँचती है और चन्द्रपूजा के बाद राजा की पूजा कर यों निवेदन करती है—"आज मैं चन्द्रमा तथा रोहिणी के दैवी युग्म को साथी बनाकर आर्यपुत्र को प्रसन्न कर रही हूँ। आज से जिस किसी स्त्री को भी आर्यपुत्र चाहेंगे और जो कोई भी आर्यपुत्र की 'समागमप्रणयिनी' बनना पसन्द करेगी, उसके साथ मैं प्रेम का व्यवहार करूँगी।"

औशीनरी के इस त्यागमूलक दाक्षिण्य के लिए पाठक पहले से तैयार नहीं हैं। इसी कारण, देवी की यह उदारता कृत्रिम-सी प्रतीत होती है कि उर्वशी का पुरूरवा की 'समागम-प्रणयिनी' बनना अब सुन्दर एवं सुगम बन जाता है। लेकिन, पुरूरवा जैसे राजा के लिए, जिसके शौर्य की याचना स्वयं देवराज महेन्द्र करते हैं, औशीनरी की सहमति उर्वशी-समागम के लिए अनिवार्य तथा अपेक्षणीय नहीं थी।

---

१. "अनीशया शरीरस्य स्ववशं हृदयं मयि।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥" (२।१८)

नाटककार ऐसा करके कदाचित् तत्कालीन सामन्तीय समाज की तुष्टि का विधान कर रहा था। जायसी ने 'पद्मावत' में नागमती को ऐसी ही सलाह दी है। कालिदास का दूसरा उद्देश्य जान पड़ता है पुरूरवा के 'दक्षिण-नायकत्व' की पुष्टि करना। चित्रलेखा, जो उर्वशी को साथ लेकर मणिहर्म्य-पृष्ठ पर अलक्षित भाव से पहुँच गई थी, उर्वशी से औशीनरी के प्रति पुरूरवा के आचरण पर यों टिप्पणी करती है— "अइ मुद्धे, अण्णसंकंतप्पेमाणो णाअरिआ भारिआए अहिअं दक्खिणा होन्ति" (हे मुग्धे! जो चतुर नागरिक किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगते हैं, वे अपनी पहली पत्नी का और भी अधिक आदर करते हैं,)। अतएव, कालिदास यदि एक ओर बहु-पत्नीत्व का अनुमोदन करते हैं, तो दूसरी ओर राजाओं एवं सामन्तों को सभी पत्नियों के प्रति समान दाक्षिण्य-भाव रखने के लिए उपदेश देते हैं। उर्वशी-पुरूरवा समागम इस अंक में अन्तिम रूप से सम्पन्न हुआ है। लेकिन इस संयोग का यथेष्ट गहरे रंगों में नाटककार ने चित्रण नहीं किया है। कदाचित् वह उसका अभीष्ट भी नहीं है। उर्वशी बिना सविधि परिणय के ही पुरूरवा की सहधर्मिणी बन गई है। उर्वशी स्वयं इस बात के लिए व्यग्र है कि उसे कुलटा न समझा जाय; देवी ने महाराज को उसके हाथों दान दे दिया है, इसलिए वह उनके साथ विवाहिता स्त्री के समान सट कर बैठी है। सम्भवतः सहधर्मिणी बनने के लिए पाणिग्रहण संस्कार की अनिवार्यता तत्सामयिक समाज में स्वीकृत थी। उर्वशी के लिए इस नियम का उल्लंघन किया गया है। "मा मक्खु मं पुरोभाइणिं रामल्येहि" (मुझे तुम कुलटा न समझ बैठना)—इस अनुरोध में नाटककार ने राजन्य-समुदाय की ओर से, समाज से, लोकमत से क्षमा-याचना की है।

तथापि, पुरूरवा प्रधानतया प्रणयी के रूप में ही चित्रित किया गया है। मणिहर्म्य की छत पर वह देवी औशीनरी के अनुरोध से आ तो गया है, लेकिन उर्वशी-मिलन की चिन्ता उसे नितान्त अधीर बना रही है। उसका 'पूर्वानुराग' जो द्वितीय अंक में प्रारम्भ हुआ था, तृतीय अंक में और भी प्रवृद्ध बन गया है— यद्यपि वह 'नीलीराग' की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ भी 'मञ्जिष्ठाराग' की अति शोभा प्राप्त नहीं कर सका है।[1] उर्वशी को बराबर देखकर भी वह जो उसका

---

१. न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः॥
कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते।
मञ्जिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते।"
—साहित्यदर्पण, ३।१९६-९७

संयोग नहीं प्राप्त कर पा रहा है, उससे उसकी आन्तरिक पीड़ा और भी घनी बनती जा रही है। इस प्रकार वह समस्त प्रणयि-समाज का प्रतिनिधि बन जाता है। उसके निम्नलिखित कथन में प्रेम-लोक का एक ज्वलन्त सत्य मुखरित हो गया है—

"नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः ।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणो भवति ॥" (३।८)

—'जिस प्रकार विषम शिलाओं के बीच में आ जाने से नदी का प्रवाह और भी वेगशील बन जाता है, उसी प्रकार जब अपने प्रिय से मिलने के सुख में बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं तो प्रेम की जलन सौगुनी बढ़ जाती है।'

उर्वशी-मिलन की बेचैनी में पुरूरवा अत्यन्त दुर्बल हो गया है। उसके उस प्रेम-रोग ("मनसिजरुजं") को न कुसुमों की शय्या दूर कर सकती है, न चन्द्र-किरणें हटा सकती हैं, न सर्वांग में लिप्त चन्दन ही और न मणियों की माला ही उसे निराकृत कर सकती है। उसकी एकमात्र महौषधि बस है, वही स्वर्गीय बाला उर्वशी अथवा फिर एकान्त में कही हुई उसके प्रेम की कहानी (३।१०)। वह शरीर के सब अंगों को धरती का बोझ समझता है, केवल अपने कन्धे को ही धन्य मानता है जो रथ के हिलने-डुलने के साथ पास में बैठी उर्वशी के कन्धों को स्पर्श करता चलता था (३।११)। देवी औशीनरी को वह विश्वास दिलाता है कि वह उसका क्रीत दास है, तथापि उर्वशी उसकी अन्तश्चेतना के भीतरी पर्दों में उपविष्ट हो गई है। "क्या अच्छा होता यदि उर्वशी इस समय, छिपे-छिपे आकर, अपने नूपुरों की मधुर झनकार ही सुना जाय या पीछे से आकर अपनी कमल के समान कोमल हथेलियों से मेरी आँखें बन्द कर ले या इस भवन पर उतर कर वह डरती-डरती धीरे-धीरे आगे बढ़े और उसकी चतुर दासी उसे खींच कर मेरे पास पहुँचा दे"—वस्तुतः पुरूरवा की असली मनःस्थिति यही है जिसमें 'मञ्जिष्ठाराग' का चाकचिक्य भले न हो, किन्तु उसकी गहन निविड़ता अवश्य वर्तमान है। उर्वशी के मिल जाने को वह अपनी सबसे बड़ी सफलता मानता है। उसकी आज्ञा पालन करने में वह अपने को जितना धन्य समझता है, उतना समस्त पृथ्वी के स्वामी बनने अथवा अपने पैर के पीढ़े के सामन्तों की मकुट-मणियों द्वारा रँगे जाने में नहीं ("सामन्तमौलिमणिरंजितपादपीठ")। चन्द्रमा की किरणें अब उसे सुख दे रही हैं, तथा कामदेव के ये ही बाण आज उसे भले प्रतीत हो रहे हैं। जो-जो पदार्थ उसे पहले कठोर जान पड़ते थे, वही अब उर्वशी के मिलते ही कोमल बन गये हैं (३।२०) दुःख के पीछे मिलने वाला सुख बड़ा रसीला होता है। पेड़ की छाया

उसी मनुष्य को अच्छी लगती है जो धूप में तपकर आया हो (३।२०) पुरूरवा उर्वशी-वियोग के भारी ताप में झुलस चुका है; अतएव उर्वशी-समागम उसकी सबसे बड़ी सिद्धि है अथच यही एक अभ्यर्थना है—

"अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं शतगुणितेव गता मम त्रियामा।
यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥" (३।२२)

—'मनोरथ पूर्ण होने के पहले जैसे रातें सौगुनी लम्बी जान पड़ती थीं, यदि अब वे तुम्हारे मिल जाने पर भी वैसी ही लम्बी हो जायँ, तो मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझूँ।'

पुरूरवा ने इस कथन में अपने प्रेम की जो व्यंजना की है, वह वास्तव में नाटककार द्वारा उस 'उन्माद' की पृष्ठभूमि तैयार करने के अभिप्राय से नियोजित है जो चतुर्थ अंक का, अथवा यों कहा जाय कि समस्त नाटक का, प्रतिपाद्य है। गंधमादन पर्वत पर उर्वशी के अविवेक के कारण जो वियोग घटित हुआ है, उसका दंड प्रत्यक्षतः पुरूरवा को ही सहन करना पड़ा है। उर्वशी तो वासन्ती लता बन गई है। अप्सरा थी स्थूल शरीर से समन्वित, तब भी प्रेमियों को विह्वल किया करती थी, और जब लता बन गई है तब भी प्रियानुकारिणी होने से आलिंगित की जा रही है—"यावदस्यां प्रियानुकारिण्यां परिष्वंगप्रणयी भवामि"। सचाई यह है कि कालिदास ने पुरूरवा को जैसा प्रणयार्द्र चित्रित किया है, वैसा उर्वशी को नहीं। यद्यपि उर्वशी ऋग्वेद अथवा शतपथ ब्राह्मण की निष्करुण प्रेयसी निश्चयमेव नहीं है, तथापि उसके प्रस्तुत नाटकीय संस्करण में वह स्निग्धता, वह कोमलता, वह गीलापन, वह पिघलाव भी नहीं है जो सामान्य पाठक उर्वशी की भावना के साथ जोड़ा करता है।

नाटककार ने पुरूरवा को ऐसे प्रणयी अधीश के रूप में चित्रित किया है जिसकी कल्पना नितान्त काव्यमयी है। उसके सम्भाषणों में सर्वत्र एक ऐसी नफ़ासत है, ऐसी पालिश है, ऐसी अलंकृत माधुरी है जो कालिदास के अन्य नायकों में उपलब्ध नहीं होती। वस्तुतः वह कवि है, भावुक एवं कल्पनाशील, जिसे राजकीय कर्तव्यों का बोझ वहन करना पड़ रहा है। तीसरे अंक में उर्वशी-मिलन के अवसर पर हमें उसमें वह आवेश, वह उफान नहीं दिखाई पड़ा जिसकी उम्मीद हम उस जैसे काव्यमय स्वभाव में किये हुए थे। चतुर्थ अंक में कालिदास ने उसके ऊपर से राजा की शेरवानी हटा ली है, और वह अपने प्रकृत स्वरूप में पूर्णतया चमक उठता है। सामान्य आलोचना अथवा सामान्य स्वीकृत रस-प्रणाली में पुरूरवा का 'उन्माद' (वियोग की दस या एकादश कामदशाओं में से एक) इस अंक की उपपाद्य वस्तु है। किन्तु, जैसा महर्षि अरविन्द का कथन है, 'उन्माद' पुरूरवा की

प्रस्तुत मनोदशा के लिए सही व्यंजक शब्द नहीं है। वह लियर (King Lear) अथवा ओफीलिया (Ophelia) के समान विक्षिप्त नहीं है। उसका 'उन्माद' उसके असली स्वभाव की विकृति नहीं है, प्रत्युत उसका अस्थायी परिष्करण किंवा परिवर्धन है। जो स्वतंत्रता उसे सामान्यतः नहीं मिल सकी है, उसका उपभोग वह उर्वशी-वियोग के संदर्भ में करता है। नाटककार ने उर्वशी की 'असूया' के लिए जिस कारण वह स्त्रियों के लिये परिहरणीय कुमारवन में प्रवेश कर लता हो गई, दो आधार निर्देशित किये हैं—पहला यह कि जब प्रेम बहुत बढ़ जाता है, तब ऐसी बातें असहनीय हो जाती हैं ("दूरारूढ़ः खलु प्रणयोऽसहनः"—सहजन्या) और दूसरा यह कि भरत मुनि के शाप से उर्वशी की बुद्धि मारी गई थी जिससे वह पुरूरवा के अनुनयों की अवहेलना कर गई। शाप की बात कहकर, कवि ने उर्वशी को निर्ममता के दोष से तथा कठोरता के आरोप से बहुत कुछ परिमार्जित कर दिया है। "दूरारूढ़ प्रणय" का कथन कर, न केवल उर्वशी की बाह्य हृदयविहीनता का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक, और इसी लिए अधिक ठोस कारण उपपन्न किया गया है, अपितु पुरूरवा के उन्माद के लिए भी एक अत्यन्त विश्वसनीय भूमिका तैयार की गई है। दूरारूढ़ प्रणय, यदि शीलस्खलन का अनुमान भी सहन नहीं कर सकता, तो वह प्रिय-वियोग—वह भी संभोग की आत्मविस्मृति के बीच[1] क्योंकर सहन कर सकता है? अतएव, कोई आश्चर्य नहीं कि पुरूरवा—जैसा कवि-प्रेमी उर्वशी-वियोग के अनाशंकित प्रहार से एकदम उन्मत्त हो उठा।

तथापि, पुरूरवा का उन्माद पागलों का असम्बद्ध प्रलाप नहीं है। उसके उद्गारों में तर्कना की एक ऐसी धारा है जो उसे उन्मादियों की सामान्य कक्षा से ऊपर उठा देती है। वास्तव में, पुरूरवा की मनोदशा वैसे व्योम के सदृश है जिसमें जलद-खण्ड तैरते रहते हैं तथा इस कारण जिसमें छाया एवं प्रकाश की आँखमिचौनी घटित होती रहती है। पुरूरवा का मनस्पटल विवेक तथा भ्रान्ति के क्षणों से आलोकित एवं आच्छादित होता रहता है। उर्वशी के आकस्मिक दृष्टि-विलोप से पुरूरवा को यही भान होता है कि सम्भवतः केशी दैत्य ने उसे पुनः हर लिया। अतएव, क्रोधावेश में वह चिल्ला उठता है—"ओ, दुष्ट राक्षस! खड़ा रह, तू मेरी प्रियतमा को लिये चला जा रहा है। (देखकर) अरे, यह पहाड़ की चोटी से आकाश में

---

१. चित्रलेखा (सं०) (उर्वशी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु, निवेशित राज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता।)

सहजन्या (सं०) स नाम संभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु।"

—चतुर्थ अंक

उड़कर मुझ पर बाण बरसाने लगा।" वह मिट्टी का ढेला लेकर मारने दौड़ता है तब उसका विवेक सद्यः खुल जाता है, और वह कहता है—"अरे, यह तो अभी-अभी बरसने वाला बादल है, राक्षस नहीं। इसमें यह खिंचा हुआ इन्द्रचाप है, राक्षस का धनुष नहीं। जो टप-टप बरस रहे हैं, वे बाण नहीं, पानी की बूँदें हैं तथा यह जो कसौटी पर बनी हुई सोने की रेखा के समान चमक रही है, वह मेरी वल्लभा उर्वशी नहीं, बिजली है।"

इसके उपरान्त पुरूरवा के विवेक-क्षण कुछ देर तक अक्षुण्ण बने रहते हैं जिनमें वह शोकप्रताडित सामान्य जन की भाँति उच्छ्वसित आलाप करता है। "वह केले के समान सुष्ठु जाँघों वाली सुन्दरी कहाँ गई होगी; कहीं वह क्रोध में आकर अपने दैवी प्रभाव से छिप तो न गई? पर आज तक उसने इतनी देर कभी नहीं की। या, कहीं वह स्वर्ग तो नहीं चली गयी हो; लेकिन यह सम्भव नहीं है क्योंकि वह मुझे प्राणपण से प्यार करती है। देवताओं के शत्रु राक्षस भी उसे मेरे सामने नहीं हर सकते। फिर भी वह मुझे कहीं दिखाई नहीं पड़ रही है। यह कैसा दुर्भाग्य है? (चारों ओर देख कर और लम्बी साँस लेकर) अरे! फूटे भाग्य वालों के लिये विपत्ति पर विपत्ति आया करती है, क्योंकि कहाँ एक ओर तो प्रिया का ऐसा विछोह जो सहा नहीं जाता और कहाँ दूसरी ओर ऐसा सुहावना दिन जो बादलों के उठने तथा छिप जाने से और भी सुहावना बन गया है!" पुरूरवा अभी इतना स्वस्थचित्त है कि वह वर्षाकाल के चिह्नों में अपने राजकीय वैभव के प्रतीकों का दर्शन कर रहा है (४।१३)। उसकी तर्कना यह देखिये—"यदि वह सुन्दरी वर्षा से आर्द्र बालू वाले इस वन की धरती पर चलती, तो महावर से रँगे हुए उसके सुन्दर पैरों की ऐसी छापें दूर तक अवश्य दिखाई देतीं जो उसके नितम्बों के भारी होने के कारण एड़ी की ओर गहरी हो गई होतीं।" (४।१६)

इसके बाद पुरूरवा का विवेक पुनः उन्माद की छाया से ग्रस्त हो जाता है और वह हरी घास पर फैली हुई बीर-बहूटियों को, उर्वशी की सुग्गे के पेट जैसे हरे रंग वाली चोली समझ लेता है जिस पर उसके आँसुओं से धुल कर ओठों से गिरे हुए लाल रंग की बुँदकियाँ दिखाई दे रही हों—

"हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतद्भिरंकितम्।
च्युतं रुषाभिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम्॥" (४।१७)

अनन्तर पुरूरवा क्रमशः मोर, कोयल, हंस, चकवा, भ्रमर तथा मतवाले हाथी से उर्वशी का संवाद पूछता है। जब उसे किसी से कोई उत्तर नहीं मिलता तो वह किसी पर उर्वशी से असूया का आरोप लगाता है (४।२२), किसी को उदारतापूर्वक

क्षमा कर देता है (४।२७) किसी पर चोरी का दोष मढ़ता है (४।३४) किसी को उदासीनता के लिए उपालम्भ देता है (४।३६), किसी की उदासीनता का स्वतः कारण अनुमानित कर लेता है (४।४२) तथा किसी की अपने साथ समदुखता का कथन कर, उसे निरन्तर प्रिया-समागम का आशीर्वाद देता है (४।४७) इन कथनों में विक्षिप्तता के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते। कोई भी कोमलमना, प्रियानुरक्त व्यक्ति अपनी प्राण-दयिता के वियोग में ऐसी ही कातर मनोदशा की अनुभूति करता है।

पुरूरवा बाद में पर्वत से, नदी से, हरिण से अशोक से प्यारी का पता पूछता है। नदी को उसने अवश्य उर्वशी समझने की भ्रान्ति की है। अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में उसकी चेतना के विकृत होने का प्रमाण नहीं मिलता। सहानुभूति न मिलने पर तीव्र उपालम्भ की मुद्रा अथवा अपने भाग्य की विषादपूर्ण स्वीकृति की भावना—ये प्रतिक्रियायें अधिकांशतः ऐसी ही हैं। पंडित चन्द्रबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'कालिदास' में पुरूरवा की मनोदशा का शास्त्रीय विश्लेषण किया है, और यह बताया है कि पुरूरवा की मानसिक स्थिति 'जाग्रजागर', 'जाग्रत्स्वप्न', 'जाग्रत्सुप्ति' तथा 'स्वप्नजागर' और 'सुप्तिजागर' की विविध दशाओं में संक्रमण करती रहती है। इसी संदर्भ में इस अंक में प्राप्त प्राकृत अथवा अपभ्रंश के पद्यों पर भी पण्डित जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया है और यह निश्चय किया है कि इस अंक की घटनावली पुरूरवा की "अन्तरात्मा का अवसन्न रूप है, बाहरी और भीतरी भी। बाहरी संस्कृति और भीतरी प्राकृत। बाहरी स्फुट और भीतरी अस्फुट। ऐसी होती है प्रणयी की उन्मत्त अवस्था। विश्वास न हो, तो किसी फ्रायड से पूछिये। अथवा इस जन के 'स्वप्नसिद्धान्त' की प्रतीक्षा कीजिये।"[1]

अनेक विद्वानों ने प्राकृत के अंशों को प्रक्षिप्त बताया है। इनमें कुछ ऐसे हैं जो पुरूरवा के कथन कहे जा सकते हैं और कुछ ऐसे हैं जो किसी अन्य प्रक्षेपक के कथन ज्ञात होते हैं। पांडेय जी ने इन सभी पद्यों को पुरूरवा कथित ही प्रतिपन्न किया है। उनकी उपपत्ति निश्चय ही श्लाघ्य है, यद्यपि कभी-कभी वह पूर्णतः विश्वासोत्पादक नहीं जँचती। इन पद्यों को प्रक्षिप्त मान लेने पर भी, नाटक के रसास्वादन में कोई कमी नहीं आती।

प्रो० जागीरदार ने सम्पूर्ण चतुर्थ अंक को कालिदास की नवीन उद्भावना बतायी है। क्योंकि उसमें रंगमंच पर प्रायः एक ही पात्र प्रिया-विश्लेप में उद्विग्न पुरूरवा, गाते-नाचते हुए, संचरण करता है। जागीरदार ने इस सम्बन्ध में यह मत व्यक्त

---

१. पं० चन्द्रबली पांडेय 'कालिदास' पृ० ८८–८९।

किया है कि पुरूरवा के लम्बे प्रलाप की एकरसता भंग करने के लिए, कालिदास ने दो स्वर्गीय अप्सराओं को सन्निविष्ट किया है जो, प्राकृत की स्वर लहरियों में, अपनी प्रियतमा की खोज में व्यस्त एक मतवाले हाथी का रूपक (Allegory) गाती गई हैं।[1] पुरूरवा अपनी प्रस्तुत दशा में वाल्मीकि के राम से उपमित किया जा सकता है जो, सीता-हरण के बाद वन में घूमते जाते और वृक्षों एवं पशुओं से अपनी वल्लभा का संवाद पूछते चलते हैं। किन्तु राम के साथ में उनके अनुज लक्ष्मण थे जो उन्हें, साधारण मर्त्य के समान दुःखावेग में आत्मनियंत्रण खो देने के विरुद्ध, चेतावनी देते थे। कालिदास ने प्रस्तुत दृश्य में विदूषक का प्रवेश नहीं कराया है—गंधमादन पर आने के समय दम्पती ने उसे महल में ही छोड़ दिया था। पुरूरवा को रंगमंच पर अकेला छोड़कर, कालिदास ने प्रस्तुत अंक के शोक-विह्वल उद्‌गारों की गीत्यात्मकता का परिपोष किया है जो 'रघुवंश' के अज-विलाप को भी, कतिपय समीक्षकों की सम्मति में, मार्मिकता की दृष्टि से लाँघ जाते हैं।

पुरूरवा के प्रियान्वेषी उद्‌गार समाप्त हो जाते हैं, जब शिला की दरार के बीच उसे प्रभोलेपी संगमनीय मणि प्राप्त हो जाती है जिसके ग्रहणार्थ किसी मुनि ने अदृश्य भाव से उसे निर्देश किया है। पार्वती जी के चरणों की लालिमा से वह मणि बनी है और उसे धारण करने वाला अपने वियुक्त प्रिय से मिलने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उर्वशी जिस लता में परिणत हो गई थी, उस लता को देखकर पुरूरवा अनायास आकृष्ट हो गया और उसमें वह अपनी ही 'कलहान्तरिता' प्रिया की प्रतिकृति देख रहा है। लता को छूते ही उर्वशी स्वयं उसके आलिंगनपाश में आ जाती है। यह उर्वशी-पुरूरवा मिलन अवश्य ही मर्मस्पर्शी है। तो भी इस मिलन का चित्रण उतने गहरे रंगों में सम्पन्न नहीं हुआ है जितना साधारण पाठक के लिए अभिलषित था। उर्वशी झटिति कुमारवन वाली तथा भरतमुनि के शाप वाली बात बताकर अपनी सफाई दे देती है जिसे पुरूरवा सद्यः स्वीकार कर लेता है। नाटककार का संयम इस स्थल पर श्लाघ्य होता हुआ भी कुछ खटकता है, विशेषतया पुरूरवा के उन्माद के विशद चित्रण की पृष्ठभूमि में। कालिदास ने अपनी नायिकाओं को कहीं भी मुखर नहीं होने दिया है। क्योंकि उनकी चेतना रोमांटिक होते हुए भी, कभी लोक-निरपेक्ष नहीं बन पाई है। शेक्सपियर आदि के साथ उनकी

---

१. R. V. Jagirdar : 'Drama In Sanskrit Literature' पृ० ६१।

तुलना करते समय, यह मौलिक अन्तर अवश्य स्मरण रखना चाहिये। पुरूरवा उस संगमनीय मणि को उर्वशी द्वारा अपने सिर पर स्थापित किये जाने की शोभा पर निहाल हो उठा है और प्रार्थना करता है कि हे सुन्दरी! क्षणमात्र इसी तरह खड़ी तो रहो क्योंकि—

"स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर्ललाटनिहितस्य।
श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातपरक्तकमलस्य॥" (४।७४)[1]

लेकिन, उर्वशी को लोक-मर्यादा बुरी तरह से ग्रसे है और उसे भय है कि प्रजा राजा के इस दीर्घकालीन प्रवास के लिए उसे ही कोसती होगी—"प्रियंवद, महान् खलु कालस्तव प्रतिष्ठानान्निर्गतस्य। कदाचिद् सूयिष्यन्ति मह्यं प्रकृतयः। तदेहि निवर्तावहे।"

पंचम अंक में प्रणय के व्यापन्न होने की संभावना अत्यन्त बलीयसी हो उठती है। संगमनीय मणि को पक्षी मांस का रक्त-खंड समझ कर ले उड़ता है। वह च्यवनऋषि के आश्रम में भगवती सत्यवती द्वारा पालित होने वाले उर्वशी-पुरूरवा के कुमार आयु द्वारा मारा जाता है। ऋषि इस कृत्य को आश्रम के आचरण के विरुद्ध जान कर, तापसी द्वारा कुमार आयु को पुरूरवा के राजमहल में उर्वशी के पास वापस करते हैं। तब पूर्ण रहस्य उन्मीलित होता है—क्यों कर उर्वशी ने इन्द्र के आदेश का स्मरण कर, पुत्र को छिपाये रखने की योजना की है। नाटककार ने इस प्रसंग में वात्सल्य की कुछ रेखायें उभारने की चेष्टा की है, लेकिन उर्वशी-विच्छेद की चिन्ता में वात्सल्य विलुप्त हो गया है। पुरूरवा, उर्वशी के चले जाने पर राज्य-कार्य कुमार आयु को सौंप कर, स्वयं तपोवन में जीवन व्यतीत करने के लिए सन्नद्ध होता है। लेकिन, इसी समय महर्षि नारद का आगमन होता है। इन्द्र का संदेश वे यों सुनाते हैं कि देवों तथा असुरों में संग्राम होने वाला है जिसमें आपके शौर्य की अपेक्षा होगी; अतएव, आप शस्त्र-संन्यास न करें, यह उर्वशी जीवन भर आपकी सहधर्म-चारिणी बनी रहेगी।' इस प्रकार प्रणय के आलोक को नष्ट करने वाली संभावित छाया सदा के लिए निरस्त हो गई है।

नाटककार ने आयु के यौवराज्याभिषेक की भी योजना की है जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था देवराज इन्द्र की ओर से अप्सराओं द्वारा सम्पन्न हुई है। अभिषेक के अनन्तर, राजकुमार के प्रणाम करने पर जो आशीर्वाद उसे दिये गये हैं, वे भारतीय संस्कृति के सर्वथा अनुरूप हैं—

---

१ 'सिरपर रखी हुई इस मणि से चमकता हुआ तुम्हारा मुँह, प्रातःकालीन सूर्य की किरणों से चमकते हुए कमल की शोभा धारण कर रहा है।

'नारद—'आपका कल्याण हो।'

'राजा—'कुल की धुरी को धारण करने वाले बनो।'

'उर्वशी—'पिता के भक्त बनो।'

इसके बाद सभी के साथ जाकर, देवी औशीनरी का युवराज ने अभिवादन किया है—इसका संकेत भी उपलब्ध होता है। लेकिन, ऐसा लगता है कि नाटककार ने इस अन्तिम घड़ी में औशीनरी को प्रत्यक्ष न उपस्थित कर, उसके साथ थोड़ा अन्याय किया है। औशीनरी ने जिस उदारता-पूर्वक राजा का उर्वशी-समागम वाला पथ प्रशस्त किया है, उसे स्मरण कर, नाटककार की उसके प्रति वर्तमान दृष्टिभंगी अनुमोदनीय नहीं प्रतीत होती।

ए० बी० कीथ ने नाटक के अवसान की यह कहकर आलोचना की है कि कवि को कम महत्त्व वाले पात्रों के शील-चित्रण में आपेक्षिक दृष्टि से सफलता कम मिली है; बालक आयु का प्रसंग ऊपर से थोपा हुआ है और नाटक का समापन प्रभाव-हीन एवं अरुचिर है। लेकिन, यह टिप्पणी उचित नहीं है। रामस्वामी शास्त्री का निम्नलिखित कथन कीथ की आलोचना का सुन्दर उत्तर है—

"मुझे ऐसा लगता है कि स्वर्गीय सुन्दरी के प्रति मानवीय नरपति की प्रभंजनोपम आसक्ति पाँचवें अंक में अधिक मानवीय स्वरूप ग्रहण कर लेती है—और हमारे लिए अधिक चर्वणीय बन जाती है। प्रणय पारिवारिक एवं राष्ट्रीय जीवन के पवित्र संयमों से जुड़ जाता है, और इन्द्र एवं नारद के आशीर्वाद दैवी या ईश्वरीय स्वीकृति का तत्त्व भी सन्निविष्ट कर देते हैं जिससे ही केवल, प्रेम, प्रवित्र करने वाली एवं ऊँचा उठाने वाली शक्ति बन जाता है। तभी, केवल रूप-सौन्दर्य से प्रसूत प्रेम जीवन-प्रदायिनी शक्ति में रूपान्तरित हो जाता है। (आयु का नाम ही इसकी ओर संकेत करता है)। केवल तभी, मानवी राजा राजा पुरूरवा दिव्य देवत्व को प्राप्त कर लेता है क्योंकि उसकी उद्दाम आसक्ति सच्चे प्रेम के निःस्वार्थ एवं शान्तिपूर्ण आनन्द में परिष्कृत एवं उन्नमित हो गई है; और केवल तभी, वह दिव्य, स्वर्गीय उर्वशी ह्लादमयी मानवीयता का मधुर आस्वाद ग्रहण कर लेती है।'[1]

'अभिज्ञानशाकुन्तल' की विशद लोक-चेतना 'विक्रमोर्वशीय' की योजना को अनुप्राणित नहीं कर सकी है। पहली रचना में सौन्दर्य एवं प्रेम के भी जितने गहरे चित्र अंकित हुए हैं, उसकी सफलतापूर्वक स्पर्धा करने वाले चित्र दूसरी रचना में

---

१. K. S. Ramaswami Sastri : 'Kalidasa', पृ० २७०,

प्रापणीय नहीं है। दोनों रचनाओं में एक घनिष्ठ साम्य यह है कि दोनों की घटनावली ऋषियों की इच्छाओं द्वारा अल्पाधिक परिमाण में प्रभावित हुई है तथा दोनों में एक-एक राजकुमार ऋषियों के आश्रमों में पालित हुए, भावी कर्त्तव्य-पालन की गहन भूमिका में अवतीर्ण होने का उपक्रम कर चुके हैं। पुनः दोनों में प्रणयी, पिता बन गए हैं और दोनों में रोमांस, संयम की गरिमा से मंडित हो गया है। वास्तव में, कालिदास की सरस्वती का यही सनातन संगीत है।

(४)

पुरूरवा धीरोदात्त नायक है। वह शूर, शीलवान् एवं दाक्षिण्य-सम्पन्न है। विनय का गुण उसके शौर्य में चार चाँद लगा देता है। लेकिन, पुरूरवा की प्रधान विशेषता उसके अन्तर्मानस की काव्यात्मकता है जो सौन्दर्य एवं प्रेम के साक्षात्कार से, तंत्री के तारों के समान, खनखना उठती है। शेक्सपियर के नाटक 'रोमियो और जूलियट' के नायक रोमियो की नाईं, पुरूरवा अपने प्रणयोपचार को एक नितान्त काव्यमय हृदय के मधुर द्राक्षासव से सिक्त कर देता है। अतएव, वास्तविक पुरूरवा वीर और राजा नहीं है, अपितु कवि एवं प्रेमी है। यूरोपीय नाटककारों ने राजत्व के साथ कवित्व के संयोग को शोकपर्यवसायी चित्रित किया है, लेकिन पुरूरवा के चित्रण में यह आभास नहीं होता कि कोई काव्यात्मक स्वभाव किसी कृत्रिम परिस्थिति में पड़कर अपने ही विनाश की लीला रच रहा है। अपितु, पुरूरवा का चरित्र एक ऐसे पराक्रमी नरेश में विद्यमान कविसुलभ प्रकृति का निरपेक्ष, निस्संग अध्ययन है जिसके शौर्य की याचना देवाधिदेव महेन्द्र करते हैं।

पुरूरवा पहले-पहल अपने अत्यन्त साहसिक स्वरूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। विपद्विह्वल अप्सराओं—रम्भा एवं सहजन्या को सान्त्वना प्रदानकर—"तेन हि मुच्यतां विषादः। यतिष्ये वः सखी प्रत्यानयनाय" (आप चिन्ता न करें। मैं आपकी प्यारी सखी को लौटा लाने का अभी यत्न कर रहा हूँ।)—वह अत्यन्त त्वरापूर्वक उर्वशी का उद्धार कर लाता है। इस विस्मयोत्पादक घटना की स्मृति पाठक को, क्षीण रूप में ही सही, निरन्तर बनी रहती है और कवि एवं प्रेमी के रूप में बाद में अभिव्यक्त होने वाली नितान्त दुर्बल मनःस्थितियों के आवरण में छिपे लौहत्व" की प्रतीति कराती है। पुनः, नाटकांत में कालिदास ने बड़े कौशल के साथ पुरूरवा के शौर्य की कलात्मक व्यंजना कर दी है। भावी देवासुर-संग्राम में पुरूरवा के साहाय्य की देवताओं को अपेक्षा होगी, इसलिए नारद के द्वारा देवराज इन्द्र ने यह संवाद भेजा है कि वह शस्त्र-संन्यास न करे, उर्वशी जन्मपर्यन्त उसकी

धर्म-चारिणी बनी रहेगी। इस प्रकार आरम्भ एवं अन्त में पुरूरवा हमें शौर्य-व्यसनी नरेश के रूप में आकर्षित करता है। लगभग प्रत्येक अंक में उसके चरित्र के इस परिपार्श्व का कलात्मक संकेत नाटककार ने किया है। उसे बारंबार "राजर्षि" कहा गया है; वैतालिकों द्वारा उसके पराक्रम का कथन कराया गया है। तथापि, "सम्राट के ये रक्ताभ, भास्वर परिधान तथा शूर की धन्वा केवल पीठिका के लिए ही अपेक्षित हैं और नाटक के प्रधान प्रतिपाद्य, मनुष्य पुरूरवा की प्रकृत मनोदशाओं के उन्मीलन, में बाधक नहीं बनने पाये हैं।"[1]

पुरूरवा की कविसुलभ कल्पना अत्यन्त प्रसन्न एवं उर्वर है। प्रत्येक परिस्थिति में उसके भीतर का कवि ललित वाग्विलास के रूप में फूट पड़ता है। अरविन्द ने ठीक ही कहा है कि किसी भी राजा को, उसके पहले अथवा पीछे, यहाँ तक कि रिचर्ड द्वितीय को भी, वाणी का वह गौरवमय वरदान प्राप्त नहीं है जो 'सूर्य एवं चन्द्रमा के इस पौत्र' को प्राप्त है। वस्तुतः ललित वाग्निर्झरण की प्रवृत्ति पुरूरवा में निसर्ग-सिद्ध है। उसके देखने, सोचने और बोलने में लालित्य है। केवल उसके मानस में ही ऐसी भव्य प्रतिमायें नहीं हैं जो भव्य उपमाओं एवं ललित वक्रोक्तियों में फूट पड़ती हैं। अपितु, वह प्रकृति का कोई पदार्थ ऐसा नहीं देख सकता अथवा कोई ऐसा साधारणातिसाधारण भाव अनुभव नहीं कर सकता जिसे वह अपनी कल्पना के चमकीले रंगों में सिक्त कर, भव्य कविता में व्यक्त न कर सके। कवि के समान उसका अवेक्षण सूक्ष्म एवं अन्तःप्रेरित है। कवि की अन्तर्दर्शिनी क्षमता; उसकी ऐन्द्रियता एवं वस्तून्मुखता पुरूरवा में कूट-कूट कर भरी हुई है। छोटी-छोटी वस्तुएँ जो उसने प्रकृति के राज्य में देखी हैं—यथा, प्रवाह के वेग से ढहता हुआ नदी-तट का प्रान्त, चन्द्रबिम्ब से सहसा चमकती हुई तमसावृत रजनी, रात में धूम्र-स्तम्भ को भेद कर निकलने वाली अनल-शिखा प्रातःकालीन रवि-रश्मियों में रक्ताभा ग्रहण करने वाला सरोज, चंचु-पुट में कमल-नाल लिए गगन पथ में उड़ने वाला उन्मुक्त हंस—ये सभी वस्तुएँ उसके अन्तश्चक्षुओं के भीतर वर्तमान रहती हैं और किंचित् स्पर्श से ही कविता के रूप में फूट निकलती हैं। प्रत्येक स्थिति एवं भाव को पकड़ने तथा उसे कविता में रूपान्तरित करने की यह प्रवृत्ति इतनी बद्धमूल है कि जब वह रानी के प्रसादनार्थ एक भाव का बहाना कराता है, तब भी उसकी कल्पना प्रज्वलित हो उठती है और वह वाणी की उस ऊष्मा एवं गरिमा के साथ उस भावभंगी का अभिनय करता है जिसे व्याज-स्तुति कहना तत्काल कठिन प्रतीत होता है। इस प्रकार कविता से लबालब भरे हुए मानस, राजोचित भव्यता एवं पूर्णता से भरे

---

१. श्री अरविन्द : 'Kalidasa' (Second Series) पृ० ५१।

हुए वागभ्यास तथा अपनी ही नियति के अनुपमेय गौरव से प्रज्वलित एवं विस्फूर्जित कल्पना से समन्वित एवं संवलित होकर, पुरूरवा उस महती घटना से साक्षात् करता है जो उसकी अन्तःप्रकृति की कसौटी होने वाली है। केवल ऐसा ही व्यक्ति संसार एवं उसके ऐन्द्रिय जीवन के मूर्तिमान् सौन्दर्य, नारायण के जंघे से उद्भूत अप्सरा की लालसा तथा उपलब्धि करने का अधिकारी था।[1]

जैसा पहले कहा गया है, चतुर्थ अंक में पुरूरवा का असली निरावृत रूप उन्मीलित हुआ है। संयोग के अनन्तर घटित होने वाले विप्रयोग से वह विक्षिप्त हो उठा है। उसके मर्म का मंथन कर निकलने वाले उद्गार उसके प्रणय की गहराई का उन्मीलन करते हैं। पराक्रमी, शौर्य-व्यसनी राजा के भीतर के प्रणयी के ऊपर ऐसा अप्रत्याशित आघात पहुँचा है कि उसके सुकुमार मनस्तंतु झकझोर दिये जाते हैं। और, उस मनोदशा में कठोर विशुद्धिवादी दृष्टि से यदि कुछ दुर्बलता झलकती है, तो उसे पुरूरवा के चरित्र का दोष नहीं समझना चाहिए। उर्वशी को पुनः प्राप्त कर लेने पर उसके भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन में एक अभिनव स्फूर्ति आ गई है जो उसके शील की मानवीयता की निर्व्याज विशप्ति करता है—

"त्वद्दर्शनेन प्रसन्नो मे सबाह्यान्तरात्मा।"

कल्पना एवं ऐन्द्रियता का पुञ्ज पुरूरवा नीतिशास्त्र अथवा धर्म की कठोर तुला पर नहीं तौला जा सकता। उसका यह कथन कि उर्वशी का वह मनोहर रूप वेदाभ्यास से जड़ीभूत नारायण की सृष्टि नहीं, अपितु वह चन्द्रमा, कामदेव अथवा वसंत के ही द्वारा रचा गया होगा[2], सामान्य इन्द्रियभोगी मनुष्य की भीतरी पुकार है। एक से अधिक अर्थों में, राइडर (A. W. Ryder) की यह अत्युक्ति कि पुरूरवा 'केवल परम्पराप्रथित नायक (A mere conventional hero) है, युक्तिसंगत नहीं दीखती।

सामान्य कल्पना के अनुसार, उर्वशी के अभिधान में "सौर ज्योति की चमक, प्रत्यूष की लजीली सुषमा, जलधि की विविधरूपी मुसकान, गगन की भव्य गरिमा तथा चपला की कौंध—संक्षेपतः संसार में जो कुछ भास्वर, अनधिगम्य, अग्राह्य एवं आकर्षक है, जो कुछ विस्मयोत्पादक, मधुर एवं आस्वाद्य तथा मानवी-सौन्दर्य एवं मानवीय जीवन में मादक है, जो मानवी भावानुभूति का आह्लाद है, जो अन्ततः कला, कविता, विचारणा एवं ज्ञान में हमें पकड़ता है, अभिभूत करता है तथा विह्वल एवं आत्मविभोर बनाता है—वह सभी एकत्र समाहित हो गया है।"

---

१. श्री अरविन्द : 'Kalidas' (Second Series) पृ० ५३।

२. प्रथम अंक, दसवाँ श्लोक।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उर्वशी के प्रति अपनी प्रसिद्ध कविता में यह प्रशस्ति समर्पित की है :—"हे चिरयौवना उर्वशी ! क्या तू कभी नवकलिका अबोध बालिका नहीं थी ? किसके तिमिरावृत पटल के नीचे बैठकर तूने मोतियों एवं मणियों से क्रीड़ा करते हुए अपना शैशव व्यतीत किया ? सागर की ऊर्मियों के मन्द्र संगीत से आश्वस्त होकर तूने मणियों की आभा से चमकते हुए किस कक्ष में, किसके साथ, विद्रुम-शय्या पर अपने पवित्र मुख को मुसकान से रंजित करते हुए शयन किया ? जिस क्षण तूने जगकर विश्व में प्रवेश किया, क्या तभी तू पूर्ण-विकसित सौन्दर्य से समन्वित यौवन की धनी बन गयी थी ? हे उर्वशी ! युग-युग से तू संसार की प्रेयसी रही है। मुनियों ने समाधि-भंग कर, तपश्चर्या के फल-रूप में तेरे चरणों का चुम्बन किया; तेरे कटाक्षों से आहत होकर त्रैलोक्य में यौवनोद्रेक का विक्षोभ उत्पन्न हो गया; अन्ध समीर तेरे मादक सौरभ को चतुर्दिक् विकीर्ण करता है, मधु-पान से मतवाले भ्रमर के समान मनोमुग्ध कवि लोभी-हृदय के साथ आनन्दातिरेक में अपनी स्वरलहरियाँ उल्लिसित करता है जबकि तू झनझनाते नूपुरों एवं फरफराते अंचलों के साथ, चपला की चंचल भंगिमा में, इतस्ततः संचरण करती है। देवताओं की सभा में, हे हिलती हुई तरंग, उर्वशी ! जब तू अत्यधिक उल्लास के साथ नाचती है, तब समुद्र के मध्य में ऊर्मियों का समूह ताल-ताल पर नाचता और स्फीत होता है; शस्यों की शिखाओं में पृथिवी के आँचल काँपने लगते हैं; तेरे कंठ-हार से नक्षत्र आकाश में टूट-टूट कर बिखर जाते हैं; अकस्मात् मानव-वक्ष में हृदय अपने को भूल जाता है और रक्त नाचने लगता है; अकस्मात् क्षितिज पर तेरी मेखला टूट जाती है। आह ! तू कितनी उन्मुक्त एवं उद्दाम है।

अब वह लौट कर नहीं आएगी, नहीं आएगी ! बाले उर्वशी ! ज्योति का कलाधर डूब गया है, अस्ताचल के ऊपर अपना निवास बना लिया है। अतएव, आज किसी चिरंतन वियोग का उच्छ्वास पृथ्वी पर प्रसन्न माधवी समीर के साथ मिल जाता है; पूर्णिमा की रात में जब संसार उत्फुल्ल हास से खिलता है, किसी सुदूर प्रदेश से आती हुई स्मृति मुरली बजाती है, जो विक्षोभ उत्पन्न करता है, आँसू वेग से बाहर निकल आते हैं। तदपि, अन्तरात्मा के उस क्रन्दन में आशा जगती है और जीती है; आह अनियंत्रित उर्वशी !"

उर्वशी को उपर्युद्धत अवतरण में जिन स्वर्गीय गरिमाओं से परिवेष्टित किया गया है, कालिदास की सृष्टि में वे सर्वथा अनुपस्थित हैं। नाटक की उर्वशी एक प्रसन्न-वदना रूपशालिनी सुन्दरी है, जिसके जीवन की प्रधान प्रेरणा प्रेम है—"मदनः खलु मां नियोजयति।" यह अवश्य है कि उसके अपार्थिव संसर्गों का सौरभ उसके चतुर्दिक व्याप्त है, किन्तु यह उसकी अन्तःप्रकृति का अंग नहीं है।

वह मूलतः एक प्राकृत, सुरम्य कामिनी है जो अपने भावों का अपह्नव नहीं जानती; जो झटिति कुपित हो जाती है; जो शैशवोचित आकर्षण से संयुक्त है; जिसमें बाद को शान्ति, सौन्दर्य एवं अनुराग का आवेग एक-साथ फूट पड़ता है; जो माता, भगिनी तथा सखी की भूमिकाओं में सर्वथा प्रेममयी है। उर्वशी देवलोक की सुन्दरी है अवश्य, किन्तु देवांगना की औपचारिक गरिमा उसमें वर्तमान नहीं है। वह ऐसी पादुका नहीं पहने हुई है जो उसे मानवी-धरातल से ऊँचा उठा दे। उसके भीतर भावों की नैसर्गिक क्रीडास्थली है; उसकी आँखों में मनोहर मुसकान है जिनसे साथ ही सद्यः आँसू भी झरने लगते हैं; उसके मुख में माधुर्य है; पलकें नीचे झुकी हुई हैं और प्रत्येक भाव-भंगिमा उसकी आकृति में सहज आकर्षण उत्पन्न करती है। यदि यह स्वर्ग की अप्सरा है तो यह सोचा जा सकता है कि स्वर्ग पृथिवी की ही ललित प्रतिच्छाया होगा।[1]

पाश्चात्त्य समीक्षकों ने उर्वशी को स्वर्गीय वारांगना (Heavenly harlot) बताया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह टिप्पणी सर्वथा अनुचित है। उर्वशी की दुर्बलता, भीरुता, ईर्ष्या इत्यादि गुण उसे मानवीय मधु-रस में सिक्त कर देते हैं। विद्याधर-कुमारी की ओर दृष्टि-निक्षेप करने पर ही, वह पुरूरवा से रुष्ट हो गई है जिससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वह भीरु है, तथा अपने ही सौन्दर्य की शक्ति एवं सामर्थ्य के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ एवं अनाश्वस्त है। नाटककार ने उसके इस गुण की बड़ी सावधानी से संरक्षा एवं संवर्धना की है। प्रदर्शन तथा प्रलोभन की जो चेतन प्रवृत्तियाँ वारांगनाओं में रहती हैं, वे उर्वशी में उपलब्ध नहीं हैं। उसके प्रणय का उद्वेग उसकी आन्तरिक पवित्रता एवं छलछद्म-विहीन आचरण से प्रसूत हुआ है। तीसरे अंक की अपनी कतिपय उक्तियों में, पुरूरवा के साथ पुनर्मिलन के अवसर पर तथा संपूर्ण पञ्चम अङ्क में जहाँ वह पत्नी तथा माता के रूप में विकसित हुई है, उर्वशी का आकर्षण अत्यन्त गहरा बन गया है। शकुन्तला अथवा मालविका की अपेक्षा वह अधिक चुहल और त्वरा से भरी है, लेकिन उसकी किसी भंगिमा अथवा गतिविधि से उस उच्छृंखल आचरण का आभास नहीं मिलता जो वारांगनाओं से सम्बद्ध होता है। जर्मन विद्वान् रुबेन ने उर्वशी को शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक की नायिका वेश्या वसन्तसेना की समकक्षता में रखते हुए, कालिदास की ओर से यह सफाई दी है कि वेश्या उर्वशी को नायिका बनाने में कालिदास ने कोई अशोभन कार्य नहीं किया है क्योंकि उनका विश्वास है कि प्रत्येक प्रकार का पेशा जो किसी जाति में परम्परा से चला आता है,

---

१. श्री अरविन्द : 'Kalidasa', second series., पृ० ६६, ६७

बुरा होने पर भी सामान्य है। इसके लिए रुबेन ने 'शाकुन्तल' में मछुवे की उक्ति का सहारा लिया है,[१] और कालिदास को, अमिताभ तथागत की, वेश्या आम्रपाली के प्रति दिखाई गई, उदारता से विभूषित बताया है।[२] कहने की आवश्यकता नहीं कि रुबेन द्वारा कालिदास पर लगाया गया आरोप तथा भगवान् बुद्ध की तुल्यता में उन्हें रखकर उस आरोप का परिमार्जन, दोनों ही अनपेक्षित एवं अनाकांक्ष्य हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् कीथ ने उर्वशी के विषय में यह मत व्यक्त किया है: "अपने प्रेमी को स्वयं अदृश्य होकर देखने तथा उसके वार्तालाप को छिपकर सुनने का उसका इन्द्रजाली सामर्थ्य उतना ही अस्वाभाविक है जितना पति के साहचर्य के हेतु पुत्र के परित्याग में व्यक्त होने वाला वात्सल्य का अभाव। उसका प्रणय स्वार्थ-संवलित है। नाटक के अभिनय में वह देवताओं के प्रति अपने कर्त्तव्य एवं सम्मान-भावना को भूल जाती है, और उसका लता में रूपान्तरण विवेकहीन ईर्ष्या का प्रत्यक्ष परिणाम है।"

रामास्वामी शास्त्री ने इस टिप्पणी का परिहार यों किया है: "इस टीका में कालिदास की उर्वशी-विषयक कल्पना एवं चरित्रांकन का प्रधान सूत्र ही हाथ से छूट गया है। कवि ने देवलोक की एक अधिवासिनी का चित्रण किया है जो सारभूत सौन्दर्य है तथा सारभूत प्रेम से अधिशासित है। स्वयं छिपी रहकर, अपने प्रति राजा द्वारा किए गये प्रेमालाप सुनने का जो इन्द्रजाली सामर्थ्य वह रखती है, उससे सम्बद्ध दृश्य के प्रभाव में वृद्धि हो गई है। पति को अत्यधिक प्यार करने के कारण उसने पुत्र को अपनी सखी की देखभाल में रख दिया, क्योंकि यदि वह बालक को देख लेता तो, उर्वशी का प्रेम व्यर्थ हो जाता। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वह अपने पुत्र से प्रायः मिलती रहती थी। अन्य कथित दोष उर्वशी के अत्यधिक एवं प्रवेग-पूर्ण प्रेम की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, और हम तब तक उसके चरित्र को नहीं समझ सकते जबतक उसकी उद्दाम प्रणयासक्ति को स्मरण नहीं रखते।"[३]

कीथ के आरोप का अत्यन्त उचित उत्तर शास्त्री ने दिया है। किन्तु, मातृसुलभ वात्सल्य की कमी पाठकों को खटकती है—विशेषतया तब, जब हम यह स्मरण करते हैं कि 'शाकुन्तल' की भाँति यहाँ भी कालिदास का अन्तिम उद्देश्य प्रेयसी को मातृत्व की महिमा से मंडित कर देना रहा है।

---

१. "सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः" ॥ (शाकु० ६।१)

२. Walter Ruben : 'Kalidasa' पृ० ६६,

३. K.S. Ramaswami Sastri : 'Kalidasa' पृ० २६१,

(१०) मालविकाग्निमित्र

'मालविकाग्निमित्र' कालिदास की पहली नाट्य-रचना है। इस प्रकार, इसमें वह लालित्य, माधुर्य अथवा भाव-गांभीर्य दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे भावक कालिदास की नाट्य-कला के साथ संबद्ध करने के अभ्यासी रहते आये हैं। विदिशा का राजा अग्निमित्र प्रस्तुत नाटक का नायक है जो धीरोदात्त की अपेक्षा धीरललित अधिक है। मालविका नायिका है जो विदर्भराज की भगिनी है। इन दोनों की प्रणय-कहानी ही नाटक का मूल प्रतिपाद्य है। सम्पूर्ण दृश्य, आदि से अंत तक, विदिशा के राजप्रासाद या उसके प्रमदवन की सीमा में ही उपन्यस्त हुए हैं। मालविका पटरानी धारिणी की नृत्य-संगीत-कुशला परिचारिका के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत की जाती है। एक चित्र में उसका रूप देखकर, राजा अग्निमित्र का प्रणय मालविका के लिए उद्भिन्न हो जाता है और तब से वह अपने 'कामतंत्रसचिव' ('प्रणयसखा') विदूषक की सहायता से उसे प्राप्त करने का भरपूर प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देता है। रानी धारिणी आरम्भ से ही इस प्रणय-लीला के प्रतिकूल मनोभाव रखती है। वह मालविका को राजा के दृष्टि-पथ से सदा दूर रखना चाहती है, और बाद को जब अग्निमित्र तथा मालविका का प्रेम प्ररूढ़ हो जाता है, वह उसे कारागृह में बन्दिनी भी बना देती है। लेकिन, विदूषक गौतम अत्यन्त छल-कुशल सिद्ध होता है, और बड़ी चालाकी से अग्निमित्र के प्रणय-व्यापार को सफल बनाने का श्रेय प्राप्त करता है। अन्ततः मालविका और अग्निमित्र परिणय-सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं तथा नाटक समाप्त हो जाता है। वस्तुतः यह नाटक राजमहलों में चलनेवाले प्रणय-षड्यन्त्रों का उन्मीलक है, तथा इसमें नाट्य-क्रिया का समग्र सूत्र विदूषक के हाथों में समर्पित है। गौतम को निकाल दीजिये, और अग्निमित्र तब निष्प्रभ, निष्क्रिय बन जायेगा, वैसे भी अग्निमित्र का जो चित्र चित्रित हुआ है, उसमें कोई आकर्षण नहीं, न प्रणय-वेग में, न प्रणय-घनत्व में; अन्य गुणों की तो बात ही क्या? मालविका संगीत-कला में निपुण है, प्रतिभाशालिनी है और है रूप-सौन्दर्य की धनी। किन्तु, परिस्थितियों ने उसे आद्योपान्त सशंक बना दिया है और इसी कारण, उसे अपने प्रेम का ज्वार प्रदर्शित करने का कभी अवसर नहीं मिला, कदाचित् साहस नहीं हुआ। यह अत्यंत विचित्र घटना है कि प्रेमी एवं प्रेमिका, दोनों ही उद्दाम प्राणोष्मा से रहित हैं, दोनों ही राजप्रासाद के एक अंतरंग व्यक्ति के छल-कपटों के मुखापेक्षी हैं। सुतरां, 'मालविकाग्निमित्र' में न कोई नैतिक उद्देश्य चित्रित है, और न प्रेम का दुर्दमनीय उपप्लवन ही। "देवी त्रासेन शंकितः"

"देवीत्रासेन शंकिता"[1] भी; इस शंका की गहरी छाया ने प्रणय की पूर्ण ज्योति को विलसित नहीं होने दिया। संभवतः तरुण नाटककार में अभी, जीवन-मूल्यों की स्पष्ट, सान्द्र प्रतीति के अभाव के अतिरिक्त, वह नैतिक साहस भी नहीं था जो उसे प्रेम एवं सौन्दर्य की मादकता को चित्रित करने की भीतरी प्रेरणा प्रदान करता।

कालिदास ने आरम्भ में ही भास, सौमिल्ल; कविपुत्र इत्यादि प्रसिद्ध कवियों के प्रबन्धों की तुलना में अपनी उस नाट्य-कृति को, सूत्रधार के माध्यम से इस सिद्धान्त का निरूपण कर, बहुमानित किया है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥" (१।२)

—"पुरानी होने से ही न तो सभी वस्तुएँ अच्छी होती हैं और न नई होने से बुरी अथवा हेय। विवेकशील व्यक्ति अपनी बुद्धि से परीक्षा करके श्रेष्ठतर वस्तु को अंगीकार कर लेते हैं, और मूर्ख लोग दूसरों के बताने पर ग्राह्य अथवा अग्राह्य का निर्णय करते हैं।"

संस्कृत नाटक की तब तक की उपलब्धियों के आलोक में कालिदास का यह आत्मविश्वास सर्वथा श्लाघ्य है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'मालविकाग्निमित्र' गीर्वाणगिरा के नाट्य साहित्य के वैभवशाली अध्याय का प्रथम पृष्ठ है। भास के नाटकों में 'स्वप्नवासवदत्तम्' की तत्कालीन लोक-प्रियता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उदयन तथा वासवदत्ता की कहानी के प्रति लोगों का गाढ़ अनुराग था। 'मेघदूत' से यह जान पड़ता है कि उदयन जिस मार्ग से वासवदत्ता को भगा ले गया था, वह स्थान लोग बड़े प्रेम से दिखाते थे। अतएव, कालिदास को यह ध्यान अवश्य था कि उनकी नवीन रचना, कथानक के निर्वाचन तथा नियोजन में, भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' से निम्न स्तर की न हो, और पण्डितों की धारणा है कि काव्यगुण, प्रकृतिवर्णन तथा कलात्मक सौष्ठव में 'मालविकाग्निमित्र' उससे श्रेष्ठ ठहरता है।

'मालविकाग्निमित्र' का पहला अंक मिश्रविष्कंभक से प्रारम्भ होता है। इसमें आरम्भिक सूचना यह प्राप्त होती है कि महारानी धारिणी के एक दूर संबंधवाले भाई वीरसेन ने मालविका को अपनी बहन के पास भेजा है; वह नाट्याचार्य गणदास की देख-रेख में 'छलिक' नामक नाट्य का अभिनय सीख रही है; एक चित्र में उसकी रम्याकृति को देखकर राजा अग्निमित्र उससे मिलने की अभिलाषा

---

१. अग्निमित्र और मालविका दोनों ही देवी के त्रास से भयभीत हैं, दोनों ही उससे डरते हैं।

करने लग गया है; तथा इस कारण मालविका कड़े पहरे में रखी जा रही है जिससे वह राजा की दृष्टि में न पड़ सके। गणदास कहता है कि मालविका परम निपुणा एवं मेधाविनी है तथा आकृति से वह किसी ऊँचे परिवार की मालूम पड़ती है क्योंकि शिक्षक की कला, उत्तम शिष्य के पास पहुँच कर, उसी प्रकार प्रकाश करती है, जैसे बादल का जल समुद्र की सीपी में पहुँच कर मोती बन जाता है—

"पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥" (१।६)

मालविका विषयक इस सूचना से सामाजिकों की जिज्ञासा आरम्भ में ही जाग्रत हो जाती है। एक छोटी-सी और सूचना जिसका उपयोग अत्यंत महत्त्व कार्य के लिए बाद में होता है, यह मिलती है कि रानी धारिणी ने अपने लिए नाग-मुद्रा-युक्त एक अँगूठी बनवाई है।

इतनी सूचना के अनन्तर प्रथम अंक का मुख्य अंश प्रारम्भ होता है। इससे ज्ञात होता है कि विदर्भ के नए राजा यज्ञसेन के सीमांत-अधिकारियों ने उसके चचेरे भाई कुमार माधवसेन को, जब कि वह अपनी बहन मालविका को पूर्व-योजना के अनुसार अग्निमित्र से ब्याहने के लिए उसके साथ विदिशा आ रहा था, बन्दी बना लिया है। अग्निमित्र ने यज्ञसेन के पास यह पत्र लिखा था कि वह मालविका समेत माधवसेन को मुक्त कर दे। इस पत्र में किए गए अनुरोध की यज्ञसेन ने अवमानना की है। इस पर कुपित होकर, अग्निमित्र ने शास्त्रानुरूप यज्ञसेन के दमनार्थ सेना भेज दी है। मालविका के विषय में इतनी और नई सूचना मिलती है कि वह उस धर-पकड़ (ग्रहण-विप्लव) में कहीं खो गई है और यज्ञसेन उसके अन्वेषण का प्रयत्न करेगा।

अंक का शेषांश इस योजना पर प्रकाश डालता है जिससे राजा-द्वारा मालविका के साक्षात् दर्शन का उपक्रम किया गया है। 'कार्यान्तरसचिव' विदूषक के ऊपर यह भार सौंपा गया है क्योंकि अग्निमित्र समझता है कि नेत्रवान् मनुष्य भी अंधकार में दीपक के बिना कुछ देख नहीं सकता—"दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि।" योजना यह निश्चित की गई है कि गणदास एवं हरदत्त दोनों नाट्याचार्य अपने-अपने शिष्यों का अभिनय प्रस्तुत करें और शिष्यों की कला-निपुणता से उनके अपने नाट्य-विद्या-कौशल की परीक्षा कर ली जाय। गणदास रानी धारिणी का कृपापात्र है और मालविका उसके निरीक्षण में 'छलिक' नाट्य का अभिनय सीख रही है। हरदत्त की शिष्या छोटी रानी इरावती स्वयं है। विदूषक ने अपने कपट-कौशल से दोनों आचार्यों में तीव्र प्रतियोगिता की भावना

उत्पन्न कर दी है और दोनों अपनी-अपनी शिष्याओं का अभिनय दिखाने के लिए कटिबद्ध हो गए हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है जैसे स्वयं नाटक के भाव ही शरीर धारण करके चले आए हों—

"त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद् भावाविव शरीरिणौ ।"

रानी धारिणी इस अभिनय-योजना का रहस्य समझती है और गणदास को इससे रोकना चाहती है। विदूषक के उत्तेजना देने पर गणदास यह रोष-भरी गर्वोक्ति करता है—

"लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥" (१।१७)

—"जो अध्यापक शास्त्रार्थ से भागता है, दूसरों के अँगुली उठाने पर चुप रह जाता है तथा केवल पेट पालने के लिए विद्या पढ़ाता है, वह पंडित नहीं, अपितु ज्ञान बेचनेवाला बनिया कहलायेगा।"

देवी धारिणी गणदास को प्रस्तावित अभिनय के लिए अनुमति देने को बाध्य हो जाती है। भगवती कौशिकी (राजप्रासादस्थ एक परिव्राजिका) 'प्राश्निक' अथवा निर्णायक का भार स्वीकार करती है। उसकी बातचीत से ऐसा आभास मिल जाता है कि वह भी राजा को मालविका का रूप-दर्शन कराने की गुप्त योजना से सहमत है। पहले तो वह प्राश्निक वाले प्रस्ताव को केवल हँसी-मात्र समझती है— "पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा" (भला नगर के रहते हुए कहीं रत्न की परीक्षा गाँव में की जाती है!) लेकिन यह केवल प्रदर्शन-मात्र है। छलिक नामक अभिनय को ही दिखाने का प्रस्ताव वही करती है, और यह भी आदेश देती है कि गणदास और हरदत्त दोनों अपने-अपने पात्रों को निरलंकृत, बिना साज-शृङ्गार के अभिनयार्थ प्रस्तुत करें जिससे उनके सम्पूर्ण अङ्गों का सहज सौष्ठव स्पष्टतया अभिव्यक्त हो सके। संन्यासिनी होकर कौशिकी जिस निर्लज्ज तरीके से राजा की सहायता करती है, वह हास्यास्पद एवं अनुचित प्रतीत होता है।

प्रथम अंक वस्तु-नियोजन की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर एवं सफल है। कथानक के सम्पूर्ण पात्रों तथा तथ्यों का संकेत इसमें मिल गया है। देवी धारिणी प्रतिकूल मनोभंगिमा, विदूषक की सूत्र-संचालिनी क्षमता तथा अग्निमित्र की मालविकासक्ति, इन सभी मुख्य तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश इस आरम्भिक अंक में प्रेक्षक को प्राप्त हो गया है।

दूसरे अंक का व्यापार राजमहल की संगीतशाला में घटित होता है। गणदास के निर्देशन में मालविका अपना अभिनय प्रदर्शित करती है तथा हरदत्त की

शिष्या रानी इरावती का प्रदर्शन दूसरे दिन के लिये स्थगित कर दिया जाता है। भगवती कौशिकी मालविका की निर्दोष अभिनय-कला की मुक्तभाव से प्रशंसा करती है, जिससे गणदास सात्त्विक गर्व के अनुभव से फूला नहीं समाता। इस अंक की कथावस्तु इतनी ही है। लेकिन, इसका महत्त्व इस बात में सन्निहित है कि अग्निमित्र को मालविका के रूप-दर्शन का भरपूर अवसर मिल जाता है और सामाजिक उसकी मनोभावना के गुह्य लोक में प्रवेश पा लेता है। मालविका के दर्शन पर अग्निमित्र की प्रथम प्रतिक्रिया यों व्यञ्जित हुई है—

"चित्रगतायामस्यां कान्ति विसंवादशंकि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥" (२।२)

—"चित्र में इसका रूप देखकर मुझे यह संदेह हो रहा था कि यह उतनी कान्तिमती नहीं होगी। लेकिन, अब ऐसा प्रतीत हो रहा है कि चित्रकार ने पूर्ण तन्मयता से इसका चित्र नहीं बनाया।"

मालविका के सम्पूर्णगात्र अनवद्य सौन्दर्य से पूर्ण हैं—

"दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालांगुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः॥" (२।३)

—"उसके बड़े-बड़े नेत्र हैं; शरदतु के चन्द्रमा की कांति से युक्त चमकीला मुख है; कंधों पर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ हैं, छोटे किन्तु कठोर स्तनों से जकड़ी हुई छाती है; चिकनी कोखें और मुट्ठी में समानेवाली कमर है; मोटी जाँघें और थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरों की अंगुलियाँ हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो इसका शरीर उसके नाट्यगुरु गणदासजी के कहने पर ही गढ़ा गया होगा।"

गीत गा चुकने पर मालविका चली जाना चाहती है, लेकिन विदूषक कुछ पूछने के व्याज से उसे रोक लेता है जिससे राजा को उसकी रूप-माधुरी के आस्वादन का और भी समय मिल जाता है—

"अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति! तथा हि—
वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे,
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥" (२।६)

—"अहो! जिधर से देखो, उधर से ही यह मनोहर लगने लगती है। इसने

बायाँ हाथ नितम्ब पर रख लिया है जिससे हाथ का कंगन पहुँचे पर रुककर मौन हो गया है; दूसरा हाथ श्यामा की डाली के समान ढीला लटका हुआ है। नीची आँखें किये हुए यह पैर के अँगूठे से धरती पर बिखरे हुए फूलों को सरका रही है। इस प्रकार खड़ी होने से उसके शरीर का ऊपरी भाग लम्बा और सीधा हो गया है। नाचने के समय भी यह ऐसी सुन्दर नहीं लगती थी जितनी अब लग रही है।"

राजा के ऊपर मालविका के सौन्दर्य का इन्द्रजाल प्रभाव कर गया है और सभी अवस्थाओं में वह अधिकाधिक मनोज्ञ एवं मनोहारिणी दिखलाई पड़ रही है। मालविका की मुसकान ने तो मानो उसके नेत्रों को उनकी मनःकांक्षित वस्तु ही प्रदान कर दी है—

"स्मयमानमायताक्ष्याः किंचिदभिव्यक्तदशनशोभिमुखम्।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पंकजं दृष्टम्।" (२।१०)

—"आज मेरी आँखों को इस बड़े-बड़े नेत्रोंवाली सुन्दरी के मुसकराते हुए उस वदन का दर्शन मिल गया है जिसमें कुछ-कुछ दाँत दिखाई पड़ रहे थे और जो उस खिलते हुए कमल के समान जान पड़ता है जिसमें के केसर पूरे-पूरे दिखाई नहीं पड़ रहे हों।"

जब मालविका पर्दे के पीछे छिप जाती है, तब तो राजा को ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसकी आँखों का भाग्य फूट गया हो, हृदय का महोत्सव समाप्त हो गया हो और धैर्य पर ताला लग गया हो—

"भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करणम्॥" (२।११)

उस अव्याज सुन्दरी को विधाता ने ललितकला का ज्ञान क्या दिया मानों उसने इसके हाथों में कामदेव का विष-बुझा बाण दे दिया हो[१]। अंक की समाप्ति तक राजा की आसक्ति का रंग अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है; वह वामलोचना उसके हृदय में इस प्रकार आ बसी है कि अन्तःपुर की सभी सुन्दरियों से उसका मन एक दम उचट गया है—

"सर्वान्तःपुरवनिता व्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता॥" (२।१४)

इस प्रकार मालविका के रूप-सौन्दर्य तथा अग्निमित्र के पूर्व राग की निविडता की व्यंजना ही द्वितीय अंक का मुख्य प्रतिपाद्य है। देवी धारिणी की यह चिन्ता कि मालविका राजा के सामने देर तक न रुके, प्रेक्षक को इस संभावना के लिये

---

१. "अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः॥" (२।१३)

तैयार करती है कि धारिणी की प्रतिकूल भावना सक्रिय प्रतिरोध का स्वरूप ग्रहण कर सकती है। सथही साथ, विदूषक की कपट-कुशलता भी सिद्ध हो गई है। राजा के यह कहने पर कि तुम अपने मित्र के लिए शीघ्र ही कोई उपाय करो, विदूषक अपनी सहज विनोद-मुद्रा में यह कहता है—"उसके लिए तो मैं पहले ही आप से दक्षिणा ले चुका हूँ; लेकिन बाधा तो यह है कि बादलों में अवरुद्ध ज्योत्स्ना के समान मालविका जी का दर्शन पराया हाथों में है। इधर आप मांस बेचने वाले व्याधे के घर पर मँडराने वाले गिद्ध के समान उस पर ललचाए हुए भी हैं और साथ ही डरते भी हैं। अत्यन्त आतुर होकर अपनी कार्यसिद्धि के लिए अनुरोध करते हुए आप मुझे बड़े अच्छे लग रहे हैं।"

विदूषक की इस उक्ति में उसके सहज आत्मविश्वास की झलक भी पाठक को प्राप्त हो जाती है।

तीसरे अंक की वस्तु राजप्रासाद के प्रमदवन में नियोजित हुई है। इसमें अग्निमित्र और विदूषक, मालविका और उसकी सखी बकुलावलिका, तथा रानी इरावती और दासी निपुणिका—ये तीन युग्म एकत्र मिलते हैं। विदूषक गौतम की नटखटी से महारानी धारिणी झूले पर से गिर पड़ी हैं जिससे उनके पैर में चोट आ गई है। उद्यान में उधर वसंत ऋतु आ गयी है, लेकिन तौ भी सुनहले अशोक वृक्ष में फूल नहीं खिले हैं। इस लिये अशोक के फूलने के लिए उस पर लात मारने (दोहद) का काम रानी द्वारा मालविका को सौंपा गया है। प्रमवदन में इसी हेतु मालविका आई है और बकुलावलिका ने महावर से उसके चरणों का शृंगार किया है। पुनः, बकुलावलिका राजा अग्निमित्र के प्रेम का सन्देश भी मालविका को सुनाने का कार्य सम्पन्न करती है। विदूषक ने ही इस प्रवृत्ति-वहन की नियोजना की है। रानी इरावती पूर्व निश्चय के अनुसार निपुणिका को साथ लेकर राजा के साथ झूला झूलने के लिए प्रमदवन में आई है। अग्निमित्र और गौतम वहाँ पहले ही पहुँच गए हैं। राजा और मालविका पहले-पहल यहाँ मिलते हैं और दोनों को एक दूसरे के प्रति जाग्रत एवं वर्धित प्रणयासक्ति का पता चलता है। इरावती अपनी ही आँखों के सामने राजा की प्रेमाभिव्यक्ति को देखकर कुपित हो जाती है और बिना झूलाझूले ही लौट जाती है।

नायक और नायिका के मिलन के इस उपक्रम में दोनों की प्रणयासक्ति पर विपुल प्रकाश पड़ता है। धारिणी का मन रखने के लिए राजा मालविका से खुलकर प्रेम नहीं दिखलाता। इधर मालविका भी पहनकर उतारी हुई मालती-माला के समान म्लान होती जा रही है। दयितालिंगन के सुख से वंचित होने के कारण, राजा का शरीर सूखता जा रहा है और पलमात्र भी प्यारी को न देख सकने के कारण, उसकी आँखें आंसुओं

से डबडबाई रहती हैं। मालविका देवी धारिणी के कड़े निरीक्षण में उसी प्रकार रहती है, जैसे साँप की देख-रेख में कोई निधि रखी पड़ी हो। इधर अग्निमित्र मन्मथ के कुसुम-शरों से व्यथित होता जा रहा है, प्रेम के रोग से उसका हृदय मथा जा रहा है। जो जितने कोमल होते हैं, वे उतने ही तीक्ष्ण होते हैं; यह प्रवाद कामदेव पर ही घटित हो रहा है—"मृदुतीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि।" काम-सखा वसंत भी राजा के ऊपर दया प्रदर्शित कर रहा है। आम की मंजरियों की गंध में बसे हुए दक्षिण पवन के संघात के बहाने, वसंत अपने सुखद स्पर्शवाले हाथ से उसके शरीर को सहला रहा है; उन्मत्त कोकिलों की श्रवण सुभग कूजन के माध्यम से वह दयार्द्र हो, राजा से पूछ रहा है—'क्यों; बताओ तो, क्या प्रेम की पीड़ा सही जा रही है ?'

"उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव।
अंगे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन॥" (३।४)

मालविका की दशा भी अत्यंत करुण है। प्रमदवदन में आई है, अशोक के दोहद के लिए। लेकिन, उसकी चित्त-वृत्ति की कातरता असीम है। 'जिस प्रियतम के मन की थाह मैं नहीं पा सकी हूँ; उससे प्यार करके मुझे अपने ऊपर बड़ी लाज लग रही है। अपनी प्यारी सखियों से भी यह बात मैं नहीं कह पा रही हूँ। वह प्रेम-पीड़ा न जाने कामदेव मुझे कबतक देता रहेगा जिसकी कोई औषध नहीं है।" मालविका के इस कथन से विदूषक का यह अनुमान पुष्ट होता है कि राजा के समान उसे भी मदन की व्याधि सता रही है। थोड़े से आभूषण पहने हुए, सरकंडे के समान पीले कपोलों वाली वह सुन्दरी ऐसी दिखाई पड़ रही है, जैसे वसंत से पके हुए पत्तोंवाली किसी कुन्दलता में इने-गिने फूल बच गए हों।[1]

अग्निमित्र को पहले-पहल मालविका की मनोदशा का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। बकुलावलिका द्वारा उसका चरण महावर से रँगा जाता देखकर, राजा विह्वल हो उठा है। प्यारी के पैर में बनी हुई महावर की लकीरें उसे ऐसी जान पड़ रही हैं, मानो महादेवजी के क्रोध से जले हुए कामदेव के वृक्ष में नई-नई कोंपलें फूट पड़ी हों।[2] फिर तो, राजा की विह्वलता का क्या पूछना ?—

---

१. "शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा।
माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता॥" (३।८)
२. चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम्।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य॥" (३।११)

"नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम् ॥" (३।१२)

—"चमचमाते नखोंवाले और नवपल्लव की कान्तिवाले इस सुन्दरी के चरण, या तो फूलने की इच्छा करनेवाले इस अपुष्पित अशोक पर पड़ने योग्य हैं, या प्रेम में अपराध करनेवाले, सिर झुकाए हुए कान्त के ऊपर पड़ने योग्य हैं।"

अपने प्रति मालविका की आसक्ति से अवगत होने पर अग्निमित्र को असीम संतोष होता है कि उसका प्रणय उपेक्षित अथवा एकपक्षीय नहीं है; क्योंकि जहाँ एक मिलने के लिए व्याकुल हो और दूसरा मिलना ही न चाहता हो, वहाँ उनका मिलना न मिलना बराबर है;. लेकिन जहाँ दोनों मिलने के लिए अधीर हों तथा निराश बैठे हों, वहाँ प्राण-विसर्जन भी उचित एवं स्पृहणीय है—"परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीर-नाशोऽपि समानुरागयोः।"

बकुलावलिका के यह कहने पर कि 'हे सखी, यदि तुम्हारे चरणों की पूजा पाकर भी अशोक न फूले, तो इसमें अशोक ही निकम्मा समझा जायेगा,' राजा के भीतर के प्रणय-तार मानों आत्मसमर्पण की तीव्र कामना से सद्यः खनखना उठते हैं और राजा कह पड़ता है—

"अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा
नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न सम्पत्स्यसे,
वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥" (३।१७)

—"इस पतली 'कमरवाली सुन्दरी का नए कमल के समान जो कोमल चरण-नूपुरों की झनकार से गूँज रहा है, उससे आदर पाकर भी, यदि तुम में कलियाँ नहीं फूट आती हैं, तो मैं यह समझूँगा कि सुन्दरियों के पाद-प्रहार से फूल उठने की जो अभिलाषा निसर्गतः मस्त प्रेमियों के मन में होती है, वह तुम्हारे मन में व्यर्थ ही उत्पन्न हुई है"।

इरावती के शब्दों में, इस समय राजा का हृदय नवनीत के समान कोमल बन गया है। वह मालविका से पूछता है कि हे विलासिनी! तुम्हारा किसलय के समान मृदुल यह बायाँ पैर अशोक पर लगने से कहीं दुखने तो नहीं लगा है। बहुत दिनों से उसी अशोक के समान राजा में भी धीरज के फूल नहीं उग रहे हैं। अतएव, वह मालविका से विनय करता है कि 'तुम्हें छोड़कर और किसी से प्रेम न करनेवाले मुझ सेवक के मन की साध भी, अपने स्पर्श का अमृत पिलाकर, आज तुम पूरी कर दो'—

"धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः॥" (३।१६)

रानी इरावती जब इस प्रेम-नाट्य को अचानक प्रकट होकर बाधित कर देती है और फिर रूठकर चली जाती है, तो अग्निमित्र इससे प्रसन्न ही होता है क्योंकि उससे उसे अपने नव-प्रणय की साधना में कुछ सुविधा एवं सहयोग ही प्राप्त होगा।

इस अंक पर जर्मन पण्डित वाल्टर रुबेन ने यह टिप्पणी दी है—"इस अंक में राजा के विषय में दो बातें स्पष्टतया सामने आती हैं; यह कि वह नारियों के चरण-रंजन की कला में प्रवीण है और यह कि वह अपनी पत्नी को अपने ऊपर मेखला से प्रहार करने से ठीक समय पर रोक देता है। किन्तु रघुवंश के अन्तिम सर्ग में कालिदास ने यह वर्णन किया है कि अग्निवर्ण कभी-कभी अपनी प्रियतमाओं के चरणों में महावर लगाने स्वयं बैठता था, किन्तु कामोद्रेक के कारण वह ऐसा मुग्ध हो जाता था कि वह भली-भाँति महावर नहीं लगा पाता था। कभी-कभी वह कामिनियों को धोखा देता था और तब वे उसे अपनी करधनी से बाँध देती थीं। अन्य असमानताओं के बावजूद, अग्निमित्र अग्निवर्ण से यत्किंचित् साम्य रखता है। दूसरी ओर पुरूरवा की रानी (औशीनरी) की तुलना में, मदिरा-पान से उन्मत्त इरावती पूर्णतः आत्म-संयम-विहीन आचरण करती है और एक तरह से, वह ईर्ष्यालु उर्वशी से तुलित की जा सकती है। जो भी हो, कालिदास ने विदिशा के शुंग राजमहल के जीवन को अत्यन्त उच्छृङ्खल चित्रित किया है। केवल वह रूपसी नवयुवती मालविका अपनी लज्जा-विभूषित पवित्रता से हमें आकृष्ट करती है, और यह बात आसानी से समझ में नहीं आती कि वह इस दुर्बल राजा को क्योंकर प्यार करती थी। संभवतः वह बहुत सुन्दर रहा होगा।"[1]

चौथे अंक में मालविका तथा बकुलावलिका के भू-गृह की गुहा में बन्दी बनाए जाने तथा विदूषक की चतुराई से उनके मुक्त होने की घटना का चित्रण हुआ है। रानी इरावती के कहने पर देवी धारिणी ने उन दोनों को ऐसे पाताल-वास में डाल दिया है, जहाँ सूर्य की किरणें भी प्रवेश नहीं कर पाती हैं। माधविका को उस बन्दी-गृह की निरीक्षिका बनाया गया है और उसे यह आज्ञा दी गई है कि जबतक उसे महारानी की सर्प-मुद्रांकित अँगूठी न दिखाई जाय, तब तक वह दोनों बन्दियों को

---

१. Walter Ruben : 'Kalidasa' पृ० ८२,

मुक्त न करे। विदूषक को इस घटना का पता लग जाता है और वह मालविका एवं बकुलावलिका की मुक्ति के लिए एक उपाय रचता है। वह यह बहाना बनाता है कि रानी धारिणी को भेंट करने के लिए कुछ फूल लाने के हेतु, वह प्रमदवन में गया था जहाँ उसे साँपने काट लिया है। धारिणी के सम्मुख वह अतीव व्यग्रता का नाट्य करता है तथा वैद्य ध्रुवसिद्धि के पास उसे उपचारार्थ भेज दिया जाता है। प्रतिहारी जयसेना इस अभिनय में गुप्तरूप से मिली हुई है। वह रानी से कहती है कि ध्रुवसिद्धि ने गौतम के स्वास्थ्य के लाभ के लिए नाग-मुद्रा से जड़ी हुई कोई वस्तु माँगी है। रानी अपनी सर्प-मुद्रांकित अंगूठी जयसेना को दे देती है। उसे लेकर, गौतम माधविका के पास जाता है और यह बहाना बनाकर कि रानी धारिणी ने सभी बन्दियों की तत्काल मुक्ति का आदेश दिया है क्योंकि ज्योतिषियों के कथनानुसार राजा के ग्रह बिगड़े हुए हैं जिनके शमनार्थ बन्दियों की विमुक्ति आवश्यक है, वह मालविका और बकुलावलिका को पाताल-गृह से छुड़ा लेता है। तब प्रेमी-प्रेमिका-मिलन का चिराकांक्षित संयोग सम्पन्न होता है। किन्तु इसी बीच इरावती और निपुणिका, विदूषक गौतम के सर्पदंश की बात सुनकर, उसे देखने के लिए आती हैं और उन्हें सही वस्तुस्थिति का पता लग जाता है। मालविका के प्रति राजा के प्रेमाचार को देखकर, इरावती रुष्ट हो जाती है। ठीक इसी समय जयसेना यह संवाद लाती है कि एक पीले बन्दर को देखकर कुमारी वसुलक्ष्मी अत्यधिक भयभीत हो गई है। इस पर राजा, इरावती, मालविका तथा बकुलावलिका आदि सभी घबड़ाए हुए वहीं चले जाते हैं।

चौथा अंक कथानक को अग्रसर करने की दिशा में विशेष महत्त्व रखता है। एक ओर नवीन प्रणय को बाधित करने के लिए जो प्रच्छन्न प्रयत्न प्रारम्भ से ही चल रहा था, वह चरम बिन्दु को प्राप्त होता दिखाई पड़ा है—प्रेयसी अपनी सखी के साथ पाताल-गृह में बन्दिनी बना दी गई है। दूसरी ओर, उसकी मुक्ति के लिए अत्यन्त कपट-कौशल से पूर्ण योजना भी कार्यान्वित की गई है जो प्रणय-सिद्धि की दिशा में सफल प्रयत्नसिद्ध होती है। इस प्रकार नाट्यवस्तु का संघर्ष, जिसका आभास अत्यन्त निपुणता-पूर्वक पहले अंक में ही मिल गया है, इस अंक में चरम बिन्दु को प्राप्त हो जाता है। यतः प्रणयि-युगल को परिणय-ग्रन्थि में आबद्ध करना ही नाटककार का अन्तिम उद्देश्य है, अतः इसी अंक में उसने प्रणयसिद्धि के सबसे बड़े विघ्न का निरसन भी चित्रित कर दिया है। विदूषक का कपट-चातुर्य अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादित हुआ है। ज्योतिषियों की ग्रह-विकार वाली बात की उद्भावना उसके प्रत्युत्पन्नमतित्व पर मनोरंजक प्रकाश डालती है। नाटककार की सबसे सुन्दर सूझ, कुमारी वसुलक्ष्मी के पीले बन्दर से भयग्रस्त होने की बात का

समावेश है। वस्तुतः अग्निमित्र मालविका के प्रति गुप्त रूप से प्रेम प्रदर्शन करते हुए यह दूसरी बार रानी इरावती द्वारा पकड़ा गया है।[१] अब कोई विश्वसनीय बहाना उसकी अपराधिनी बुद्धि में नहीं आ सकता था। अतः उसकी मान-रक्षा के निमित्त उसे उस विषम परिस्थिति से अविलम्ब निकालना नाटककार को इष्ट था। और, बन्दर वाली बात की उद्भावना से वह उसकी पूर्ति में कृतकाम हो गया है। नाग-मुद्रांकित अंगुलीयक का उल्लेख प्रथम अंक में ही हो गया था; अतः इस अंक में उसके उपयोग से भावक को कलात्मक तृप्ति मिलती है। विदूषक शिला-तल के ऊपर हाट में पड़े हुए साँड़ के समान बैठे, नींद ले रहा है और स्वप्न में 'हे देवी मालविके।' कहकर, बड़बड़ा रहा है। कुछ विद्वान् इसे थोड़ा अस्वाभाविक बताते हैं यद्यपि भास ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' में भी इसी प्रकार का एक प्रसंग रखा है। लेकिन, यह बड़बड़ाना अस्वाभाविक नहीं समझा जाना चाहिये क्योंकि चित्त को सतत मथनेवाला प्रसंग कभी-कभी ऐसे ही ढंग से अभिव्यक्त हुआ करता है। इस बड़बड़ाने की एक अपर नाटकीय आवश्यकता भी है। विदूषक के कपटाचरण पर निरन्तर पर्दा डालना भी नाटककार को अभीष्ट नहीं है क्योंकि वह कोई दुःखान्तकी रचने तो बैठा नहीं है। प्रणय-व्यापार में छल-छद्म तथा उसका निरावरण दोनों सुखद एवं स्पृहणीय हैं। इस दृष्टि से विदूषक की बड़बड़ाहट द्वारा उसकी करतूतों पर प्रकाश डालने का नाटकीय उपक्रम उचित एवं संगतसिद्ध होता है।

यद्यपि यह अंक कथानक की दृष्टि से अत्यन्त क्रिया-पूर्ण (Full of action) है, तथापि राजा के अनुराग की वर्धमानता की भी इसमें सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। वास्तव में नाटककार को इस अंक में नाट्य वस्तु के रागात्मक पटल के उन्मुक्त चित्रण का यथेष्ट अवसर प्राप्त नहीं था। इसी कारण इसमें प्रेमाभिव्यक्ति अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सर्वथा समीचीन हुई है। राजा की निम्न लिखित उक्ति में प्रणय की अधीरता सुन्दर ढंग से प्रकट हो रही है—

"तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः
सम्प्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्
कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य॥ (४।१)

—"प्यारी के सम्बन्ध की बातों से बढ़ी हुई आशा ही जिसकी जड़ है, उसे देखने

१. पहली बार तृतीय अंकमें झूला झूलने के लिए जब वह प्रमद वन में गई थी।

से जगा हुआ प्रेम ही जिसके पत्ते हैं और उसके हाथ के स्पर्श से शरीर में उठे रोमांच ही जिसके फूल हैं, वह प्रेम का वृक्ष ही मुझे उसका मधुर फल भी चखावे।'

अग्निमित्र-मालविका-मिलन तीसरे अंक में ही एक बार हो चुका है। अतएव, चौथे अंक में पूर्वराग की गहराई की व्यंजना ही कवि को अभीष्ट है। 'मनसिजतरु मुझे उसके मीठे फल का रसास्वादयिता भी बनाए'—इस अभिलाषा में पूर्वराग की प्राथमिक व्याकुलता नहीं, अपितु उसका आश्वस्तरूप व्यंजित हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि रंगमहल के षड्यंत्रों के कारण, अग्निमित्र सर्वथा हताश नहीं हुआ है क्योंकि उसे अपने प्रणय-सचिव गौतम पर पूरा भरोसा है। मालविका एवं बकुलावलिका के बन्दी बनाए जाने का समाचार सुनकर, राजा कातर स्वरों में विदूषक से कहता है—

"मधुरस्वरा परभृता भ्रमरी च विबुद्धचूतसंगिन्यौ।
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते॥" (४।२)

'अप्यत्र कस्यचिदुपक्रमस्य गतिः स्यात्।'

—"यह बड़े कष्ट की बात है कि मंजरित रसाल पर रहने वाली और मीठी बोल बोलने वाली कोयल तथा भ्रमरी, दोनों को प्रचण्ड पुरवैया हवा और असमय की वर्षा ने पेड़ के खोखले में बन्द कर दिया है"। 'कहो, अब उनके छुड़ाने का कोई उपाय संभव है या नहीं?'

किन्तु, इस कातरता में निराशा अथवा पराजय की भावना मुखरित नहीं है। वस्तुतः सम्पूर्ण नाटक में नैराश्य की गहरी छाया कहीं भी लक्षित नहीं होती। यही कारण है कि प्रणय—विह्वलता के वैसे हृदयवेधक चित्र भी इसमें उपलब्ध नहीं हैं जो कालिदास की कृतियों में प्रायः चित्रित हुए हैं। विदूषक यहाँ यदि प्रणयी को निराशा एवं विषाद के गहन गह्वर में डूब जाने से बचा पाया है, तो दूसरी ओर वह प्रणय-पीड़ा की मर्मद्रावक विह्वलता के व्यक्त होने में भी बाधक हुआ है।

अग्निमित्र मालविका-प्राप्ति के लिए किए गए उपाय की एकान्तसाध्यता को समझते हुए भी, कातर एवं सन्दिग्ध बना हुआ है। वास्तव में, यह उसकी प्रकृति का आन्तरिक गुण है। ऐसा शंकालु व्यक्ति अधीर होते हुए भी, प्रणय-विह्वल नहीं हो सका है—यह कुछ विचित्र-सी बात है। वस्तुतः अग्निमित्र उस कोटि का प्रेमी है ही नहीं। मालविका से मिलने पर वह यह प्रार्थना करता है कि हे सुन्दरी! मेरे गले लगने से डरो नहीं। जैसे माधवीलता आम से आकर लिपट जाती है, वैसे ही आओ, तुम भी मुझ से लिपट जाओ—"परिग्रहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलता-चरितं मयि।" किन्तु, मालविका महारानी के भय से ग्रस्त है और राजा के यह कहने पर कि तुम डरो मत, यह उपालम्भ देती है—"जी हाँ, आज जो नहीं डर रहे

हैं, उन महाराज का साहस उस दिन देवी इरावती के आने पर देखा जा चुका है।"
यद्यपि अग्निमित्र 'दाक्षिण्य' (एक साथ अनेक स्त्रियों से प्रेम करना) को नायकों का कुलव्रत बताता हुआ, अपने प्राणों को मालविका की प्राप्ति-आशा में बँधे होने का निवेदन करता है, तथापि यह स्पष्ट है कि उसके प्रणय में प्राणों का पिघलाव नहीं आ पाया है। वस्तुतः उसकी वह अवस्था भी नहीं है जो प्रेम के ज्वार से अभिभूत हो जाय। विदूषक के शब्दों में, वह रत्नों की छूछी पिटारी के समान व्यर्थ ही अपने यौवन का गर्व करता है—भले ही, उसे आयतलोचनाओं की नेत्रलोलाओं का गूढ़ ज्ञान हो।

मालविका के चरित्र पर उसके उपर्युक्त उपालम्भ से अवश्य सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कारा से मुक्त होने वाली परिचारिका अपने स्वामी एवं अधिपति से एक ऐसी सचाई दो-टूक निवेदन करती है जो उसे अन्यथा राज-प्रासाद में नहीं सुनाई पड़ती। अत्यन्त मर्मस्पृक् ईमानदारी से भरा हुआ यह विश्वास, जो मालविका द्वारा प्रदर्शित किया गया है, प्रस्तुत दृश्य को नाटक में सर्वाधिक सुन्दर बना सका है। कालिदास ने शकुन्तला को भी ऐसी वाणी नहीं प्रदान की।[1]

अग्निमित्र मालविका के 'पवित्र प्रतिरोध' की उपेक्षा कर, अपने प्रेमाचरण में जो बहुत आगे बढ़ जाता है, वह भी कदाचित् सुसंस्कृत भावुकों को किंचित् खटकेगा ही। देखिए, अग्निमित्र क्या करता है—

"हस्तं कम्पयते रुणद्धि रशनाव्यापारलोलांगुलीः
स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात्।
पातुं पक्ष्मलनेत्रमुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे॥ (४।१५)

—"इसके हाथ काँप रहे हैं। चंचल अंगुलियों से यह अपनी खुली करधनी पकड़े जा रही है। जब मैं बलपूर्वक गले लगाना चाहता हूँ, तब वह दोनों हाथों से अपने स्तनों को ढँक लेती है और जब सुन्दर भौंहों से युक्त इसका मुख मैं चूमना चाहता हूँ, तब वह अपना मुँह फेर लेती है। इस हाथा-पाई में मुझे कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। तथापि, मैं वैसे सुख का अनुभव कर रहा हूँ, जैसे मेरी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी होती जा रही हों।

अग्निमित्र का व्यवहार अनुमोदनीय नहीं कहा जा सकता। "कालिदास ने न तो दुष्यन्त को और न शिव को शकुन्तला अथवा पार्वती के साथ ऐसा कठोर आचरण

---

१. वाल्टर रुबेन : 'Kalidasa' पृ० ८३,

करने दिया है। पुरूरवा ने भी उर्वशी के प्रति ऐसा व्यवहार नहीं किया है यद्यपि वह सुन्दरी अप्सरा उसके पास स्वयं आई थी। जिस ढंग से अग्निमित्र ने उस निरवलंब बालिका की, अपने उरस्यों एवं मेखला को बचाने के निमित्त की गई चेष्टाओं पर विजय प्राप्त की है, वह अभद्र एवं अशोभन है। एक निरंकुश अत्याचारी ही अपनी अनुपस्थित पत्नी की सुन्दरी दासी के साथ ऐसा व्यवहार कर सकता था। प्रेमियों के इस दृश्य में, रंगमंच के आधे भाग को भरने वाले ऐसे विलम्बायमान (long drawn-out) मूक प्रदर्शन में एक ओर से आक्रमण और दूसरी ओर से प्रतिरक्षा का अनुमान आसानी से किया जा सकता है। प्रणय-व्यसन में कुशल व्यक्ति ही अग्निमित्र के इस उत्साह को दाद दे सकते हैं।"[1]

पंचम अंक में, अग्निमित्र और मालविका का बाधित प्रणय उनके सविधि परिणय में पर्यवसित हो गया है। इसमें उपलब्ध नई सूचनाएँ ये हैं—(१) विदर्भ का राजा यज्ञसेन अग्निमित्र की विजयिनी वाहिनी के द्वारा परास्त कर दिया गया है और उसके चचेरे भाई माधवसेन को मुक्त कर लिया गया है। सेना के नायक वीरसेन ने बहुत से अमूल्य रत्न, हाथी-घोड़े तथा अच्छे-अच्छे कलाकार सेवक राजा अग्निमित्र को भेंट-रूप में प्रेषित किए हैं। उनमें कला जानने वाली दो स्त्रियाँ भी हैं। (२) अशोक के दोहद के लिए मालविका ने जो पाद-प्रहार किया था, वह सफल हो गया है और उसमें मनोहर कुसुम निकल आए हैं। रानी धारिणी ने उस उपलक्ष्य में अशोक की पूजा की व्यवस्था की है जिसमें राजा भी निमन्त्रित किए गये हैं। रानी के आदेश से भगवती कौशिकी द्वारा मालविका का विवाह-शृंगार किया गया है। पूर्व निश्चय के अनुसार अशोक के फूलने के उल्लास में रानी अग्निमित्र से मालविका का विवाह कर देना चाहती है। (३) वीरसेन द्वारा प्रेषित दोनों दासियाँ राजप्रासाद में आती हैं। मालविका को देखकर वे उसे पहचान जाती हैं और राजा, रानी इत्यादि सभी के सम्मुख उसके राजकुमारी होने का तथ्य खोलती हैं। भाग्य-विपर्यय की शेष कहानी भगवती कौशिकी द्वारा पूरी की जाती है—'माधवसेन के मन्त्री थे, मेरे भाई सुमति जी। सीमान्त वाले उपद्रव में माधवसेन के पकड़ लिए जाने पर, सुमति मुझे और मालविका को लेकर विदिशा की ओर आते समय व्यापारियों के एक समूह में मिल गए। मार्ग में जंगल मिला और वहाँ एक दस्यु-दल ने उनपर आक्रमण कर दिया। उस समय, मेरे भाई ने डाकुओं के साथ संघर्ष करते हुए अपनी इह-लीला संवरण की। वीरसेन ने मालविका का उद्धार कर, उसे दासी-रूप में रानी के पास भेज दिया और मैंने भाई का देह-संस्कार कर काषाय धारण किया

१. वही, पृ० ८३

तथा संन्यासिनी बन गई। मालविका के बाल्यकाल में एक साधु ने बताया था कि इसे एक वर्ष तक दासी बनकर रहना पड़ेगा जिसके बाद इसका विवाह योग्य वर से हो जायेगा। यह देखकर कि वह भविष्यवाणी उचित ढंग से पूरी हो रही है, मैंने अद्यापि मालविका का रहस्य उद्घाटित नहीं किया।' (४) पुष्यमित्र ने राजकुमार वसुमित्र को अपने अश्वमेधयज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए सेनापति बनाया था। तभी से राजकुमार के दीर्घायुष्य के निमित्त रानी द्वारा चार सौ स्वर्णमुद्राओं के बराबर धन योग्य ब्राह्मणों को दान-रूप में दिये जाने की व्यवस्था की गई है। पुष्यमित्र ने एक पत्र इस आशय का भेजा है कि सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर चरते हुए अश्वमेध के घोड़े को एक यवन सैनिक ने पकड़ लिया था जिस पर दोनों सेनाओं में घोर संग्राम हुआ और कुमार वसुमित्र ने बड़े विक्रम से शत्रुओं को मार भगाया तथा घोड़े को फिर लौटा लिया। इस विजय के उपलक्ष्य में पुष्यमित्र द्वारा एक यज्ञ का आयोजन किया जा रहा है जिसमें सम्मिलित होने के लिए अग्निमित्र को पत्नियों-सहित निमन्त्रित किया गया है।

जैसे पाठक वा प्रेक्षक को इस अंक में कई नवीन सूचनाएँ मिलती हैं, वैसे ही अग्निमित्र और धारिणी को भी। धारिणी ने यह निश्चय किया था कि अशोक के फूलने पर मालविका राजा से ब्याह दी जायेगी। यह जानकर कि वह राजकुमारी है, दासी नहीं, उसकी उलझन भी समाप्त हो जाती है। वस्तुतः उसे अत्यन्त कष्ट होता है कि उसने सचमुच चन्दन से चरणपादुका का काम लिया है—"कथं राजदारिकेयम्। चंदनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्।"

कुमार वसुमित्र की विजय का संवाद सुनकर तो धारिणी उल्लास से अभिभूत हो जाती है और छोटी रानी इरावती की सहमति प्राप्तकर, वह शृंगार-सज्जित मालविका को वधू-रूप में राजा को सौंप देती है—"इदमार्यपुत्रः प्रियनिवेदनानुरूपं पारितोषिकं प्रतीच्छत्विति।"

(हे आर्यपुत्र! कुमार की विजय के प्रिय समाचार के अनुरूप यह प्यारा पुरस्कार तो लीजिए।) राजा सभी नए दूल्हों के समान पहले लजाते हैं। फिर परिव्राजिका कौशिकी के इस समर्थन से कि खान से निकली हुई सबसे श्रेष्ठ मणिको भी सोने में जड़ने की आवश्यकता पड़ती है —

"अप्याकरसमुत्पन्नो रत्नजातिपुरस्कृतः।
जातरूपेण कल्याणिमणिः संयोगमर्हति॥" (५।१८)

वह चिरकांक्षित पारितोषिक स्वीकार करता है। कालिदास की अन्य प्रेमी-प्रेमिकाएँ भी आधिदैविक कारणों से विपद्ग्रस्त हुई हैं, किन्तु मालविका की

विपत्ति में एक करुण वैशिष्ट्य है। शकुन्तला और उर्वशी अपनी अत्यधिक प्रेमासक्ति के कारण शाप की भागिनी बनी हैं। मेघदूत का यक्ष कर्त्तव्य से स्खलित होने के कारण कान्ताविश्लेष के शाप से अभिग्रस्त हुआ है। लेकिन, मालविका के दुर्भाग्य के लिए उसके ऊपर नाटककार ने कोई अपराध आरोपित नहीं किया है। राजकुमारी होकर भी, वह "विधिनियोग" से दासी बन गई और भविष्य-वाणी की अवधि समाप्त होने पर ही, उसके नक्षत्र चमकते हैं। देवी धारिणी स्वतः मालविका को राजा से ब्याह देती है तथा एक और सपत्नी अपने हर्म्य में स्वीकार करती है।

यह भी कालिदास की सामान्य विचार-सरणि के मेल में बैठता है। परिव्राजिका की निम्नलिखित उक्ति ध्यातव्य है—

"प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्॥" (५।१)

—'पति को प्यार करनेवाली साध्वी स्त्रियाँ सौत लाकर भी पति की सेवा करती हैं, जिस प्रकार समुद्र में जानेवाली नदियाँ अपने साथ-साथ दूसरी नदियों का पानी भी समुद्र में पहुँचा देती हैं।'

मालविका दासी-रूप में, नाटकारम्भ में, हमारे सम्मुख उपस्थित हुई है। वह वस्तुतः कौन है, इसकी जिज्ञासा तो सामाजिक भूल ही गया है क्योंकि प्रणय-चक्र की सफलता-विफलता पर ही उसकी मनोदृष्टि अँटकी हुई है। लेकिन, नाटककार को कदाचित् यह अभीष्ट नहीं है कि राजा की प्रणय-ग्रन्थि परिचारिका के साथ जोड़ी जाय। एक बात और भी उल्लेख्य है, यह कि यद्यपि विदूषक के हाथ में कथानक का सूत्र-संचालन अर्पित हो गया है, तथापि प्रणय-परिपाक का, अर्थात् मालविका एवं अग्निमित्र के परिणय का, सम्पूर्ण श्रेय उसे प्रदान करना नाटककार को अभीप्सित नहीं है। इन कारणों से, जैसे जान-बूझकर, उसने मालविका के राजकुमारी होने का रहस्य रंगमंच पर उद्घाटित कराया है। धारिणी का यह विचार तो था ही कि अशोक-दोहद के उपलक्ष्य में मालविका राजा को समर्पित कर दी जाय। अनन्तर, यह विदित होने पर कि वह दासी नहीं, राजकुमारी है, धारिणी का विचार निश्चय में बदल जाता है और अन्ततः अपने पुत्र की विजय-वार्त्ता सुनकर, वह सर्वात्मभाव से एक और सपत्नी अङ्गीकार कर लेती है। विदूषक 'कामतन्त्र-सचिव' है अवश्य, किन्तु उसे राजा को एक और रानी दिलाने जैसा महत्त्व का गौरव नाटककार प्रदान करना नहीं चाहता था। इस प्रकार मालविका के रहस्योद्घाटन के पृष्ठ में सुचिन्तित आधार हैं, और पाठक वा प्रेक्षक की दृष्टि से

बहुत आवश्यक न होते हुए भी, इसी कारण उसने विदर्भ की दासियोंके द्वारा वास्तविकता का ज्ञापन करा दिया है। प्रथम अंक में यह सूचना अवश्य मिली थी कि सीमान्त के "ग्रहण-विप्लव" में माधवसेन की बहन कहीं खो गई है, लेकिन वह मालविका ही है, इसका परिज्ञान हमें नहीं है। यज्ञसेन ने यह वचन भी दिया था कि उसके अन्वेषण का उद्योग किया जायेगा। यह जिज्ञासा जगा तो दी गई थी, किन्तु प्रणय की अभिसन्धियों एवं दुरभिसन्धियों में पाठक उसे बिलकुल भूलता-सा प्रतीत होता है। नाटककार ने उस जिज्ञासा का अपनी ओर से अन्तिम अंक में समाधान प्रस्तुत कर दिया है। अग्निमित्र राजकार्य में भी अभिरुचि रखता है; इसकी व्यंजना, प्रथमांक में विदर्भराज के दमनार्थ वाहिनी भेजे जाने का उल्लेखकर उसने की है। अमात्य के इस शास्त्रीय वचन का, कि जो शत्रु अभी गद्दी पर बैठा हो और प्रजा में भलीभाँति अपनी जड़ न जमा सका हो, वह नये रोपे दुर्बल पौधे के समान सहज ही उखाड़ा जा सकता है, अग्निमित्र ने समर्थन किया था और फिर तदनन्तर उसका नरेन्द्र-रूप, शंकाग्रस्त प्रेमी-रूप की छाया में प्रायः पर्याच्छन्न ही रहा है। पहले अंक में ही दोनों हो नाट्याचार्यों द्वारा अग्निमित्र के उद्दीप्त तेज एवं दुर्द्धर्ष राजमहिमा का कथन करवा कर[1] नाटककार ने राजा की शासकीय गरिमा को बीच वाले अंकों में प्रायः भुलवा दिया है। अन्तिम अंक में मालविका-विषयक रहस्य का उन्मीलन हुआ है; यह भी जान पड़ा है कि उसको गर्वस्फीत वाहिनी ने विदर्भ-राज का मद-मर्दन किया है और माधवसेन पुनः स्वतंत्र राजकुमार बन गया है। वैतालिकों की दृष्टि में तो विदर्भ में दो ही प्रधान घटनाएँ घटित हुई हैं—एक तो अग्निमित्र का अपनी सेना भेजकर विदर्भराज को परास्त करना और दूसरी भगवान्

---

१. (क) "न च परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः॥" (१।११)

—'परिचित तथा सुन्दर होने पर भी मुझे इनके पास जाने में बड़ी हिचक हो रही है। समुद्र के समान ज्यों-के-त्यों रहते हुए भी ये मेरी आँखों को पल-पल में नए-नए से दिखाई पड़ रहे हैं।'

(ख) "द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन्।
तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि॥" (१।१२)

—'यद्यपि द्वारपाल ने मुझे यहाँ तक पहुँचा दिया है और मैं इनके सिंहासन के पास रहनेवाले कंचुकी के साथ ही भीतर भी आया हूँ, तथापि इनके तेज से मेरी आँखें इतनी चौंधिया गई हैं कि मानो विना रोके ही मैं बढ़ने से रोक दिया गया हूँ।'

कृष्णद्वारा रुक्मिणी का अपनयन। अग्निमित्र अधिशासक राजा की तरह यह इच्छा व्यक्त करता है कि यज्ञसेन एवं माधवसेन दोनों वरदा नदी के उत्तर एवं दक्षिण तटों पर अपने-अपने राज्य स्थापित कर शासन करें जैसे सूर्य और चन्द्रमा रात और दिन को आपस में बाँट कर अलग-अलग चमकते हैं[१]। अतएव, अग्निमित्र का नरेन्द्ररूप, जो प्रथमांक में संकेतित हुआ था, अन्तिम अंक में एक बार पूर्ण स्पष्टता से प्रकट हो गया है। इस प्रकार, मालविका के कुल-शील की विज्ञप्ति, विदर्भ-विजय, अग्निमित्र के नरपति-रूप की स्थापना—इन सभी बिन्दुओं को अन्तिम अंक में सुन्दर ढङ्ग से, एक साथ समंजसित एवं अनुस्यूत कर दिया गया है। प्रारम्भिक अंकों में विदूषक को जो महत्त्व मिल गया था, वह अन्तिम अंक के प्रसन्न-प्रवाह में सर्वथा विलीन हो गया है।

अन्य राजाओं की तुलना में अग्निमित्र फिर भी हतप्रभ बन गया है। उसका शौर्यपूर्ण स्वरूप कहीं भी व्यक्त नहीं होने पाया है। राजपद पर अधिष्ठित होने के नाते ही नाट्याचार्यों तथा वैतालिकों, अमात्य इत्यादि द्वारा उसके गौरव की विज्ञप्ति कराई गई है। कहीं भी सविशेष रूप में, वह इस स्तुति या आराधना का अधिकारी सिद्ध हुआ हो—ऐसी बात नहीं। अन्तिम अंक में नाटककार ने उसके चरित्र को संभालने का प्रयत्न किया है, युवतियों से प्रेम की भीख माँगनेवाले उसके स्वरूप के साथ समझौता करने की चेष्टा की है।[२] विदर्भविजय का समाचार सुनकर उसकी मिश्रित प्रतिक्रिया यों व्यक्त हुई है—

"कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसंप्रयोगां श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं बलैश्च।
धाराभिरातपइवाभिहतं सरोजं दुःखायते मम मनः सुखमश्नुते च॥" (५।२)

—'एक ओर जब मैं अपनी प्यारी की बात सोचता हूँ और दूसरी ओर जब यह सुनता हूँ कि मेरी सेना ने विदर्भ-राजा को हरा दिया है, तब मेरा मन उस कमल के समान एक साथ दुखी और सुखी दोनों होता है जिसपर कड़ी धूप भी पड़ रही हो और साथ-साथ पानी भी बरस रहा हो।' यह शुद्ध समझौता है। विवाह के शृंगार से सजी मालविका को देखकर उसकी मनस्तंत्री के तार खनखना

---

१. "तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टानुत्तरदक्षिणे।
नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव॥" (५।१३)
"द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे परस्परोपग्रहनिर्विकारौ॥" (५।१४)

२. ५।१७

उठते हैं।[1] और मन में उसे बड़ी व्यथा होती है कि चकवा-चकई की भाँति इतने पास बैठे हुए भी, रात्रि बनी हुई धारिणी उन दोनों को मिलने नहीं दे रही है।[2] धारिणी का यह विनोदात्मक कथन "आर्यपुत्र ! लीजिए, यह आपके लिए अशोक का ऐसा प्रेम-मिलन का गृह बनवा दिया है जहाँ आप तरुणियों से अकेले में मिल सकते हैं;[3]" वस्तुतः अग्निमित्र के चरित्र की कुञ्जी समझा जा सकता है।

नाटक में सर्वाधिक खटकनेवाली बात यह है कि अग्निमित्र, जो ऐसे राजकुमार का पिता है जो यवनों की सेना से यज्ञ-तुरंग की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है, बिना संकोच के, दासी के साथ प्रणय-लीला चलाता है—यह तो अन्त में ही ज्ञात हो सका है कि मालविका दासी नहीं, राजकुमारी है। अवस्थानुकूल उसमें गांभीर्य नहीं आ सका है।[4] पितृत्व भी उसके प्रेम-व्यसन को नियन्त्रित नहीं कर सका है। अन्य दोनों नाटकों के नायक तरुणियों के प्रणय-पाश में आबद्ध होते हैं, प्रत्युत अप्रत्याशित भाव से वियोग-विह्वल भी हो उठे हैं। लेकिन, वे दोनों तब तक पिता नहीं बन पाये हैं और पितृत्व-लाभ की कामना से अनुप्राणित भी हो गए हैं। अतएव, उनका प्रणयोपचार खटकता नहीं। अग्निमित्र बिलकुल विपरीत कोटि का नायक है—'देवीत्रासेन शंकितः' है, चुपके-चुपके प्रेम-मीन का शिकार करता है। प्रेयसी के साथ लाव-फुसलाव की लुभावनी बातें करते समय पकड़ लिए जाने पर, भीगी बिल्ली बन जाता है और गौतम की सहायता के अभाव में पूर्ण पंगु एवं अशक्य। पुरूरवा अथवा दुष्यन्त की तुलना में वह गहरा प्रेमी भी नहीं है, प्रेम-व्यवसायी भले हो। मालविका का यथार्थ ज्ञान होने पर वह भी धारिणी की नाईं यही कहता है कि रेशमी वस्त्र से स्नानोपरान्त देह पोंछने का काम लेना अनुचित है। पुरानी विपत्ति के वर्णन से भयकम्पित मालविका को राजा की ओर से अधिक आर्द्र सहृदयता की अपेक्षा थी। धारिणी ने यह कहकर कि चन्दन से खड़ाऊँ का काम लिया गया है, भगवती कौशिकी को सचाई छिपाने के लिए जो उपालम्भ दिया है, उसमें वस्तुतः अग्निमित्र के उदासीन कथन की अपेक्षा अधिक सहृदयता भरी हुई है--विशेषतः जब हम यह स्मरण करते हैं कि धारिणी की मालविका के प्रति नितान्त औचित्यपूर्ण ईर्ष्या अभी-अभी निरस्त हुई है। अग्निमित्र नारियों के चरणरंजन की कला में जैसे निपुण है, वैसे ही उनके चरणों का ग्रहण करना भी

---

१. ५।७

२. ५।६

३. "एष तेऽस्माभिस्तरुणीजनसहायस्याशोकः संकेतगृहं कल्पितः।"

४. विदूषक कहता है कि रत्नों की छूँछी पिटारी के समान आप व्यर्थ ही यौवनका गर्व कर रहे हैं—"मुषेदानीं मञ्जूषेव रत्नभाण्डं यौवनगर्वं वहसि।" (अंक४)

जानता है।[1] प्रमदाओं के स्वभाव में उसकी सच्ची पैठ है जो उसकी निम्नोद्धृत मीमांसा से स्पष्ट होता है—

"कार्त्स्न्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम्।
न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रवृत्तीनि विलोचनानि ॥" (४ । ८)

—'प्रियजनों से मिलने की उतावली होने पर भी स्त्रियाँ स्वभाव से लजीली होती हैं। वे जिस पुरुष से पहले-पहल मिलती हैं, उसे वे जी भर कर देख लेना तो चाहती हैं, पर उनकी बड़ी-बड़ी आँखें अपने प्रिय की ओर सम्यक ढंग से उठ नहीं पातीं।

अतः अग्निमित्र को रमणी-रमण का यथेष्ट अनुभव है, और इसी लिए जब वह धारिणीद्वारा मालविका-रूपी पारितोषिक प्रदत्त किये जाने पर व्रीड़ा का नाट्य करता है, तो पाठक या प्रेक्षक को उसमें कुछ अनैसर्गिक छद्माभास का आभास मिलता है। विदूषक के इस कथन में कि 'देवी ! ये तो लोक-व्यवहार दिखला रहे हैं, सभी नए दूल्हे ऐसे समय लजाया करते हैं"[2], व्यंग्य की ध्वनि भी स्पष्ट सुनाई पड़ रही है।

श्रीरामस्वामी शास्त्री ने अग्निमित्र के चरित्र की परिशंसना की है। उनका कथन है कि अग्निमित्र समग्रभावेन शिष्ट एवं संस्कृत है; स्वजनों के 'चित्तरक्षण' की उसे निरन्तर चिन्ता बनी रहती है; जीवन एवं जगत् में उपलब्ध सौन्दर्य का वह अभिशंसक है; प्रेम के ही समान युद्ध में भी वह सफल है तथा महान् हिन्दू राजाओं के गुणों से संयुक्त है।[3] यह सही है कि जो भी अग्निमित्र के समक्ष प्रस्तुत होता है, वही उसके राजकीय गौरव से चकित एवं सम्भ्रमित हो जाता है; लेकिन यह कथन कि कालिदास ने अग्निमित्र को राजनीतिक एवं राष्ट्रीय जीवन की सुन्दर पीठिका प्रदान की है ('Thus Kalidas gives his king a fine setting of political and national life., P. 236) युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। वाल्टर रुबेन के मतानुसार नाटकान्त में अग्निमित्र 'Model husband' (आदर्श पति) के रूप में उपस्थित किया गया है, क्योंकि जब तक उसकी पत्नी धारिणी मालविका को उसे सौंप नहीं देती, तबतक वह शान्त भाव से प्रतीक्षा

---

१. तीसरे अंक में जब इरावती रशना (तागड़ी) लेकर उसपर प्रहार करने चलती है; तो वह उसके पैरों पर गिर पड़ता है—"इति पादयोः पतति"

२. "भवति, एष लोकव्यवहारः। सर्वो नववरो लज्जातुरो भवतीति।' (अंक ५)

३. K. S. Ramaswami : 'Kalidasa' पृ० २३५—३८।

करता है।[1] लेकिन हमारी सम्मति में, वह गुण अथवा तत्त्व अग्निमित्र के चरित्र का आन्तरिक अंग नहीं है।

मालविका अवश्य आकर्षक एवं सुकुमार स्वरूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत की गई है। नारियों के सबसे श्रेष्ठ आकर्षण लज्जा एवं सौशील्य की वह धनी है। उसके स्वभाव में पवित्रता, कोमलता एवं माधुर्य कूट-कूट कर भरे हैं। उसकी संवेदनायें तीव्र हैं और वह प्रकृत्या प्रेमस्निग्ध है। जब वह यह सुनती है कि उसका भाई माधवसेन राजा बना दिया जाता है, वह किसी सविशेष उल्लास का प्रदर्शन नहीं करती अपितु यही कहती है कि—'अरे! इतना ही बहुत समझो कि उनके प्राण बच गए।'[2] भाई राजा बनता है, इसका मूल्य उसके निकट नहीं है, वह इसे ही अपना सौभाग्य मानती है कि वह जीवित है।

तथापि, अन्य नायिकाओं की तुलना में मालविका की दीप्ति मन्द पड़ जाती है। वह रूपशालिनी एवं नृत्यकला में प्रवीण चित्रित की गई है। लेकिन, उसमें शकुन्तला का "अनाघ्रातकुसुम" वाला माधुर्य नहीं है और न है उसकी-सी प्रणय-वेदना। 'विधि-नियोग' से ताड़ित वह अवश्य है, किन्तु शकुन्तला की सी परीक्षा एवं यातना उसे कहाँ सहनी पड़ी है? उर्वशी के समान 'अस्यासर्गविधौ' वाली रूप-लक्ष्मी मालविका को प्राप्त नहीं है, यद्यपि वह "अव्याज सुन्दरी" तो है ही। नाट्य-कला में भी उतनी कुशल नहीं जितनी उर्वशी (क्योंकि वह इन्द्रपुरी की अप्सरा है)। यह मालूम होने पर कि राजा का मन उसके रूप-मधु में फँस गया है, (विदूषक ने उसे 'नयन-मधु' कहा है), वह बिना ननु-नच के उसकी पत्नी बनना स्वीकार कर लेती है। "इसी लिये वह कालिदास की दूसरी नायिका पार्वती अथवा शकुन्तला के समान धीर प्रकृति की नहीं देख पड़ती, तथा अज्ञातवास के कष्ट भोगते हुए, उसे अपने पूर्व-वैभव की स्मृति हो आई हो, ऐसा उसके भाषण से नहीं जान पड़ता। एक तरह से यह कुछ अस्वाभाविक है।"[3] अतएव, मालविका अन्य सजातीय नायिकाओं के साथ स्पर्धा नहीं कर सकती। उसकी विचित्र परिस्थिति इसके लिये कुछ उत्तरदायी हो सकती है, लेकिन हमारा अनुमान है कि प्रथम नाटकीय रचना होने के कारण, 'मालविकाग्निमित्र' की नायक-नायिका के रूप-शील की सृष्टि करने में तरुण नाटककार "समाधि-शिथिल" बन गया, कलात्मक सर्जन की अनन्य-सामान्य तन्मयता से वंचित रह गया।

---

१. Walter Ruben : 'Kalidasa' पृ० ८६।

२. 'एतत्तावद् बहुमन्तव्यं यज्जीवितसंशयान्मुक्तः'। (अंक ५)

३. वा० वि० मिराशी : 'कालिदास', पृ० १६१

विदूषक का महत्त्व नाटक में सबसे अधिक है। वस्तुतः वही सम्पूर्ण नाट्य-वस्तु का नियोजक एवं नियामक है। (यह भी कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक केवल विदूषक की चरित्र-सृष्टि के निमित्त ही लिखा गया।) कालिदास के नायकों में जैसे अग्निमित्र सबसे हीन है, वैसे ही उनके विदूषकों में गौतम सबसे चतुर, छल-कुशल एवं प्रतिभावान् है। शेक्सपियर के विदूषकों के समान उसमें चहकती बुद्धि अथवा विदग्धता नहीं है। लेकिन वह सूझ, सहजबुद्धि और विनोद का धनी है। गणदास तथा हरदत्त जैसे दो सुसंस्कृत नाट्याचार्यों को परस्पर लड़ा देना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि गौतम को मानव-स्वभाव का गहरा ज्ञान है। अन्य विदूषकों की भाँति वह भोजन-प्रेमी एवं निद्रालु है। दूसरे अंक में मालविका के अभिनय-प्रदर्शन के अनन्तर वह झटिति भोजन-पानी का सुन्दर प्रबन्ध कराने के लिये देवी धारिणी से आग्रह करता है तथा राजा से स्पष्ट कहता है कि मेरा पेट इस समय हलवाई की कड़ाही के समान अत्यंत जल रहा है—"भवताप्यहम्। इदं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यंतरो दह्यते।" (अं० २)। हाट में पड़े हुए साँड़ के समान समुद्र-घर के द्वार पर बैठे-बैठे सोते हुए, वह निपुणिका और इरावती द्वारा देखा गया है। इससे वह स्थूल शरीरवाला, भारी-भरकम देहवाला जान पड़ता है। तथापि, वह बुद्धिमान एवं प्रत्युत्पन्नमतित्व से पूर्ण है। वह अभिनय-कला में भी चतुर है और है राजा का 'कामतंत्र सचिव', यद्यपि वह यह शपथ खाता है कि उसे कामनीति का एक अक्षर भी नहीं आता। मानवीरूप एवं प्रकृति दोनों के सौन्दर्य के प्रति वह सतत सतर्क है। मालविका को वह 'नयन-मधु' कहता है और रूप में ही नहीं अपितु कला में भी उसे श्रेष्ठ ठहराता है। राजकीय उद्यान की वसंत-श्री की प्रशंसना वह राजा से यों करता है—

"अवधानेन दृष्टिं देहि। एतत्खलु भवन्तमिव विलोभयितुकामया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतीवेषलज्जापयितृकं वसंतकुसुमनेपथ्यं गृहीतम्।"

—'ध्यान से देखिये। इस प्रमदवन की लक्ष्मी ने आपको लुभाने के लिए ही युवतियों के साज-शृङ्गार को भी लजानेवाला वासन्ती सुमनों का अपना शृङ्गार कर लिया है।'

गौतम का सांसारिक अनुभव भी व्यापक है। जहाँ वह राजा को छल-छद्म की बातें सिखाता है, जहाँ यह उपदेश देता है कि चोरों और जारों को चाँदनी से बचना चाहिये ('अहो कुम्भीरकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका') वहीं राजा को बुद्धिमत्ता से भरी हुई यह सलाह भी देता है कि अन्तःपुर की रानियों के प्रेम का एकाएक अनादर करना भी उचित नहीं होगा। गौतम वह 'डायनेमो' है

जिससे सम्पूर्ण नाटक में सजीवता एवं आलोक का संचार होता है। प्रो० जागीरदार की निम्नोद्धृत टिप्पणी उसके महत्त्व पर सम्यक् प्रकाश डालती है—

'सहजबुद्धि से भरा हुआ यह ऐसा पात्र है जिसके द्वारा नाटक के सम्पूर्ण वातावरण में यथार्थ का रंग व्याप्त हो गया है। इस विदूषक के साहचर्य में नायक कदापि परम्परा के सनसनीदार 'टाइप' में बँध नहीं सकता था। निरीह मुसकान भरे शिशु के समान, वह प्रत्येक खिन्न अथवा गम्भीर आकृतिवाले व्यक्ति को मुसकाने के लिए अनुप्रेरित करता है। उसका यथार्थवादी स्वभाव संक्रामक एवं उत्तेजक दोनों है। झगड़नेवाले अध्यापकों तथा ईर्ष्यालु रानी इरावतीवाले दृश्य विदूषक की यथार्थवादी मनोवृत्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ हैं। विदूषक तत्त्वतः दुनियावी आदमी है। उसी के साथ-साथ लोक के चरित भी चलते-बदलते हैं। ऐसे चरित्र की सृष्टि से कालिदास की प्रतिभा ने नाटक के क्षेत्र को व्यापक बना दिया है। अब नाटक परियों-अप्सराओं की जीवन-कहानी नहीं रह गया है, बल्कि वह संसारी प्रपंचों का तात्त्विक चित्रण बन गया है। विदूषक, जो एक प्रकार का Mr. Every-man है, साहित्य में उच्चपद पर आसीन हो गया है। यह साधारण जन-संसार से सम्बन्ध रखता है, न कि कोई अवतार है।

अतएव संसार को समझने के लिए हमें साधारण मनुष्य को समझना पड़ेगा, उसे जो इस भूगोल का वास्तविक एवं चिरस्थापित निवासी है।" (Pages 94-95)

तथापि, यह स्वीकार करने में भी हिचक नहीं होगी कि गौतम के चरित्र का उत्कर्ष चित्रित करने से नायक अग्निमित्र निष्प्रभ एवं निष्क्रिय बन गया है। कालिदास को संभवतः इस विसंगति की प्रतीति हुई होगी और इसीलिए उन्होंने अपने अन्य नाटकों में विदूषक को परम्परानुसार ही चित्रित किया है।

धारिणी अग्निमित्र की पटरानी है। नाम के ही अनुसार उसमें आत्मसंयम एवं उदारता के गुण वर्तमान हैं। वह प्रगल्भा एवं धीरा है। अन्तःपुर में सभी उसकी धाक मानते हैं। कला की प्रेमी है और नाट्याचार्यों को प्रश्रय प्रदान कर, उसे प्रोत्साहन देने में उसका विशेष अनुराग है। लेकिन, वह जितनी ही क्षमाशील तथा शालीन है, उतनी ही चतुर तथा लोक-निपुण भी है। अपने पति की नित्य नई-नई नारियों पर आसक्त होनेवाली भ्रमर-वृत्ति उसे एकदम पसन्द नहीं है। राजा की मालविका के प्रति आसक्ति का वह सद्यः आभास पा जाती है और तब मालविका को उसकी दृष्टि से निरन्तर बचाने का उपक्रम करने लग जाती है। वह ब्राह्मणों के प्रति दयालु एवं श्रद्धालु है। दोहद के बाद अशोक में जब फूल आ जाते हैं, तब वह मालविका को दिए गए अपने आश्वासन को पूर्ण करने के लिए तत्काल तत्पर हो जाती है। कुमार की विजय के प्यारे संवाद पर तो जैसे उसका नारी-सुलभ

मात्सर्य कपूर की नाईं उड़ जाता है और वह राजा को अत्यन्त प्यारा पारितोषिक देने के लिए उद्यत हो जाती है—'इदमार्यपुत्रः प्रियनिवेदनानुरूपपारितोषिकं प्रतीच्छत्विति।"

मातृत्व के उज्ज्वार ने सपत्नियों की श्रेणी-स्फीति को स्वेच्छया स्वीकार कर लिया है, यह कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है। परिव्राजिका की यह टिप्पणी धारिणी की पति-भक्ति पर सुन्दर प्रकाश डालती है, यद्यपि आज हम उसका अनुमोदन करने में किंचित् असमर्थ हैं—

"प्रतिपक्षेणापि सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्॥ (५।१६)

—पति को प्यार करनेवाली स्त्रियाँ अपने लिए सौत लाकर भी, पति का मन रखा करती हैं, उसी प्रकार जैसे समुद्र में जानेवाली नदियाँ अपने साथ-साथ दूसरी नदियों का पानी भी समुद्र में पहुँचा देती हैं।'

इरावती धारिणी के बिलकुल विपरीत स्वभाववाली है। वह 'प्रगल्भा' एवं 'अधीरा' है। वह तरुणी तथा नृत्य-गायन-कला में निपुण है; प्रकृत्या ईर्ष्यालु, मानिनी एवं उतावली है; पति के प्यार पर पूर्ण अधिकार रखने की अभिलाषिणी है अथच एतदर्थ, वह अपने यौवन-सुलभ सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए मदिरा-पान भी करती है। परिव्राजिका कौशिकी वृद्धा स्त्री है। नाटक में सभी उसे 'आर्या', 'पण्डिता' और 'भगवती' जैसे विशेषणों से सम्बोधित करते हैं। संन्यासिनी होते हुए भी, वह जीवन तथा जीवन के राग-रंगों में अनुराग रखती है। विनोद-प्रियता उसके स्वभाव का आन्तरिक गुण है।

मालविका के अभिनय-प्रदर्शन में उसने जो उल्लासगर्भित तत्परता दिखाई है, उससे उसके चरित्र पर उन्मीलक आलोक पड़ता है। वह नृत्य, अभिनय एवं सौन्दर्य की पारखी है और अलंकरण करने की कला में प्रवीण है जिस कारण मालविका को विवाहोचित शृंगार से सजाने के लिए धारिणी द्वारा उससे भी अनुरोध किया गया है। प्राश्निक के रूप में जब वह यह आदेश देती है कि अभिनय करनेवाली शिष्याएँ बिना साज-शृंगार के ही रंगमंच पर उपस्थित होवें जिससे उनके सम्पूर्ण अंगों का सहज सौष्ठव पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाय, ("निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वांगसौष्ठवाभिव्यक्तये विरलनेपथ्ययोः प्रवेशोस्तु"), तब उसके राग-रंग के प्रेमी स्वभाव का मंजुल साक्ष्य उपलब्ध हो जाता है। वाल्टर रुबेन की यह टीका कि कौशिकी ने जिस ढंग से राजा को, उसकी प्रणय-लीला में सहायता पहुँचाई है,

वह निश्चिततया लज्जास्पद है,[1] उचित नहीं प्रतीत होता। जैसा रामस्वामी शास्त्री का कथन है, जीवन से एकदम पृथक् रहनेवाली संन्यासिनी ऐसे नाटक के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होती जो लीला-कौतुक एवं संघर्ष में संलग्न व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है।[2] वास्तव में कालिदास ने परिव्राजिका की चरित्र-सृष्टि में एक विशिष्ट दृष्टि-भंगिमा अपनाई है। अपने भाई की निर्मम हत्या का विवरण सुनाते हुए कौशिकी रोने लग गई है। भाई के मृत-शरीर का दाह-संस्कार करने से उसकी वैधव्य-वेदना पुनः नई बन गई है और उसी के शमनार्थ उसने काषाय ग्रहण कर लिया है। अर्थात् राग और विराग का मणि-कांचन संयोग कौशिकी के स्वभाव में विकसित हुआ है।

अतएव एक ओर नाटककार ने उसे मूर्तिमती अध्यात्म-विद्या बताया है—

"मंगलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया॥" (१।१४)

तो दूसरी ओर, उसे संगीत की मधुर ध्वनियों से आनन्द-विभोर भी चित्रित किया है—

'जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि। (१।२१)

वास्तव में चरित्र सँवारने की दृष्टि से नाटककार ने विदूषक के बाद पारिव्राजिका के ही प्रति सविशेष सतर्कता दिखलायी है।

नाटक के कथानक का पुष्ट ऐतिहासिक आधार है। मौर्य-वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मार कर, उसका पुरोहित सेनापति पुष्यमित्र शुंग मगध के सहासिन पर आसीन हुआ और भारत में प्रथम ब्राह्मण राजवंश की स्थापना की। अग्निमित्र उसी का पुत्र था जो कुल के मूलस्थान विदिशा में साम्राज्य के दक्षिणी-पश्चिमी

---

१. "Kausiki helps the King in a positively shameless way." (walter Ruben : 'Kalidasa', पृ० ७८)

२. "She is, however, not an ascetic, hating life and human beings, but an ascetic full of love of art and friendliness to all. A saint severely aloof from life would be too high and shadowy for a drama which is concerned with warm - blooded figures in a state of hostile clash or friendly interplay." (Ramaswami Sastri : 'Kalidasa', पृ० २४२)

प्रान्तों पर शासन करता था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया जिसके अश्व की रक्षा करते हुए उसके पौत्र कुमार वसुमित्र ने यवनों को परास्त कर उन्हें देश से बाहर निकाल दिया। विदर्भ-राज का पराभव; उसके राज्य का विभाजन तथा उसके वंश की राजकन्याओं का अग्निमित्र के साथ विवाह—ये सभी बातें ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होती हैं और उनका घटना-काल ईसापूर्व दूसरी शताब्दी ठहरता है।

पुष्यमित्र के अश्वमेध की बात तो उसके अभिलेख से भी ज्ञात थी पर 'मालविकाग्निमित्र' से उसकी पुष्टि हो गई है। किन्तु, वाल्टर रुबेन ने प्रस्तुत नाटक के द्वारा अश्वमेधवाली बात की पुष्टि के सम्बन्ध में संशय व्यक्त किया है। उनकी टिप्पणी इस प्रकार है—

"यह प्रसिद्ध कथा है कि राजा सगर के विदर्भ-देशीय राजकुमारी केशिनी से 'असमंज' (Asamanja) नामक पुत्र था। वह इतना निर्दय था कि नगर के शिशुओं को हँसते हँसते नदी में फेंक देता था। इससे क्रुद्ध होकर सगर ने उसे राज्य से बहिष्कृत कर दिया। असमंज का पुत्र अंशुमान था जिसने अपने पितामह सगर के अश्वमेध के घोड़े को बंधन से छुड़ाया। यह अंशुमान दिलीप का पिता बना और दिलीप से ही 'रघुवंश' महाकाव्य का आरम्भ होता है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' के पंचम अंक में अंशुमान द्वारा घोड़े के छुड़ाए जाने तथा उसके उपलक्ष्य में सगर द्वारा यज्ञ किए जाने का जो संक्षिप्त उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यही है कि पाठक, इस पुरानी पौराणिक कहानी तथा प्रस्तुत नाटक की कहानी में, साम्य अथवा सामानन्तर्य की कल्पना कर सके। मालविका के समान केशिनी का भी संबंध विदर्भ से था। उस प्रसंग में सगर के अश्वमेधीय घोड़े का रक्षक उसका प्रपौत्र था क्योंकि उसका पुत्र असमंज राज्य से निर्वासित हो गया था। प्रस्तुत प्रसंग में पुष्यमित्र के अश्वमेधवाले घोड़े को उसके प्रपौत्र वसुमित्र ने बचाया है क्योंकि उसका पुत्र अग्निमित्र युद्ध करने की अपेक्षा प्रमदवन में प्रमदाओं के साथ झूला झूलने में आनन्द लेता है। असमंज का यह प्रच्छन्न संकेत नाटक के संबद्ध दृश्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ में क्या ऐतिहासिक तथ्य है, इसका निर्णय इस उल्लेख से नहीं किया जा सकता।"[1]

कथानक के सम्यक् संघटन के लिए, पंडितों का अनुमान है, कालिदास ने गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से सहायता ली होगी जिसके दो संक्षिप्त रूपान्तर सोमदेव के 'कथा सरित्सागर' तथा क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा मंजरी' के रूप में सम्प्रति उपलब्ध है। 'कथा सरित्सागर' में यह कथा दी गई है—

---

१. Walter Ruben : 'Kalidasa', पृ० ८७

'उज्जयिनी के राजा महासेन ने वासवदत्ता नाम की अपनी कन्या का विवाह वत्सदेश के राजा उदयन से किया था। वासवदत्ता के भाई पालक ने स्वयं जीतकर लाई हुई एक बंधुमती नाम की राजकन्या को अपनी बहन के पास भेंट-रूप में भेजा। वह अत्यंत रूपवती थी और उसे वासवदत्ता ने मंजुलिका नाम देकर गुप्त रूप से रखा। एक दिन उद्यान के लतागृह में वसंतक नामक अपने प्रिय मित्र विदूषक को साथ ले घूमते हुए उदयन ने उसे देखा और उससे गन्धर्व-विवाह कर लिया। यह सब वासवदत्ता छिपी हुई देख रही थी। इससे वह क्रोधित हो गई और वसंतक को बाँध कर ले गई। तब उदयन ने सांकृत्यायनी नाम की परिव्राजिका मैत्रिणी की सहायता से वसंतक को छुड़ाया और अन्त में रानी की अनुमति से परिव्राजिका द्वारा बंधुमती राजा उदयन को अर्पित कर दी गई'।[1]

इस कहानी का नाटक की कहानी से कितना घनिष्ठ साम्य है; यह आसानी से समझा जा सकता है। अतएव जब कालिदास ने कथावस्तु के केन्द्रीय अंश को 'बृहत्कथा' जैसे सूत्रों से ग्रहण किया होगा, तो यह भी संभव हो सकता है कि पुष्यमित्र के अश्वमेध तथा वसुमित्र द्वारा उसके घोड़े की सुरक्षावाली बात के सन्निवेश की प्रेरणा भी उन्हें रामायण तथा ब्रह्मांड पुराण एवं वायु पुराण जैसे आख्यानसूत्रों से मिली होगी। तथ्य जो हो, 'मालविकाग्निमित्र' के ऐतिहासिक पक्ष की अवमानना नहीं की जा सकती।

(११) सौन्दर्य-भावना

कालिदास ने प्रकृति की रमणीयताओं का जितना सरस एवं ललित वर्णन किया है, उससे भी अधिक हृद्य तथा आवर्जक चित्रण उन्होंने मानव-सौंदर्य का किया है। वस्तुतः कालिदास रूप की माया से सर्वात्मना अभिभावित हैं और नारी-सौन्दर्य का संस्पर्श मानो उनकी हृदय-विपंची के सम्पूर्ण तारों को एक साथ झंकृत कर देता है। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य दैवी विभूति है जो क्या मानव-रूप और क्या प्रकृति-रूप, दोनों में समान भाव से भास्वर हो रही है। नारी-देह में जो सौन्दर्य प्रकाश करता है, वही प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में भी प्रतिबिंबित है और जिस प्रकाश से प्रकृति की नाना-रूपिणी छवियाँ विश्व में अपना सम्मोहन बिखेरे हुए हैं, वही प्रकाश नारी-रूप में फूट कर चराचर सृष्टि को बन्दी बना देता है। कालिदास सौन्दर्य के इस रहस्य से भली-भाँति परिचित हैं। यही कारण है कि नारी-रूप के वर्णन में उनकी दृष्टि प्रकृति-जगत् का अनुसंधान करने लगती है और प्रकृति-रूपों के चित्रण में वह

---

१. वा० वि० मिराशी : 'कालिदास,' पृ० १५६

नारी-रूप से अनुप्राणित हो जाती है। 'कुमारसम्भव' में नव तरुणी पार्वती का रूप कविने प्रकृति की सहायता से क्योंकर सवाँरा है, इसे निम्नोद्धृत पद्य में देखिए—

"आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥" (३।५४)

—'स्तनों के बोझ से झुके हुए शरीर पर प्रातःकाल के सूर्य के समान लाल कपड़े पहने हुई पार्वती ऐसी प्रतीत हो रही थीं जैसा फूलों के गुच्छे के भार से झुकी हुई नई लाल-लाल कोंपलों वाली चलती-फिरती लता हो।'

शकुन्तला की रूपश्री का मूल्यांकन यों किया गया है—

"अधरः किसलयकोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥" (१।२०)

—'इसके लाल ओठ लता की कोंपलों के समान शोभते हैं; दोनों भुजाएँ वृक्ष की कोमल शाखाओं के समान जान पड़ती हैं और इसके अंगों में खिला हुआ नया यौवन लुभावने फूल के समान भासित होता है।'

'मेघदूत' की यक्षप्रिया का सौन्दर्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों अथवा पदार्थों की विशिष्टताओं को संकलित कर निर्मित किया गया है। इसी प्रकार, प्रकृति की वस्तुओं एवं दृश्यों का अंकन करते समय कालिदास मानव-सुषमा के अंगों एवं तत्त्वों को उपमान-रूप में नियोजित करना नहीं भूलते। वसंत की शोभा ने अपना शृङ्गार कैसे किया है, इसका चित्रण निम्नोद्धृत श्लोक में देखिये—

"लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार ॥" (कुमारसं० ३।३०)

—'वसन्त की शोभा-रूपी स्त्री ने भौंरे-रूपी आँजन से अपना मुँह चीत लिया है, मस्तक पर तिलक के फूल का तिलक लगा लिया है और आम के नवकिसलय-रूपी अपने अंगों को प्रातःकालीन सूर्य की कोमल लालिमा से रँग लिया है।'

'विक्रमोर्वशीय' में वसन्त-श्री के नवस्फुटित उल्लास का कथन यों किया गया है—

"मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता।" (२।७)

—'हे सखे! वसन्त-श्री मुग्धा तथा युवती के मध्यवाली स्थिति में शोभा दे रही है।'

इस प्रकार कालिदास जानते हैं कि मानव-शरीर को आलोकित करनेवाली प्रभा उसी व्यापक प्रभा की अंशीभूत है जिससे विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ चमक रहे हैं, यद्यपि वह उतना ही क्षणभंगुर है जितना आकर्षक भी।

नारी-पुरुष की कल्पना करते समय कालिदास सौन्दर्य-समुच्चय का बार-बार कथन करते है। संसार में सौन्दर्य पृथक्-पृथक् पदार्थों में बिखरा हुआ है और इनमें से एक भी पदार्थ अपनी सुन्दरता से हमें चकित एवं आवर्जित कर सकता है। कालिदास की सुन्दरियाँ विश्व में बिखरे हुए सम्पूर्ण सौन्दर्य की पुंजीभूत मूर्ति हैं तथा सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा की मानसिक कल्पना की सर्वाधिक श्रेष्ठ प्रसूति हैं। शकुन्तला तथा पार्वती की रूप-सम्पदा का कवि ने यों कथन किया है—

(१) "चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।"

(अभिज्ञान शा०, २।६)

—'शकुन्तला के शरीर और विधाता के रचना-कौशल को देखकर यही जान पड़ता है कि उन्होंने संसार की सम्पूर्ण सुन्दरता को संकलित कर तथा उसे चित्त में स्थापित कर शकुन्तला की मन-द्वारा सृष्टि की और तब उसमें प्राण डाले। इसी से वह स्त्रीरत्न कोई अनन्यसाधारण रचना प्रतीत होती है।'

(२) सर्वोपमद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥"

(कुमारसंभव, १।४६)

—'ऐसा जान पड़ता है कि संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य ब्रह्मा एक स्थान पर देखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने उपमा-योग्य सभी वस्तुओं को यत्नपूर्वक एकत्र कर तथा यथास्थान उन्हें सजा कर, पार्वती को बनाया है।'

सौन्दर्य का अनुप्राणक धर्म नव-यौवन माना गया है। राजानक रुय्यक ने अपनी 'सहृदयहृदयलीला' नामक पुस्तक में बताया है कि इसी अवस्था में अंगों में सौष्ठव एवं विपुलीभाव आता है और उनका पारस्परिक विभेद स्पष्ट होता है। कालिदास ने उमा के बाल्यावस्था का अतिक्रमण कर यौवन-दशा को प्राप्ति करने का यह अभिराम चित्र अंकित किया है—

"उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥"

(कुमारसंभव, १।३२)

—'जैसे तूलिका से ठीक-ठीक रंग भरने पर चित्र खिल उठता है तथा जैसे सूर्य-किरणों का स्पर्श पाकर कमल खिल जाता है, वैसे ही नवयौवन के संस्पर्श से

पार्वती का सब प्रकार से शोभा देने वाला शरीर विभक्त हो गया अर्थात् उसमें उभार आ गया।' वपु के 'विभक्त' हो जाने में भिन्न-भिन्न अंगों के पुष्ट एवं सुडौल होकर परस्पर असमान दीखने लगने का भाव व्यंजित है। कालिदास यौवनोदय की इस माया से अभिभावित हैं। उमा के ही प्रसंग में वे कहते हैं कि यौवन शरीर की लता का नैसर्गिक शृंगार है, मदिरा के बिना ही मन को मतवाला बनाने वाला है। और कामदेव का बिना फूलों वाला बाण है—

"असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥" (१।३१)

"शोभा और सौन्दर्य के वर्णन में नवयौवन के इस विभेदक धर्म को कालिदास ने विशेष-रूप से मान दिया है। इस विभेद या उभार को कालिदास ने जम कर अलंकार-लक्षित कर के सहृदय-हृदय-गोचर बनाया है। इसीलिए वह उभरे हुए वक्षःस्थल पर झूलते हुए हार (चाहे वे शरत्कालीन चन्द्रमा की मरीचियों के समान कोमल मृणाल-नाल के बने हों या मुक्ताजाल-ग्रथित हेम-सूत्र से गढ़े गए हों) श्रोणीबिम्ब को मण्डित करनेवाली कनक-कांची या हेम-मेखला, हंसरुतानुकारी नूपुर, स्तनांशुक, अपांग-विलास, मदिरालसनयनापांग आदि का जम कर वर्णन करते हैं। कंकणवलय या मृणालवलय उन्हें पसन्द है, क्योंकि वे सुवृत्त कलाइयों की शोभा को निखार देते हैं। लाक्षारस और लहरदार किनारी उन्हें रुचिकर है। ताम्बूलराग, सिन्दूरराग, गोरोचन, तिलक, धम्मिलपाश इत्यादि इसलिए वर्णनीय हैं कि वे 'चतुरस्रशरीर' के उभार को अधिक खिला देते हैं।" (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

कालिदास ने स्त्री-सौन्दर्य को एक विशिष्ट परिवेश में अवलोकित तथा चित्रित किया है। नवयौवन के प्रति उनका सहज आकर्षण अभी हमने दिखाया है। इसी से संबंधित उनका यह दृष्टिकोण भी है कि नारी-सौन्दर्य में वीर्यक्षोभ की क्षमता होनी चाहिए। विषय-प्रवृत्ति रूप-लक्ष्मी की पहली सार्थकता है; शंकर जैसे योगी को भी उमा की सौन्दर्य-श्री के दर्शन से इन्द्रियक्षोभ हो गया और फिर तो, उन्होंने जो गहरी रतिकेलियाँ कीं, उनमें पार्वती का रूपसौन्दर्य ही विशेष उत्तेजक रहा। कालिदास की अन्य नायिकाओं के सौन्दर्य का वीर्यक्षोभकारित्व अत्यंत स्पष्ट भाव से निरूपित हुआ है। उर्वशी के सौन्दर्य की सृष्टि के लिए कवि ने कान्ति के दाता चन्द्रमा, शृंगार-रस के देवता मदन अथवा पुष्पाकर वसन्त की ही क्षमता को स्वीकार किया है, और वेदानुशीलन से जड़ीभूत तथा विषयोपभोग से पराङ्मुख रहनेवाले वृद्ध ऋषि की एतादृश रूप-रचना की शक्ति का स्पष्ट प्रत्याख्यान किया है—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनेः ॥ (विक्र०, १।१०)

अर्थात्, कवि की रूपविषयिणी दृष्टि यह है कि सौन्दर्य विषय-प्रेरक और विषय प्रेरित दोनों है।

कालिदास की सौन्दर्य-दर्शिनी दृष्टि साधारण मिट्टी से, मन को विस्मय में डाल देने वाले रूप के उद्‌भव की कल्पना का प्रतिवाद करती है। उनकी रूपसियों में या तो राजा का या देवता का या ऋषि का या अप्सरा का रक्त प्रवाहित होना चाहिए। सामान्य मानवीय रजवीर्य में प्रभा-तरल रूपज्योति के प्रसव की क्षमता नहीं हो सकती। शकुन्तला को देखकर और दिखा कर, कवि ने अपना मन्तव्य स्पष्ट कथित कर दिया है—

"मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥" (१।२४)

—'वसुधातल से उत्कृष्ट सौन्दर्य की ज्योति नहीं फूट सकती, कवि की यह दृष्टि-भंगिमा सचमुच आज के पाठक के लिए एक विचित्र कुतूहल प्रतीत होती है!'

कालिदास सहज, निरलंकृत सौन्दर्य के उपासक हैं। शकुन्तला तथा उसकी सखियों के मधुर दर्शन से चमत्कृत होकर दुष्यन्त अत्यन्त विस्मय से स्वीकार करता है कि इन सहज सुन्दरियों की तुलना में राजहर्म्यों में पलने वाली रम्यांगनाएँ हतप्रभ बन जाती हैं—"दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।" रूप वही है जो सहज ही चमकता हो, जो 'अक्लिष्टकान्ति' ('शाकुन्तल, ५।१६) 'हो। यह रूप सभी अवस्थाओं में अनवद्य रहता है, सभी स्थितियों में शोभा का पोषण करता है—"अहो सर्वास्ववस्थास्वनवद्यता रूपस्य। × × × × अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभां पुष्यति।" (माल०, अंक २)। समस्त अवस्थाओं में चेष्टाओं की रमणीयता 'माधुर्य' कही गई है।[1] जिस रूप में यह गुण वर्तमान रहता है, वह 'मधुर' कहलाता है। शकुन्तला की आकृति ऐसी ही है। कालिदास का कथन है कि ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मधुर आकृतियों का मण्डन न बन जाय? कमल का फूल शैवालजाल से अनुविद्ध होकर भी रमणीय बना रहता है, चन्द्रमा का काला धब्बा मलिन होकर भी शोभा का विस्तार करता है और उसी प्रकार तन्वी शकुन्तला वल्कलवेष्टिता होने पर भी मनोज्ञ बन गई है—

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।

१. "सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता" (साहित्यदर्पण, ३।९७)

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ”(शाकु०, १।१६)

भारतीय सौन्दर्य-भावना ने आभूषणों को आवश्यक नहीं माना है, अपितु रूप के सहज गुणों के आवर्जन को महत्त्व दिया है। रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया और सौभाग्य को निखार देने में जो समर्थ हो, वही असल में अलंकार है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में सुन्दरियों के भावरसाश्रय अलंकरणों की चर्चा की है। इनमें तीन शारीरिक या अंगज हैं—भाव, हाव, हेला; सात अयत्नज हैं, बिना किसी यत्न के विधाता की ओर से प्राप्त होते हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य। दस स्वाभाविक हैं, विशेष-विशेष स्वभाव के व्यक्तियों में मिलते हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत। पुरुषों में भी शोभा, विलास; माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य, तेज आदि गुण सत्त्वसिद्ध अलंकरण हैं।[1] कालिदास की दृष्टि मुख्यतः इन्हीं सहज गुणों की ओर गई है; इन गुणों के होने पर बाहरी आभरण हों तो भले, न हों तो भले।

कालिदास ने आभरणों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी, उन्हें रूप के निखार के लिए आवश्यक नहीं माना है, अपितु उनका कथन है कि आभूषण सौन्दर्य को जितना अलंकृत करते हैं, उतना ही वे स्वतः सौन्दर्य के संसर्ग से अलंकृत भी होते हैं—“अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः।” (कुमारसम्भव, १।४२)। उर्वशी के रूप-वर्णन में अलंकारों का भूष्य-भाव यों विवक्षित है—

“आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः॥” (विक्रमो०, २।३)

—‘उसका शरीर आभरणों का भी आभरण है, शृंगार की सामग्रियों का भी शृंगार है और उपमा की वस्तुओं की भी उससे उपमा दी जा सकती है।’

सौन्दर्य के आधायक तत्त्वों में कालिदास कान्ति, दीप्ति एवं माधुर्य के अतिरिक्त ‘लावण्य’ से भी प्रभावित हैं। मोतियों में छाया की आन्तरिक तरलता के समान

---

१. “लीलाविलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितं तथा॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश स्त्रीणां स्वभावजाः।
अलङ्कारास्तथैतेषां लक्षणं शृणुत द्विजाः॥” (नाट्यशास्त्र, २४।१२-१३)
“शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च।
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः॥” (वही, २४।३१)

अंगों में चमकने वाली वस्तु को 'लावण्य' कहा गया है।[1] यह लावण्य ही क्षण-प्रतिक्षण नव्य आभा ग्रहण करता रहता है तथा इसकी पकड़ में बड़े-से-बड़े कलाकार भी असमर्थ सिद्ध होते हैं। कालिदास ने दुष्यन्त के द्वारा 'लावण्य' की इसी अग्राह्यता की विवृति की है, वह रेखाओं में बन्दी बनाकर चित्र में उतारा नहीं जा सकता—

"यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥" (शाकुन्तल, ६।१४)

कालिदास ने नख-शिख वर्णन में कोई विशिष्ट रुचि नहीं दिखाई है। उनकी नायिकाओं में केवल पार्वती का नखशिख वर्णित है। कवि ने नख से प्रारम्भ कर शिख तक का मन्द्र चित्रण किया है। जब पार्वती चलती थीं, तो नख-प्रभा ऐसी जान पड़ती थी, मानो उनके कोमल चरण रक्तिमा का उद्गिरण करते हों और जब वे पैरों को उठा-उठा कर रखती थीं, तब ऐसा जान पड़ता था मानों वे पग-पग पर स्थल-कमल उगाती जा रही हों। यौवन के भार से झुकी हुई जब वे हाव-भाव से चलती थीं, तब ऐसा जान पड़ता था जैसे उनके बिछुओं से निकलने वाली मधुर ध्वनि को सीखने के लिए लुब्ध राजहंसों ने अपनी हावभरी चाल उन्हें पहले ही बदले में सिखा दी हो। उनके सम्पूर्ण शरीर को सुन्दर बनाने के लिए विधाता ने सुन्दरता की जितनी सामग्रियाँ एकत्र की थीं, वे सब तो उनकी जाँघों के निर्माण में ही समाप्त हो गईं। अतएव, शेष अंगों को बनाने के लिए सौन्दर्य के और उपादान संचित करने में ब्रह्मा को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा—"शेषांगनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः।" उन जाँघों की तुलना दो वस्तुओं से की जा सकती थी—एक हाथी के सूँड़ से और दूसरे केले के खम्भे से। लेकिन हाथी का सूँड़ कड़ा होता है और कदली का वृक्ष शीतल होता है। इसलिए, पार्वती की जाँघों के लिए कोई उपमान मिल नहीं सका। उन अत्यन्त सुन्दर अंगोंवाली उमा के नितम्ब कितने सुन्दर रहे होंगे, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि विवाह के बाद स्वयं शिवजी ने उन्हें अपनी गोद में रखा जहाँ अन्य रमणियों की पहुँच कल्पनातीत है।

अधोभाग के वर्णन के अनन्तर कवि ने पार्वती के मध्यभाग का नितान्त ललित चित्रण किया है—

---

१. मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥" ('उज्ज्वलनीलमणि')

"तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वीनवलोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः॥ (१।३८)
मध्येन सा वेदविलग्नमध्या बलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥" (कुमारसंभव १।३९)

—'नीवी को लाँघ कर गहरी नाभि तक पहुँची हुई जो रोमों की नई उगी पतली रेखा बन गई थी. उसे देख कर ऐसा जान पड़ता था मानों नीवी के ऊपर बँधी हुई उनकी मेखला के बीचोबीच जड़ा हुआ नीलम चमक उठा हो। उस नवयौवना के पेट पर जो तीन सिकुड़न की रेखाएँ पड़ी हुई थीं उन्हें देखकर ऐसा भान होता था मानों कामदेव को स्तनादि अंगों तक ऊपर चढ़ा ले जाने के लिए नवयौवन ने सुन्दर सोपान बना लिए हों।'

उत्पलाक्षी उमा के पांडु तथा प्रवृद्ध स्तन परस्पर इस प्रकार सट गए थे कि उनके बीच में कमल का एक सूत भी समाया नहीं जा सकता था—

"मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्।" भुजाएँ शिरीष के पुष्प से भी कोमल थीं। गले में पड़ा हुआ और स्तनों पर लटका हुआ मौक्तिकहार उनके कंठ की शोभा बढ़ाता था और कंठ स्वयं भी उसकी शोभा बढ़ा रहा था। पार्वती का मुख तो चन्द्रमा एवं कमल दोनों की शोभा को एक साथ धारण करता था। जब तक वे उत्पन्न नहीं हुई थीं, तब तक चंचल शोभावाली लक्ष्मी बड़ी दुविधा में पड़ी रहती थीं, क्योंकि रात को जब वे चन्द्रमा में पहुँचती थीं, तब उन्हें कमल का आनन्द नहीं मिल पाता था और जब वे दिन में कमलों में आ बसती थीं, तब उन्हें चन्द्रमा का आनन्द नहीं मिल पाता था। लेकिन, जब से वे चन्द्रमा तथा कमल दोनों के गुणों से युक्त उमा-मुख में आ बसीं, तब से उन्हें चन्द्रमा और कमल दोनों का सुख एक साथ मिलने लगा—

"चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रया प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥" (कुमारसंभव, १।४३)

पार्वती के लाल ओठों पर फैली हुई मुसकान की दीप्ति ऐसी सुन्दर लगती थी जैसे लाल कोंपल में कोई श्वेत पुष्प रखा हो या फटे मूँगे के बीच में मोती जड़ा हुआ हो। उनकी मधुर वाणी अमृत की धारा के समान मीठी थी और कोयल की काकली को भी अवमानित करनेवाली थी। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों की चितवन आँधी से हिलते हुए नीले कमलों के समान चंचल थी। उसे देखकर यह पता नहीं चल पाता था कि यह कला उन्होंने हरिणियों से सीखी थी अथवा हरिणियों ने ही उनसे उसे सीखा था। उनकी लम्बी तथा मनोहर भौंहें ऐसी लगती थीं जैसे किसी ने

तूलिका लेकर उन्हें बना दिया हो। वे भौंहें इतनी सुन्दर थीं कि कामदेव ने भी अपने धनुष के सौन्दर्य पर गर्व करना छोड़ दिया। पार्वती का केशपाश इतना मनोहर था कि यदि पशु-पक्षियों में भी मनुष्य के समान लज्जा हुआ करती तो हरिणियाँ अपने चमरों पर इठलाना भूल जातीं। उमा को देख कर ऐसा जान पड़ता था कि संसार के रचयिता ब्रह्माजी ने, विश्व का समस्त सौन्दर्य एक स्थल में पुञ्जीभूत देखने की इच्छा से, उपमा-योग्य सभी द्रव्यों का प्रयत्नपूर्वक संचय कर तथा उन्हें भिन्न-भिन्न अंगों पर यथास्थान सजा कर, सुन्दरता की मूर्ति पार्वती को बनाया था—

"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥" (कुमारसंभव, १।४९)

तपस्या में लग्न पार्वती के अंगों के सौष्ठव का कथन प्रकारान्तर से कवि ने किया है—

"स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥" (वही, ५।२४)

—'उनके सिर पर वर्षा की जो बूँदें पड़ती थीं, वे पलभर तो उनकी पलकों में टिकी रहती थीं, फिर वहाँ से लुढ़क कर उनके अधरों से जा टकराती थीं। वहाँ से उनके स्तनों पर गिर कर चूर-चूर हो जाती थीं और तब उनकी त्रिवली में थिरकते हुए वे उनकी नाभि में देर तक रुकी रह जाती थीं।' इस श्लोक में ध्वनि के आश्रय से, कवि ने पार्वती के पक्ष्मों की चिकनाहट, अधरों की कोमलता, उरोजों की कठोरता एवं औन्नत्य, त्रिवली की सुष्ठुता तथा नाभिरन्ध्र की गहराई की एक-साथ व्यंजना की है।

पार्वती के नख-शिख पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का ध्यान चमत्कार की ओर न होकर, अंगों की सुषमा एवं मसृणता की व्यंजना पर ही केन्द्रित रहा है। "लीलाचतुरा" पार्वती को कवि "नेत्रकौमुदी" कहता है और यह विश्वास व्यक्त करता है कि उनका रूप इतना सुन्दर है कि उनका न तो कोई निरादर कर सकता है और न कोई उन पर क्रोध ही कर सकता है—"अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे।" कवि ने यहाँ सौन्दर्य का धर्म बताया है नेत्रप्रसादन तथा चित्तहरण अर्थात्, सौन्दर्य नयनों को चमत्कृत कर, द्रष्टा के मनोराज्य पर आधिपत्य जमा लेता है और कठोर से कठोर व्यक्ति को भी अपना उपासक बना लेता है।

कालिदास के मतानुसार यह रूप पुण्य एवं तपस्या का वरदान है। ब्रह्मचारी-वेशधारी शंकर ने कृशोदरी पार्वती से पूछा है—

"कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयः तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥" (कु० सं०, ५।४१)

—'हे सुन्दरि ! ब्रह्मा के वंश में आपका जन्म है, शरीर में तीनों लोकों का सौन्दर्य समाविष्ट है, ऐश्वर्य-सुख विना खोजे आपके चरणों की पूजा करता है। नवप्रस्फुटित यौवन की श्री आपके अंगोंसे विच्छुरित हो रही है। तब बताइये, तपस्या का अब और फल क्या हो सकता है ? अर्थात्, त्रिलोक-सौन्दर्य एवं नव वयस तप की प्रसूति हैं। "अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं" वाले प्रसिद्ध श्लोक में "अखण्डं पुण्यानां फलं" का कथन कर नाटककार ने रूप-सौन्दर्य को पूर्व-जन्म-संचित पुण्यों का परिणाम बताया है।

कालिदास को नारी-सौन्दर्य के चित्रण में विशेष रस मिलता है। उनकी रचनाओं में ऐसे अनेक पद्य उपलब्ध होते हैं जिनमें स्त्रियों की सुन्दरता के अत्यन्त आकर्षक चित्र अंकित हुए हैं। नृत्य एवं दोहद के संदर्भों में मालविका का चित्रण सहृदयों के हृदय-हरण में अनुपम है। 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी की सुन्दरता को देख कर चित्रलेखा कहती है—"अपि नामाहमेव पुरूरवा भवेयमिति" (मैं चाहती हूँ कि मैं स्वयं पुरूरवा होती)। नारी की, नारी के सौन्दर्य के प्रति यह प्रतिक्रिया निश्चित ही बड़ी विचित्र एवं लुभावनी है।[1] यक्षप्रिया के सौन्दर्य-चित्र अत्यन्त अभिराम हैं। 'कुमारसम्भव' में पार्वती के शृंगार का वर्णन कवि ने बड़ी तन्मयता-पूर्वक किया है। अलकों से सज्जित उमा की आननश्री के सामने भ्रमरों से घिरा हुआ पद्म और मेघ-खण्डों में लिपटा हुआ चन्द्रबिंब दोनों पराजित हो गए हैं (७।१६) तथा आभरणों से सज्जित उमा की नैसर्गिक सुन्दरता वैसे ही निखर उठी है, जैसे तारे निकलने पर रात जगमगाने लगती है, जैसे रंग-बिरंगे पक्षियों के आ जाने से नदी सुहावनी लगने लगती है—

"सा संभवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥" (७।२१)

पार्वती का यह शृंगार-सज्जित रूप स्वयं उनके लिए भी विस्मयोत्पादक सिद्ध हुआ। जब उन्होंने दर्पण में अपना मुख देखा, तब वे स्तब्ध रह गईं और उस सौन्दर्य-श्री की सार्थकता के लिए महादेवजी से मिलने के निमित्त मचल उठीं क्योंकि स्त्रियों का शृंगार तभी सफल होता है जब वह प्रिय के नयनों का प्रसाद बन सके।

---

१. "मोह न नारि नारि कर रूपा। पन्नगारि यह नीति अनूपा ॥" में तुलसीदास का अनुभव बिलकुल विपरीत है।

"आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः॥"
(कुमारसंभव ७।२२)

रूप की माया से स्वयं उस रूप की स्वामिनी चकित-थकित हो जाय, इससे बढ़ कर रूप का प्रभाव और क्या हो सकता है? रूपशालिनी उस रूप का औचित्य सिद्ध करने के लिए प्रियसंनिकर्ष की उत्कंठा से उद्वेलित हो सके, इससे बढ़कर स्त्री-वेश की सफलता की अन्य क्या कसौटी हो सकती है?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मंगलस्नान से पवित्र एवं शोभायमान होने वाली पार्वती के शान्त-स्थिर सौन्दर्य की प्रशंसा की है। देखिए, वह सौन्दर्य कैसा है—

"सा मंगलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा।
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे॥"
(कुमारसंभव, ७।११)

—'मंगलस्नान से निर्मल-शरीर होकर जब पार्वती ने पति के मिलने-योग्य वसन धारण किया, तब वह वर्षा के जलाभिषेक के अनन्तर प्रफुल्ल काश-कुसुम धारण करनेवाली पृथ्वी के समान शोभा देने लगीं।'

इस मंगल-कान्ति वाली निर्मल शोभा में कैसी श्री, कैसी शान्ति, और कैसी सम्पूर्णता है! "इसमें सारी चेष्टाओं का अन्त और समग्र वेशभूषा का अन्तिम परिणाम है। इसके बीच न तो इन्द्रसभा का प्रयास है, न कामदेव का कोई मोह है और न वसन्त की कोई अनुकूलता। इस समय यह अपनी ही निर्मलता और मंगलता से आप ही अचंचल और आप ही सम्पूर्ण है।" अर्थात्, सौन्दर्य की चरम परिणति शान्ति में होती है। "शान्ति में ही सौन्दर्य की सम्पूर्णता है, विरोध में नहीं। कालिदास ने अपने काव्य-रस-प्रवाह को उसी स्वर्गमर्त्य-व्यापिनी सर्वांग-सम्पन्न शान्ति में मिलाकर उसका परिणाम महान् कर दिया है। उन्होंने उसे आधे ही रास्ते में 'न ययौ न तस्थौ' कहकर छोड़ नहीं दिया। बीच में उन्होंने एक बार जो इस रसप्रवाह को विक्षुब्ध कर दिया है, सो केवल इसी परिणत सौन्दर्य की प्रशान्ति को प्रगाढ़ रूप से प्रकट करने के लिए और उसकी स्थिर-शुभमंगल-मूर्ति की तुलना विचित्र वेशधारी उद्भ्रान्त सौन्दर्य से करके उसे उज्ज्वल बनाने के लिए।"[1]

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'प्राचीन साहित्य', (अनुवादक पं० रामदहिन मिश्र), तृतीय संशोधित संस्करण, पृ० ३४-३५।

कालिदास ने अपनी रचनाओं में 'भूषण', 'अलंकार', 'मण्डन', 'आभरण' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है।[1] ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने इन शब्दों का प्रयोग लगभग समान अर्थ में किया है। यद्यपि शास्त्रीय ग्रन्थोंमें इनके भिन्न-भिन्न अर्थ बताए गये हैं। वल्कल (शाकुन्तल, १।१६) चित्रविचित्र वसन, नयनों में विलास उत्पन्न करनेवाली मदिरा, फूल और किसलय, नाना प्रकार के आभूषण, लाक्षारस या महावर (मेघदूत, २।१२)—ये सभी 'मंडन' कहे गए हैं। शकुन्तला को कण्व ने "प्रियमण्डना" कहा है और यहाँ तरु-पल्लव भी 'मण्डन' द्रव्य माने गए हैं (शाकुन्तल, ४।९३)। इसी प्रकार, कालिदास ने अशोक, कर्णिकार और सिन्दुवार जैसे वासन्ती फूलों को 'आभरण' कहा है (कुमारसम्भव, ३।५३) तथा आभूषणों को भी (कुमार०, ७।२१) 'आभरण' माना है। किन्तु, 'ऋतुसंहार' में एक स्थान पर (२।१२) 'माल्य' 'आभरण' एवं 'अनुलेपन' शब्दों का एक साथ व्यवहार किया है जिससे जान पड़ता है, इसके विशिष्ट अर्थों की ओर कवि का ध्यान अवश्य था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "साधारणतः कालिदास ने 'अलंकार' और 'भूषण' शब्दों का प्रयोग स्वर्ण, मणि आदि से बने अलंकारों के लिए किया है। 'मण्डन' शब्द का प्रयोग प्राकृतिक उपादान, जैसे, पुष्प, पल्लव मृणालवलय तथा अंगराग, जैसे चन्दन, कुंकुम, गोरोचन, कस्तूरी, अलक्तक आदि के प्रसंग में किया है और 'आभरण' शब्द का प्रयोग दोनों के अर्थ में। उनके ग्रन्थों में अनेक प्रकार से मण्डन-द्रव्य से रूप को निखार देनेवाली स्त्री-प्रसाधिकाओं की भी चर्चा आती है (कुमार०, ७।२०, रघुवंश, ७।१७) और मालिक को सजाने वाले पुरुष-प्रसाधकों की भी चर्चा पाई जाती है (रघुवंश, १७।२२)। इतना निश्चित जान पड़ता है कि कालिदास के युग में प्रसाधन-कला अपने शिखर पर थी और कदाचित् वर्ग-विशेष का पेशा भी बन चुकी थी।"[2]

कालिदास का यह विश्वास है कि आकृति का सौन्दर्य अन्तरात्मा के सौन्दर्य से भी समन्वित होता है—"न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।"[3] (शाकुन्तल, अंक २) उन्होंने युवावस्था के मनोहर रूप के दो पक्षों पर अत्यधिक

---

१. 'भूषण'—रघुवंश, १८।४५, १६।४५; 'अलंकार'—शाकुन्तल, अंक ४; 'मण्डन'—कुमारसंभव, १।४, २।११; 'आभरण' माल०, ५।७; रघु०, १४।५४; कुमार०, ३।५३, ७।२१ इत्यादि।

२. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', कालिदास-अंक, नवम्बर, १९५८,

३. मिलाइए "There's nothing ill can dwell in such a temple" (Shakespeare :'Tempest', Act V, Scene 2)

बल दिया है। पहला यह है कि रूप पापवृत्ति की ओर उन्मुख नहीं होता—"यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।" अर्थात्, पापोन्मुख रूप को रूप कहना ही नहीं चाहिए। कालिदास को यह सिद्धान्त पूर्णतः मान्य है। दूसरा यह कि सौन्दर्य में प्रिय को लुभाने और जीतने का सामर्थ्य होना चाहिए। अपने समस्त कामोद्दीपक रूप एवं शृंगार के बावजूद जब पार्वती ने अपने सामने ही स्वयं कामदेव को पिनाकी की क्रोधाग्नि में भस्म होते हुए देखा, तब रूप की शक्ति से उनकी आस्था हट गई और वे हृदय से रूप की भर्त्सना करने लग गईं क्योंकि वह रूप ही क्या जो प्रिय को आवर्जित या विजित न कर सके—

"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।" (कुमार०, ५।१)

राजानक रुय्यक ने दस शोभा-विधायी धर्मों में प्रथम को 'रूप' कहा है और अन्तिम को 'सौभाग्य'। 'सुभग' उस व्यक्ति को कहते हैं जिसके भीतर प्रकृत्या वह गुण रहता है जिससे सहृदय व्यक्ति स्वयमेव उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भौंरे। ऐसे ही सुभग व्यक्ति के आंतरिक वशीकरण-धर्म को 'सौभाग्य' कहते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, कालिदास ने 'मेघदूत' (१।३१) में "सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ति" में इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में किया है। यह लक्ष्य करने की बात है कि सौभाग्य की व्यंजना विरहावस्था में होती है। रूप बाह्याकर्षण है, सौभाग्य अन्तरतर का। पार्वती ने इसी लिए रूप की निन्दा की और सौभाग्य की कामना—"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।" आचार्य द्विवेदी की यह टिप्पणी, विषय को अधिक स्पष्ट बना देती है—"कालिदास के अनुसार यह आंतरिक वशीकरणधर्म ही रूप का फल है। इसीलिए उनके रूप-वर्णन का एक ही लक्ष्य है, प्रेमी में उस शक्ति की प्रतिष्ठा जो प्रिय को सहज ही आकृष्ट कर सके। अत्यन्त उच्छल शृंगारिक वर्णन के प्रसंग में भी कालिदास इस बात को नहीं भूलते। उनके मत से मदन या मन्मथ द्विधाभूत शक्तियों का आश्रय है। एक ओर तो वह अंग-अंग में व्याप्त मंगल-निरपेक्ष यौन-आकर्षण है। रूप उसका सहायक बन कर निन्दनीय होता है। 'कुमारसम्भव' का मदन-दहन और शकुन्तला के प्रथम प्रेम का प्रत्याख्यान इसी मंगल-निरपेक्ष यौन आकर्षण का प्रतिवाद है। पार्वती का सारा रूप, मदन का सारा पराक्रम और वसन्त का समूचा आयोजन तपस्वी के एक 'भ्रूक्षेप' में ढह गया। देवता चिल्लाते रह गए कि हे प्रभो! क्रोध को रोकिए। उनकी वाणी अभी आसमान में ही थी कि शिव के नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने प्रेम के इस देवता को भस्मावशेष बना दिया। पार्वती ने अपने शरीर के लालित्य को व्यर्थ समझा ("व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च") और तपस्या के द्वारा रूप को अव्यर्थ करना

चाहा। बिना तप के ऐसा सौभाग्य, ऐसा प्रेम, ऐसा पति कैसे मिल सकता था? तपस्या से लब्ध विशुद्ध प्रेम द्वारा व्यंजित यही सौभाग्य-धर्म कालिदास के सौन्दर्य-वर्णन का लक्ष्य है।'[1]

(१२) प्रेम-भावना

कालिदास की काव्यतन्त्री से मुख्यतः सौन्दर्य एवं प्रेम की ही ध्वनियाँ निस्सृत होती हैं। नयनाभिराम रूप की मादक छवियों की भावना से वे जैसे एकदम चमत्कृत हो जाते हैं, वैसे ही प्रणय-रस को अत्यन्त मन्द्र, अत्यन्त मादक, तथा अत्यन्त गंभीर स्रोतस्विनी प्रवाहित करके वे सहृदय भावकों को सर्वथा आत्म-विभोर कर देते हैं। लेकिन, वे प्रणय को सर्वातिशायी महत्त्व प्रदान नहीं करते, उसे ही जीवन का चरम-साध्य स्वीकार नहीं करते। काम को सृष्टि की मूल प्रेरक शक्ति के रूप में ही उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित एवं प्रतिष्ठित किया है; उनकी अधिकांश नायक-नायिकाएँ काम की माया से अभिभूत हो जाती हैं और ऐसा आभास होने लगता है मानों संयम तथा शालीनता के सूत्र उनके हाथ से बिलकुल छूट जायेंगे और वे सामान्य रोमांस के नायकों की बिरादरी में स्थान ग्रहण कर लेंगे। लेकिन, कालिदास की सावधान काव्य-सरस्वती प्रेम की मूलवर्तिनी वृत्तियों तथा क्षुधाओं को जगाती हुई भी, अन्ततः उन्हें 'शिव' की नियामक मर्यादाओं में बाँध देती है। वस्तुतः काम की खुमारी तथा संयम की कठोरता, दोनों के नितान्त आवर्जक एवं प्रभविष्णु चित्र उनके काव्यों में उपलब्ध होते हैं।

कालिदास ने अपना मन्तव्य पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम अथवा 'काम' को, धर्म को विजित एवं आक्रान्त करने की छूट नहीं दी जा सकती। 'कुमारसंभव' में कामदेव इन्द्र से पूछता है कि हे स्वामी! क्या मुझे आज्ञा है कि मैं आपके प्रबल एवं नीतिप्रवीण शत्रु के भी अर्थ और धर्म दोनों को उसी प्रकार नष्ट कर दूँ जिस प्रकार बरसाती नदी का प्रवाह दोनों तटों को बहा ले जाता है—"कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः?" अपनी शक्ति में असीम विश्वास रखने वाला गर्वस्फीत कामदेव योगिराज शंकर के भ्रूक्षेप से भस्मीभूत कर दिया गया है, और जब पार्वती का सौन्दर्य असफल हो गया तथा उनकी तपस्या साफल्यश्री से मण्डित हुई, तभी देवताओं के अनुरोध पर महादेव ने कामदेव को पुनरुज्जीवित किया है। अर्थ एवं धर्म की सापेक्षता में काम का क्या स्थान होना चाहिए, इसे बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत सन्दर्भ में दिखाया गया है। साथ ही, कवि ने यह भी प्रतिपन्न किया है कि प्रेम वंश-परम्परा को आगे बढ़ाने में ही अपना औचित्य सिद्ध

---

१. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' कालिदास-अंक, नवम्बर, १९५८,

कर सकता है। त्रिविध ऋणों में पितृ-ऋण के शोध का यही मार्ग बताया गया है कि मनुष्य जीवन तथा संस्कृति के पुनीत प्रवाह को सन्तानोत्पत्ति द्वारा निरन्तर गतिमान् एवं वर्धमान बनाये रखे। कालिदास की दृष्टि में प्रेम का चरम उद्देश्य वंशपरम्परा को उज्जीवित रखना ही है। 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में इसी कारण कहा गया है कि सूर्यवंश के राजा संतानोद्भव के लिए ही विवाह करते थे। 'शाकुन्तल' में दुष्यन्त को इसी चिन्ता ने सताया है कि उसके बाद, पुत्र न होने के कारण उसके पितरों का तर्पण कौन करेगा। यह बात नहीं है कि कवि प्रेमोद्वेग की तलस्पर्शी प्रतिक्रियाओं से परिचित नहीं है अपितु सत्य यह है कि वह प्रेम के व्यक्तिगत संकीर्ण पक्षों की तुलना में उसके श्रेष्ठतर एवं बृहत्तर पक्षों को वरीयता प्रदान करने के औचित्य की आभ्यंतर प्रतीति से अनुप्राणित है।

प्रेम के आविर्भाव से आपाततः सृष्टि किन आकर्षक रंगों में रँग कर कौन-सा विस्मय-गर्भित स्वरूप ग्रहण कर लेती है, इसका कभी-कभी नितान्त मोहक चित्रण यूरोपीय काव्यों में उपलब्ध होता है। प्राक्तन भारतीय परम्परा में प्रेमचित्रण की यह पद्धति प्रायः नहीं पाई जाती है, तथापि प्रणयानुप्राणित चित्त में कैसी दीप्ति, कैसा विस्फार एवं कैसा उल्लास आविर्भूत हो जाता है, इसका सुन्दर वर्णन संस्कृत कवियों ने किया है। कालिदास उन सबके शिरमौर हैं और प्रेमानन्द का अत्यन्त विश्वासोत्पादक चित्रण उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। हृदय में प्रणयदीप के प्रज्वलित हो जाने पर कैसी ललित एवं कोमल मरीचियाँ उससे निकलती और प्रकाश करती हैं, इसकी मधुरचित्रमालिका 'मेघदूत' में सजाई गई है। 'प्रणय' की वेला कृत्रिम साधनों से रोक दी गई है, पर कारणवश जो प्रणय शरीरतः इष्ट तक नहीं पहुँच पाता, वह मानसरूप से वहाँ पहुँचना चाहता है और अपने उस प्रयास में अभिराम संसार का अनजाना 'लिरिक' रच जाता है। यक्ष अपनी प्रिया को अपना दूसरा प्राण "जीवितं मे द्वितीयं" कहता है (२।२३)। 'विक्रमोर्वशीय' के तीसरे 'अंक' में प्रेमगद्गद् पुरूरवा कहता है—

"सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठं
एकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्त-
माशाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः॥" (३।१६)

'हे सखे! इनकी आज्ञा पालन करने में मैं अपने को जितना धन्य समझता हूँ, उतना मैं समस्त पृथ्वी का स्वामी होने तथा अपने पैरों के पीढ़े के सामन्तों के मकुटों की मणियों से रँगे जाने को भी सौभाग्यपूर्ण नहीं मानता।'

उमा और शिव, अज और इन्दुमती तथा अन्य आदर्श प्रेमी-युगलों के

वर्णन में कवि ने प्रणय के प्रादुर्भाव का सहचरण करनेवाली आनन्द एवं उल्लास की गहरी ऊर्मियों का अत्यन्त मोदक एवं द्रावक चित्रण किया है। स्वयं भगवान् शंकर कोमलांगी पार्वती का क्रीतदास होने में गर्व एवं सन्तोष का अनुभव करते हैं—
"अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौली।" (५।८६)

प्रिय के अयोग तथा प्रिय के संयोग में सृष्टि की वस्तुएँ क्योंकर रूप बदलती हैं, क्योंकर उनकी प्रतीतियाँ क्रमशः दुःखद तथा सुखद बन जाती हैं, इसका मनोरम चित्रण कालिदास की रचनाओं में प्राप्त होता है। 'विक्रमोर्वशीय' के तीसरे अंक के अंतिम श्लोकों में पुरूरवा के प्रेमविह्वल उद्गार द्रष्टव्य हैं—"हे सुन्दरि! चन्द्रमा की वे ही किरणें आज सुख दे रही हैं और कामदेव के वे ही बाण आज मन को प्रसन्न कर रहे हैं। जो-जो वस्तुएँ पहले रूक्ष एवं कठोर जान पड़ती थीं, वे सभी तुम्हारे मिलते ही कोमल बन गई हैं।××× हे सुन्दरि! दुःख के बाद जो सुख मिलता है, वह बड़ा रसीला होता है। पेड़ की छाया उसी व्यक्ति को भली लगती है जो धूप में तपा रहता है। ××× हे सुन्दरि! मेरी एक अभ्यर्थना है। मनोरथ पूर्ण होने के पहले रातें जैसी सौगुनी लम्बी जान पड़ती थीं, यदि वे अब तुम्हारे मिल जाने पर भी वैसी ही लम्बी हो जायँ तो मैं अपने को परम भाग्यशाली समझूँ।"

(३ । २०–२२)

प्रेमी संसार की प्रत्येक वस्तु को प्रेम की आँखों से देखते हैं, इस सत्य का सुन्दर वर्णन दुष्यन्त की निम्नोद्धृत उक्ति में हुआ है—

'स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति॥" (२.२)

—'जब शकुन्तला आँखें घुमाती थी, तब मैं समझता था कि उसने मुझ पर ही प्यार-भरी चितवन डाली है। नितम्बों के भार से जब वह धीरे-धीरे चलती थी, तब मैं समझता था कि वह अपनी विलासभंगी दिखा रही है। सखियों द्वारा जाने से रोके जाने पर, जब उसने उनपर किंचित् रोष व्यक्त किया, तब मैंने समझा कि यह सब मेरे ही प्रेम के लिए हो रहा है। आह! कामी पुरुषों को सभी बातों में अपने ही स्वार्थ की बात दिखाई पड़ती है।' 'मालविकाग्निमित्र' में राजा ने प्रेम की उलटी चाल (वामत्वं स्नेहस्य) को यह कहकर विज्ञत किया है कि—'हे प्रिये! देखो, यद्यपि अभी तक तुमने अपनी व्याकुलता का कारण न तो खोलकर बताया है और न अनुमान से ही मुझे तुम्हारे मन की थाह लग रही है, तो भी मैं यही समझ

रहा हूँ कि हे रम्भोरु ! तुम मेरे ही लिए इतना रो-कलप रही हो।" (३।१०)। प्रणय का पौधा इस आत्म-प्रवंचना में कैसे पोषक रस-तत्त्व प्राप्त करता है, इसका मंजुल निदर्शन इन उक्तियों में हुआ है। सच्चा प्रेम कितना विनत और विनीत होता है, यह अज-विलाप के इस वाक्य में प्रकट है—"हे मधुरस्मितवाली ! मैं अवश्य ही झूठा प्यार करने वाला (कैतववत्सलः) रहा हूँगा क्योंकि तुम मुझ से बिना पूछे ही सदा के लिए परलोक चली गई।" (८।४९)

कालिदास के प्रेम-काव्य की एक विशेषता यह है कि उन्होंने नारियों में प्रेम का आविर्भाव पहले दिखाया है और पुरुषों में बाद को। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उनकी धारणा यह थी कि पुरुष में प्रेम की स्निग्धता एवं सुकुमारता का उदय मानव-विकास के क्रम में पीछे हुआ है जब कि नारी-हृदय का जन्मजात, नैसर्गिक एवं आभ्यन्तरिक गुण प्रेम-द्रव से पिघलना और पसीजना है। किन्तु, कवि ने सत्-पुरुषों के, पीछे से उदय होने वाले प्यार को नारी के प्रारम्भ-जन्य प्रेम के ही समान सच्चा, सान्द्र एवं सुकुमार चित्रित किया है। उमा की तपस्या तथा वैवाहिक आनन्द के वर्णन में कवि का यह संकेत है कि संयम और त्याग की कठोरता में दीक्षित एवं प्रशिक्षित होने वाली नारी की पवित्र आत्मा में जो प्रणयवेग उद्रिक्त एवं उद्दीप्त होता है, वह जीवन की श्रेष्ठतम एवं मधुरतम सम्पत्ति है।

तथापि, युवावस्था के उद्दाम रक्त-कीटाणुओं से उद्वेलित दैहिक सौन्दर्य से विजित होकर विषयोपभोग में व्यस्त हो जाने के विरुद्ध कालिदास ने बड़ी मार्मिक चेतावनी दी है। 'शाकुन्तल' के पंचम अंक में शार्ङ्गरव का यह कथन ध्यातव्य है—'अविचारित कार्य से दुःख ही मिला करता है। अतएव, गुप्त प्रेम बहुत सोच-विचार कर करना चाहिए, क्योंकि बिना जाने-बूझे शील-स्वभाव वालों के साथ जो मित्रता की जाती है, वह एक दिन शत्रुता का रूप ग्रहण कर लेती है'।[1] पूर्व-परीक्षा के अभाव में अज्ञात-हृदय व्यक्ति को हृदय-दान करने के अविवेक की यह व्यंजना त्रिकालानुमोदित, सार्वभौम सत्य है। आज का अनुभवी विचारक भी इस सत्य की अभ्यर्थना करता है—'प्रेम की दो दिशायें होती हैं। प्रेम या तो दूध का दही बनकर नवनीत में परिणत हो जाता है या फटे दूध के समान फटकर दूध के कणों को विलग कर देता है।' हमारे कवि की सहज उक्ति में और आधुनिक लेखक की इस वक्रोक्ति में प्रेम-राज्य के एक ही तथ्य की विज्ञापना हुई है।

---

१. "अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥" (५।२४)

विषयानन्द की संकटोन्मुखता तथा रागात्मक सुकुमारता से उपलब्ध होने वाली शान्ति की महिमा का निरूपण कालिदास के प्रेम-चित्रण का मुख्य उद्देश्य है। दुष्यन्त-शकुन्तला का विषयात्मक उद्वेग नाटकान्त में आध्यात्मिक शान्ति के मधुर-रस में निमज्जित हो गया है। पुत्र को देखकर, उर्वशी के चले जाने के प्रस्ताव और भगवान् इन्द्र की कृपा से पुत्र-सहित पतिगृह में उसके आजीवन रहने की कहानी कह कर, कवि ने यह ध्वनित किया है कि शारीरिक विषयावेग का क्षणिक रोमांच शिशु-जन्म के उपरान्त समाप्त हो जाता है और यह कि आत्मसंयम तथा आत्म-शुद्धि का परिणाम वह उच्चतर एवं पवित्रतर प्रेम है जो भूत, वर्तमान एवं भविष्य से सही-सही सम्बन्ध रखता है और जो भिन्न-भिन्न कर्तव्यों के पालन से जीवन-साफल्य की उपलब्धि करता है। 'विक्रमोर्वशीय' में कवि ने दिखाया है कि उर्वशी कैसे गौरी के चरणोंसे आविर्भूत मणि के संस्पर्श से पुनः जीवित हो उठती है और इस प्रकार एक सुन्दर प्रतीक के सहारे यह व्यंजित किया है कि प्रथम प्रेम के आनन्द को भी, एक उच्चतर तथा पवित्रतर मनोभूमि में, फिर से जीतना और पकड़ना पड़ता है, अन्यथा उससे आनन्द का स्थिर प्रकाश नहीं फूट सकता।[१] सच्चा प्रेम धर्म पर आधृत होता है और श्रेष्ठतम आनन्द के उपभोग में पर्यवसित होता है। 'कुमार-संभव' में शंकर ने पार्वती से कहा है कि त्रिवर्ग का सारभूत धर्म ही है क्योंकि वह अर्थ तथा काम से मन हटाकर, धर्म की ही सेवा कर रहा है। (५।३८) अरुन्धती को देखकर, शिवजी को सती-साध्वी स्त्री से विवाह करने की अभिलाषा हुई क्योंकि बिना पतिव्रता पत्नी पाये धार्मिक क्रियायें सफल नहीं होती—'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्" (६।१३) इस प्रकार कवि ने प्रेम के नैतिक तथा आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया है।

प्रेम की लपटों से द्रवित चित्त की विभिन्न स्थितियों का अत्यन्त सटीक चित्रण कालिदास ने किया है। जब मन किसी कार्य में रम जाता है, तब वह प्रिय के गुणाव-गुण की चर्चाओं पर ध्यान नहीं देता क्योंकि हृदय-दान का व्यवसाय तर्काश्रित नहीं होता। इसीलिये ब्रह्मचारी से अपने आराध्य शंकर की त्रुटियों एवं दोषों का बखान सुनकर भी पार्वती कहती हैं—"ममात्र भावैकरसं मनःस्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते" भाव की एकरसता में कामवृत्ति यह नहीं देखती कि उसका प्रिय बुरा समझा जाता है अथवा भला एवं भद्र। अवरोध उपस्थित होने पर प्रेम का प्रवाह कितना क्षिप्र एवं गतिमान् बन जाता है, इसे कवि ने पुरूरवा के मुख से यों व्यक्त करवाया है:—

"नद्या इव प्रवाहो विषम-शिलासङ्कटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति॥" (३।८)

---

१. K. S. Ramaswami Sastri : 'Kalidasa' पृ० १६१–६२।

—'जिस प्रकार विषम शिलाओं के अवरोध से नदी की धारा में और अधिक वेग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार जब प्रिय-समागम के सुख में बाधायें उपस्थित हो जाती हैं, तब प्रेम की जलन सौगुनी बढ़ जाती है।'

कवि का प्रेमानुभव कितना गहरा तथा प्रामाणिक है, यह प्रत्येक सन्दर्भ में प्रकट होता जाता है। उसका कथन है कि नारी में जब प्रेम का उदय होता है, तब उसकी पहली प्रतिक्रिया वाणी द्वारा नहीं, अपितु आंगिक हाव-भावों द्वारा प्रकाश करती है। "स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।" (पूर्वमेघ, २८)। अंगज प्रणयाभिव्यक्तियों के अवलोकन तथा अभिचित्रण में कवि ने अनुपम कमाल दिखाया है। 'मालविकाग्निमित्र' में वह प्रेम के विकास को यों निदर्शित करता है—"प्रेम के वृक्ष की जड़ें प्रियतमा के सौन्दर्य के श्रवण से उत्थित आशा में जमती हैं, प्रिया के नयन-गोचर होनेपर उत्पन्न राग उसके पत्तों के रूप में प्रकाश करता है; प्यारी के हाथ के स्पर्श से उठे हुए रोमांच उसके फूल हैं और उसके संयोग का सुख प्रणय-तरुवर का फल है जिसकी चर्वणा के निमित्त, प्रेमी लालायित रहते हैं।[1] प्रणयासक्ति का एक मधुर रहस्य 'मालविकाग्निमित्र' में अग्निमित्र के मुख से यों व्यंजित हुआ है—"

"शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदयपरितापं व्रजसि किम्।" (३।१)

—'प्यारी के परिरम्भन के अभाव में मेरे शरीर का क्षीण होना तो समझ में आता है और उसे क्षण भर भी न देख सकने के कारण नेत्रों का डबडबाये रहना भी संगत प्रतीत होता है, किन्तु उस मृगाक्षी प्रियतमा के हृदय में सतत वर्तमान रहते हुए भी, मेरे प्राणों में जलन क्यों हो रही है?' हृदय में हृदयाभिलषित हृद्य वस्तु के विद्यमान रहते हुए भी, हृदय में परिताप होता है, यह सहृदयों के मार्मिक अनुभव से अनुमोदित सत्य है जिसकी सहज व्यंजना इस एक श्लोक में हुई है।

नये प्रेम और प्ररूढ़ प्रेम की बाह्य अभिव्यक्तियों का अन्तर कालिदास ने सुन्दर ढङ्ग से अभिव्यक्त किया है। उसमें भी नवोदित प्रणय की प्रायः माधुर्य-मंडित

---

१. "तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः
सम्प्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वा-
त्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य॥"
—'मालविकाग्निमित्र' (४।१)

चेष्टाओं के अत्यन्त सटीक तथा अभिराम अंकन में उन्हें विशेष रस मिला है। 'मालविकाग्निमित्र' (४।८) में कवि कहता है—"अपने प्यारों से मिलने के लिए उतावली होने पर भी स्त्रियाँ स्वभाव से लजीली होती हैं। जिस पुरुष से पहले-पहल मिलती हैं, उसे वे जी भर कर देख लेना चाहती हैं, लेकिन उनकी बड़ी-बड़ी आँखें प्रिय की ओर ठीक से उठ नहीं पातीं।" 'रघुवंश' (६।२४) में कवि का कथन है कि मुग्धायें लज्जा के कारण बहुत कम बोलती हैं—"प्रविरला इव मुग्धवधूकथा।" पार्वती के माल्यदान करने पर महादेवजी के हृदय में उसी प्रकार हलचल हो उठी, जैसे चन्द्रमा के निकलने पर समुद्र में ज्वार आ जाता है और वे उनके बिम्बफल के समान लाल-लाल अधरों पर ललचाई आँखें डालने लगे। पार्वती की उस समय की चेष्टाओं का वर्णन करते कवि कहता है कि 'पार्वती के अंग फूले हुए नये कदम्ब के समान पुलकित हो गए, आँखें लजीली हो गईं, और अपना सुन्दर मुख कुछ तिरछा करके वे खड़ी हो गईं। (कुमारसम्भव ३।६८) पाणिग्रहण के समय अज और इन्दुमती के, एक दूसरे को देखने के लिये उत्पन्न भीतरी संकोच का यों कथन हुआ है—"वे कनखियों से एक-दूसरे की ओर देखते थे और आँखें मिलते ही एक-दूसरे को देखकर लाज से आँखें नीची कर लेते थे। उनकी यह चेष्टा देखने में बड़ी मनोज्ञ प्रतीत होती थी।" (७।२३) किन्तु, प्रेम की संकोचमयी अभिव्यक्तियों का सबसे मोहक चित्रण 'शाकुन्तल' में उपलब्ध होता है। दुष्यन्त के दर्शन से शकुन्तला के हृदय में जो प्रथम विक्रिया उत्पन्न हुई, उसकी अभिव्यक्ति का कवि ने दुष्यन्त के मुख से यों वर्णन किया है—

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीयं नाभूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥ (१।२९)

—'यद्यपि वह अपनी वाणी को मेरी वाणी से नहीं मिलाती, तथापि जब मैं बोलने लगता हूँ, तब वह कान देकर बड़े ध्यान से मेरी बातें सुनती है। यद्यपि वह मेरी ओर मुँह करके नहीं बैठती, तथापि उसकी आँखें मुझ पर ही लगी रहती हैं।'

तपस्वियों की कन्यायें निसर्गतः भोली-भाली होती हैं, तथापि मदन की आभ्यंतरिक उद्बुद्धियों का प्रकाश रोकने में वे भी समर्थ नहीं हो सकतीं। दुष्यन्त ने शकुन्तला की चेष्टाओं का इस प्रकार कथन किया है—

"अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः॥" (२।११)

"दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥(२।१२)

—'जब मैं उसकी ओर मुँह करता था, तब वह आँखें चुरा लेती थी और किसी-न-किसी बहाने हँस भी देती थी। वह शील से इतनी दबी हुई थी कि न तो वह अपने प्रेम को छिपा ही पा रही थी और न खुल कर प्रकट ही कर सकती थी।'

'जाते समय वह शालीनता की रक्षा करते हुए भी, अपने प्रेम को व्यक्त कर गई क्योंकि कुछ दूर चलने पर वह सुन्दरी सहसा यह कह कर रुक गई कि मेरे पाँव में काँटा चुभ गया है। और, यद्यपि उसका वल्कल कहीं उलझा नहीं था, तौभी धीरे-धीरे वल्कल सुलझाने का बहाना करके वह मेरी ओर देखती हुई कुछ देर तक खड़ी हो गई।'

प्रणय-पत्र लिखती हुई शकुन्तला का चित्र अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है—

"उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥" (३।१२)

—'पदों की रचना करने वाली इस रूपसी की एक भौंह लता के समान चढ़ी हुई है और हर्ष से इसके कपोल पुलकित हो गये हैं। इसी से प्रकट होता है कि यह मेरे प्रति कितना अनुराग रखती है।'

प्ररूढ़ प्रणय की अभिव्यक्तियों का एक चित्र 'रघुवंश' में यों अंकित है—
"पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्।" (२।१६)

—'सुदक्षिणा अपलक नेत्रों से दिलीप की ओर देखती रह गई, मानों उसकी आँखें उनका रूप पीने के लिए प्यासी हों।'

कालिदास ने पुरुषों की प्रणयोद्वेजनाओं का भी ललित चित्रण किया है। प्रियतमा के प्रथम संस्पर्श से पुरुषों में कैसी चेष्टायें उदित होती हैं, इसका सटीक चित्रण 'विक्रमोर्वशीय' (१।१२), 'रघुवंश' (७।२२) तथा 'कुमारसम्भव' (७।७७) में उपलब्ध है। स्वयंवर-सदन में समवेत नरेशों की इन्दुमती-दर्शन से उत्पन्न शृङ्गार-चेष्टाओं के जो चित्र अंकित हुए हैं, वे नितान्त मनोरम तथा चित्ताकर्षक हैं। प्रेम के अन्यान्य पक्षों का वर्णन भी कालिदास की प्रेम-कविताओं में उपलब्ध होता है। 'कुमारसम्भव' (५।५७–५८), 'मालविकाग्निमित्र' (५।११) और 'शाकुन्तल' (अंक ६) में प्रेम के स्वप्नों का मधुर चित्रण हुआ है।

कालिदास ने पार्वती के सम्बन्ध में प्रेम के उच्चतम आदर्श का वर्णन किया है। पार्वती ही उनकी आदर्श प्रेमिका हैं। "निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता"—कहकर, कवि ने सौन्दर्य को प्रेम-पर्यवसायी बताया है और "समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य" कहकर, नारद ऋषि के

स्वर में स्वर मिलाते हुए, उसने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि स्त्रियाँ प्रेम से ही पुरुषों के शरीरार्ध की स्वामिनी बन सकती हैं "पार्वती की दृष्टि में कोई अभाव, कोई दैन्य-भाव शंकर में दिखाई नहीं पड़ा। उन्होंने उन्हें भाव की दृष्टि से देखा था। उस दृष्टि में धन, रत्न, रूप और यौवन की कोई खोज नहीं थी। कठोर अपमान के अनन्तर भी शकुन्तला का प्रेम, मिलन-काल में दुष्यन्त के किसी अपराध के कारण मलिन न हुआ। उस समय दुःखिनी के दोनों नेत्रों से आंसुओं की झड़ी बँध गई। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ पद-पद पर अपराध की गणना होती है। पार्वती के प्रेम ने जैसे अपनी ही सौन्दर्य-सम्पत्ति से संन्यासी को सुन्दर और ईश्वर की दृष्टि से देखा था, वैसे ही शकुन्तला के प्रेम ने भी अपनी मंगलमयी दृष्टि से दुष्यन्त के सारे अपराधों को भुलाकर देखा था। युवक-युवती के मोह-मुग्ध प्रेम में ऐसी क्षमा कहाँ है?[1]"

कालिदास ने बन्धनविहीन प्रेम की शक्ति को स्वीकार करते हुए भी, उसके हाथ आत्म-समर्पण नहीं कर दिया है। उन्होंने दिखाया है कि जो असंगत प्रेम-सम्भोग हमें अपने अधिकार से प्रमत्त या कर्त्तव्यच्युत कर देता है, वह स्वामि-शाप से खंडित ऋषि-शाप से प्रतिहत और देव-रोष से भस्म हो जाता है। शकुन्तला को आतिथ्य-धर्म का ध्यान नहीं रहा, वह दुष्यन्त के ध्यान में ही मग्न रही। उस समय शकुन्तला के प्रेम का मंगलभाव मिट ही गया और उसी कारण उसे निरादृत एवं तिरस्कृत होना पड़ा। "जो प्रेम तपोवन में यति के तप का बाधक होकर प्रकट होता है, गृहस्थ के गृह-प्रांगण में संसार-धर्म को अकस्मात् नष्ट करने के रूप में प्रकट होता है, वह झंझावात के समान दूसरे को भले ही नष्ट कर दे, किन्तु अपना नाश भी अपने साथ ही लाता है।" कालिदास प्रेम को धर्म की मर्यादा में बाँधने के पक्षपाती हैं। जब कामदेव धर्म की अवहेलना कर नर-नारियों को परस्पर मिलाना चाहता है, तब वह भस्म हो जाता है और प्रेमियों को भी अकल्पित यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। जब धर्म ने महादेव के मन को पार्वती की ओर आकृष्ट किया, तब पूर्वापराधभीत कामदेव का मन उच्छ्वसित हुआ।[2] जहाँ धर्म के द्वारा दोनों हृदय एकत्र होते हैं, वहाँ कामदेव के साथ किसी का विरोध नहीं होता किन्तु, जब वह धर्म के साथ विरोध खड़ा करता है, तभी विप्लव उपस्थित होता है;

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'प्राचीन साहित्य' (अनुवादक पं० रामदहिन मिश्र) तृतीय संशोधित संस्करण, पृ० ३७।

२. धर्मेणापि पदं शर्वे कारिते पार्वतीं प्रति।
पूर्वापराधभीतस्य कामोस्योच्छ्वसितं मनः ॥' (६।१४)

तभी प्रेम में अस्थिरता और सौन्दर्य में अशान्ति आ जाती है। सौन्दर्य जहाँ इन्द्रियों की वृत्तियों से परे होकर भावों में प्रवेश करता है; वहाँ वह बाह्य अलंकरण वा सौन्दर्य से निरपेक्ष बन जाता है और अन्तःकरण की विभूति रूप में प्रकाश करता है। पार्वती का मन महादेव में "भावैकरस"[1] होकर लग गया था—अर्थात् प्रेम का रस भाव का रस है। "जिस समय धर्म ने तपस्वी और तपस्विनी का मिलन-साधन किया, उस समय स्वर्ग और मर्त्य इस प्रेम के सहायक और साथी हुए। इस प्रेम के आह्वान में सप्तर्षियों का आसन डिगा, और इस प्रेमका उत्सव लोकलोकान्तर में व्याप्त हुआ। इसमें न तो कोई गूढ़ षड्यंत्र था, न असमय में वसन्त का ही उदय हुआ था और न छिपे-छिपे कामदेव ही अपना शर तान रहा था। इस उत्सव की जो अम्लान मंगल-शोभा थी, वह समस्त संसार के आनन्द की सामग्री थी। सारे संसार ने इस शुभ-मिलन के निमन्त्रण में योग देकर इसे सुसम्पन्न किया था।"[2]

कालिदास ने यह निदर्शित किया है कि धर्म में जो सौन्दर्य है, वही ध्रुव है और प्रेम का जो शान्त तथा संयत रूप है, वही श्रेष्ठ है, बन्धन में ही यथार्थ शोभा है और उच्छृङ्खलता में सौन्दर्य की विकृति। "तपोवन में सिंह-शिशु के साथ नर-शिशु का जैसे क्रीड़ा-कौतुक है, वैसे ही उनके काव्य-तपोवन में योगी और गृही के भाव समन्वित हैं। काम की करतूत ने उस सम्बन्ध को विच्छिन्न करने की चेष्टा की थी, इसी से कवि ने उसपर वज्र-निपात करके, तपस्या द्वारा कल्याण-मय गृह के साथ अनासक्त तपोवन का सुपवित्र सम्बन्ध फिर से स्थापित किया है। कविने आश्रम की भित्ति पर गृहस्थ-मन्दिर प्रस्तुत किया है और कामदेव के हठात् आक्रमण से नर-नारी के पवित्र सम्बन्ध का उद्धार कर, उसे तपःपूत और निर्मल योगासन के ऊपर प्रतिष्ठित किया है। भारतीय शास्त्रों में नर-नारियों का संयत सम्बन्ध कठिन अनुशासन के रूप में आदिष्ट है और वही कालिदास के काव्यों में सौन्दर्य के सामानों से सुसंगठित हुआ है। यह सौन्दर्य श्री, ही और कल्याण से उद्भासित है, गम्भीरता की ओर से नितान्त एकाकी और व्याप्ति की ओर से विश्व का आश्रय-स्थल है। वह त्याग से परिपूर्ण, दुःख से चरितार्थ और धर्म से ध्रुव निश्चित है। इसी सौन्दर्य से नर-नारियों के दुर्निवार और दुर्गम प्रेम के प्रलयकारी वेग ने अपने को संयत करके मंगल-रूपी

---

१. पार्वती ने कपट-वेश-धारी शंकर को उत्तर दिया था—
"ममात्र भावैकरसं मनः स्थिरम्" (मेरा मन उन्हीं में भावैकरस होकर लगा हुआ है)।

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'प्राचीन साहित्य' (अनुवादक पं० रामदहिन मिश्र) तृतीय संशोधित संस्करण, पृ० ३३।

महासमुद्र में परम स्थिरता प्राप्त की है। इसी से वह संयत प्रेम-बन्धन-विहीन दुर्द्धर्ष प्रेम की अपेक्षा महान् और आश्चर्य-जनक है।[1]

(१३) प्रकृति-चित्रण

कालिदास के काव्यों में प्रकृति की नानारूपिणी छवियों के नितान्त मनोरम एवं प्रभावशाली चित्रण उपलब्ध होते हैं। यह सचमुच हमारे कवि के समृद्ध व्यक्तित्व का प्रकाशक है कि शृंगार की कमनीयता तथा उद्देश्य की शालीनता का जो मणिकांचन संयोग उसकी कृतियों में प्रतिफलित हुआ है, उसमें प्रकृति-नटी के अभिराम नृत्यों का सन्निवेश कम आकर्षक नहीं है। कवि प्रकृति में रम गया है, घुलमिल गया है, और जिस प्रकार प्रकृति की रमणीयतायें चिर-पुरातन होने पर भी चिर-नवीन रहती हैं, उसी प्रकार कवि की कूँची प्रकृति-चित्रों को सजाने में जिस कौशल का परिचय देती है, उसमें उसकी परिचित कला का संस्पर्श रहते हुए भी, चिर नव्यता, चिर उल्लास एवं चिर लालित्य के तत्त्व स्पन्दित होते रहते हैं। राइडर (A. W. Ryder) की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—"कालिदास के चरित्र में वह विस्मयजनक सन्तुलन है जिसके कारण वे वन और महल दोनों का वर्णन समान सजीवता के साथ करते हैं। किसी अन्य कवि से उनकी तुलना इस विषय में की जाय, यह मुझे नहीं ज्ञात है। प्राकृतिक सौन्दर्य में शेक्सपियर की आश्चर्योत्पादक सूझ स्वीकार की गई है, लेकिन वह भी मुख्यतः मानव-हृदय का कवि है। कालिदास के सम्बन्ध में न यही कहा जा सकता है कि वे मुख्यतः मानव-हृदय के कवि हैं और न यही कहा जा सकता है कि वे मुख्यतः प्राकृतिक सौन्दर्य के कवि हैं। ये दोनों गुण उनमें रासायनिक ढङ्ग से मिले हुए हैं—ऐसा कहा जा सकता है। जो तथ्य मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ, वह 'मेघदूत' में सुन्दरता-पूर्वक प्रतिफलित है। 'पूर्वमेघ' में बाह्य प्रकृति का वर्णन है, फिर भी उसमें मानवीय भावनाएँ उलझी हुई हैं। 'उत्तरमेघ' मानव-हृदय का चित्र है, फिर भी वह चित्र प्राकृतिक सौन्दर्य के 'फ्रेम' में मढ़ा हुआ है। यह इतनी खूबी से किया गया है कि यह कहना कठिन है कि इन दोनों में कौन भाग श्रेष्ठतर है। × × × × कालिदास ने पाँचवीं शती में वह बात समझ ली थी जिसे यूरोप उन्नीसवीं शती तक नहीं समझ पाया था, और अभीतक केवल अधूरा ही समझता है—यह कि संसार मनुष्य के लिए नहीं बना है, यह कि मनुष्य अपनी पूरी ऊँचाई तक तभी पहुँचता है जब वह मानवेतर जीवन का मूल्य तथा गौरव समझ जाता है।'[2]

---

१. वही, पृ० ३६।

कालिदास ने प्रकृति-विषयक अपनी दृष्टि-भंगिमा को हिन्दू जाति की चिराचरित प्रतिभा से प्राप्त किया था। भारतीय मानस के लिए मानव-जीवन विभिन्न जीवनों की शृङ्खला में तथा सृष्टि की समग्रता में एक कड़ी मात्र है। जब मनुष्य-जीवन प्रकृति-जीवन से मिल जाता है, तभी उसका महत्त्व होता है। साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि केवल अपने में तथा मानव-जीवन से असंबद्ध होने पर प्रकृति के जीवन का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः मनुष्य की आँखों के अभाव में, प्रकाश-शक्ति के स्पन्दनों का एक समवाय-मात्र और ध्वनि इसी प्रकार के स्पन्दनों का समवाय सिद्ध होगा। मनुष्य की इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क ही इन स्पन्दनों को आनन्द के संवेदनों के रूप में परिणत करते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक आत्मा परिवर्त्तन का एक केन्द्र है जिसके सहारे निरी शक्ति उच्चतर मूल्यों में रूपान्तरित हो जाती है और अस्तित्व के ऊँचे धरातल पर उठ जाती है। भारतीय प्रतिभा और भी आगे बढ़ गई है और ईश्वरीय प्रकाश के केन्द्र का अनुसन्धान कर लिया है जिसके ही आलोक में मनुष्य तथा प्रकृति दोनों अपना जीवन तथा महत्त्व प्राप्त करते हैं। उपनिषद् के ऋषियों ने स्पष्ट घोषणा की—"येन सूर्यस्तपति तेजसिद्धः (जिसके तेज से प्रकाशित होकर सूर्य चमकता है); "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (उसके आलोक से यह दृश्यमान विश्व चमकता है)। सत्य के साक्षात्कार से अभिभूत होकर मंत्रद्रष्टा ऋषि बोल उठा,—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्यव्यूह-रश्मीन्। समूहतेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥"

—'सूर्य के इस सुनहले बिम्ब से सत्य का मुख छिपा हुआ है। हे पूषन्! इस सुनहले आवरण को हटा दो जिससे इसके भीतर छिपे सत्य का मैं निर्बाध दर्शन कर सकूँ। तू अपनी जलती किरणों को समेट ले और एक तरफ हटा ले। तू अपने चिरन्तन, पवित्र तथा प्रकाशमान् रूप को मुझे देखने दे। सूर्यबिम्ब की आत्मा और मेरी आत्मा दोनों एक ही हैं।'

एक दूसरे प्रसिद्ध मंत्र में यह बताया गया है कि किस प्रकार अगणित रश्मियों वाला सूर्य हमारे चतुर्दिक अनेक रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा है, सबका पूज्य, शिक्षक एवं शरण्य है, उल्लास तथा ज्योति का सबसे श्रेष्ठ प्रसारक है और सब का जीवन है—

"विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधावर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥"

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि भारतीय प्रतिभा ने मानव, प्रकृति तथा परमेश्वर में कोई विभेद अथवा पार्थक्य नहीं समझा। कालिदास की कृतियों में जो हम ऐसा देखते हैं कि प्रकृति के प्रति मनुष्य का प्रेम चित्रित करते-करते, कवि की भावना मनुष्य के प्रति प्रकृति का प्रेम चित्रित करने लग जाती है और फिर इन दोनों से हट कर परमेश्वर के प्रति इन दोनों के अनुराग का वर्णन करने लग जाती है, उसके मूल में हमारी जातीय मनोवृत्ति की ही प्रेरणा विद्यमान समझी जानी चाहिए।

प्रतिभा के विकास के साथ-साथ कालिदास के प्रकृति-वर्णन में भी विकास हुआ है। 'ऋतुसंहार' युवक कवि की रचना है जो प्रकृति को प्यार करता है। इसी कारण, नारी की कविता में प्रधानता है। उसकी वेशभूषा एवं अलंकरण, उसका सौन्दर्य एवं आकर्षण, उसका प्रेम एवं आनन्द—ये ही वस्तुएँ सभी ऋतुओं में चित्रित हुई हैं। 'कुमारसंभव' में प्रकृति-जीवन तथा दैवी जीवन पारस्परिक सम्बन्ध में अनुस्यूत हो गए हैं। काव्य की कथा-वस्तु सृष्टि के भव्यतम, उदात्ततम स्थल में उपन्यस्त हुई है। विश्व का कोई काव्य इतनी ऊँचाई तक जाने का साहस नहीं कर सका है। हम देखते हैं कि पुनीत पर्वतराज हिमालय भगवान् शंकर की तपस्या तथा उससे भी बढ़कर भगवती उमा की विस्मय-जनक तपस्या से और भी पवित्र हो गया है। बारम्बार पुण्यतोया गंगा की प्रशंसा में लिखित पद्य मिलते हैं जिन में कवि के आनन्दातिरेक के स्पन्दन स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। काव्य के चित्रपट को भरने वाले देवता और मुनि हैं और उन सबके शिरमौर हैं, शंकर और पार्वती और सुब्रह्मण्य। ऐसा प्रतीत होता है, मानो सीमित पवित्रता तथा सौन्दर्य वाले सामान्य मर्त्यों के प्रवेश से काव्य दूषित हो जाता। लेकिन, 'मेघदूत' में कवि ने प्रकृति एवं मनुष्य को एक नवीन एवं मौलिक ढंग से परस्पर जोड़ दिया है। मानव-जीवन तथा प्रकृति-जीवन के संग्रथन को एक आवश्यकता और एक आनन्द के रूप में चित्रित किया गया है। 'पूर्वमेघ' में प्रणय-कातर प्रेमी सृष्टि के सौन्दर्य पर रुकता-थिरकता है और अपने घायल हृदय के लिए एक मलहम प्राप्त करता है। 'उत्तरमेघ' में जो प्रेम के आस्वादित आनन्द की स्मृतियों तथा प्रत्याशित संयोग की सुखमयी सम्भावनाओं के मर्मद्रावक चित्रों से आपूर्ण है, हमें एक ऐसी शान्त एवं आनन्दमयी पृष्ठभूमि मिल जाती है जिससे प्रणयी की उत्कंठाओं की शान्त एवं आनन्दमयी फलोपलब्धि का निश्चय-सा हो जाता है। 'रघुवंश' तक पहुँचने पर, कवि की कला का स्वरूप अधिक व्यापक एवं प्रकृष्ट हो गया है। प्रथम सर्ग में ही, प्रकृति के जीवन को व्यक्तिगत मानव-जीवन के साथ ही नहीं, अपितु राष्ट्र अथवा जाति के बृहत्तर जीवन के साथ सम्बन्धित दिखाया गया है। कवि ने यह संकेत किया है कि नगर और तपोवन के गठबन्धन से, लौकिक और पारलौकिक आदर्शों के परिणय से, अत्यन्त शुभ एवं

श्रेयस्कर परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं। काव्य का पर्यवसान नागरिकता, मदिरा तथा विषयोपभोग में दिखा कर, उसने यह व्यंजित किया है कि मनुष्य का जीवन, प्रकृति के जीवन एवं ईश्वरीय जीवन से पृथक् होने पर निश्चय ही व्यक्तिगत निर्वीर्यता, सामाजिक विनाश तथा राजनीतिक विपत्ति में अधिग्रस्त हो जाता है। 'शाकुन्तल' में मानव-जीवन का नितान्त सान्द्र एवं उत्कट संगीत मुखरित हुआ है, तो भी वह प्रकृति-जीवन में एकदम घुलामिला है। प्रथम अंक में ही नगर तथा तपोवन का मेल, व्यक्ति-जीवन तथा प्रकृति-जीवन का मेल और विषयों के जीवन तथा आत्मा के जीवन का मेल सम्पन्न हुआ है। विषयानुराग का ज्वर शमित होने पर प्राकृतिक सुषमा एवं आध्यात्मिक जीवन के श्रेष्ठतर स्वर्ग में हम पहुँचा दिये जाते हैं जहाँ केवल प्रेमियों का पुनर्मिलन नहीं होता, अपितु व्यक्ति के जीवन तथा प्रकृति के भव्यतम एवं उदात्ततम जीवन का पुनर्मिलन हो जाता है।

वेदों एवं उपनिषदों में प्रकृति-काव्य जिस ऊँचाई तक पहुँच गया है, वह न तो कालिदास में, और न अन्यत्र ही दृष्टिगोचर होता है। उनमें उस अनन्त तथा अनश्वर आनन्द का गान किया गया है, जो मनुष्य तथा प्रकृति में व्याप्त है और फिर भी उनसे परे भी है और जिन रागाविष्ट पद्यों में यह आनन्द मुखरित हुआ है, वे अनियंत्रित आध्यात्मिक भावोच्छ्वास से स्पन्दनमान् हो रहे हैं। कालिदास के काव्यों में इस सर्वव्यापक तथा सर्वातीत आत्मा की भावना प्रधान रूप में परिलक्षित नहीं होती। उनकी-सी प्रतिभा वाले मौलिक कवि से, जिसमें जातीय प्रेरणाओं का एक उत्कृष्ट स्वरूप अवतीर्ण हुआ था, ऐसी आशा की जा सकती थी। लेकिन, उनकी विषयोन्मुखता, मानवीय भावों के अनुराग तथा मानव-संसार को छोड़कर प्रकृति-संसार में घुलमिल जाने की अनिच्छा ने उन्हें उस प्रकार का प्रकृति-काव्य रचने से रोक दिया। समग्र प्रकृति की अपेक्षा, कालिदास प्रकृति के रूपों में अधिक अनुरक्त हैं, और प्रकृति के रूपों में भी वे सौन्दर्य के व्यापक प्रभावों (Mass effects) का नहीं, अपितु अलग-अलग सुन्दर वस्तुओं का चित्रण करते हैं। वहाँ भी उन्होंने मानवीय भावनाओं एवं व्यापारों का चित्रण किया है तथा इन वस्तुओं को मानवीय रागों से जोड़ दिया है। समुद्र के शांत वा विक्षुब्ध रूपों के, विध्वंसकारी भयंकर झंझाओं के, सूर्योदय तथा सूर्यास्त के भव्य दृश्यों के, विशाल वनराजि की अशान्त बनाने वाली नीरवता के अथवा गगनचुम्बी निर्वाक् पर्वतों के उदात्त चित्र कालिदास की कृतियों में उपलब्ध नहीं होते।

तथापि, उनके प्रकृति-चित्रण के कतिपय सामान्य अंग अत्यन्त सुन्दर तथा अनुपम बन पड़े हैं। प्रकृति के प्रत्येक महान् रूप से उनका निकट का परिचय है। सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में एक सार्वभौम आत्मा की व्याप्ति मानने के अतिरिक्त, भारतीय

दर्शन एवं धर्म-भावना प्रकृति के प्रत्येक महान् रूप का एक अधिशासक देवता भी मानती आई है। कालिदास हिमालय को 'देवतात्मा' कहते हैं। 'कुमारसम्भव' के छठे सर्ग (श्लोक ५८) में उन्होंने हिमालय के दो रूपों, चल और अचल का उल्लेख किया है—चल रूप में वह देवता है और अचल रूप में पर्वत है। गंगा को बार-बार नदी और देवता दोनों रूपों में वर्णित किया गया है। वसन्त देवता भी है और नवजीवन एवं नवोन्मेष का एक रूप भी है। उसके आजीवन अंतरंग मित्र हैं, काम और रति—जो प्रेम एवं आनन्द के प्राणोत्स्फुरणमय प्रतीक हैं, जो मानव-हृदय के राज्य पर शासन करते हैं। 'कुमारसंभव' के तीसरे सर्ग में कवि ने वसंत के आगमन पर प्रस्फुटित होने वाली नवजीवन-सम्पदा का मनोरम चित्रांकन किया है। 'शाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में मानवात्मा के प्रति प्रकृति की सहानुभूति का श्लाघ्य वर्णन हुआ है। वनदेवता शकुन्तला को आशीर्वाद देते हैं और उसे चमकीले रेशमी वसन तथा आभूषणों का उपहार प्रदान करते हैं। कोयल अपनी मधुर ध्वनि से उसे वन का सन्देश सुनाती है। आकाशवाणी के रूप में वनदेवों के आशीर्वाद उनकी प्राणप्यारी शकुन्तला को प्राप्त होते हैं। कवि आगे और कहता है—

"उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिचत्तणच्चणा मोरा।"
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥
["उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः" ॥] ॥४।१२॥

—'(शकुन्तला की विदाई से दुखी होकर) हरिणियाँ चबाई हुई कुशा के कौर उगल रही हैं, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताओं से पीले-पीले पत्ते इस प्रकार झड़ रहे हैं, मानों उनके आँसू गिर रहे हों।'

'शाकुन्तल के छठे सर्ग में पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसती दुष्यन्त की आत्मा को प्रकृति अपना स्निग्ध मलहम लगाती चित्रित की गई है। 'मेघदूत' में प्रणय-कातर यक्ष को प्रकृति की छवियों से नवीन शान्ति एवं नवीन साहस मिला है। 'शाकुन्तल' के सप्तम अंक में कवि का प्रकृति-वर्णन बड़ी ऊँचाई पर पहुँच जाता है, जहाँ न तो पृथ्वी के कष्ट एवं यातनाएँ हैं, न स्वर्ग के आनन्द हैं, अपितु वह सम्पूर्ण स्थल शान्ति, तपस्या तथा पूजन के वातावरण में निमज्जित है और दुष्यन्त आनन्दातिरेक में चिल्ला उठता है—"स्वर्गादधिकतरं निवृत्तिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाहोऽस्मि"—'यह स्थान स्वर्ग से भी बढ़कर शान्तिपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं अमृत के कुण्ड में अवगाहन कर रहा हूँ।' मानवात्मा के

प्रति प्रकृति की सहानुभूति का एतादृश चित्रण आंग्ल-साहित्य के विख्यात समीक्षक रस्किन की 'पैथेटिक फैलेसी' (Pathetic fallacy) की सीमा को लाँघ जाता है। प्रकृति से प्राप्त इस प्रकार की अनुभूति जीवन की एक महत्त्वमयी, महान् वास्तविकता है और कालिदास ने प्रस्तुत संदर्भ में उसे अत्यन्त प्रभविष्णुतापूर्वक व्यंजित किया है।

राबिन्सन (R. E. Robinson) का कथन है कि "उसकी आँखें पारदर्शी 'प्रिज्म' के समान जीवन के सभी गहरे चमकीले रंगों को पहचान लेती थीं और उसका मस्तिष्क कलाकार की रंग मिलानेवाली पटरी के समान उन्हें ग्रहण कर रत्नोपम सौन्दर्य के चित्रणों में अनूदित कर देता था"।[1] कालिदास ने प्रकृति-जीवन के विशिष्ट रूपों का जो ललित एवं उल्लसित चित्रण किया है, उसका विवेचन कर लेना हमारे लिए स्पृहणीय प्रतीत होता है। 'ऋतुसंहार' में ऋतुओं का जो वर्णन हुआ है, उसकी समीक्षा उस काव्य से सम्बन्धित अध्याय में की गई है। कालिदास ने अपने अन्य काव्यों में भी ऋतुओं का मनोरम वर्णन किया है। वसंत का वर्णन 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग तथा 'मालविकाग्निमित्र' के तीसरे अंक में बड़ी सजीवता के साथ किया गया है। तीसरे अंक के पाँचवें पद्य में कवि कहता है कि 'अशोक के लाल फूल की दीप्ति ने स्त्रियों के रंगे हुये अधरों की ललाई को लज्जित कर दिया है। काले, उजले और लाल रंगों के कुरबक के फूलों ने वनिताओं के मुखों पर की गई चित्रकारी को फीका कर दिया है। काले भ्रमरों से लिपटे हुए तिलक के फूलों ने स्त्रियों के मस्तक पर लगे तिलक को अपमानित कर दिया है। ऐसा जान पड़ता है, मानो वसंत की शोभा आज सुन्दरियों के मुख के शृङ्गार को निरादृत करने पर तुली हुई है।' 'विक्रमोर्वशीय' के दूसरे अंक के सातवें श्लोक में वसंत-श्री को मुग्धा एवं यौवना के बीच वाली स्थिति में यों चित्रित किया गया है, 'यह है कुरबक का फूल जिसका सिरा स्त्री के नख के समान लाल है और जिसके दोनों छोर साँवले रंग के हैं। अपनी लालिमा से सुन्दर लगने वाला यह लाल अशोक का फूल, जान पड़ता है कि अब खिलने ही वाला है। आम्रवृक्ष में कुछ-कुछ दिखाई देने वाले पराग के कारण पीली-सी लगने वाली नई मंजरी फूट रही है। इस प्रकार यह वसंत की शोभा ऐसी विराजती है, मानो वह कैशोर्य एवं यौवन

---

१. His eyes singled out like a prism all the rich glowing tints of life's colours, and his brain, receiving them, as if it had been a palette, translated them into descriptions of jewel-like beauty." (R. E.Robinson.)

के बीच में खड़ी हो—'मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता' 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक में ग्रीष्म का, तथा 'मेघदूत' में प्रावृट् के विविध आकर्षणों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है।

आकाशीय दृश्यों के चित्रण कवि ने बारबार किये हैं। यहाँ भी आकाश, सूर्य, चन्द्रमा तथा तारिकाओं के समष्टिगत रहस्य ने उसकी अन्तर्दृष्टि को प्रज्वलित नहीं किया है, अपितु उनकी अलग-अलग सुषमाओं ने उसे चमत्कृत किया है। उपनिषदों में सूर्य की जैसी भव्य स्तुतियाँ की गई हैं अथवा भवभूति के उस प्रसिद्ध पद्य ('कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते') में जो रूप अंकित किया गया है, उसके प्रतिस्पर्धी चित्र कालिदास की कृतियों में उपलब्ध नहीं हैं। सूर्योदय तथा सूर्यास्त की चिर नवीन स्वर्गीय रंगोंवाली सुषमायें यथेष्ट शक्ति के साथ चित्रित नहीं हुई हैं। 'शाकुन्तल' के चौथे अंक के प्रथम श्लोक में चन्द्रास्त ऐवं सूर्योदय का युगपद् वर्णन हुआ है। 'मालविकाग्निमित्र' के दूसरे अंक के बारहवें श्लोक तथा 'विक्रमोर्वशीय' के दूसरे अंक के बाइसवें श्लोक में मध्याह्न का प्रभावोत्पादक चित्रण प्राप्त है। हंस कमलों की छाया में अपने नेत्र बन्द कर विश्राम कर रहे हैं। धूप से भवन ऐसा जल रहा है कि छज्जों पर कबूतर तक नहीं बैठ रहे हैं। चलते हुए रहँट से उछलती हुई पानी की बूँदें पीने के लिये मोर उसके चारों ओर चक्कर काट रहे हैं। भौंरा कनेर की कली का मुँह खोलकर उसमें छिपने का उपक्रम कर रहा है। जलकुक्कुट ताल का गर्म पानी छोड़कर, तटपर खिली हुई कमलिनी की छाया में बैठ गया है। क्रीड़ामन्दिर के पिंजड़े में पड़ा हुआ सुग्गा क्लान्त होकर पानी माँग रहा है। और, सूर्य अपनी समग्र किरणों के साथ ऐसा चमक रहा है जैसे राजा अपने सब राजसी गुणों से चमकते हैं। इन चित्रों में गतानुगतिकता का पुट होते हुए भी, यथेष्ट सटीकता वर्तमान है।

सूर्यास्त की नीरवता ने कवि को अधिक आकृष्ट किया है। 'रघुवंश' के पहले और दूसरे सर्गों में तथा 'विक्रमोर्वशीद' के तीसरे अंक के दूसरे श्लोक में सूर्यास्त-कालीन पार्थिव जीवन के, स्वयं सूर्यास्त के नहीं, सुन्दर वर्णन उपलब्ध हैं। 'रघुवंश' के दूसरे सर्ग के पन्द्रहवें श्लोक में सूर्यास्त को कोमल किसलय के समान लाल और 'कुमारसंभव' के आंठवें सर्ग के चौवनवें श्लोक में इसे रक्तरंजित समरांगण के समान लाल बताया गया है। नीरवता में निमज्जित तारकखचित रजनी की माया का चित्रण भी कहीं प्राप्त नहीं होता। 'मेघदूत' में बादलों के अनेक सुन्दर एवं भव्य चित्र सन्निविष्ट हो गए हैं। किन्तु, कालिदास ने चन्द्रमा से सम्बन्धित अत्यन्त मोहक एवं चित्ताकर्षक चित्रण प्रस्तुत किए हैं। उन्हें सबसे बढ़कर चन्द्रमा का कवि कहा जा सकता है। 'रघुवंश' के छठे सर्ग के बाइसवें श्लोक में कवि ने

कथन है कि यद्यपि रात्रि ताराओं एवं ग्रहों से सुशोभित है तथापि यह केवल चन्द्रमा से ही ज्योतिष्मती है—"नक्षत्रताराग्रहसंकुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः।" 'विक्रमोर्वशीय' के तीसरे सर्ग के सातवें श्लोक में चन्द्रमा की सुन्दर स्तुति की गई है,—"हे भगवन् चन्द्रमा ! हे सज्जनों की धार्मिक क्रियाओं में सूर्य के साथ-साथ स्मरण किये जाने वाले ! हे अमृत पिला कर देवों तथा पितरों को तृप्त करने वाले ! हे रात्रि के व्याप्त अन्धकार को दूर करनेवाले ! हे शिव जी के जटाजूट पर रहने वाले ! आपको प्रणाम है।" इसी सर्ग के छठे श्लोक में उदयाचल के पीछे छिपे हुए चन्द्रमा की मरीचियों से अपसारित होने वाले अन्धकार के लिए प्राची दिशा के जूड़ा बँधे हुए मुख की उत्प्रेक्षा की गई है। लेकिन, चन्द्रमा का नितान्त मोहक एवं रागार्द्र चित्रण 'कुमारसम्भव' के अष्टम सर्ग में, शंकर-पार्वती की संभोग-केलियों के सन्दर्भ में, उपलब्ध होता है। महादेव जी मानिनी उमा से संध्या के आदर का यह कारण बताते हैं कि जब विधाता ने पितरों को रचा था, उस समय उन्होंने अपनी एक छोटी सी मूर्ति बना छोड़ी थी जो सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सन्ध्या के रूप में पूजी जाती है। तदनन्तर शंकर जी ने चन्द्रमा का जो ललित वर्णन किया है, वह कवि के चन्द्रानुराग का सुन्दर द्योतन करता है। निम्नोद्धृत चित्रों का आस्वाद लीजिए :—

"नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि ॥" (८।५६)
"शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हृतान्तरम् ॥" (८।५७)
"अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥" (८।६३)
"रक्तभावमपहाय चन्द्रमाजात एष परिशुद्धमण्डलः।
विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥" (८।६५)
"उन्नतेषु शशिनः प्रभा स्थिता निम्नसंश्रयपरं निशातमः।
नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गतिः ॥" (८।६६)
"कल्पवृक्षशिखरेषु सम्प्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि।
हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमागतकुतूहलः शशी ॥" (८।६८)
"एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं वोढुमक्षममिव प्रभारसम्।
मुक्तषट्पदविरावमञ्जसा भिद्यते कुमुदमानिबन्धनात् ॥" (८।७०)
"एष चारुमुखि योग्यतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः ॥" (८।७३)

—'जो चन्द्रमा दिन भर दिखाई नहीं देता था, वह इस समय निकला हुआ ऐसा प्रतीत होता है, मानों रात्रि के अनुरोध से वह चाँदनी के रूप में मुसकराता हुआ पूर्वदिशा के सब भेद खोल रहा है। उदय लेता हुआ चन्द्रमा प्रियंगु के फल के समान लाल दिखाई पड़ रहा है। आकाश का चन्द्रमा तथा ताल के पानी में पड़ी हुई चन्द्रमा की परछाईं, दोनों ऐसे लगते हैं मानों रात्रि के आगमन से, चक्रवाक का युग्म विप्रयुक्त होकर विडंबित हो रहा है। इस समय कमल मुँद गए हैं और चाँदनी फैल जाने से अन्धकार मिटगया है। इसलिए, अभी चन्द्रमा ऐसा दीख पड़ रहा है, मानों वह अपनी किरणरूपी अंगुलियों से रजनीरूपी नायिका के मुँह पर फैले हुए अंधकाररूपी केशों को हटाकर, उसका मुँह चूम रहा हो और रात भी उस चुम्बन का रस लेने के लिए अपने कमलरूपी नयन बन्द किए बैठी हो। चन्द्रकिरणों से गहरे तिमिर के हट जाने पर आकाश ऐसा जान पड़रहा है, मानों हाथियों की जल-क्रीड़ा से गँदला मानसरोवर निर्मल हो चला हो। कल्पवृक्ष के शिखरों पर सम्प्रति प्रस्फुटित होने वाली रश्मियों को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानों चन्द्रमा अपनी किरणों से कल्पवृक्षों में चन्द्रहार बनाने आ पहुँचा हो। पहाड़ के ऊँचे-नीचे होने से कहीं चाँदनी छिटक रही है और कहीं अँधेरा है। अतएव, यह ऐसा दिखाई पड़ रहा है, मानों किसी मतवाले हाथी पर विविध भाँति की चित्रकारी की गई है। यह जो भ्रमरों की गूँज से भरा हुआ कुमुद खिल रहा है, वह ऐसा लगता है मानों साँस ले-ले कर इसने भर-पेट जो चाँदनी पी ली थी, उसे पचा न सकने के कारण इसका पेट फट गया है और यह कराह रहा है। पत्तों के बीच से छन-छन कर, धरती पर पड़ने वाली शशि-प्रभा ऐसी सुन्दर लग रही है जैसे वृक्षों से झड़े हुए फूल हों। जैसे नवोढ़ा वधू पहली बार संभोग के भय से काँपती हुई अपने पति के पास जाती है, वैसे ही ये टिमटिमाती हुई तारिकाएँ भी काँपती हुई चन्द्रमा के पास जाती हैं।'

कालिदास ने, जैसा पहले कहा गया है प्रबल झंझाओं का वर्णन नहीं किया है। उन्हें वासन्ती दक्षिण पवन के शीतल, मन्द एवं सुगंधित प्रवाह का कथन करने में आनन्द मिला है?[1] समुद्र का वर्णन प्रायः उनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता। 'रघुवंश' के तेरहवें सर्ग में समुद्र का वर्णन हुआ है, लेकिन इसमें कवि की प्रेरणा

---

१. "भङ्क्ते चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे।
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन।" (माल०, ३।४)
"कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिश्वासमिवोत्ससर्ज॥" (कु०, ३।२५)

एवं उल्लास के दर्शन नहीं होते। समुद्र को उसमें वर्षा का उत्स तथा विष्णु की शय्या और चन्द्रमा का जन्म-स्थान कहा गया है। सिर के छिद्रों से जल की धारा उड़ाने-वाली ह्वेल मछलियों का तथा शंख और प्रवाल का वर्णन हुआ है। समुद्र में नदियों के गिरने के दृश्य का अत्यन्त सरस चित्रण निम्नोद्धृत श्लोक में द्रष्टव्य है—

"मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः॥"

(रघुवंश, १३।९)

—'दूसरे लोग स्त्रियों का अधर-पान करते हैं, अपना अधर उन्हें नहीं पिलाते। किन्तु, समुद्र का ढंग निराला है क्योंकि जब नदियाँ ढीठ होकर अपना मुख इसके सामने बढ़ाती हैं, तब यह बड़ी चतुराई से अपना तरंग-रूपी अधर उन्हें पिलाता है और उनका अधर स्वयं पीता है।'

पर्वतों के वर्णन में कालिदास अधिक पटु एवं सजीव हैं। 'मेघदूत' में रामगिरि तथा कैलाश और मेघ के मार्ग में पड़ने वाले पहाड़ों का वर्णन उपलब्ध है। 'विक्रमोर्वशीय' और 'शाकुन्तल' में हेमकूट का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है। लेकिन, कवि की सरस्वती का प्रभावशाली मुखरण 'कुमारसम्भव' में हिमालय तथा कैलाश के चित्रण में उपलब्ध होता है। किन्तु, यहाँ भी गिरिराज के क्रोड़ में प्राप्त व्यापक एकान्तों, बर्फीली चोटियों, उत्तुंग शिखरों को अपनी मोहक माया में आवृत करने वाले सूर्योदय एवं सूर्यास्त के मनोरम दृश्यों, जल-प्रपातों तथा बर्फीली नदियों और नगाधिराज के विराट गौरव के साक्षात्कार से उत्पन्न होने वाली आध्यात्मिक अनु-प्रेरणा—इन सब बातों का कवि ने कोई चित्रण नहीं किया है। पूर्व एवं पश्चिम के समुद्रों तक फैले हुये हिमालय को, पृथिवी को नापने का मानदण्ड ("पृथिव्या इव मानदंडः") बताकर, उसने अवश्य नगपति के विराट आकार की सुन्दर व्यञ्जना की है। किन्तु, उसके बाद, कवि पर्वतों के अन्तराल में पाये जाने वाले रत्नों, बादलों से उतर कर सिद्धों के निचले प्रान्तों को छोड़कर ऊँची चोटियों पर भाग जाने, शिकारियों के सिंह का आखेट करने, बाँस के छेदों में वायु के भर जाने, चमकीले पौधों के रात में प्रेमियों के लिये सुरत-प्रदीप बन जाने इत्यादि के ही कथन में कवि उलझ गया है। विद्याधर-सुन्दरियों के अनंगलेख, अप्सराओं के मण्डन, किन्नरियों की नितम्बों तथा स्तनों के भार के कारण मन्द गति इत्यादि के वर्णन में उसकी सहज शृंगार-प्रियता के ही दर्शन मिलते हैं। धवल हिम-राशि तो उसके लिए दूषण ही दिखाई पड़ती है, यद्यपि उससे, अनन्त रत्नागार होने के कारण, हिमालय के सौभाग्य में कोई अपचय नहीं हुआ है—

"अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥" (कुमार० १।३)

तथापि, कवि पर्वतीय दृश्यावली, अरण्यों तथा उनमें अवस्थित आश्रमों को प्यार करता है और हमारे भीतर भी उनके लिए अनुराग उत्पन्न कर देता है। उमा और महादेव की तपस्या के स्थलों के वर्णन में उसकी पूज्यभावना तथा उल्लास स्पष्ट लक्षित होती है।

जैसा पहले कहा गया है, कालिदास गंगा के वर्णन में अत्यन्त तन्मय हो गए हैं। गंगानुराग उन्हें रह-रह कर उल्लसित कर देता है। 'रघुवंश' के तेरहवें सर्ग में स्वच्छ जल एवं मन्द प्रवाह वाली मंदाकिनी का मनोरम चित्र अङ्कित हुआ है जिसमें वह पृथ्वी-रूपी नायिका के कण्ठ की मुक्तावली बताई गई है (४८)। गंगा-यमुना के संगम की छवियों का वर्णन अत्यन्त सटीक एवं सजीव है। यमुना की साँवली लहरों से मिली हुई श्वेत लहरों वाली गंगा कहीं चमकने वाली इन्द्रनीलमणियों से गुँथी हुई माला के समान, कहीं नीले और श्वेत कमलों की माला के समान, कहीं साँवले रंग के हंसों से मिले हुए श्वेत रंग वाले राजहंसों की पंक्ति के समान और कहीं श्वेत चन्दन से चीती हुई पृथ्वी पर बीच-बीच में काले अगर से चीती हुई के समान शोभा दे रही है। गंगा का यह अनुराग केवल भावनाश्रित ही नहीं है, अपितु संगम की सटीक सुषमा की व्यंजना करने के लिए कवि परम निष्ठा के साथ उत्कंठित है—

"क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्य नभःप्रदेशाः॥" (१३।५६)

—'कहीं-कहीं गंगा वृक्ष के नीचे की उस चन्द्रिका की नाईं शोभती हैं, जिसके बीज-बीच में पत्तों की छाया पड़ी हो और कहीं-कहीं शरदतु उन उजले बादलों की नाईं जान पड़ती है जिनके बीच-बीच में नीला आकाश झाँक रहा है।

'कुमारसंभव' के दसवें सर्ग में गंगा की महिमा का बखान करते हुए कवि की पारदर्शी सचाई स्फटिकवत् व्यक्त हो गई है।[1]

पशु-पक्षियों के सूक्ष्म एवं सावधान चित्र भी कवि की कृतियों में उपलब्ध होते हैं। 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक में भय से भागते हुए हरिण का चित्रण नितान्त प्रभावोत्पादक है। 'रघुवंश' के चौथे सर्ग के छप्पनवें श्लोक में युद्ध वाले अश्वों का वर्णन सुन्दर हुआ है। उसी के प्रथम सर्ग में नन्दिनी गाय के वर्णन में कवि का अनुराग देखने योग्य है। नन्दिनी का शरीर नये पत्ते के समान कोमल और लाल

---

१. श्लोक २६, ३०, ३१ तथा ३६ द्रष्टव्य हैं।

है; उसके मस्तक पर भूरे बालों की वक्र रेखा बनी हुई है, इससे वह ऐसी शोभा पा रही है जैसे लाल संध्या के भाल पर द्वितीया का चन्द्रमा चढ़ आया हो—

"ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ।। (रघुवंश १।८३)

गाय का वात्सल्य भी कवि की आँखों से ओझल नहीं हुआ है—

"भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ।।" (रघु०, १।८४)

—'अपना बछड़ा देखते हुये, उसके कुण्ड के समान बड़े थनों से वह गरम-गरम दूध निकल कर भूमि पर टपकने लगा जो यज्ञ के स्नान के जल से भी अधिक पवित्र था।

लेकिन, कालिदास की रचनाओं में भ्रमर और कोकिल को सर्वाधिक महत्त्व मिला है। 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक के बाइसवें श्लोक में शकुन्तला के रति-सर्वस्व अधर का पान करने वाले मधुकर का प्रसिद्ध चित्र सहृदयों के हृदय-मन्दिर में सदा के लिए प्रवृष्ट हो गया है। कोयल से सम्बन्धित एक चित्र यह देखें—

"त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मर मते रमते स्म वधूजनः ।।" (रघु०, ६।४७)

—'उन दिनों कोयल की कूक मानों कामदेव का यह आदेश सुना रही थी कि हे स्त्रियो ! मान छोड़ो, लड़ाई झगड़ा छोड़ो, बीता हुआ यौवन फिर हाथ नहीं आता। यही सुन-सुन कर सभी रमणियाँ अपने-अपने पतियों के साथ फिर रमण करने लगी हैं।'

कतिपय वृक्षों के वर्णन में कालिदास को विशेष आनन्द मिला है। कुसुमों की सुषमा एवं सौरभ से तो वे भूरिशः अभिभूत हैं। यों तो उनके काव्य में कमल, नीलोत्पल एवं कुमुद का ही अधिराज्य है। 'मालविकाग्निमित्र' के पाँचवें अंक में वे 'कुसुम-लक्ष्मी' तथा 'कुसुम-सौभाग्य' का उल्लेख करते हैं। 'विक्रमोर्वशीय' के दूसरे अंक के सातवें श्लोक में कुरबक, अशोक तथा आम्र के फूलों का अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन हुआ है। 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग के अठाइसवें श्लोक में कर्णिकार का उल्लेख मिलता है। इसी काव्य के तीसरे सर्ग में, वसन्त में प्रस्फुटित होने वाली कुसुमों की वैभव-श्री का मनोरम चित्रण उपलब्ध है। 'मेघदूत' में प्रमदाओं के फूलों द्वारा अपना अलंकरण करने का वर्णन हुआ है। वे ही संस्कृत के एक-मात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने कश्मीर में होने वाले कुंकुम-केसरों का कथन किया है। (४।६७)

प्रस्तुत प्रकरण पुनः राइडर (Ryder) की टिप्पणी उद्धृत कर समाप्त करना उचित प्रतीत होता है—"कम ही ऐसे व्यक्ति ने पृथ्वी पर चरणक्षेप किया होगा जिसने जीवित प्रकृति के रूपों का इतना सूक्ष्म निरीक्षण किया हो जितना कालिदास, यद्यपि उनका निरीक्षण कवि का था, वैज्ञानिक का नहीं। कालिदास के काव्य का पूर्ण आस्वाद लेने के लिये पाठक को ऐसे वनों एवं पर्वतों में अवश्य कुछ सप्ताह व्यतीत करना चाहिये जहाँ मानव की पहुँच नहीं हुई हो। वहीं यह प्रतीति उत्पन्न होती है कि वृक्ष और प्रसून भी सजीव चेतन व्यक्ति हैं तथा अपने जीवन का रस लूटते हैं। नागरी परिवेशों में लौटने पर वह अनुभूति खंडित हो जाती है, तथापि एक रहस्यानुभाव की झाँकी के रूप में, एक श्रेष्ठतर सत्य की सहजानुभूति के रूप में उसकी स्मृति बनी रहती है। कालिदास का प्रकृतिज्ञान केवल सहानुभूतिमूलक ही नहीं है, अपितु वह सूक्ष्मतया सटीक है। हिमालय की हिमराशि तथा पवन-संगीत और पवित्र गंगा की शक्तिशालिनी धारा ही केवल उनके अधिकार की वस्तुएँ नहीं हैं, छोटी-छोटी सरितायें, विटप तथा छोटे-से-छोटा फूल भी उसकी सृष्टिव्यापिनी दृष्टि से बाहर नहीं जा सके हैं। कालिदास और प्रसिद्ध विकासवादी वैज्ञानिक डारविन में मुलाकात का अनुमान करना आकर्षक होगा। उन्होंने एक-दूसरेको भलीभाँति समझ लिया होता, क्योंकि उन दोनों में समान समृद्ध अन्वीक्षण के साथ समान समृद्ध कल्पना वर्तमान थी। पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले हिन्दू के लिए लता से लेकर परमात्मा तक में व्याप्त जीवन की एकता का अनुभव करना निस्सन्देह अधिक आसान है, तथापि हिन्दुओं में भी कालिदास के समान अन्य किसी ने इस भावना को इतनी विश्वासोत्पादक सुन्दरता के साथ व्यक्त नहीं किया है।"[1]

(१४) कालिदास की नाट्य-कला

महाकाव्यों के त्वरित बाद ही संस्कृत नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। ईसवी संवत् की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में अश्वघोष द्वारा रचित नाटक 'शारिपुत्रप्रकरण' की खंडित प्रति प्रो॰ लूडर्स को मध्य एशिया (तूर्फान) में उनके अनुसंधानों के सिलसिले में प्राप्त हुई थी। डा॰ कीथ ने इसे 'गणिका-रूपक' (heterodrama) कहा है। इस नाटक के साथ दो अन्य नाटकों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इसमें एक 'अन्यापदेशी' (allegorical) है जिसमें कीर्ति, धृति इत्यादि पात्र मूर्तरूप में आये हैं, और दूसरे में विट, विदूषक, लफंगे इत्यादि का प्राचुर्य है। अनुमानतः ये भी अश्वघोष के ही नाटकों के अंश हैं। परवर्ती काल में भी नाटकों का प्रणयन

१. K.S. Ramaswami Sastri : 'Kalidasa' Vol.II, पृ० १५८–५९.

होता रहा और नाट्य-कला में विकास का परिक्रम चलता रहा। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में सौमिल्ल, कविपुत्र, तथा भास को अपने पूर्वकालीन नाटककारों के रूप में स्मरण किया है। इनमें भास के सम्बन्ध में ही सम्प्रति कुछ अनुमान किये गये हैं। ये सम्भवतः ईसवी संवत् के दूसरे शतक के उत्तरार्ध या तीसरे शतक के पूर्वार्ध में आविर्भूत रहे होंगे। अपनी प्राचीनता के कारण ही इन्हें की 'मुनि' आख्या से मंडित किया गया है और किंवदन्ती लोकमत में इन्हें व्यास का प्रतिस्पर्धी मानती है। बाण, दंडी, जयदेव, राजशेखर, अभिनवगुप्त इत्यादि ने भास की नाट्य-कला की परिशंसना की है। इधर सन् १९१२–१३ के लगभग गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम् से तेरह नाटकों को प्रकाशित किया और उन्हें भास की कृतियाँ बताया।

विद्वानों का इन नाटकों के भासकृत होने में मतैक्य नहीं हो सका है, किन्तु अधिकांश उन्हें भास की ही रचना मानते हैं। इन नाटकों के कई उल्लेख तथा उद्धरण वामन, भामह इत्यादि आचार्यों ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में संकलित किये हैं। ये नाटक कालिदास के प्राग्वर्ती कवि की रचनायें हैं, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि (१) उनकी संस्कृत शुद्ध, शास्त्रीय कोटि की नहीं है और उसमें कई अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं; (२) इनकी प्राकृत कालिदास की प्राकृत से पुरानी प्रतीत होती है और (३) इनमें भरत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्ण निर्वाह नहीं हुआ है क्योंकि भरत ने जिन दृश्यों को रंगमंच पर प्रदर्शित करने का प्रतिषेध किया है, उनमें से कई दृश्य इन नाटकों में दिखाये गये हैं।

भास के रूपकों में कुछ पूरे नाटक हैं जिनमें चार से लेकर सात तक अंक पाये जाते हैं और कुछ एकांकी हैं। कथानक कुछ रूपकों के रामायण से और कुछ रूपकों के महाभारत से लिए गये हैं। दो नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' और 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' उदयन की लोकप्रिय कथा से संबद्ध हैं तथा दो नाटकों 'अविमारक' एवं 'दरिद्रचारुदत्त' की कथायें कल्पना-प्रसूत हैं। इन चारों नाटकों में प्रेम का सुन्दर चित्रण हुआ है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' उच्चकोटि की रचनायें हैं जिनकी विद्वानों ने भी प्रशंसा की है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में महासेन द्वारा बन्दी बनाये गये राजा उदयन के द्वारा वासवदत्ता के भगाये जाने की कथा वर्णित है। नाटक का प्रमुख पात्र यौगन्धरायण है जो उदयन को बन्दीगृह से मुक्त करने तथा वासवदत्ता से उसका परिणय कराने में सफल होता है। यद्यपि यह नाटक विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' के समान राजनीतिक छद्मों से आपूर्ण है, तथापि इसमें उदयन तथा वासवदत्ता की प्रणयकथा अत्यन्त ललित भंगिमा में चित्रित हुई है। 'स्वप्नवासवदत्त' में उदयन का मंत्री यौगन्धरायण उसकी रानी वासवदत्ता के जल जाने की झूठी खबर फैला देता है और उसे छिपे वेश में

मगधराज की पुत्री पद्मावती के पास रख देता है। उसी की चाल से उदयन का विवाह पद्मावती से हो जाता है। पद्मावती के कक्ष में सोया हुआ उदयन स्वप्न में वासवदत्ता को देखता है और स्वप्न यथार्थ हो जाता है। इस नाटक का संविधानक पहले नाटक की अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक नियोजित हुआ है तथा इसमें उद्देश्य की अन्विति और प्रभाव की अनिवार्यता सुन्दर ढंग से प्रतिफलित हुई हैं। वासवदत्ता और पद्मावती दोनों नायिकाओं का चरित्र अत्यन्त कौशलपूर्वक चित्रित किया गया है, जिससे दोनों के व्यक्तित्व सुस्पष्ट ढंग से उभर आये हैं। हर्ष ने बाद में उदयन की प्रेम-कहानी को अपनी 'रत्नावली' तथा 'प्रियदर्शिका' नाम्नी नाटिकाओं का वक्तव्य विषय बना दिया है। लेकिन, जहाँ उसका नायक उदयन विलासी तथा शठ एवं धूर्त है, वहाँ भास का उदयन पूर्णतः दक्षिण नायक है—अधिक गम्भीर, अधिक निष्ठावान्, यद्यपि प्रेम-कातर और कल्पना-प्रवण भी। वासवदत्ता के चरित्रांकन में कवि ने अधिक कौशल एवं सुकुमारता का उपयोग किया है। वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपाकर, पति के पराक्रम के लिए अपूर्व त्याग करती है। उसका यह आत्मोत्सर्ग और भी चमक उठा है, उदयन के उसी के समान निष्ठामय, किन्तु विवशतापूर्ण प्रेम से। उदयन किस प्रकार विभक्त अनुराग का और राजनीतिक कूटनीति का शिकार होता है इसका मनोरम चित्रण नाटक में हुआ है। यह सुन्दर मर्मस्पर्शी भावों से परिपूर्ण रचना है। वास्तव में यह नाटक "संस्कृत साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है जिसकी प्रभा के सामने अनेक नाटक-रत्न छविहीन प्रतीत होते हैं।" राजशेखर की यह टिप्पणी कि "भास के नाटकों के परीक्षार्थ अग्नि में फेंक दिये जाने पर भी, 'स्वप्नवासवदत्तम्' जलाया नहीं जा सका," सर्वथा युक्तिसंगत एवं समीचीन प्रतीत होती है।[1] (भास, व्यास, पृ० २४१)

भास के नाटकों पर विचार करने से एक बात हमारा ध्यान सद्यः आकृष्ट करती है। इन सभी नाटकों की प्रेरणा परम्परा से प्राप्त हुई है। राजा उदयन की कहानी तथा महाकाव्यों से गृहीत कथानक यह सिद्ध करते हैं कि नाटककार का मूल उद्देश्य वैदिक परम्पराओं के सर्वोच्च देवता और सर्वोच्च मनुष्य के विरुद का गान करना रहा है। ये नाटक महाकाव्यों से अधिक प्रभावित रहे हैं—इस बात का प्रमाण केवल यही नहीं है कि इनकी कथायें महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) से ली गई हैं, अपितु यह भी है कि ये महाकाव्यों की शैली में चित्रित भी हुई हैं। महाकाव्यों के ही समान कथा-कथन एवं वर्णन इन नाटकों के प्रमुख भाग हैं। साहित्य-रचना की अन्य विधाओं से नाटक को पृथक् करने वाली विशेषताएँ अभी उभर नहीं सकी हैं।

---

१. "भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥" (राजशेखर)

वस्तुयोजना तथा चरित्र-चित्रण अद्यापि आरंभिक अवस्था में है। यत्र-तत्र ऐसे दृश्य उपलब्ध होते हैं जिनमें नाट्यकला के बीज वर्तमान हैं। उदाहरणतः, 'स्वप्नवासवदत्तम्' में उदयन अपनी पहली रानी वासवदत्ता को स्वप्न में देखता है जिसके मृत होने का उसे विश्वास है, लेकिन जो जीवित है और मंच पर उपस्थित है; 'प्रतिमा' नाटक में ननिहाल से लौटते हुए भरत को नगर के बाहर देवकुल में दशरथ की प्रतिमा देखकर ही उनके मरने का अनुमान हो जाता है, 'पंचरत्न' में अभिमन्यु को अज्ञात वास करने वाले अपने पिता और पितृव्यों के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं। लेकिन, ऐसे दृश्यों की संख्या नितान्त न्यून है और वे भोंड़े ढंग से अकस्मात् प्रविष्ट कर दिए गये हैं तथा उन्हें विकसित करने में कौशल का उपयोग नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, 'प्रतिमा' में दृश्य नाटकीय है, किन्तु उसकी संभाव्यता एकदम विश्वास से परे है। ननिहाल से भरत को अयोध्या वापस लाने का समय अत्यन्त स्वल्प है, किन्तु इसी समय में दशरथ केवल मर ही नहीं जाते, अपितु उनकी प्रतिमा भी निर्मित हो जाती है और देवकुल में स्थापित भी कर दी जाती है; और सबसे असंगत बात तो यह है कि भरत को इस स्थान का पता पहले-पहल लगता है। "ऐसा प्रतीत होता है कि मानों सामाजिक जीवन में वर्तमान परिष्कार का अभाव इन नाटकों की अ-परिष्कृति में प्रतिबिम्बित हुआ है। वे अपने युग के विद्योतक हैं। वे शक्तिगर्भ और पौरुषपूर्ण हैं, वे गति तथा संकल्प से आगे बढ़ते हैं, किन्तु, उनमें उस कौशल एवं सामञ्जस्य का अभाव है जो शक्ति एवं पौरुष का, उन्हें आकर्षक बनाकर, समुचित निर्वहण कर सके।"[१]

नाट्यकला इन नाटकों में एक अन्य कारण से भी प्रतिहत हुई है—वह है इनमें प्रतिफलित नैतिकतानिष्ठ दृष्टिभंगी। इसी के कारण, भाग्यवादी दृष्टिकोण इनमें मुखर हो उठा है। संसार की दुष्टता एवं दुःख को इस जीवन का अभिशाप तथा दूसरे जीवन का कारण बताया गया है, और ईश्वर भले आदमियों के रक्षक की अपेक्षा दुष्टों के दलन करने वाले के रूप में अधिक चित्रित किया गया है। ऐतिहासिक नायक उदयन भी बुराई की दुनिया में चलता-फिरता है जिससे बच निकलना कठिन है। वीर युवक राजकुमार अविमारक ऋषि के शाप से ग्रस्त होकर रंगमंच पर अवतीर्ण होता है। यह सही है कि अधिकांश नाटकों में नायक-नायिका का मिलन अंत में सम्पन्न हो गया है, किन्तु, यह केवल ऊपरी बात है और इससे यह अर्थ निकालना भ्रामक होगा कि ये नाटक सुखान्तक हैं अथवा यह कि संस्कृत नाटक के लिए कला में विपन्नता तथा विषण्णता अपरिचित वस्तु है। आलोच्य नाटकों में

---

१. Prof. R.V. Jagirdar : 'Drama in Sanskrit Literature', पृ० ८५-८६.

भाग्य के सम्मुख मनुष्य की विवशता का स्पष्ट ध्वनन हुआ है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' के चतुर्थ अंक में विदूषक उस युग का एवं रचयिता का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है, जब वह विपण्ण भाव से भाग्य की अपरिहार्यता का कथन करता है-"अनतिक्रमणीयो विधिः ईदृशमिदानीमेतत् ।" यह भाव ऐसी दृढ़ता एवं एकरूपता के साथ व्यंजित किया गया है कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी दुःख एवं यातना की भट्ठी में अवश्य जलेगा, उसे जलना चाहिए। इस प्रकार का भाव दुःखान्तकी नाटक का ही प्राणतत्त्व है। हिन्दू धर्म में सन्निहित आशा एवं विश्वास का भाव ही नायकों को चरम पतन अथवा विनाश से बचा लेने में समर्थ होता है, यद्यपि परिस्थितियाँ उन्हें उसी मार्ग में ढकेले जा रही हैं। दुःखान्तक का तत्त्व इस बात में लक्षित हो जाता है कि दुःखों एवं कष्टों में पड़ने के पूर्व नायक सम्पूर्ण पात्रों में सर्वोच्च धरातल पर आसीन हो गया है। इसी स्थल पर नाटककार नीतिवादी का जामा पहन लेता है। दुष्टों को तो अवश्य अपनी दुष्टता का मूल्य जीवन में चुकाना पड़ता है, किन्तु जो सच्चरित्र हैं, यह निश्चित नहीं कि वे कभी-न-कभी, अथवा अपरिहार्यतः, विच्युतियों के शिकार नहीं बनेंगे। आलोच्य नाटकावली में से पाँच एकांकियों की कथावस्तु महाभारत की घटनाओं से ली गई है, जिनमें विपन्नता की ऐसी धारणा के लिए प्रचुर अवकाश है। 'दूतवाक्य' 'दूतघटोत्कच' और 'ऊरुभंग' का केन्द्रीय पात्र दुर्योधन है जो गर्व-स्फीत, साहसिक, निर्ममतया तार्किक तथा भले-बुरे अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का एकदम ध्यान नहीं रखनेवाला व्यक्ति है और वह नाटककार के युग का सच्चा प्रतिनिधि है। 'कर्णभार' का नायक अत्यन्त उदार एवं सदाशय कर्ण अपनी ही सदाशयता का शिकार बनता है और इसलिए उसे यातना सहनी पड़ती है कि वह असत् एवं अन्याय पक्ष का निष्ठा तथा शौर्य के सहित समर्थन करता है। विश्वास और अनभिज्ञता के कारण विपन्नता की यह छाया परिणाम में भयंकर सिद्ध नहीं होती। हिन्दूमानस ने अधिक सुखमय भविष्यत् जीवन और भविष्यत् संसार में अपने विश्वास के द्वारा इतिहास को चुनौती दी है। वर्तमान जीवन तथा पार्थिव जगत् को सुखमय नहीं समझा गया था। न कोई आशाएँ, न कोई निराशाएँ, न कोई अभिलाषाएँ, न कोई उपलब्धियाँ। विदूषक-चरित्र इस मनोभंगी का प्रतीक है। जहाँ सुख की कोई बात है, उसे सदा यही प्रतीति होती है कि वह भ्रम में था और उसका भ्रम टूट जाता है। नायक-नायिका का पुनर्मिलन संभव हो सकता है, लेकिन विदूषक स्वयं इस अवसर पर उपस्थित नहीं रहता, यह उसके भाग्य में लिखा ही नहीं है ('स्वप्नवासवदत्तम्', 'अभिषेक', इत्यादि)। इस प्रकार अपने युग का प्रतीक सृष्ट करने में भास-कालीन नाटकों ने कला की दिशा में पहला कदम बढ़ाया। सामाजिक परिवेश ऐसा नहीं था कि उसका तीव्र, स्वस्थ एवं

प्रसन्न विकास हो सके। नाटक संसार में मनुष्य का कैसा जीवन है, इसका चित्रण नहीं था, अपितु उसकी संसार में क्या स्थिति है, इसका चित्रण था। नाटककार का मन्तव्य जीवन के तथ्यों का आकलन करना नहीं, अपितु जीवन में कार्य करने वाली शक्तियों की भावना का सम्प्रेषण करना था।[1]

उपर्युक्त विवेचन से आरंभिक संस्कृत नाटकों के विषय में ये तथ्य निकलते हैं— (क) ये नाटक न्यूनाधिकतया महाकाव्यों द्वारा अनुप्राणित तथा उन्हीं पर आधृत थे; (ख) रूप एवं विकास में कथनात्मक (Narrative) थे; और (ग) इनके रचयिता पहले नीतिवादी (Moralist) थे और बाद में कलाकार थे। नाटक की इस अवस्था के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की नाट्योपलब्धियों का अभिशंसन किया जा सकता है।

कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में भास, सौमिल्लक, कविपुत्र इत्यादि प्राग्भावी नाटककारों का उल्लेख किया है। भास के नाटकों की समीक्षा ऊपर की जा चुकी है, किन्तु अन्य नाटक-रचयिता की कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं— संभव है कभी कोई अध्यवसायी अनुसंधित्सु इनकी कृतियों को भी प्रकाश में लाकर उपस्थित कर दे। भास की रचनाओं की तुलना में कालिदास की नाट्य कृतियाँ इतने अधिक कलात्मक सौष्ठव से परिपूर्ण हैं कि यह अनुमान असंगत नहीं होगा कि भास के बाद भी नाटक लिखे जाते रहे और नाट्यकला में उत्तरोत्तर परिष्कार होता रहा। नाट्यदर्शी 'समाज' का बौद्धिक तथा रागात्मक धरातल भी विकसित होता रहा और नाट्यकला विषयक धारणा में भी परिवर्तन घटित होता गया। परिवर्तनों का यह क्रम कालिदास के नाटकों में चूड़ान्त उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है।

कालिदास के नाटकों में 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की कथाएँ पुराण और इतिहास से ली गई हैं। 'मालविकाग्निमित्र' का नायक अग्निमित्र पुष्यमित्र का पुत्र है जिसने ईसा के पूर्व द्वितीय शतक में शुंग-वंश की स्थापना की थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कालिदास में भी पूर्ववर्तियों की प्रवृत्ति—अतीत का गुणगान-वर्तमान है। लेकिन, कालिदास का प्रमुख वैशिष्ट्य यह है कि वे सर्वप्रथम कलाकार हैं, कला के पारखी एवं मर्मज्ञ हैं। तीनों नाटकों में चित्र, नृत्य, संगीत इत्यादि का प्रवेश ऐसे शब्दों तथा ऐसी परिस्थितियों में कराया गया है कि जिनसे उनके सूक्ष्म आलोचक तथा प्रवीण सौन्दर्य-मर्मज्ञ होने की विज्ञप्ति होती है। नाटक के विषय में कालिदास के विचार अधिक ध्यातव्य हैं। वे नाटक को 'चाक्षुष यज्ञ' मानते हैं। उनकी दृष्टि में नाटक उपदेश की लोकप्रिय प्रणाली नहीं है। उनका कथन

---

१. वही, पृष्ठ ८६–८७.

है कि नाटक जीवन का उपदेश नहीं, जीवन का अध्ययन है। इसी अध्ययन क्षेत्र के वैविध्य से भिन्न-भिन्न रुचिवाले व्यक्तियों के लिए नाटक रुचिकर प्रतीत होता है। नृत्य, गीत, चित्र इत्यादि प्रत्येक व्यक्ति को आकृष्ट नहीं करते, जबकि नाटक, इन सभी को तथा सम्पूर्ण लोक-व्यवहार को अपने में समेटने के कारण, बहुसंख्यक लोगों को आवर्जित करता है। 'मालविकाग्नि०' में गणदास ने कहा है :—

"देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं,
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ॥" (१।४)

—'यह नाट्य देवताओं के नेत्रों का प्रसादन करने वाला यज्ञ है। स्वयं महादेव जी ने उमा से विवाह करके अपने शरीर में इसके दो भाग कर दिए हैं—एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण भी दिखाई पड़ते हैं और अनेक रसों में लोकचरित लक्षित होते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए प्रायः नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सबको समान आनन्द मिलता है।'

कालिदास के इन विचारों के आलोक में यह विश्वास करना संगत है कि उन्होंने परम्पराभुक्त पद्धति का त्याग कर नाट्य-निर्माण की एक नवीन सरणि का उद्घाटन किया है। कथानकों पर ध्यान देने से पहले यही जान पड़ता है कि उनके नाटक परम्परा में समादृत नरेशों की प्रेम-कथाओं का वर्णन करने वाली प्राचीन नाट्य-कोटि के ही हैं। किन्तु, उन कहानियों के विकास एवं निर्माण से इस धारणा का प्रत्याख्यान हो जाता है और ऐसा आभास होता है कि कालिदास ने सर्वाधिक लोकप्रिय कहानियों को जानबूझ कर इसलिए चुना कि वे अपना सम्पूर्ण कौशल इनके कलात्मक विन्यास में नियोजित कर सकें। श्रोताओं वा प्रेक्षकों के लिए ये कहानियाँ अत्यंत सुपरिचित थीं, और इसीलिए कालिदास ने पुरानी वर्णनात्मक शैली का परित्याग कर, कथावस्तु को नितांत कलात्मक ढंग से सजाया-सँवारा। अपनी पहली नाट्य-रचना में ही[1] कवि अपने प्रयोगों की नव्यता के विषय में अपने सामाजिकों को एक प्रकार की चेतावनी-सी देता है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥" (मालविका० १।२)

---

१. अधिकांश विद्वान् 'मालविका०' को ही कालिदास की प्रथम नाट्यकृति मानते हैं, यद्यपि प्रो० जागीरदार जैसे कुछ पंडितों के मत में, 'विक्रमो०' को पहली रचना मानना युक्तिसंगत है।

—'पुरानी होने से ही कोई रचना श्रेष्ठ नहीं हो जाती और नई होने से वह गर्हित नहीं बन जाती। विवेकशील व्यक्ति दोनों की परीक्षा करके उनमें से एक को अंगीकार करता है जबकि मूर्ख लोगों की बुद्धि दूसरों के निर्देश से शासित होती है।'

पुराने नाटककार वर्णन अथवा कथा-कथन को प्रधानता देते थे। किन्तु, कालिदास चित्रण को महत्त्व प्रदान करते हैं। इसी बात को 'मालविकाग्नि०' में पंडिता कौशिकी यों कहती हैं—''प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्'' अर्थात् नाटक में उसका प्रयोग अथवा अभिनय ही प्रमुख है। कालिदास अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिए विद्वानों की सम्मति अथवा सहमति को भी निरादृत करते हैं। विदूषक का कथन है कि केवल मूर्ख लोग ही पंडितों की सम्मति का आदर करते हैं—''पंडित-परितोषप्रत्यया ननु मूढ़जातिः'' (मालविकाग्नि०)। अतएव, कालिदास लोकरुचि के विरोध में भी अपनी कला की रक्षा करना चाहते हैं। वे गणदास के मुख से कहलवाते हैं कि निन्दा के भय से जो नाट्यकार लोकमत के सामने मस्तक झुका देते हैं, वे बनिये हैं क्योंकि उनका उद्देश्य कला न होकर जीविकोपार्जन बन जाता है—''यस्यागमं केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।'' (१।१७)।

कालिदास ने इसीलिए इस नाटक की कहानी को एक नये ढंग से चित्रित किया है। कथा स्वयं अत्यन्त साधारण प्रकार की है—राजा का प्रेम एक सुन्दर युवती के प्रति है जिसमें विदूषक के छलछद्म और मूर्खतायें तथा अन्तःपुर की ईर्ष्याएँ आकर मिल गई हैं। लेकिन, कथानक का सम्पूर्ण वातावरण, उसका सम्पूर्ण विकास मौलिक कोटि का हुआ है। नृत्य, गीत, चित्र और शिल्प तथा विदूषक का चातुर्य, ये वस्तुएँ कहानी को कला के नवीन धरातल तक पहुँचा देती हैं।

'विक्रमोर्वशीय' में राजा पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी के प्रणय की कथा वर्णित है। कथानक के विन्यास में, वह चुस्ती एवं तारतम्य इसमें उपलब्ध नहीं होता जो 'मालविकाग्निमित्र' में दृष्टिगोचर होता है। लेकिन, जैसी कहानी है, उसे स्वीकार करने पर चरित्रांकन तथा अभिव्यंजना में कोई त्रुटि लक्षित नहीं होती। नाटक के पात्र विचित्र तथा रोमांटिक हैं, किन्तु उनमें व्यापक मानव-प्रकृति की स्पष्ट छाप वर्तमान है और वे अपनी सीमाओं में पर्याप्त जीवन्त हैं। पुरूरवा के प्रलाप वाले चतुर्थ अंक में कोई व्यापार अथवा त्वरता वर्तमान नहीं है और न उसमें कोई नाटकीयता ही है, तथापि अनियंत्रित प्रेम की उफनती तथा खौलती हुई उद्वेजना के चित्रण में यह अंक गीत्यात्मक धरातल को स्पर्श कर गया है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में ऐसा दृश्य अंकित नहीं हुआ है और इसके सन्निवेश से नाटक दरबारी वातावरण की सामान्य कक्षा से बहुत ऊँचा उठ गया है। पंचम अंक में पुत्रप्राप्ति

से जन्य आनन्द तथा पुत्र-दर्शन से ही आशंकित उर्वशी-विछोह के विषाद में पुरूरवा के तीव्र मनोद्वन्द्व का अनुपम चित्रण हो सकता था, लेकिन कवि ने इस अवसर का उपयोग नहीं किया। तथापि, अपनी प्रिय रूढ़ि 'अज्ञात के अभिज्ञान' का चित्रण करने में तथा विवाहित प्रेम की मनोवैज्ञानिक परिणति पुत्र-जन्म के चित्रण में कवि ने विदग्ध कौशल का उपयोग किया है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कवि की निपुण कला भारतीय संस्कृति के सौरभ में सनकर अधिक अभिराम तथा प्रभूष्णु बन गई है। महाभारत की चालाक, विना शील वाली, व्यंग्यशील युवती नाटक में लजीली, सम्मानपूर्ण करुणोत्पादक नायिका में रूपान्तरित हो गई है। इसी प्रकार स्वार्थपरायण दुष्यन्त, जो महाभारत में नीति के अनुरोध से उसे न पहचानने का व्याज करता है, यहाँ ऐसी विस्मृति से अभिभूत चित्रित किया गया है जिसके लिए उसकी भर्त्सना नहीं की जा सकती। इस प्रकार, प्रणयी के क्लेशकारक आचरण के लिए एक नाटकीय आधार प्रस्तुत कर दिया गया है और मूल आख्यान के गद्यात्मक चरित्र तथा घटनाएँ सौन्दर्यपूर्ण आकृतियों तथा चौखटों में सजा दी गई हैं। यहाँ कवि ने चरित्र को उसी नैसर्गिक सुषमा के सहित उन्मीलित किया है जैसे फूल धूप एवं वर्षा में अपनी पंखुड़ियों को खोलता है। कथानक के शान्त, सन्तुलित तथा गौरवगर्भित विकास को प्रतिहत करने के लिए यहाँ किसी प्रकार की अनावश्यक उत्तेजना उत्पन्न करने वाले तत्त्व नियोजित नहीं किये गये हैं। प्रणय की गहराई में एक संयम है और व्यापार तथा अभिव्यंजना में एक प्रांजलता एवं अनिवार्यता है, जिससे नाटक कलात्मक अभिरामता से मंडित हो गया है। सबसे बढ़कर इसका गुण है शैली तथा चित्रण की काव्यात्मकता, जिसके बीज कवि की पूर्व-प्रकृतियों में विद्यमान हैं अवश्य, लेकिन जो यहाँ पहुँच कर विकच पाटल-प्रसून के समान सुरभित तथा शारदीय पूर्णिमा की विच्छुरित ज्योत्स्ना के समान आलोकित बन गई है।

अपनी काव्यात्मक प्रतिमा के सहारे कालिदास को दो रूपों में सफलता मिली है: प्रथमतः, वे काव्योचित भावों के धनी हैं जिन्हें वे बड़ी निपुणता से चरित्र तथा व्यापार के साथ मिला देते हैं और द्वितीयतः, उनमें संयम एवं सन्तुलन की काव्यात्मक भावना है, जो किसी नाटककार के लिए सफलता-हेतु आवश्यक है।

'यह उल्लेख्य है कि विषय, चरित्र तथा व्यापार के निर्वाचन में कालिदास ने अपनी प्रतिभा की काव्यात्मक प्रवृत्ति का ही अनुगमन किया है। उनके तीनों नाटकों का मुख्य विषय है प्रेम, विभिन्न पक्षों में और विभिन्न परिस्थितियों में—दरबारी छलकपट के वातावरण में चिन्तायुक्त प्रेम, विक्षिप्त बना देनेवाला रोमांटिक,

अनियन्त्रित तथा उतावली से भरा हुआ प्रेम; अथच यौवन-प्रेरित विवेक-विहीन प्रेम जो शनैः-शनैः दुःख एवं यातना की भट्ठी में तप कर पवित्र हो गया है। कालिदास का अदमनीय जीवनानुराग, इस भावना से संयुक्त होकर कि पार्थिव व्यापारों तथा वस्तुओं में दुःख एवं विपन्नता के लिए प्रचुर अवकाश है, उनके प्रणय-चित्रों को अत्यन्त प्रस्फुट काव्यात्मक कल्पना की रंगीनी तथा सजीवता से अनुप्राणित कर देने में समर्थ हुआ है।"[1]

जीवन में प्रेम को प्रमुख संचालिका शक्ति स्वीकार करते हुए भी कालिदास ने उसे नियन्त्रित रखा है और दैवी, अ-पार्थिव शक्तियों से अभिभूत चित्रित किया है। कलाकार के रूप में यह सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है। जीवन और कला में यह अन्तर है कि जीवन प्रायः मनोवृत्तियों तथा एषणाओं से संचालित होता है जब कि कला बुद्धि एवं सहानुभूति की उपलब्धि है। जार्ज सान्तायन के अनुसार, कोई भी क्रिया जो वस्तुओं को मानवीय और तर्कसंगत बनाती है, कला की आख्या ग्रहण करती है।[2] संस्कृत साहित्य में कालिदास की कृतियों में सबसे पहले-पहल नाटक यह कार्य करता है। नाटक जीवन का चित्रण-मात्र नहीं है, अपितु जीवन के प्रति एक दृष्टि-भंगी का निरूपण है। कालिदास के कुशल हाथों में नाटक कला-रूप में बदलता दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भिक नाटकों के समान यह केवल कथा-कथन नहीं रह गया है; साथ ही, बाद को लिखे गये अधिकांश नाटकों के समान यह केवल काव्य-सुलभ उद्गार ही नहीं है। यह नीति एवं सदाचार का उपदेष्टा भी नहीं है, यद्यपि वह युग वैसा था जब कि साहित्य-मन्दिर पर नीतिवादियों का आक्रमण हो रहा था। कालिदास की कृतियों में नाटक आद्यंत सांकेतिक रहा है; और इसने मनुष्य के सौन्दर्य तथा उसके सौन्दर्य की ओर इङ्गित किया है जिसकी रचना मनुष्य है। जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, कालिदास ने बहुत पहले मनुष्य के प्रति हैमलेट के भावों का ध्वनन कर दिया था। हैमलेट के समान वे भी कह सकते थे : 'मनुष्य कैसी अद्भुत रचना है! विवेक में कितना श्रेष्ठ! क्षमताओं में कितना असीम! रूप एवं संचार में कितना स्पष्ट और प्रशस्य! कार्य में कितना देवोपम! समझदारी में कितना ईश्वर-तुल्य! संसार का सौन्दर्य! जीवों में सर्वश्रेष्ठ।'[3] हैमलेट के ही समान कालिदास

1. S K. De. : 'History of Sanskrit Literature', पृ० १२५-२६.

2. "Any operation which thus humanises and rationalises objects is called art.' —George Santayane : 'The Life of Reason, पृ० ४.

3. "What a piece of work is Man! How noble in reason! How infinite in faculties! In form and

मनुष्य को 'मिट्टी का अन्तरतम सार' समझते थे। लेकिन, हैमलेट के विपरीत कालिदास मनुष्य को देख कर प्रसन्न होते हैं। इसका कारण मनुष्य को जन्म देने वाला परमात्म तत्त्व और उसका उत्तराधिकार है जिन दोनों के अज्ञात नियमन में मनुष्य जीवन धारण करता है। न वह ईश्वर के विरुद्ध कार्य कर सकता है और न प्रकृति के विरुद्ध। 'शाकुन्तल' के प्रथम तथा सप्तम अंकों में कवि ने इसे सुन्दर ढंग से दिखाया है।

कालिदास ने नाट्य-वस्तु को सजाने में एक विशिष्ट प्रणाली का अनुगमन किया है, जो उनके नाटक-त्रय में लगभग समान-रूप से दृष्टिगोचर होती है। सभी नाटकों में नायिका पहले विपन्न अवस्था में प्रस्तुत की जाती है और नायक उसकी ओर उपकार-भावना से आकृष्ट होता है। मालविका दासी-रूप में अपनी सुन्दरता के कारण अग्निमित्र की चित्त-भूमि को आर्द्र बनाती है। उर्वशी की अवस्था तो अत्यन्त विषद्ग्रस्त है जब पुरूरवा उसको राक्षसों के ग्रह से छुड़ाता है। शकुन्तला वृक्ष-सेचन में निरत होकर, अपने भाग्य के विपर्यय से दुष्यन्त को आकृष्ट करती है और जब भ्रमर उसके रतिसर्वस्व अधर का पान कर उसे परेशान करता है, तब दुष्यन्त भौंरों से शकुन्तला की रक्षा करता है। नायक के उपकार के प्रति कृतज्ञता भाव से नायिका का आकर्षण चित्रित करना कालिदास की 'टेकनीक' का एक महत्त्वपूर्ण अंग लक्षित होता है।

'विक्रमोर्वशीय' और 'शाकुन्तल' दोनों नाटकों के नायक आरम्भ में रथ पर आरूढ़ चित्रित किये गये हैं। पहले में पुरूरवा केशी दैत्य से उर्वशी का उद्धार करने के लिए रथ पर चढ़कर दैत्यों से युद्ध करता है, और दूसरे में दुष्यन्त रथारूढ़ होकर भयाकुल हिरण का आखेट करते चित्रित किया गया है, यद्यपि अन्तिम अंक में वह इन्द्र की ओर से दानवों के साथ युद्ध करता है। संग्राम के बाद प्रणयोद्भेद का जो चित्र उपस्थित हुआ है, वह 'विक्रमो०' की अपनी विशेषता है जिसके लिए कवि ने अपनी किसी पूर्ववर्ती रचना से कोई सहायता नहीं प्राप्त की। उर्वशी संज्ञा प्राप्त करने पर अभी-भी शील एवं लज्जा की रज्जु में बँधी हुई है। पुरूरवा भी, उसके अभिनव सौन्दर्य पर मुग्ध होता हुआ भी, संकोच का अनुभव कर रहा है। लेकिन, जिन परिस्थितियों में शकुन्तला और दुष्यन्त का परिचय हुआ है, उनसे उर्वशी और

---

moving, how express and admirable! In action, how like an angel! In apprehension, how like a God! the beauty of the world! the paragon of animals!"—
"Shakespear: 'Hamlet', Act. 2. Sec. 2.

पुरूरवा के मिलन की परिस्थितियाँ अधिक ऐन्द्रिय रस से आर्द्र हैं। उर्वशी अपनी सखी चित्रलेखा के द्वारा पुरूरवा के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यंजित करती है और जानबूझ कर अपना हार लता की शाखा में उलझा देती है जिससे वह पुरूरवा की ओर दूसरा दृष्टिनिक्षेप कर सके। उर्वशी का यह आचरण नाटकान्त में शकुन्तला के आचरण की याद दिलाता है जो दुष्यन्त को देखती हुई पैर में कुश चुभने और शाखा में धोती फँसने का व्याज करती है। 'विक्रमोर्वशीय' का प्रथम अंक 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक से घनिष्ठ साम्य रखता है। उर्वशी और शकुन्तला दोनों प्रेम-शर से अनुविद्ध हैं, लेकिन दोनों को अपने प्रणयीजनों से अलग होना पड़ा है और दानों ने अपने प्रेम को व्यक्त नहीं किया है।

'विक्रमोर्वशीय' का द्वितीय अंक 'शाकुन्तल' के द्वितीय अंक की तरह, विदूषक से प्रारम्भ होता है। विदूषक यह अनुभव करता है कि वह पुरूरवा के प्रेम-रहस्यों को छिपाने में असमर्थ है। बल्कि, उसने एक प्रकार से उसको प्रकाशित भी कर दिया है और दासी निपुणिका को यह वचन देता है कि वह राजा को अपने नए प्रणय से विमुख करने का उद्योग करेगा। किन्तु, दुष्यन्त पुरूरवा की अपेक्षा अधिक सतर्क एवं सावधान रहा है। दूसरे अंक के अन्त में उसने विदूषक से शाकुन्तल विषयक अपने प्रेम का प्रत्याख्यान कर दिया है और इस प्रकार विदूषक की सहायता से अपने को वंचित रखा है। कालिदास ने ऐसा करके विदूषक-सम्बन्धी एक प्रचलित रूढ़ि को परिवर्तित कर दिया है। 'विक्रमोर्वशीय में विदूषक पुरूरवा को परामर्श देता है कि वह सो जाय और स्वप्न में अपनी प्रियतमा का दर्शन करे अथवा फिर उर्वशी का एक चित्र ही अंकित करे। दुष्यंत ने भी शकुन्तला का चित्र खींचा है और छठे अंक में उसको देख-देखकर आनन्द का अनुभव किया है। 'मेघदूत' का यक्ष इस बातपर दुःख व्यक्त करता है कि यद्यपि उसने शिलाओं पर अपनी प्रेयसी का चित्र अंकित किया, तथापि वह यह चाहता था कि चित्र में पत्नी के चरणों पर प्रणिपात करते हुए अपने को भी चित्रित कर सके, लेकिन उसके आँसुओं ने उसे ऐसा करने से रोक दिया है। पुरूरवा अपने मित्र विदूषक का प्रस्ताव अस्वीकृत करता है, क्योंकि प्रेमावेग के कारण उसे नींद नहीं आ रही है, और निरंतर अश्रुपात के कारण वह उर्वशी का चित्र नहीं बना सका है।

पुरूरवा ने विदूषक से जो प्रणय-विज्ञप्तियाँ की हैं, उनसे 'शाकुन्तल' के दूसरे अंक में दुष्यंत द्वारा किए गए प्रणय-निवेदनों का स्मरण हो आता है। उर्वशी और चित्रलेखा अदृश्य रूप में जो पुरूरवा की प्रेम-स्वीकारोक्तियाँ सुन रही हैं, उनसे 'शाकुन्तल' के तृतीय अंक की याद आती है जहाँ दुष्यंत शकुन्तला तथा उसकी

सखियों के वार्तालाप को उत्सुकता-पूर्वक सुनता है और अपने प्रणयोद्वेग के लिए आश्वासन ग्रहण करता है। किन्तु उर्वशी के सम्बन्ध में महत्त्व की बात यह है कि वह स्वयं पुरूरवा की यह स्वीकारोक्ति सुनने के लिए दौड़ जाती है कि वह उसे प्यार करता है। शकुन्तला अथवा पार्वती ने ऐसा नहीं किया होता। उर्वशी का यह त्वरापूर्ण अभिसार उसके 'सामान्या' अथवा 'प्रगल्भा' होने का प्रमाण है। उर्वशी स्वतः भोज-पत्र पर प्रणय-लेख लिखती है और उसे पुरूरवा के सामने फेंककर अपने प्रेम की व्यंजना करती है। 'शाकुन्तल' के तीसरे अंक में शकुन्तला ने प्रियंवदा के अनुरोध पर नलिनी-पत्र के ऊपर नखों से प्रणय-कविता लिखी है। दोनों प्रेमिकाओं के स्वभाव का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। द्वितीय अंक में उर्वशी पुरूरवा से अपनी माया की ओढ़नी ओढ़कर दूसरी बार मिलती है। वह उसका हाथ पकड़कर उसे बैठाता है और उर्वशी तनिक भी विरोध नहीं करती है। 'शाकुन्तल' के तृतीय अंक में भी दुष्यन्त ने शकुन्तला का हाथ पकड़ लिया है; लेकिन उसने दुष्यन्त से कहा है कि वैसा करना अनुचित है और उसे उसको छोड़ देना चाहिए। शकुन्तला पार्वती की तरह संयमित युवती है जो शंकर के भुजपाश में बँधने से इनकार कर देती है। उर्वशी यद्यपि लज्जा का नाट्य करती है, तथापि वह अपना हाथ पुरूरवा के हाथ से खींच नहीं लेती है और न इसके लिए उसकी ताड़ना ही करती है। उर्वशी-पुरूरवा का यह द्वितीय मिलन खण्डित हो गया क्योंकि स्वर्ग में वह अभिनय करने के हेतु आहूत कर ली जाती है। इसी प्रकार 'शाकुन्तल' के तृतीय अंक में शकुन्तला और दुष्यन्त का भी द्वितीय मिलन बाधित हो गया है। इतनी दूर तक 'विक्रमोर्वशीय' का द्वितीय अंक 'शाकुन्तल' के द्वितीय और तृतीय अंकों के समान है। लेकिन 'शाकुन्तल' में प्रेमातुर दुष्यन्त जहाँ गान्धर्व विवाह का निवेदन करता है, वहाँ पुरूरवा कतिपय प्रशस्तियों को छोड़कर और कुछ नहीं कहता है और विदूषक का उर्वशी से यह कहना कि क्या तुम महाराज के प्रिय वयस्य ब्राह्मण को प्रणाम नहीं करोगी; इस अङ्क का एकमात्र मनोरंजन से पूर्ण प्रसंग है। 'विक्रमोर्वशीय' के तीसरे अङ्क का प्रारम्भ इस सूचना से होता है कि लक्ष्मी-स्वयंवर नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करती हुई उर्वशी ने 'पुरुषोत्तम' के बदले भूल से 'पुरूरवा' कह दिया, जिससे रुष्ट होकर भरतमुनि ने उसे मर्त्यलोक में निवास करने का शाप दे दिया, किन्तु इन्द्र ने दया करके यह निर्णय किया है कि उर्वशी अपने प्रियतम पुरूरवा के साथ पुत्रजन्म तक मनचाहे ढंग से रह सकती है। 'शाकुन्तल' के चतुर्थ अङ्क में यह सूचना मिलती है कि शकुन्तला ने दुर्वासा को अप्रसन्न कर दिया है जिस कारण उसे उन्होंने शाप दे दिया है। साथ ही, यह भी ज्ञात होता है कि प्रियंवदा के अनुनय-विनय पर दुर्वासा ने शाप की गम्भीरता यह कहकर कम कर दी है कि पहचान के किसी आभूषण के देखने पर

(अभिज्ञानाभरणदर्शनेन) उसका पति उसे पहचान लेगा। उर्वशी तथा शकुन्तला दोनों युवतियों ने प्रेम के कारण प्रमाद किया है और अभिशप्त हुई हैं और दोनों के शापों की कठोरता में कमी हुई है। लेकिन, उर्वशी का शाप तो उसके लिए पुरस्कार ही हो गया है, क्योंकि वह इन्द्र द्वारा अपने प्रियतम के साथ रहकर प्रणय-केलियाँ करने के लिए स्वतन्त्र ही छोड़ दी गई है जबकि शकुन्तला का शाप अत्यन्त दारुण सिद्ध हुआ है। उर्वशी अप्सरा है और उसका प्रयोग इन्द्र ने बड़े-बड़े तपोधनों को स्खलित करने में किया है, अतएव वह उर्वशी के प्रति स्वभावतः सदय भाव रखे हुए है। शकुन्तला आश्रम में पली ऋषिकन्या है और इसी लिए उसे अपने प्रमादों के हेतु अपमान एवं यातना की भट्ठी में तपना-गलना पड़ता है। मालविका को भी ज्योतिषी की भविष्यवाणी के अनुरूप, यद्यपि वह स्वयं निर्दोष है, किंचित् अपमान-जनक परिस्थितियों में कुछ काल व्यतीत करना पड़ा है, लेकिन वे परिस्थितियाँ भी उसके भाग्योदय का कारण बनी हैं। वस्तुतः कालिदास की तीनों नायिकाएँ तीन मनोदृष्टियों से कल्पित की गई हैं और उनके चरित्रांकन में भिन्न-भिन्न रंगों को उभारा गया है।

'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में उर्वशी कुमार-वन में प्रवेश करने के कारण लता बन गई है और अपनी ईर्ष्याजन्य उतावली के कारण प्रिय-संसर्ग से वंचित हो गई है। शकुन्तला पति द्वारा तिरस्कृत होने पर स्वर्गीय आश्रम में चली जाती है जहाँ वह पुत्र को जन्म देती है और उसके शैशव-काल में वहीं समय व्यतीत करती है। शकुन्तला को प्रिय-वियोग की दारुण व्यथा इसलिए सहन करनी पड़ी है कि उसने पति-प्रेम में मनसा डूबे रहने के कारण दुर्वासा की उपेक्षा की है। लेकिन, अपनी अधीर तथा आग्नेय प्रकृति के कारण उर्वशी अधिक दोषावह है। चित्रलेखा का कथन है कि भरत के शाप के कारण उर्वशी की बुद्धि ऐसी मारी गई कि वह नारियों के लिए वर्ज्य प्रदेश में प्रवेश कर गई। ऐसा जान पड़ता है जैसे चित्रलेखा को विश्वास है कि भरत-शाप के अभाव में उर्वशी ने यह ध्यान रखा होता कि उसे कुमार-वन में नहीं प्रविष्ट होना चाहिये। लेकिन, कवि का अपना मन्तव्य यही है कि उसकी संमूढ़ता उसके उतावलेपन की ही प्रसूति है, न कि 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक के अभिनय में किये गये उसके प्रमाद की। वियोग का आरम्भ 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक की प्रस्तावना में केवल कथित कर दिया गया है और वियोग एवं उसका अवसान स्वयं इस अंक की ही व्यंजनीय वस्तु है। इसके विपरीत 'शाकुन्तल' के वियोग की सम्पूर्ण अवधि पाँचवें, छठें, तथा सातवें अंकों में अभिनीत हुई है। दोनों नाटकों में नायक की मनोवेदना को ही पहले चित्रित किया गया है।

मालविका की प्रणय-लीला राजमहल के भीतर चलती है। वह उर्वशी के

समान ही ईर्ष्यालु है और अपने प्रिय का अविभक्त प्यार पाने के लिए आतुर है। एक चित्र में यह देखकर कि अग्निमित्र केवल इरावती की ओर देख रहा है क्योंकि वह राजा को प्यारी है, मालविका रुष्ट हो जाती है और चित्र की ओर से मुँह फेर लेती है। वह इतनी उद्विग्न हो जाती है कि यह बात एकदम भूल जाती है कि वह केवल चित्र देख रही है। दुष्यन्त को भी 'शाकुन्तल' के छठे अंक में चित्र-दर्शन से ऐसी ही भ्रान्ति हुई थी। मालविका और अग्निमित्र दोनों रानी से भयभीत हैं, अतः अग्निमित्र जब मालविका से न डरने का निर्देश करता है, तब वह राजा पर व्यंग्य कसती है कि वह स्वयं अपनी रानी से कितना भय खाता है यद्यपि अग्निमित्र अपने आचरण को शिष्टता एवं विनम्रता की प्रसूति बताता है। यहाँ दासी युवती ने राजा से एक सचाई कही है जो दरबार में उसे नहीं सुनाई पड़ती। मालविका का यह आकस्मिक विश्वास, उसकी मर्मस्पृक् सचाई से मिश्रित होकर, नाटक के एक अत्यन्त मनोरम दृश्य की सृष्टि करने में समर्थ हुआ है। शकुन्तला को भी कवि ने ऐसा भाषण करने का अवसर प्रदान नहीं किया है। अग्निमित्र मालविका के प्रतिरोध के बावजूद उसे परिरम्भन-पाश में बाँध लेता है। उसने कदाचित् अनेक युवतियों के प्यार का रस लिया है, तथापि उसने उस निर्दोष युवती के साथ, उसकी उस परावलम्बिता की दशा में, वैसी शिष्टता का व्यवहार नहीं किया है जिसका कथन वह अभी कर चुका है। दुष्यन्त और शंकर ने क्रमशः शकुन्तला और पार्वती को उतनी निर्मभता से नहीं पकड़ा है पुरूरवा ने भी उर्वशी को, जो स्वतः उसके निकट आई है, उतनी कठोरता से नहीं ग्रहण किया है जितनी उतावली से अग्निमित्र ने उस निरवलंब युवती के उरोजों तथा नीवीबन्ध पर प्रहार किया है। केवल एक अनियंत्रित राजा ही अपनी अनुपस्थित पत्नी की रूपशालिनी परिचारिका के साथ ऐसा दुःशील आचरण कर सकता था।

कालिदास की सभी प्रणयशील नायिकाओं की स्थिति लगभग समान है, चाहे वह उर्वशी हो, चाहे शकुन्तला, चाहे पार्वती, चाहे यक्षिणी, चाहे सीता। कवि बार-बार प्रेम तथा वियोग को अपने चित्रण का आधार बनाता है और बार-बार प्रेमियों का पुनर्मिलन सम्पन्न होता है। लेकिन, जब बारंबार उसने प्रेम के आधारभूत विषय को नवीन रूप में ग्रहण किया है, तब उसका प्रयोजन नवीन नारी-चरित्रों की सृष्टि करना रहा है। वह उतावली पार्वती तथा शीलवती शकुन्तला दोनों को प्यार करता था जो तपोवन की सुषमाओं के बीच ऋषियों की छाया में लालित-पालित हुई थीं। लेकिन, वह प्रेमावेश में छटपटाती उर्वशी को भी प्यार करता है जो सच्ची पत्नी नहीं बन सकती थी और जिसे सर्वदा लोक-मत की अस्वीकृति की छाया में अंशतः जीवन-यापन करना पड़ा था। कवि को इस चित्रण में भी आनन्द मिला है कि

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने अपनी प्रेयसियों के साथ कैसा व्यवहार किया है। विधुर शंकर जो पुनः प्रणयशर से व्यथित हुए, दुष्यंत जो कुछ-कुछ आदर्शवादी राजा था; और शूरवीर किन्तु, दुर्बलमना पुरूरवा जिसे दानवों के ऊपर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उर्वशी को पुरस्कार-स्वरूप रख लेने की अनुमति मिल गई—इन सभी प्रणय-व्यसनी व्यक्तियों को कवि की आन्तरिक ममता का प्रसाद प्राप्त हुआ है। लघुचरित्रों की पृष्ठभूमि में ये प्रेमी-युग्म इतनी सावधानी से चित्रित हुए हैं कि उनका व्यक्तित्व स्पष्ट उभर आया है।

मालविका, उर्वशी और शकुन्तला तीनों को अपनी सुन्दरता के कारण ही तीनों राजाओं का प्यार प्राप्त हुआ है। इन नरेशों ने अपनी प्रियतमाओं के किसी मानसिक अथवा आध्यात्मिक गुण का बखान नहीं किया है। केवल पार्वती के सम्बन्ध में ही यह संकेत उपलब्ध है कि शंकर उन्हें केवल उनके रूप के लिए ही नहीं, अपितु उनके शीलवान्, स्वेच्छापूर्ण तथा चिरन्तन प्रेम के लिए भी प्यार करते हैं। पार्वती के प्रेम को समझ पाना हमारे लिए एक समस्या है क्योंकि उनका प्रेम न तो विषय-प्रेरित है न आध्यात्मिक ही है, अपितु वह पिता तथा भाग्य की आज्ञा मानने के फलस्वरूप आविर्भूत हुआ है। लेकिन, पार्वती ने अपनी कठोर तपस्साधना से, शकुन्तला, उर्वशी तथा मालविका की तुलना में अधिक तत्परता के साथ प्रेम का प्रमाण उपस्थित किया है। अन्य नायिकाएँ तो अत्यन्त बालकोचित ढंग से अपनी आसक्तियों को स्वीकार कर लेती हैं, और उनके प्रणयी राजा उनकी ये स्वीकारोक्तियाँ प्रच्छन्न-रूप से सुन भी लेते हैं। केवल पार्वती ने ही अपने प्रणय की गहराई का अत्यंत कठोर साक्ष्य प्रस्तुत किया है।

पाश्चात्य समीक्षकों में डा० कीथ ने संस्कृत नाटक की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है। उनकी विवेचना का एक मौलिक तर्क यह है कि संस्कृत नाट्य-रचना पर ब्राह्मण-धर्म अथवा ब्राह्मण-दर्शन का प्रभूत प्रभाव पड़ा है। इसी कारण, कीथ का कथन है, हिन्दू नाटकों में व्यक्तिगत चरित्रों की सृष्टि न होकर, जातिगत (Typical) चरित्रों का ही चित्रण हुआ है। ऊपर-ऊपर से सत्य की झलक रखते हुए भी, कीथ की यह टिप्पणी उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। न तो भारतीय नाटक में और न भारतीय जीवन-दृष्टि में ही ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जिनसे व्यक्तिगत मूल्यों का सर्वथा उच्छेद हो जाय। अन्य विचक्षण विद्वानों ने भारतीय नाटक की, उसके व्यक्तिगत वैविध्य से समन्वित चरित्रों की अवतारणा के लिए, उन्मुक्त-भाव से परिशंसना की है। वस्तुतः सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य ही रस-व्यंजना के प्रयोजन की छाया में सर्जित हुआ है, और कालिदास ने इस व्यापक मानदंड का श्लाघ्य अंगीकरण किया है।

किन्तु, इससे यह अर्थ निष्पन्न करना कि उन्होंने चरित्र-चित्रण के अनुरोधों की अवमानना की है सर्वथा असंगत एवं अयौक्तिक है। जैसा ऊपर संकेतित है, उनके चरित्र इतने जीवंत तथा हृदयग्राही हैं कि उन्हें 'टाइप' की आख्या में समाहित करना अत्यंत कठिन एवं साहसिक कार्य होगा। मनोविज्ञान ने मानव-व्यक्तित्व के अनेक पटलों पर अवश्य उन्मीलक प्रकाश डाला है, लेकिन मनोग्रन्थियों के उद्घाटन तथा अन्तर्द्वन्द्व के अभिव्यंजन के अभाव में चरित्र-सृष्टि हो ही नहीं सकती—यह मान्यता भी दोषावह, असंतुलित तथा एकांगितापूर्ण है। शेक्सपियर के हैमलेट, मैकबेथ, इत्यादि चरित्रों को कालिदास के दुष्यंत, पुरूरवा अथवा अग्निमित्र की तुलना में अधिक आकर्षक एवं सजीव बताना आधुनिक मनोविश्लेषणीय मनोवृत्ति का प्रभाव है जो वैचित्र्य को वैशिष्ट्य का समानार्थक समझती है। कालिदास के चरित्र व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से अनुमंडित हैं, चामत्कारिक वैचित्र्य उनमें भले न हो। ओल्डेनबर्ग जैसे विद्वानों ने 'शाकुन्तल' में दुर्वासा के शाप तथा अँगूठी वाले प्रसंग के समावेश की तीव्र आलोचना की है। उनका आरोप है कि यह सम्पूर्ण प्रसंग कृत्रिम है, तथा इसके उपयोग से कथानक के विकास में 'संयोग' (Chance) एवं अतर्कित घटना का तत्त्व प्रविष्ट हो गया है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि कथानक का मनोवैज्ञानिक विकास आधुनिक नाटक की सृष्टि है। भाग्य अथवा दैव अज्ञात-भाव से हमारे प्रयोजनों को नियमित एवं अनुशासित करता है, यह धारणा भी केवल भारतीय नहीं है; अपितु सभी प्राचीन नाटकों में प्रतिफलित दृष्टिगोचर होती है। शेक्सपीयर की ही शोकपर्यवसायी नाट्यरचनाओं में अतिलौकिक तत्त्वोंका सन्निवेश हुआ है और उनसे नाटक के कथानक पर निश्चित प्रभाव पड़ा है। साथ ही, यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी बाह्य साधन अथवा उपचार का उपयोग आन्तरिक प्रेरणा की जटिल गुत्थियों की तुलना में, अवश्य हीन एवं हेय ही होगा। आधुनिक मनोदृष्टि का यह भी एक अन्धविश्वास बन गया है कि मनुष्य की आभ्यंतरिक प्रेरणाओं का ही उसके जीवन-विकास में सर्वातिशायी महत्त्व है। वस्तुतः प्रश्न यह नहीं है कि भीतरी अथवा बाहरी साधनों के प्रयोग में कौन श्रेष्ठतर अथवा उत्तमतर है, अपितु विचारणीय यह है कि नाटककार ने किसी विशेष साधन का कला-दृष्टि से कैसा उपयोग किया है। "यह सही है कि शाकुन्तल में नाटकीय प्रेरणा (Dramatic motive) बाहर से आई है, लेकिन उसका प्रयोग प्रभविष्णुता-पूर्वक किया गया है और अन्तःप्रेरणाओं से उत्पन्न नाटक तथा उसके चरम परिणाम की भी कवि द्वारा अवहेलना नहीं की गई है। प्रणयी-युगल यौवनसुलभ आन्तरिक प्रेरणाओं से परिचालित होकर अपने भाग्य को एक अनिश्चित दिशा में मोड़ लेते हैं और इस प्रकार कथ्य वस्तु के विकास का सकल उत्तरदायित्व बाह्य साधन पर ही आश्रित नहीं है। तत्कालीन विश्वास की बात को स्वीकार करते हुए, इसमें कोई अस्वाभाविकता लक्षित नहीं होती। नाटक में जो विषाद की छाया

व्याप्त हो गई है, उसके लिए शकुन्तला और दुष्यन्त भी उत्तरदायी हैं, क्योंकि वे सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि एक बालकोचित अविवेक अथवा मनुष्य के गुण ही उसके दुर्भाग्य का कारण बन सकते हैं। जीवन की घटनायें सर्वदा, अभीप्सित ढंग से, तर्क-सम्मत या बुद्धिगम्य नहीं हो सकती हैं। लेकिन, यदि केवल 'स्वाधिकारप्रमाद' यहाँ अथवा अन्यत्र, विपत्ति का जनक होता है, तो इसमें कोई तर्कविहीनता या अबोध्यता नहीं है, और कार्य एवं भाग्य का सम्बन्ध बिलकुल अवमानित नहीं होता। पुनः यदि हृदय की अभिलाषा तथा संसार के अवरोध का संघर्ष यथेष्ट नाटकीय प्रेरणा हो सकता है, तो काव्यात्मक दृष्टि से इस बात की कोई विशेष अर्थवत्ता नहीं है कि यह अवरोध एक दुःखद शाप का रूप ग्रहण करे जिसकी जानकारी सम्बद्ध व्यक्तियों को नहीं है और जो कथानक की प्रगति को प्रभावित करने में अदृश्य किन्तु शिवविधायक भाग्य का 'पार्ट' ('रोल') सम्पन्न करता है। यह सही है "कि हम भाग्य, संयोग अथवा नियति पर दोषारोपण कर अपने को क्षमा नहीं कर सकते हैं; मानव-उत्तरदायित्व के आधार पर ही विपन्नता की गहरी छाया दिखाई जा सकती है। लेकिन, साथ ही, यह भी आवश्यक नहीं है कि एक मानवीय कथानक अपनी रहस्यमयता से सर्वदा वंचित ही कर दिया जाय और All 'in nostra potestate' उसे कार्य-कारण सम्बन्ध की वस्तु-परक विवृति में ही सीमित कर दिया जाय। वैचारिक दृष्टि से 'भाग्य बली है अथवा स्वयं मनुष्य', इस बात का निर्णय करना एक कठिन प्रश्न है। लेकिन, जैसे जीवन में वैसे ही नाटक में इन दोनों में से किसी एक को मानवी क्रिया-कलाप के निर्धारक के रूप में अस्वीकृत कर देना उचित नहीं होगा।"[१]

विद्वानों का कथन है कि कालिदास ने नाटकों में 'नाट्यशास्त्र' के विधानों का प्रायः अनुसरण किया है। उनकी रचनाओं में पात्रों के विधान, प्रयोग, नृत्यशैली इत्यादि में 'नाट्यशास्त्र' के अधिकांश नियमों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब झलकता है। 'कुमारसंभव' में शिव-पार्वती के परिणय के अवसर पर उनके मनोरंजनार्थ अप्सराओं से नाटक का अभिनय कराया गया है। (७।९१)। उस प्रसंग में पंचसन्धियों, वृत्तिभेद, विविध रसों के अनुकूल रागों की योजना, पात्रों के हाव-भाव, अंगहार इत्यादि का उल्लेख किया गया है। 'रघुवंश' में सात्त्विक, आंगिक तथा वाचिक तीन प्रकार के अभिनय का संकेत हुआ है। इन उल्लेखों से इस धारणा की पुष्टि होती है कि कालिदास भरत-द्वारा प्रणीत नियमों तथा विधानों से परिचित थे और अपने नाटकों के प्रणयन में उनके अनुपालन का प्रयत्न किया है। नाट्यशास्त्र के विवरणों का अनुकरण करते हुए, कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में नाट्य का वर्णन यों किया

---

१. सुशील कुमार डे : 'History of Sanskrit Literature', पृ० १४१–१४२.

है : "मुनियों का कथन है कि नाट्य देवताओं के नेत्रों का प्रसादन करनेवाला चाक्षुप यज्ञ है। शिवजी ने उमा से विवाह करके अपने शरीर में इसके दो भाग कर दिए हैं जिनमें से एक ताण्डव है, दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण प्रतिफलित होते हैं और नाना रसों में लोकचरित का प्रदर्शन होता है। अतएव, भिन्नाभिन्न रुचिवाले लोगों के लिए प्रायः नाट्य ही एक उत्सव है जिसमें सबको समान आनन्द मिलता है।" (१।४)। मालविका की नृत्यकला की अनवद्यता की परिशंसना करते हुए, परिव्राजिका ने अङ्गों के अभिनय से अभीष्ट अर्थ के सम्यक् सूचन, लय के साथ कुशल पादन्यास, रसोन्मेष में तन्मयता तथा ताल से समन्वित अभिनय में भावों के प्रदर्शन का कथन किया है (२।८)। 'विक्रमोर्वशीय' में भरत-मुनि द्वारा 'अष्टरसाश्रय' प्रयोग का तथा अप्सराओं द्वारा उसके ललित अभिनय का उल्लेख उपलब्ध है (२।१७)। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में भी आठ रसों और अप्सराओं द्वारा प्रयोग की बात कही गई है। अप्सराओं के सहयोग से स्वर्ग में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक खेले जाने का उल्लेख 'विक्रमोर्वशीय' में भी हुआ है कि भरतमुनि ने ब्रह्मा और शिव के समक्ष नाट्यप्रयोग किए हैं जिनमें रम्भा, उर्वशी आदि अप्सराओं ने अभिनय किया है। नाट्यशास्त्र के विधान के अनुरूप ही कालिदास ने 'शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय' में दुःखान्त घटना को 'निर्वहण संधि' में सुखान्त बना दिया है और भरत के इस नियम का भी अपनी रचनाओं में पालन किया है कि निर्वहण-संधि में अद्भुत रस का उद्रेक आवश्यक है।

लेकिन नाट्यशास्त्रीय नियमों की उनकी अभिज्ञता से यह अनुमान कर लेना कि कालिदास ने भरत के विधानों का सर्वत्र अनुगमन किया है, युक्तिसंगत नहीं होगा। वस्तुतः कालिदास प्रवीण प्रतिभा के नाटककार थे और उनके लिए यह बिलकुल संभव नहीं था कि वे किन्हीं पिटे-पिटाये नियमों का ठीक-ठीक अनुपालन करते। बहुत से स्थलों और प्रकरणों में कालिदास भरत के विपरीत पड़ते हैं। नाट्यशास्त्र में नाटक के मुख्य और गौण दो भेद किए गये हैं तथा उनकी पाँच प्रकृतियाँ बताई गई हैं, यथा 'बीज', 'बिन्दु', 'प्रकरी', 'पताका' और 'कार्य'। इनमें बीज, बिन्दु तथा कार्य प्रमुख कथा से और पताका तथा प्रकरी कथानक की उपकथा से सम्बन्धित रहते हैं। नाटक में दूर तक चलनेवाली जो सानुबन्ध कथा आधिकारिक कथा के सहायतार्थ आती है, वह 'पताका' के नाम से अभिहित होती है अथच 'प्रकरी' में वे छोटी-छोटी कथायें संनिविष्ट हैं जो समय-समय पर उपस्थित होकर मुख्य-कथा की सहायता कर समाप्त हो जाती हैं। भरत के अनुसार, पताका का प्रयोग प्रमुख कथा के परिपोष के लिए होता है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में भरत-नियमों के विपरीत पताका-प्रयोग की अवहेलना की है। नाट्यशास्त्र में कार्य की पाँच अवस्थायें बतायी गई हैं—यथा, आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। 'मालविकाग्नि०'

में इन पाँचों अवस्थाओं का परिपोष मिलता है, 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'शाकुन्तल' में इस विधान की उपेक्षा की गयी है। संधि, संविधानक, एक अंक का विधान, उसकी पूर्ति, प्रवेशक के नियम, एक अंक से दूसरे अंक तक की समय-मर्यादा, अंकों के लिए निषिद्ध विधान, भृत्यों के भाषण, प्राकृत का प्रयोग, प्रवेशक का 'प्राकृत भाषाचार' तथा विष्कम्भक का 'संस्कृतवचनानुगतत्व' इत्यादि का प्रयोग कालिदास ने भरत के अनुरूप ही किया है। किन्तु नाट्यशास्त्र में नान्दी के विषय में जो निर्देश किया गया है उसका पालन कालिदास ने नहीं किया है क्योंकि 'विक्रमोर्वशीय' के आरम्भिक श्लोक "वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं" लेखक का केवल मंगलाचरण है, नान्दी नहीं। कालिदास ने भरत के इस नियम का पालन किया है कि नाटक में नायक का चरित्र राजा का होना चाहिए। किन्तु, अन्तःपुर की रानियों के आदर्श के विषय में भरत ने जो विचार उपस्थित किया है, वह अग्निमित्र की महादेवी पट्टाभिषिक्ता से मेल नहीं खाता क्योंकि वह मदिरापायी तथा क्रोध एवं अमर्ष से युक्त है। दुष्यंत की पट्टाभिषिक्ता तो रंगमंच पर कभी आती ही नहीं। उर्वशी केवल एक दिव्य नारी की परिधि में आती है। भरत के नियमों को यहाँ कोई भी महत्त्व प्रदान नहीं किया गया है। भरत ने नाटकों में नृत्य और संगीत को विशेष स्थान दिया है। कालिदास ने इस विधान की उपेक्षा की है क्योंकि 'शाकुन्तल' में केवल दो गीतों का ही प्रयोग है और 'मालविका०' में केवल एक गीत और एक नृत्य है। कालिदास का विदूषक भी सर्वथा स्वतन्त्र पात्र है। यद्यपि उनके विदूषकों का स्वभाव एक-सा प्रतीत होता है, तथापि उनके कार्यों में यथेष्ट भिन्नता है। 'शाकुन्तल' तथा 'विक्रमोर्वशीय' के विदूषकों की तुलना में 'मालविकाग्निमित्र' का विदूषक विशिष्टता से सम्पन्न है, वह राजा का 'नर्म-सचिव' है और एक प्रकार से अग्निमित्र, देवी, इरावती, मालविका इत्यादि सम्पूर्ण प्रमुख पात्रों से अधिक विशिष्ट तथा प्रभावशील है क्योंकि उसी के संचालन में समग्र नाट्य-वस्तु विकसित होती है। स्पष्ट है कि भरत के शास्त्रीय पीठमर्द, विदूषक या विट की परिधि में उसका समावेश नहीं हो सकता।[1] वस्तुतः नाट्यशास्त्र अथवा किसी भी शास्त्रीय मानदंड का अक्षरानुयायी अनुसरण कालिदास की सर्वातिशायिनी प्रतिभा के लिए कथमपि स्तुत्य नहीं होता।

भारतीय नाटक की आलोचना करते समय सुप्रसिद्ध विद्वान् कीथ ने कालिदास की नाट्यकला पर यह टिप्पणी की है—"मानव-जीवन की गंभीरतर समस्याओं के लिए कालिदास के पास कोई संदेश नहीं है; जहाँ तक हम देख सकते हैं, उनका मानस कभी इनसे प्रश्नाहत नहीं हुआ। गुप्तवंशीय राजाओं के काल में पूर्ण उत्कर्ष

---

१. पं० सूर्यनारायण व्यास : 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान',
कालिदास-अंक, नवंबर, १९५८.

को प्राप्त समग्र ब्राह्मणीय व्यवस्था उन्हें सन्तुष्ट करती-सी प्रतीत होती है और इसीलिए विश्व के साथ वे एक शान्त सामञ्जस्य बनाये हुए हैं। यद्यपि 'शाकुन्तल' अभिराम एवं आवर्जक है, तथापि यथार्थ जीवन की निर्ममता से दूर रह कर, यह एक संकीर्ण संसार में विचरण करता है और न तो यह जीवन की प्रहेलिकाओं का ही कोई उत्तर देता है और न उन्हें समझने-समझाने का ही कोई प्रयत्न करता है।"[1] कीथ की यह टीका कथमपि उचित एवं तर्क-संगत नहीं है। किसी कलाकृति को उस मानदंड पर मूल्यांकित करना न्याय्य नहीं है जिसका पालन अथवा अनुसरण कवि का उद्देश्य ही नहीं था। जैसे 'शाकुन्तल' कालिदास की नाट्यकला का सर्वोत्कृष्ट प्रसून है, वैसे ही प्रसिद्ध रोमान्टिक नाटक 'टैम्पेस्ट' शेक्सपियर की प्रौढ़तम प्रतिभा की प्रसूति है, और इस रचना के विषय में यह टीका की जा सकती है कि शेक्सपियर ने उस नाटक को दुःखान्त नहीं बनाया, यह उसकी सबसे बड़ी त्रुटि है। लेकिन, यह टिप्पणी भी उतनी ही अनुचित होगी जितनी कीथ की उक्त टिप्पणी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कीथ की इस आलोचना का सुन्दर उत्तर दिया है। उनकी तर्कना है कि भारतीय कवि ने अपने विश्वासों के अनुसार जगत् के समंजस विधान में सन्देह करना उचित नहीं समझा जिस कारण उसने अपने लिए अनेक आत्मनिर्मित बन्धन स्वीकार कर लिये और उन्हीं के भीतर रस-सृष्टि का सफल उपक्रम किया। यह नहीं कहा जा सकता कि कीथ ने जो बातें कही हैं, वे गलत हैं। गलत है उनकी दृष्टिभंगी। सचाई गलत ढंग से देखी जाने पर अवहेलनीय हो जाती है। जो मनुष्य मानता है कि यह संसार क्षण-भंगुर है, इस परिवर्तमान क्षणभंगुरता के बाह्य आवरण के भीतर एक चिरन्तन सत्य है जो सब सत्यों का सत्य है और जिसे आश्रय करके ही बाह्य जगत् की सत्ता प्रतिभान हो रही है वह जीवन के गंभीरतर प्रश्नों की बात मानता ही कहाँ है कि उसका उत्तर देता फिरे? उनके मन से तो जीवन के गंभीरतर प्रश्नों का समाधान हो गया रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजन्य हैं। जिसे जीवन कहा जाता है, वह भारतीय कवि की दृष्टि से कर्म-बंध के भोग के लिए एक क्षणिक पड़ाव है। मनुष्य का शाश्वत निवास यह कर्म-प्रपंचमूलक जगत् नहीं है। धन और यौवन की समस्यायें जीवन के गम्भीरतर प्रश्न हैं ही नहीं, उनका मूल्य स्वप्न में देखे हुए सुख-स्वप्न के समान नितान्त क्षणभंगुर है। मनोविनोद के लिए इस चिन्ता को थोड़ी देर के लिए मान लिया जा सकता है, पर सम्पूर्ण भारतीय साहित्य इसे इतने से अधिक महत्त्व नहीं देता। वस्तुतः यदि कोई सचमुच भारतीय साहित्य का रस अनुभव करना चाहे, तो उसे भारतवर्ष के इन चिर-सञ्चित संस्कारों का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिये।[2]

---

१. डॉ॰ कीथ : 'The Sanskrit Drama', पृ॰ २८०–८१.
२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'साहित्य का मर्म' पृ॰ ३३–३४.

आचार्य द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि जीवन के गम्भीरतर समझे जाने वाले प्रश्नों का साहित्य में समाधान खोजना आधुनिक प्रवृत्ति है और कीथ ने अपने देश और काल के संस्कारों के चश्मे से देखने की गलती की है। यदि ग्रीक ट्रेजिडी को भारतीय संस्कारों के चश्मे से देखा जाय तो वह आलोचना निम्नलिखित प्रकार की होगी।

"ग्रीक साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार भी मायाजन्य भ्रममूलक बातों को जीवन का गंभीरतर प्रश्न समझते रहे। इस निरन्तर परिवर्तमान जगत् के भीतर भी एक शाश्वत सत्ता है, एक चिन्मय सत् है, जो प्रकृति के भासमान विकारों से एकदम निर्लिप्त है, यह सहज-सी बात कभी उनके मस्तिष्क में आई ही नहीं। ट्रेजोन की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गये, वे कभी भी जीवन के वास्तविक गांभीर्य तक पहुँचे ही नहीं। वे और उन्हीं के आदर्श पर लिखे गये उत्तरकालीन अंग्रेजी नाटक एक उद्देश्यहीन मायाजाल में उलझे हुए छटपटाते रहे, जहाँ पद-पद पर परस्पर विरुद्ध जाने वाले कर्त्तव्य-द्वन्द्व उन्हें सताते रहे और अंत तक वे किसी सामंजस्यमूलक जागतिक व्यवस्था का पता न लगा सके। ग्रीक विचारधारा ने नाटकीय दृष्टि को कितना विशृंखल बना दिया है, इस बात को यूरोपियन नाटकों का समूचा इतिहास बड़े स्पष्ट रूप में दिखा देता है।"[1]

जैसा द्विवेदी जी ने कहा है, इस प्रकार की आलोचना ग्रीक साहित्य के सौन्दर्य का अभिशंसन करने में उचित एवं न्याय्य नहीं कही जाएगी, क्योंकि सचाई भी गलत ढंग से प्रकट करने पर झूठ हो जाती है। कीथ ने उक्त टिप्पणी में वही गलती की है।

वस्तुतः प्रत्येक नाटक की एक अन्तरात्मा होती है और उसका विकास भीतर से बाहर की ओर होता है। अधिकांश भारतीय तथा यूरोपियन नाटकों का एक बड़ा दोष यह है कि उनमें किसी एक केन्द्रीय विचार-धारा का अभाव रहता है और वे काल्पनिक संवादों से परिपूर्ण दृश्यों के जमघट मात्र होते हैं। आधुनिक नाटक तो समस्याओं के उठाने के नाम पर सामाजिक उद्देश्य से इतने भाराक्रान्त बन जाते हैं कि उनमें कलात्मक आकर्षण रह ही नहीं जाता है। कुछ नाटकों में अभिनेता ही नाटक का नियमन करते हैं न कि नाटक अभिनेताओं का। कुछ नाटकों में नाटक का नियंत्रण न तो स्वयं नाटक में रहता है और न अभिनेताओं के हाथ में, बल्कि उसका सम्पूर्ण नियमन दृश्यों को सजाने वाले कलाकार के द्वारा सम्पन्न होता है। निचले स्तर के नाटकों में इन सबके ऊपर विदूषक का प्राधान्य हो जाता है। लेकिन, कालिदास के नाटकों में इन सभी त्रुटियों का अभाव है। उनके नाटकों में एक अभ्यन्तरीण विचार-धारा वर्तमान है जो सम्पूर्ण नाट्यवस्तु को अधिशासित करती है, और अभिनेताओं को भी अपने नियंत्रण में कर लेती है। कथानक, घटना, कथोपकथन, चरित्र-

१. वही, पृ० ३५.

चित्रण, कविता तथा आध्यात्मिक उद्देश्य – इन सभी तत्त्वों का उनके नाटकों में अभिराम सामञ्जस्य उपलब्ध है जो अभिनेताओं तथा सामाजिकों, दोनों को समरूपेण प्रभावित करता है। नाटकीय प्रभाव के सम्पूर्ण तत्त्व उनमें दृष्टिगोचर होते हैं और वे सभी नाटक की केन्द्रीय, भीतरी आत्मा के द्वारा शासित एवं संचालित हैं।

कालिदास को भारत का शेक्सपियर कहा गया है। यह टिप्पणी कई दृष्टियों से दोषपूर्ण है। सर्वप्रथम तो यही बात ध्यातव्य है कि कालिदास की काव्यात्मक प्रतिभा जितनी पट-भूमि को आच्छन्न किये है उतनी शेक्सपियर की प्रतिभा की पहुँच के बाहर है। कालिदास ने महाकाव्यों, गीतिकाव्य तथा नाटकों का प्रणयन किया है जबकि शेक्सपियर की प्रतिभा केवल नाट्यकला को सजाने में ही सीमित रह गई है। यह सही है कि इन दोनों महाकवियों के युगों में कुछ समानता उपलब्ध होती है तथा दोनों बहुत दूर तक अपने-अपने युग की प्रसूति हैं। लेकिन, कालिदास के काव्यों में भारतीय संस्कृति के चिरन्तन आदर्श अनवद्य रूप में ध्वनित हुए हैं, और वे भारतवर्ष के सच्चे अर्थों में 'राष्ट्रीय कवि' हैं। रामस्वामी शास्त्री ने गोपाल राव की यह टिप्पणी उद्धृत की है: "Out of a part of Shakespeare's brain you can create a Kalidasa." कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह टीका सर्वथा असंगत एवं अनर्गल है। यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि जहाँ तक नाटकीय उपलब्धियों का प्रश्न है, शेक्सपियर का फलक अधिक विस्तीर्ण तथा अधिक वैविध्यपूर्ण है। जीवन की विपन्नता एवं विवशता को चित्रित करने तथा इतिहास के अतीत को सजीवता एवं चित्रात्मकता के साथ नाटकीय अभिव्यक्ति देने में शेक्सपियर अद्वितीय है। लेकिन, अन्य दिशाओं में कालिदास शेक्सपियर से आगे बढ़ गए हैं। प्रकृति का चित्रण, तथा मानव-जीवन एवं प्रकृति-जीवन के सामरस्य का निदर्शन जैसा कालिदास की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है, वैसा शेक्सपियर की रचनाओं में खोजने पर भी नहीं मिलेगा। इसी प्रकार, जीवन के आध्यात्मिक तत्त्वों की कालिदास की पकड़ अधिक निश्चित और विश्वसनीय है। मोनियर विलियम्स ने मानव-हृदय के उनके गहन ज्ञान, कोमल एवं सुकुमार भावों के उनके अभिशंसन तथा द्वन्द्वशील भावनाओं के घात-प्रतिघात से उनकी अवगति की सराहना की है। "कालिदास सचाई एवं सहानुभूति के दरवाजे से विश्व-हृदय में प्रवेश करते हैं। अथच, मानव-मन की शाश्वत अभिलाषाओं तथा उद्वेगों का उनका चित्रण इतना सटीक, सजीव तथा सर्वांग-पूर्ण है कि उनकी सृष्टियाँ चिरकाल तक जीवित रहेंगी और, सभी कालों एवं सभी देशों में, सभी हृदयों को आवर्जित करती रहेंगी।[1]"

---

१. K. S. Ramaswami Shastri : 'Kalidasa', Vol. II, पृ० ११८.

(१५) कालिदास की काव्य-कला

(क) काव्यादर्श

"नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥"

(काव्य-प्रकाश)

—'नियति-विरचित नियमों से जो आबद्ध नहीं है, आह्लाद ही जिसका सर्वस्व है, जो किसी अन्य कारणादि के परतंत्र नहीं है तथा नव रसों से युक्त होने के कारण जिसकी रचना परम मनोहारिणी है, वैसी कवियों की वाणी सदैव विजय प्राप्त करती है।'

मम्मटाचार्य ने प्रस्तुत श्लोक में कविता की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है, वे सभी समंजसरूप से कालिदास की कविता में उपलब्ध होती हैं। भारतीय प्रतिभा के विकास की जिस सरणि में कालिदास का आविर्भाव हुआ था, उससे पूर्ण तादात्म्य उनकी अन्तश्चेतना प्राप्त कर चुकी थी। उस वैभवशाली युग में; जबकि जातीय आत्मा अभूतपूर्व विजयोल्लास एवं आनन्दोन्मेष की तरङ्गों में परिप्लावन कर रही थी, कविता अन्यधर्मानुसारिणी हो ही नहीं सकती थी। रस एवं उल्लास का अनुसन्धान करने वाली सभ्यता कवि की उसी विजयशीला भारती को अपनी आस्था एवं आसक्ति का दान दे सकती थी, जो रसरुचिरा हो, ह्लादैकमयी हो। कालिदास कविता-कामिनी के भ्रू-विलास के आवर्जन से कभी मुक्त नहीं हुए और उनका अन्तश्चित उसके संकेत किंवा निमंत्रण पर, सर्वदा एवं सर्वत्र, दीप्त, द्रवित तथा विस्फारित होता रहा। उनके काव्यों में अनुसंधित्सुओं को प्रभुसम्मित वाणियाँ तथा सुहृत्सम्मित अर्थतात्पर्यादि मिल सकते हैं, किन्तु उनकी मूल प्रकृति कान्तासम्मित है[1] और अपनी हृद्य, मधुगर्भा वाग्मालिकाओं के माध्यम से ही वे हमें मुख्यतया आकर्षित करते हैं।

कालिदास ने सौन्दर्य के संसार में भावकों की भावना के लिए सहज, निरलंकृत अव्याजमनोहर रूप-लक्ष्मी का इन्द्रजाल उपन्यस्त किया है, वनलताओं द्वारा उद्यान-लताओं को परास्त कराया है, मधुर आकृतियों के लिए प्रत्येक वस्तु अथवा परिवेश

---

१. "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" —काव्यप्रकाश ।

को मण्डन-रूप में स्वीकार किया है। लेकिन, जब वे अपनी कविता-कामिनी की रूपच्छटा का वितान तानने लगते हैं, तब उनकी सहजानुभूतियाँ इतने कुशल शिल्प का परिधान ग्रहण कर लेती हैं कि पाठक अलौकिक रमणीयता के प्रवाह में बह जाता है। कालिदास वस्तुतः काव्य-लोक में वाणी और अर्थ के समरस सम्मिलन में विश्वास करते हैं[१], दोनों के शोभाशाली पाणिग्रहण में कविता को सार्थवती स्वीकार करते हैं। अतएव, उनकी यशस्वी कृतियों में भाव के सुकुमार कुसुम लोकोत्तर सौरभ का प्रसार करते हैं, यथार्थ की वेदिकायें मनोज्ञ दीपशिखाओं के ललित, स्निग्ध आलोक से जगमगाने लगती हैं। कालिदास 'मन्दता' की विज्ञप्ति करते हुए भी, 'कवियशःप्रार्थी' हैं,[२] और कविता भी लिख रहे हैं उन अधिकारी सहृदयों के लिए जो सत्-असत् में विवेक कर सकते हैं क्योंकि अग्नि में तपने पर ही, कंचन की विशुद्धता अथवा श्यामिका की व्यंजना हो सकती है—

"तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥"

अतएव, कालिदास का काव्यादर्श सुवर्ण का संस्कार है, परिष्कृत स्वर्ण का उत्पादन एवं उसकी दीप्ति के प्रसार से विवेकशील सहृदयों को चमत्कृत एवं आवर्जित करना है।

प्रसिद्ध आंग्ल पण्डित मैकाले ने मिल्टन की काव्योपलब्धि के सन्दर्भ में कहा था कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे कविता प्रायः अवश्य ही ह्रासोन्मुख होती जाती है।[३] इस अत्युक्ति में चमत्कार होते हुए भी, सत्यांश वर्तमान नहीं है। कवि सभी कालों में विश्व के विस्मय एवं सौन्दर्य का पुरोहित हुआ करता है। आरम्भिक सभ्यताओं में उपलब्ध विस्मय-भावना निश्चय ही, अत्यधिक विकसित सभ्यताओं की विस्मय-भावना से भिन्न होती है। और, इस प्रकार मानव-जाति अपने शैशव किंवा यौवन को अतिक्रान्त कर, जैसे-जैसे अपनी परिपक्वावस्था को प्राप्त होती जाती है, वैसे-वैसे सृष्टि के सौन्दर्य एवं सौरभ की हमारी प्रतीति में यद्यपि कुछ ह्रास होता है, तथापि वह अधिक समृद्ध तथा अधिक प्रभविष्णु भी होती जाती है। उदाहरणार्थ, मानव-प्रकृति की एक मौलिक प्रवृत्ति प्रेम को लिया जा सकता

---

१. "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।"—रघुवंश, १।१.

२. "मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।" वही, १।३.

३. "As civilisation advances, poetry almost necessarily Declines."

—Macaulay.

है। 'सहज प्रेम' की निर्झरिणी-जैसी स्वच्छन्दता 'सभ्य प्रेम' में नियंत्रित, सतर्क तथा इच्छानुशासित बन जाती है और उद्देश्य-प्राप्ति के लिए साधन के औचित्या-नौचित्य की भावना से प्रभावित हो जाती है। तब प्रेम केवल आनन्द एवं उपभोग की ही खोज नहीं करता, प्रत्युत वह शिष्टता, सुघड़ता तथा पवित्रता की भावना से मर्यादित बन जाता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ, काव्य अथवा कला की प्रवृत्ति भी हमारी भावनाओं की अनुरूपता में सहजता से सजगता, सतर्कता एवं अलंकृति की ओर उन्मुख होती जाती है। सौन्दर्य की अनुभूति का प्रकाश ही ललित कलाओं का चरम साध्य है, और सभ्यता के उत्कर्ष की पीठिका में कलाओं की जो सृष्टि होती है; उसमें अधिक लालित्य एवं रमणीयता का अवतरण स्वभावतः हो जाता है।

कालिदास की काव्य-कला में, इसीलिये, सहजता का स्वच्छन्द प्रवाह नहीं खोजा जा सकता। सजगता, सतर्कता तथा अलंकृति उसकी प्राणवायु हैं और अभिरामता एवं रमणीयता उसकी उच्छल तरंगें हैं जिनमें भावक डूबता-उतराता है।

कालिदास के काव्यादर्श की खोज थोड़ी और की जानी चाहिये। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के पंचम अंक में महारानी हंसपादिका की 'रागपरिवाहिनी गीति' को सुनकर दुष्यन्त परम उत्कंठित हो, कह उठता है—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्-
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥"

—'सुन्दर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर, सुखी मनुष्य भी जो एक अनिश्चित उत्कंठा या उदासी से भर जाते हैं, उसका कारण यही है कि उन्हें पूर्वजन्म के सम्बन्ध, जो उनकी रागात्मिका प्रकृति में बद्धमूल हो गए रहते हैं, अज्ञात-भाव से स्मरण हो जाते हैं।"

इस श्लोक से कवि की निम्नलिखित मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है—

(क) 'रम्य' तथा 'मधुर'—अर्थात्, रूप, रस, गंध स्पर्श एवं ध्वनि से सम्बन्धित पंचेन्द्रियों के विषय मनुष्य-मात्र को आकृष्ट करते हैं। कवि इनके प्रति और भी विवशता के साथ आत्म-विसर्जन करता है. क्योंकि वह सामान्य मनुष्यता की तुलना में सृष्टि के आकर्षणों प्रति अधिक जागरूक एवं संवेदनशील होता है।

(ख) 'रम्य' तथा 'मधुर' की प्रतीति, अर्थात्, सौन्दर्य-भावना किंवा रस-भावना हमारी रागात्मिका प्रकृति—'भावस्थिराणि'—में बद्धमूल हो गई होती है। अतएव, सौन्दर्य अथवा रस का आस्वाद बुद्धि अथवा तर्क का विषय न होकर, भाव अथवा राग का विषय है।

(ग) सौन्दर्यानुभूति की प्रकृति अमिश्र आनंद की नहीं होती, अपितु उसमें वेदना की मन्द कनकनाहट भी बनी रहती है—'पर्युत्सुकीभवति।'[५]

(घ) वेदना का तत्त्व इसलिए उदय होता है कि हमारे पूर्वजन्मों के अनुभव अथवा संस्कार, सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ, हमारे उपचेतन में आ जाते हैं—'तच्चेतसा स्मरति।' प्रत्येक अनुभव अपने सजातीय अनुभव की अस्पष्ट भावना से समन्वित होता है। वह अपने में पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता क्योंकि उसके साथ पूर्व की परम्परा जुड़ी रहती है। इसीलिए, किसी भी अनुभव की प्रतीति, स्मृति-मूलक होने ही के कारण, थोड़ी टीस, थोड़ी कलक वा कसक लिए होती है।

उपर्युक्त विचार-बिन्दुओं को संश्लेषणात्मक ढंग से यों व्यक्त किया जा सकता है—सौन्दयनुभूति इन्द्रियों का व्यापार है। वह तर्काश्रित नहीं, भावाश्रित है। उसकी प्रकृति वेदनामूलक है। उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति में एक आध्यात्मिक परम्परा होती है। और इसी कारण, वह परम्परा जिस व्यक्ति में जितनी दृढ़मूल रहती है, वह उतनी ही गहराई के साथ सौन्दर्यानुभूति कर सकता है।

कालिदास की यह मान्यता कविता, अथवा अन्यान्य ललित कलाओं, के स्रष्टा और भावयिता, दोनों के लिए सटीक बैठती है। कवि या भावक तर्क नहीं करता, विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि सौन्दर्य 'सर्जरी' नहीं सहन कर सकता क्योंकि उससे सौन्दर्य की हत्या हो जाती है—"We murder to dissect" (वर्ड्सवर्थ)। दुष्यन्त कालिदास का काव्यात्मक प्रवक्ता है। शकुन्तला के वंश का संदेह होने पर उसने कहा—"सतां हि सन्देहपदेषु

---

५. कोमलमना कीट्स ने यही भाव यों व्यक्त किया है—

"She dwells with Beauty–Beauty that must die;
And Joy, whose hand is ever at his lips
Bidding adieu; and aching pleasure nigh,
Turning to poison while the bee-mouth sips:
Ay, in the very temple of delight,
Veil'd Melancholy has her sovereign shrine,
Though seen of none save him whose strenuous tongue.
Can burst Joy's grape against his palate fine;
His soul shall taste the sadness of her might,
And be among her cloudy trophies hung."

(Ode on Melancholy.)

वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।'' संदेहास्पद विषयों में अन्तःकरण-प्रवृत्तियाँ ही प्रामाण्य मानी जानी चाहिए। वस्तुतः कवि एवं भावक दोनों के लिए अन्तःकरण की नैसर्गिक वृत्तियाँ अभ्यर्थनीय हैं। कालिदास का कवि एवं सहृदय भावक, दोनों ही, आंग्ल कवि कीट्स के समान, हृदय की सहजस्फुरित प्रेरणाओं, उसकी निसर्गज तृप्तियों 'एवं' अतृप्तियों, क्षुधाओं एवं पिपासाओं की पवित्रता ('Holiness of heart's affections') में विश्वास करते हैं।

शकुन्तला के रतिसर्वस्व अधरों का पान करनेवाले भ्रमर के भाग्य पर ईर्ष्या करता हुआ दुष्यन्त कहता है —

''चलापाङ्गं दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिक चरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥' (१।२२)

—'हे मधुकर! तुम उस कम्पनशीला, चंचल नेत्रों वाली सुन्दरी को बारम्बार छूते जा रहे हो। उसके कानों के पास जाकर धीरे-धीरे ऐसे गुनगुनाते हो मानो तुम उसे कोई बड़े रहस्य की बात सुनाना चाहते हो तथा बारंबार उसके हाथों द्वारा हटाए जाने पर भी उसके रसभरे अधरों का पान करते जा रहे हो। हम तत्त्व अथवा सत्य के अन्वेषण में लगे रहे और नष्ट हो गए, लेकिन तुम्हारा जीवन सचमुच सफल और यशस्वी है।'

कालिदास ने यहाँ कविता अथवा कला तथा विज्ञान के मौलिक भेद को व्यंजित किया है। कलाकार जीवन के मधु की खोज करता है और उसकी चर्वणा में आत्म-विसर्जन कर देता है। वैज्ञानिक तत्त्व की खोज में व्यस्त रहता है और उसीके अनुशीलन में जीवन नष्ट कर देता है। पहला सौन्दर्य की उपासना करता है, और दूसरा सत्य की। पहले की साधना रागाश्रित है और दूसरे की तर्काश्रित। पहला अन्तःकरण-प्रवृत्तियों को प्रामाण्य मानकर, जीवन सफल कर लेता है, और दूसरा 'व्यभिचारिणी बुद्धि' (Meddling intellect) का प्रश्रय ग्रहण कर, जीवन के आनन्द से वंचित रह जाता है। अतएव, कविता का प्रकृत मार्ग संवेदनशील हृदय का है, तर्कशील बुद्धि का नहीं।

भावक के पक्ष में भी कालिदास का दृष्टिकोण एतादृश है। रस अथवा सौन्दर्य की अनुभूति उनके लिए दुस्साध्य है जो सत्य के अनुशीलन में व्यस्त रहते हैं; कदाचित् सत्य की साधना मानव-चित्त की जिस अभ्यन्तरीण भंगिमा में होती है, वह सौन्दर्यास्वादन के लिए उपयुक्त नहीं है।

सौन्दर्य की सृष्टि तो तत्त्वान्वेषियों द्वारा कथमपि शक्य ही नहीं है। उर्वशी के अनवद्य रूप से अभिभूत होकर, पुरूरवा कहता है—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥" (१।१०)

—इस सुन्दरी की रचना के लिए या तो ज्योत्स्ना का अपरिमित दान देनेवाला चन्द्रमा, या शृङ्गाररस का देवता स्वयं कामदेव, या फूलों का साम्राज्य बिछाने वाला वसंत ही विधाता बना होगा। अन्यथा, वेदानुशीलन से जड़ीभूत चित्तवृत्तियों वाले तथा विषयोपभोग से विमुख रहनेवाले वृद्ध ऋषि ऐसे मनोहर रूप की रचना में क्योंकर समर्थ हो सकते थे ?"

अर्थात्, सौन्दर्य की भावना उस अन्तःकरण का प्रसाद है जिसकी वृत्तियाँ, तंत्री के तने तारों के समान, रंचमात्र के संघात से ही झनझना उठती हैं; अर्थात्, कविता या कला दीप्त, द्रवित एवं विस्फारित अन्तरात्मा की प्रसूति है जो जीवन तथा जगत् की मार्मिक छवियों के प्रति अनायास प्रतिक्रियालु हो। 'विषयव्यावृत्तकौतूहल' व्यक्ति कवि अथवा कलाकार के धर्म का निर्वहण नहीं कर सकता।

कविता के प्रति कालिदास का यह दृष्टिकोण कीट्स के दृष्टिकोण से घनिष्ठ साम्य रखता है। अपने मित्र बेली (Bailey) को प्रेषित एक पत्र में कीट्स ने विचारों के जीवन की अपेक्षा कर संवेदनों के जीवन के प्रति मोह व्यक्त किया है—"O for a life of sensations rather than of thoughts !" कालरिज की कविता के प्रति उसका उपालम्भ यह है कि वह तथ्य एवं तर्क की उद्वेगजनक सीमा का स्पर्श करने लगती है—"Irritable reaching after fact and reason." 'यूनानी कलश' (Greecian urn) के प्रति अपने संबोधगीत में सौन्दर्य एवं सत्य की तदात्मता वा समरसता का कथन करते हुए ('Beauty is truth, truth beauty') कीट्स अपनी कलादृष्टि की यों व्यंजना करता है—

"....tease us out of thoughts
As doth eternity."

कला वा सौन्दर्य हमें विचार के बन्दीगृह से बाहर निकालकर, सृष्टि की उत्फुल्ल सुषमाओं के साम्राज्य में ला उपस्थित करता है जहाँ संवेदनाओं के जीवन के लिये प्रचुर क्षेत्र उपलब्ध हो जाता है। कीट्स का कथन है कि कला, विचार-बहिर्निष्क्रमण का कार्य 'टीज़िंग' के द्वारा सम्पन्न करती है। जैसे किसी व्यक्ति को चिढ़ा-चिढ़ा कर

उसे उसके किसी दुर्व्यसन से मुक्त किया जाता है, वैसे ही कला, तर्कजीवियों को उनके शुष्क जीवन की व्यर्थता का संकेत कर, बार-बार चिढ़ाती है और अन्ततः उन्हें अपना उपासक बना लेती है। कीट्स की यह 'Teasing' हमारे 'कान्ता-सम्मितत्व' का ही यूरोपीय संस्करण है। अपने प्रसिद्ध प्रेमाख्यान 'इज़ाबेला' में कीट्स ने कहा है कि निष्प्राण दर्शन के स्पर्श-मात्र से ही सकल आकर्षण कपूर की नाईं उड़ जाते हैं। इन सभी बातों में कीट्स कालिदास की काव्य-मान्यता के निकट पहुँच आता है यद्यपि दुर्बल स्त्रैणता का जो तत्त्व आंग्ल कवि में वर्तमान है, उसकी छाया भी गीर्वाणगिरा के समर्थ गायक कालिदास को स्पर्श नहीं करती।

कालिदास मानते हैं कि कला का प्राथमिक साक्षात्कार कलाकार के चित्त किंवा अन्तर्मानस में होता है। वहीं कला की असली प्रतिमा निर्मित होती है और उस निर्मिति में कलाकार का रचनाशील मन ही सम्पूर्ण क्रिया सम्पन्न करता है। दुष्यन्त शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य पर रीझ कर, कहता है—

"चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥"

—'ब्रह्मा ने सबसे पहले शकुन्तला की मूर्ति को चित्त में रूपायित किया होगा, अथवा संसार के समस्त रूपों को मन के द्वारा भावित किया होगा; अन्यथा वह 'स्त्रीरत्न' उत्पन्न हो ही नहीं सकती थी।' बिना मन के सक्रिय सहयोग के, कला वा कविता रूप ग्रहण नहीं कर सकती। क्रोचे ने उन मानसिक बिम्बों को, जो कल्पना द्वारा विजृम्भित किए गए होते हैं, कला वा सौन्दर्य माना है। कालिदास प्रकारान्तर से उसी कलात्मक सत्य की व्यंजना कर रहे हैं।

कालिदास कला की सृष्टि में इस 'मानसिक समाधि' को परमावश्यक मानते हैं। राजा अग्निमित्र मालविका का साक्षात् दर्शन कर, रूप-मुग्ध हो गया है और मालविका की सजीव प्रतिमा, उसकी चित्र-खचित मूर्ति की तुलना में, कहीं श्रेष्ठ सिद्ध होती है। वह कहता है—

"चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥" (२।२)

—'चित्र में इसकी सुन्दरता देखकर मेरे मन में यह सन्देह हो रहा था कि कदाचित् यह उतनी सुन्दर न हो। लेकिन, अब ऐसा लग रहा है कि चित्रकार इसके रूप का चित्र बनाते समय 'शिथिल-समाधि' हो गया होगा।'

कलाकार अथवा कवि के लिए उसकी मनःसमाधि की अभंग दृढ़ता अत्यावश्यक है। जब उसकी 'समाधि' बीच में ही टूट जाती है, तब कला के उपादानों का वह सम्यक् ढंग से अन्तर्दर्शन नहीं कर सकता, और इसीलिए, उत्कृष्ट कला का रूपायन सम्पन्न नहीं हो पाता। कालिदास अपनी कृतियों के बहुत कम स्थलों एवं संदर्भों में 'शिथिलसमाधि' हुए हैं। वस्तुतः कलाकार का मानसिक शैथिल्य कला को कुरूप एवं निष्प्राण बना देता है।

कलाकार की इस अखंड समाधि से जिस सौन्दर्य की प्रसूति होती है, वह कुछ दिव्यता का परिधान ग्रहण कर लेता है, लौकिकता के धूमिल रंगों का विसर्जन कर, अमानुषीय प्रभा का संकलन कर लेता है। दुष्यन्त शकुन्तला की रूपलक्ष्मी से चमत्कृत होकर, कहता है—

"मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥" (१।२४)

—'मनुष्यों में भला ऐसा रूप कहाँ मिल पाता है? चंचल चमक वाली बिजली पृथ्वीतल से थोड़े ही निकलती है?'

सौन्दर्य की 'प्रभातरल ज्योति' पृथ्वी के कलुष-कल्मष, उसकी अवसादग्रस्त श्यामिकता से उत्पन्न नहीं हो सकती। श्रेष्ठ कला, श्रेष्ठ कविता ऐसे मानस की आविर्भूति होती है जो लौकिक आचरण के कर्दम में न फँसकर, समाधिस्थ हो, दिव्यता का साक्षात्कार कर लेता है, पार्थिवता की परिवेष्टियों का भेदन कर, उनमें से कला का कंचन अथवा सौन्दर्य की सौदामिनी उपलब्ध कर लेता है। कालिदास का काव्यादर्श संस्कारपूत सौवर्ण की उपलब्धि ही तो है—"हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।"

(ख) काव्यात्मक विशिष्टता

कालिदास इन्द्रियों, ऐन्द्रिय भावानुभूति तथा रसात्मक सौन्दर्य के महान् कवि हैं। उनकी प्रधान एवं महीयसी उपलब्धि यह है कि उन्होंने प्रत्येक काव्यात्मक तत्त्व को और सम्पूर्ण महत्त्वमय काव्यरूपों को ग्रहण किया और उन्हें इन्द्रियसुलभ सौन्दर्य की सरणि में लाकर, कलात्मक पूर्णता को समरसता के अनुशासन द्वारा नियंत्रित तथा संयमित किया। किसी वस्तु को पकड़ने और उसका स्पष्ट, प्रांजल स्वरूप नयनों के समक्ष उपस्थित करने में उनका साहित्य में कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। कल्पना के द्वारा किसी वस्तु का मानसिक साक्षात्कार कर लेने की क्षमता, जिसका आस्वाद बड़े-से-बड़े कवि अपने श्रेष्ठतम अन्तःप्रेरित क्षणों में ही किया करते हैं, कालिदास के साथ उनकी स्थायी, अमोघ शक्ति के रूप में वर्तमान रहती है।

इस अन्तर्दर्शन का स्वाभाविक परिणाम होता है सजीव, संश्लिष्ट चित्रण; और यह चित्रांकन, रूप-सौन्दर्य एवं वर्ण-सौन्दर्य की अत्यन्त सुकुमार एवं सशक्त भावना के द्रव में सनकर, कालिदास के काव्यों में प्रतिफलित हुआ है। यही उनका निजी वैशिष्ट्य है।

कालिदास प्रकृतिगत सुषमा एवं मानवीय भावानुभूति के तत्त्व-द्वय को कल्पना के सहारे एक में घुला-मिला देने, उन्हें समरस बना देने में नितान्त प्रवीण हैं। उनके प्रकृति-चित्र परिस्थितियों से प्रसूत होते हैं और उनकी परिस्थितियाँ प्रकृति-चित्रों में घुल-मिल जाती हैं। 'मेघदूत' के असंख्य चित्रों में ही यह दृष्टिगोचर नहीं होता, प्रत्युत उनके अन्य दोनों काव्यों तथा नाटकों में भी उपलब्ध होता है। कामदेव के संहार का करुण संदर्भ वसन्त के सौन्दर्य के बीच घटित होता है; राम की अतीत आनन्दों एवं विषादों की सुकुमार स्मृतियाँ दण्डकारण्य के पर्वतों, नदियों तथा विटपों से लिपटी हुई हैं; अग्निमित्र की ललित प्रेम-लीला, पुरूरवा का उन्माद, अथवा दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति प्रणय-याचनाएँ, सभी प्रकृति के रूपों एवं ध्वनियों के मध्य अपनी छवियों का विस्तार करते हैं। कालिदास की बहुसंख्यक उपमाएँ प्रकृति के दृश्यों एवं स्वरूपों के प्रिय अवेक्षण से गृहीत हुई हैं। मानव-जीवन का उनका अनुभव अत्यंत व्यापक, और उनकी अर्न्तदृष्टि अत्यन्त गहरी है। किन्तु, मानवीय भावानुभूति प्रकृति के सौन्दर्य से, जो उसे आवेष्टित किए है, विच्छिन्न नहीं हो पाई है। कालिदास की सप्राण मानवीयता तथा उनकी सुकुमार कवि-सुलभ संवेदनशीलता प्राकृतिक एवं पौराणिक, दोनों लोकों को रोमांस के मधुर रङ्गों में रंजित कर देती है; और इन्हीं से उनकी कविता के लिए मनोज्ञ पीठिका एवं दृश्यगत विविधता उपलब्ध होती हैं।

कालिदास अपने वस्तु-विन्यास में भी यथेष्ट सतर्क एवं सावधान हैं। अन्य पश्चाद्भावी संस्कृत कवियों की तरह, वे वर्ण्य-विषय को, अपने पांडित्य एवं पाटव के प्रदर्शन-हेतु, माध्यम-रूप में नियोजित नहीं करते। उनके द्वारा गृहीत विषय चाहे जो हो, वे उसका उपयोग अत्यंत प्रभुता एवं प्रवीणता के साथ करते हैं। 'रघुवंश' में बड़े कौशलपूर्वक कालिदास ने विस्तृत एवं विविध सामग्री का संतुलित उपन्यास किया है, 'कुमारसंभव' में शिव-पार्वती की दैवी एवं दिव्य कहानी को नितान्त मधुर मानवी आस्वाद से मंडित कर दिया है; अथच 'मेघदूत' तथा नाटकों में दुर्भाग्यग्रस्त प्रेमियों के उद्वेगशील प्रणय को, कल्पना के ललित एवं समृद्ध वातावरण में चित्रित किया है। इससे उनके विषय-चयन की विविधता, और भिन्न-भिन्न संदर्भों में सन्निहित वास्तविकताओं की उनकी पकड़ का विद्योतन होता है। जिन स्रोतों से उन्होंने अपनी कथाएँ ग्रहण की हैं, उनका सही-सही परिज्ञान हमें नहीं है, लेकिन यह स्पष्ट है कि

उनके विषयों से उन्हें वह सामग्री मिल जाती है जिसमें से वे 'सृजन' करते हैं। पंडितों ने ठीक ही कहा है कि कालिदास कहानी कहने वाले उतना नहीं हैं जितना कला का निर्माण करने वाले हैं और इस निर्माण में उनकी अच्युत आस्वाद-भावना एवं संयमशीलता का महनीय योग है जो रूप तथा वस्तु में समरस संतुलन की रक्षा में सहायक सिद्ध होती हैं।

कालिदास के काव्य में सार्वभौमिकता का जो भाव विद्यमान है, वह केवल उसकी मानवीयता एवं विषय-व्यापकता से ही आविर्भूत नहीं होता, अपितु उसका कारण यह भी है कि कालिदास काव्यात्मक भाव तथा काव्यात्मक शैली, दोनों के समर्थ स्वामी हैं। उपयुक्त पदयोजना, मूर्ति-विधान, शब्दगत संगीत और ध्वनि—ये सभी काव्य-तत्त्व बहुलता से, और विविध, नवीन एवं आवर्जक रूपों एवं मिश्रणों में, उनकी कृतियों में उपलब्ध होते हैं। किन्तु, वे सभी कलात्मक चेतना और काव्यात्मक भावना एवं कल्पना में पूर्ण तादात्म्य निदर्शित करते हैं। कालिदास की काव्य-शक्ति सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च से नीचे की किसी वस्तु को स्पर्श नहीं करती और उसके उपयोग की सम्भावनायें भी व्यापक हैं। किन्तु उसकी प्रचुरता उनकी कला-भावना द्वारा सदैव नियंत्रित रहती है। "अतएव, उनका काव्य न कभी अवरोधित होता है, न त्वरित। उसमें उत्थान एवं पतन की अनवच्छिन्न शृङ्खला नहीं रहती, उनके सर्वोत्तम एवं निम्नतम में कोई बड़ा अन्तराल नहीं होता। वह श्रेष्ठता के एक धरातल तथा महनीयता की एक छाप की आद्यन्त रक्षा करता है। सभी प्रकार के तिकोनापन और खुरदरापन अत्यन्त सुकुमारता-पूर्वक चिकने बना दिये जाते हैं, और उनकी पूर्ण-विकसित कविता का सुडौलपन, प्रशान्त सौन्दर्य के अनुरणनशील ध्वनन द्वारा हमें आकर्षित करता है, जो चाक्षुष एवं नादात्मक प्रभाव में, विचार तथा भावना के सूक्ष्म अन्तर्विलय का परिणाम है[1]।"

लेकिन, कालिदास की काव्योपलब्धि की सबलता और दुर्बलता, दोनों उनकी कविता की इसी विशेषता से उत्पन्न होती हैं। पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दोनों सिद्धान्तों में यह माना गया है कि पूर्वानुभूत भावों का संस्मरण तथा शान्त अनुचिन्तन कविता का उपजीव्य है, और कालिदास की कृतियों में यह तत्त्व प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है। उनकी सुशान्त मनोभंगी, जहाँ तक वह उनका जीवन-विषयक दृष्टिकोण है, वस्तु-व्यवस्था के प्रति उदासीनता अथवा उसकी उपालंभ-विहीन स्वीकृति का पर्याय नहीं है। उनमें यथेष्ट परिमाण में तत्परता तथा विषाद की भावना वर्तमान है और इससे अनुमान होता है कि कवि की यह सुशान्त मनोभंगी, बड़े प्रयत्न तथा

---

१. सुशीलकुमार डे : 'History of Sanskrit Literature' पृ० १५२।

संघर्ष के बाद, प्राप्त की गई होगी, यद्यपि हमें उस संघर्ष के अथवा उसके फल-स्वरूप जो चिन्ता की रेखायें और व्रण उत्पन्न हो गये होंगे, उनके कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते। उनके जीवन का समस्त संघर्ष तथा अवसाद उनकी कलात्मक उपलब्धि की स्थिर शान्ति तथा गरिमा में प्रतिफलित हुआ है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की निम्नोद्धृत प्रशस्ति द्रष्टव्य है—

"हे अमर कवि कालिदास! क्या तुम्हारे सुख-दुःख और आशा-नैराश्य के द्वन्द्व हमी लोगों की तरह नहीं थे? क्या तुम्हारे समय में राजनीतिक षड्यंत्रों और गुप्त आघात-प्रतिघातों का चक्र हर समय नहीं चलता रहता था? क्या तुम्हें कभी हम लोगो की तरह अपमान, अनादर, अविश्वास और अन्याय सहन नहीं करना पड़ा? क्या तुम यथार्थ जीवन के क्रूर-कठोर अभावों से पीड़ित नहीं रहे? और, क्या तुम्हें उस मिर्मम पीड़ा के कारण निद्राहीन रातें नहीं बितानी पड़ीं?

ऐसा संभव नहीं। तुम्हें भी जीवन की कठोर यथार्थता के कटु अनुभव हुए होंगे। किन्तु, यह सब होने पर भी, उन सबके ऊपर तुम्हारा सौन्दर्य-कमल आनन्द के सूर्य की ओर उन्मुख होकर निर्लिप्त, निर्मल रूप में खिला है। उसमें कहीं दुःख-दैन्य और दुर्दिन के अनुभवों का कोई चिह्न नहीं है। जीवन के मंथन से उत्पन्न विष को तुमने स्वयं पान किया है और उस मंथन के फलस्वरूप जो अमृत उठा, उसे तुम समग्र संसार को दान कर गये हो।"

लेकिन, साथ ही, कवि की प्रस्तुत मनोभंगी ने स्वच्छन्दता से अधिक, संयम की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। उसकी कृतियों में सामान्यतया चित्रण के प्राचुर्य का दर्शन नहीं होता। अपितु उसमें सदैव एक प्रकार की शान्तता, सुस्थिरता तथा नाप-तौल दिखलाई पड़ती है। मसृणता एवं अलंकृति कालिदास की प्रकृति के उतना ही अनुकूल पड़ती है, जितना—उदाहरणतः—खुरदरापन और बेडौलपन भवभूति की प्रकृति के अनुकूल पड़ता है। जहाँ कालिदास अपनी कविता की मनोरम साड़ी को सुन्दर पच्चीकारी से सजाते हैं, वहाँ भवभूति उसे खुरदरा तथा सादी ही छोड़ देना पसन्द करते हैं। दोनों का यह भेद उनके स्वभावों की भिन्नता से परिणामित होता है। आदिम संवेदनाओं तथा उनकी उद्वेगशील अभिव्यक्ति की सचाई और ईमानदारी जो भवभूति में पाई जाती है, कालिदास की परिष्कृत तथा सुसंस्कृत वाणी में दृष्टिगोचर नहीं होती। यह बात नहीं कि जीवन तथा प्रकृति में जो कुछ कठोर एवं मर्मस्पृक् है, जो कुछ भव्य एवं भयमिश्रित श्रद्धा का भाव उत्पन्न करने वाला है, उसकी ओर से कालिदास विमुख हों, लेकिन उनकी परिमार्जित काव्यात्मक अभिव्यक्ति में भावों की कठोरता अथवा सशक्तता नियंत्रित बन जाती है। कालिदास में कुछ भी कठोर, भदेस अथवा उद्वेगशील नहीं है,

आघात-प्रतिघात की कोई ध्वनि नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक तत्त्व वा तथ्य सुशान्त चित्रण के सौन्दर्य एवं सामरस्य में घुलमिल गया है। इस मनोभंगी की सीमाएँ भी उतनी ही स्पष्ट हैं जितनी स्पष्ट इसकी संभावनाएँ हैं। एक ओर यह पूर्ण कलात्मक निस्सङ्गता की रक्षा में सहायक सिद्ध होती है जो सच्ची कविता के लिए हितकर है, तो दूसरी ओर यह कवि को तीक्ष्ण एवं साहसिक अनुभूतियों, अनियंत्रित भावावेग के स्थूल एवं असंस्कृत (भी) यथार्थ, तथा खान से निकली हुई कच्ची तथा अमिश्रित धातु की ताजगी से वंचित कर देती है। कालिदास अपने भावों को कोई उनका निजी महत्त्व देना नहीं चाहते, अपितु उन्हें अपने कवित्व की सुरभित चमक-दमक में अथवा अलंकारों के सज्जित परिधान में चित्रित करना पसन्द करेंगे। भवभूति में जितनी आशावादिता बर्बरता के प्रति है, कदाचित् उतनी ही कालिदास में सभ्यता के प्रति है; लेकिन अपने अनियंत्रित खुरदरापन के कारण, भवभूति जिन ऊँचाइयों और नीचाइयों को प्राप्त कर लेते हैं, वे कालिदास की पहुँच के प्रायः बाहर हैं। यही कारण है कि कालिदास द्वारा अङ्कित जीवन तथा प्रकृति के कतिपय चित्र, अत्यन्त काव्यात्मक होते हुए भी, अत्यधिक परिष्कृत एवं दूरारूढ़ हो गए हैं। हिमालय की अद्रिमालाएँ अपने स्वाभाविक गौरव एवं उदात्तता में तथा दण्डकारण्य की सघन वनराजियाँ अपने अनियंत्रित सौन्दर्य एवं कठोरताओं में कवि को आकर्षित नहीं करतीं। वह इन सम्पूर्ण चित्रों को, अवश्य ही, अत्यन्त सूक्ष्म कौशल के साथ सजाकर अलंकृत करता है, किन्तु वैसा करने से उनका अधिक प्रखर एवं मार्मिक आकर्षण नष्ट हो जाता है।'[1]

तथापि जैसा इस पुस्तक के आरम्भ में ही कहा गया है, कालिदास की कविता, अपने ही माधुर्य में छक कर, अपनी सशक्त पद-योजना एवं कलात्मक सतर्कता की कठोरता के कारण, ऐन्द्रिय दुर्बलता के द्रव में बिलकुल बह नहीं जाती। कालिदास की अलंकृतिप्रियता केवल लघुता अथवा सौन्दर्य का बहाना मात्र नहीं है। वे किसी विचार अथवा भाव को, जैसे तराश-तराश कर, सौन्दर्य की प्रतिमा में ढाल देते हैं। इस प्रकार, कालिदास सच्चे कवि की भाँति, किसी 'निर्मम' विचार अथवा उद्वेगशील भाव को आनन्दमय अनुचिन्तन के रसात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। कालिदास अपने विषय से ऊपर रहकर उस पर शासन करते हैं जब कि भवभूति अपने विषय में आत्मविलय करके, उसके प्रति समर्पण कर देते हैं। यह अन्तर दोनों के करुण प्रसंगों के चित्रण में सुन्दरता से प्रत्यक्ष हो जाता है, जिसमें कालिदास अपनी कवि-सुलभ संयम तथा संतुलन की भावना से, अधिक गहरा प्रभाव डालते हैं। सीता के निष्कासन के संदर्भ में राम को पीड़ा एवं वेदना हुई है, उसके चित्रण में दोनों कवियों में स्पष्ट भेद लक्षित

---

१. सुशीलकुमार डे : 'History of Sanskrit Literature' पृ० १५२-५३.

होता है। भवभूति की प्रवृत्ति करुण प्रसंगों का विजृम्भण है जिसमें कवि किसी स्थिति या वस्तु को, जो प्रभाव बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकती है, नियोजित करने से छोड़ता नहीं है। ऐसा करते समय भवभूति प्रायः असंस्कृत बन जाते हैं, और अन्य अधिकांश संस्कृत कवियों के समान पर्याप्त कह चुकने के बाद भी रुकना नहीं जानते। लेकिन, कालिदास, शेक्सपियर की भाँति, अभिव्यक्त करने से अधिक संकेत करते हैं। 'किंग लियर' नाटक में कार्डीलिया के शरीर के चारो ओर जो लोग एकत्र हो जाते हैं, उनमें से एक भी कुछ कहता नहीं है; क्योंकि भावानुभूति अत्यन्त सान्द्र एवं गहरी है और इसी कारण उसे सतह तक उभाड़ने का किसी द्वारा कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। अपनी प्राणदयिता सीता के सम्बन्ध में जो लोकापवाद प्रचलित हो गया है, उससे राम का हृदय प्रेम एवं कर्त्तव्य के संघर्ष से आन्दोलित हो उठा है तथा, हथौड़े से पीटे गए तप्त लोहे के समान, चूर-चूर हो गया है; किन्तु राम न अनावश्यक प्रलाप करते हैं, न संज्ञाहीन होते हैं और न अश्रु-प्रवाह का विसर्जन करते हैं। इस मूक वेदना-सहन से कालिदास के राम, 'सच्चे अर्थों में शोक-सन्तप्त मनुष्य' (a truly tragic figure) बन जाते हैं। जब सीता को छोड़कर, लक्ष्मण लौटते हैं और उनकी निष्कासिता भार्या का वेदना-विह्वल किन्तु तीव्रतापूर्ण सन्देश उनको सुनाते हैं, तभी राम के भीतर का 'नरेश' टूट जाता है और उनके 'मनुष्य' के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है। लेकिन, यहाँ भी कालिदास ने केवल एक छोटा श्लोक ही दिया है जो असीम ध्वन्यात्मकता के साथ, परिस्थिति के दारुण कारुण्य की विवृति करता है—

"बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥" (१४।८४)

—'तुषार की वर्षा करने वाले पौषमास, के चन्द्रमा के समान, राम के नेत्रों से टप-टप आँसू गिरने लगे क्योंकि उन्होंने सीता को स्वेच्छा से नहीं; अपितु कलंक के भय से परित्यक्त किया था।'

कालिदास का यह संयम अपने भीतर विपुल वेदना का भार छिपाए हुए है तथा उनकी कलात्मक प्रौढ़ता का विद्योतक है।

काव्यगत विशेषता का प्रस्तुत प्रकरण समाप्त करने के पूर्व, कालिदास द्वारा चित्रित विभिन्न रसों पर एक हलकी दृष्टि दौड़ाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। कालिदास शृङ्गारिक वर्णन के शिरमौर तो हैं ही, उन्होंने अन्य रसों के भी मार्मिक चित्र अंकित किए हैं। नाटकों में विदूषकों का अवतरण मुख्यतया हास्य की सृष्टि के लिए ही हुआ है। लेकिन कालिदास इस रस के चित्रण में सीमित उपलब्धियों के ही स्वामी हैं। वस्तुतः यह कहना चाहिए कि भारतीय साहित्य में हास्य-

विनोद का समुचिन प्रस्फुटन हुआ ही नहीं है। ऐसा आभास होता है कि संस्कृत भाषा को भव्य एवं महान् अभिव्यक्ति-प्रणाली के लिए इतना अनुशासित कर दिया गया है कि वह स्पर्श एवं पकड़ की वह सुकुमारता, कुशलता एवं हलकापन विकसित नहीं कर सकी है जो हास्यरस की महनीय कृतियों के लिए अपेक्षित है। कालिदास के नाटकों में, विदूषकों के अतिरिक्त, परिचारिकाओं ने कतिपय विनोद-पूर्ण, चातुर्य से छलकती हुई उक्तियाँ कही हैं। 'कुमारसंभव' के पंचम सर्ग में बटुक द्वारा शिव के वर्णन में हास्य का सुन्दर प्रतिफलन हुआ है।

करुणरस के चित्रण में कालिदास अपने संयम तथा प्रभावशीलता की दृष्टि से विशेष उल्लेख्य हैं, यद्यपि 'उत्तररामचरित' की करुणा उन्हें स्पर्श नहीं कर सकी है। 'कुमारसंभव' में रति का विलाप तथा 'रघुवंश' में अज का विलाप, फिर भी इतने मर्मद्रावक बन पड़े हैं कि कहना ही पड़ता है कि "अपि ग्रावा रोदिति, अपि दलति वज्रस्य हृदयम्"—पत्थर भी रोएगा और वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाएगा। शोक, दैन्य, संताप, मृत्यु के द्वार से अपने प्रिय का अनुसरण करने की उत्कट अभिलाषा, मृत्यु के प्रति प्रिय-विश्लेष के लिए आक्रोश, मृत्यु का रहस्य; प्रिय के परलोक-गमन पर जीवन की शून्यता इत्यादि भावों का युगपत् चित्रण इन पद्यों में सम्पन्न हुआ है। 'मेघदूत' प्रिय के अल्पकालिक वियोग में उत्थित होने वाले मर्म-द्रावक भावोद्गारों का मनोरम कोष है। राम और दुष्यन्त का, अपनी प्रियतमाओं के परित्याग से परिणमित शोकोच्छ्वास एवं पश्चात्ताप अत्यन्त करुणोत्पादक हैं। शोक एवं करुणा के भावों का केन्द्रस्थ तत्त्व कवि ने यों व्यञ्जित किया है—

"विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥"

('रघुवंश' ८।४३)

—'अज का धैर्य टूट गया, गला भर आया और वे दहाड़ मारकर रोने लगे। तपने पर लोहा भी कोमल हो जाता है, फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या ?'

"अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते, कैव कथा शरीरिषु"– इस कथन में मानों वेदना और करुणा की आत्मा अपना रहस्य विवृत कर रही है।

'रघुवंश' में रघु, राम तथा दिलीप के गुणों का वर्णन करने के प्रसंग में वीररस का सुन्दरपरिपोष हुआ है। रघु की दिग्विजय का वर्णन सच्चे युद्धवीर का चित्र उपस्थित करता है। 'विश्वजित्' यज्ञ में रघु का अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान करना 'दानवीर' का सुन्दर उदाहरण है। दिलीप 'दयावीर' के रूप में चित्रित हुए हैं। उनका यह कथन उल्लेख्य है—

"क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥"
('रघुवंश' २।५३)

—'क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही है वह जो दूसरों को नष्ट होने से बचाये। इससे विपरीत आचरण करने पर, राज्य का क्या महत्त्व है और अपयश लेकर जीवित रहना किस काम का है?'

'शाकुन्तल' में शृङ्गार-रस की मुख्य धारा के भीतर-भीतर 'वीररस' का एक सांकेतिक स्रोत प्रवहमान है। कवि ने यह ध्वनित किया है कि एक बालक, जिसका गर्भाधान ऋषि-आश्रम की शान्ति तथा पवित्रता के मध्य हुआ है और जो स्वर्ग के पवित्र राज्य में लालित-पालित हुआ है और तब जो शक्ति के आसन पर आसीन हुआ हो, वही, भरत के समान, सच्चा वीर 'प्रसन्न योद्धा' (Happy warrior) हो सकेगा। केवल वही सूर्य के समान पवित्र, प्रकाशवान्, शौर्यप्रिय तथा प्रखर तेजस्वी होगा—

"तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनम्।" ('शाकुन्तल', ४।१६)

(जैसे पूर्व दिशा सूर्य को उत्पन्न करती है, वैसे ही तुम भी पवित्र पुत्र उत्पन्न करोगी।)

केवल वही अदम्य शक्तिशाली तथा संसार का विजेता बनेगा—

"भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी,
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥" (वही, ४।२०)

(बहुत दिनों तक इस पृथ्वी को सौत बना कर तथा अपने अद्वितीय वीर पुत्र को राज्य और कुटुम्ब का भार सौंप कर, जब तुम अपने पति के साथ आओगी, तब इस शान्तिमय आश्रम में प्रवेश पाओगी।)

"रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥" (वही, ७।३३)

(यह बालक अपने दृढ़ और सीधे चलने वाले रथ पर चढ़ कर, समुद्र पार करेगा और सातों द्वीपों वाली पृथ्वी को इस प्रकार अकेला जीत लेगा कि संसार का कोई वीर इसके सामने टिक नहीं सकेगा। यहाँ इसने सब जीवों को तंग कर रखा था,

इसलिए इसका नाम 'सर्वदमन' पड़ गया था। किन्तु भविष्य में यह संसार का भरण-पोषण करेगा, इसलिए यह 'भरत' की आख्या से प्रसिद्ध होगा।)

अर्थात्, वह बालक पहले 'सर्वदमन' है, और बाद को 'भरत'। इस प्रकार, रामस्वामी शास्त्री का कथन है कि यद्यपि यह नाटक मुख्यतया शृंगार रस का चित्रण करता है, तथापि इसमें वीररस की एक अन्तर्धारा, एक क्षीण ध्वनि भी वर्तमान है क्योंकि वही प्रेम श्रेयस्कर एवं प्रशस्य है जो अपूर्व आनन्द का दान ही नहीं देता है, अपितु वीरत्व के भाव का जनन भी करता है।[1]

अद्भुत, शान्त, रौद्र एवं बीभत्स रसों का भी चित्रण कालिदास ने किया है; लेकिन वे मुख्यतया कोमल एवं सुकुमार रसों के ही चित्रकार हैं। शृंगार की उनकी प्रियता इतनी सर्वातिशायी है कि करुण रस के अत्यन्त मार्मिक संदर्भ में भी, वे 'वल्लकी' (वीणा) को नहीं भूल सके हैं। अज ने अपनी मृत वल्लभा इन्दुमती को अंक में स्थापित कर विलाप का दारुण प्रसंग प्रारम्भ किया, तब भी कवि का ध्यान संगीत की सुन्दर तानों की ओर खिंच गया—

"प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात्।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम्॥"

('रघुवंश', ८।४१.)

—'उस अत्यन्त प्यारे राजा ने मृत पत्नी को उठा कर गोद में उसी प्रकार रख लिया जैसे तार मिलाने के समय वीणा रख ली जाती है।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की संभोग-शृंगार की भीतरी वासना, उसके संगीत-प्रेम से मिल कर, प्रस्तुत श्लोक में इतनी उभर आई है कि पूरा चित्र ही कुछ असंगत, अनमेल-सा भासित होता है। विलाप के साथ ऐन्द्रिय गंधवाली 'गोद' और 'वीणा' का संयोग सुरुचिपूर्ण नहीं कहा जाएगा।

रस-प्रकरण के साथ ही, कालिदास की ध्वनिप्रियता का किंचिद् उल्लेख आवश्यक है। आचार्यों ने 'ध्वनि' अथवा 'प्रतीयमान' अर्थ की प्रशस्ति में कहा है—"महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों (मुख, नेत्र इत्यादि) से भिन्न उनके लावण्य के समान, चमकता है। जिस प्रकार सुन्दरियों का सौन्दर्य पृथक् दिखाई देने वाला, समस्त अवयवों से भिन्न, सहृदय-नेत्रों के लिए अमृत-तुल्य कुछ और ही पदार्थ है, उसी प्रकार यह प्रतीयमान अर्थ भी वाच्यार्थ से भिन्न कुछ और ही चमत्कारक वस्तु है"—

---

1. K. S. Ramaswami Sastri : 'Kalidasa', Vol. II, pp. 45–46.

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥"

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत तत् सहृदयसुप्रसिद्धं, प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवांगनासु। यथा ह्यंगनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं, तत्त्वान्तरं, तद्वदेव सोऽर्थः।" ('ध्वन्यालोक' १।४)

कालिदास की ध्वनि-शक्ति की प्रशंसा अलंकारशास्त्रियों ने भूरिशः की है। 'कुमारसम्भव' के निम्नोल्लिखित पद्य प्रायः उद्धृत किए गए हैं—

"स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्संगनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥" (५।२४)
"लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।" (६।८४)

प्रथम श्लोक में पार्वती के शरीर के उचित सन्धिबन्ध तथा दूसरे में उनकी युवतिसुलभ लज्जा की सुन्दर व्यञ्जना हुई है। 'शाकुन्तल' के पाँचवें अंक के प्रथम पद्य में अँगूठी मिलने के बाद दुष्यन्त को जो क्लेश एवं वेदना हुई है, उसका ध्वनन सुन्दर ढङ्ग से हुआ है।[1]

कालिदास ने अपने पद्यों में अलग-अलग, व्यंग्य भावों तथा रसों को सुन्दर ढङ्ग से चित्रित किया है। लेकिन, सबसे बढ़कर उनकी ध्वन्यात्मकता का निदर्शन इस बात में होता है कि उन्होंने प्रत्येक रचना, काव्य किंवा नाटक के प्रारम्भिक पद्यों में ही उसकी समस्त कलात्मक अथवा रसात्मक अर्थवत्ता सन्निहित कर दी है। 'मेघदूत' के पहले ही श्लोक में "कान्ता", "अस्तंगमितमहिमा", "जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु" तथा "रामगिर्याश्रमेषु" पदों में कवि ने अपने कथितव्य का सार रख दिया है।[2] 'कुमारसंभव' के प्रथम श्लोक में "देवतात्मा" और "मानदण्ड" शब्द, समान रूप से, ध्वनिपूर्ण एवं अर्थ-गर्भित हैं।[3]

१. "अभिनवमधुलोलुपो भवाँस्तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥"

२. "कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥"

३. "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥"

'रघुवंश' के प्रथम सर्ग के सुन्दर श्लोक, जो सूर्यवंशी राजाओं का गुणगान करते हैं; परवर्ती सर्गों के वर्ण्य विषयों का सारभूत महत्त्व निरूपित कर देते हैं। साथ ही, कालिदास की विशेषता यह है कि वे—जैसा बाद के कवियों में देखा जाता है—प्राथमिक अथवा मूल अर्थ को क्षति पहुँचा कर गौण अर्थ को विजृम्भित नहीं करते। व्यंग्यार्थ जब वाच्यार्थ का अनुगमन कर, उसे अतिक्रान्त करता है और उसके सौन्दर्य अथवा माधुर्य को और भी बढ़ा देता है, तभी वह प्रशस्य एवं स्पृहणीय है; यदि वह वाच्यार्थ को एकदम दबा देता है, तो वह कथमपि श्लाघ्य नहीं है। कालिदास के काव्यों में 'ध्वनि' की स्थिति उस गौण वा सहायक इन्द्रचाप की तरह है जो मुख्य इन्द्रधनुष के साथ-साथ वर्तमान रहता है और सम्पूर्ण दृश्य में एक क्षणिक आध्यात्मिक सौन्दर्य का तत्त्व जोड़ देता है।[1]

(ग) काव्य-शिल्प

नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से अनुप्राणित होकर जो वर्णना में निपुण है, वह 'कवि' कहलाता है और उसका कर्म ही 'काव्य' है।[2] कवि, अतएव, वर्णननैपुण्य का स्वामी है। भारतीय दृष्टि से, कविता 'सशक्त भावनाओं का सहज प्रवाह' नहीं मानी गई है। उस हालत में, कवि के लिए भावानुभूति की तीव्रता ही एकमात्र उपलभ्य होगी। किन्तु, भारतीय आचार्यों ने कवित्व-कर्म को इतना हलका नहीं होने दिया। काव्य-हेतुओं की चर्चा करते समय, उन्होंने 'शक्ति', 'निपुणता' तथा 'अभ्यास' इन तीन को आवश्यक ठहराया है। जिसके द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का स्फुरण तथा कठिनता-रहित पदों का भान होता है, काव्य-रचना के समय तत्काल अनेक शब्द एवं अर्थ हृदयस्थ हो जाते हैं, उसे 'शक्ति' कहते हैं। यह 'प्रतिभा' का पर्याय है। श्रुति, स्मृति, पुराण, नाट्यशास्त्र, काम-शास्त्र, योग-शास्त्र, आयुर्वेद, छन्द, व्याकरण, अभिधान-कोश, रत्नपरीक्षा, गज-अश्व-शास्त्र इत्यादि विद्याओं का ज्ञान काव्योपयोगी 'निपुणता' उत्पन्न करने में सहायक होता है। भामह ने इसीलिए कहा है—

> "न स शब्दो न तद् वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
> जायते यत्र काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥" (काव्यालंकार, ५।४)

---

1. K. S. Ramaswami Sastri: 'Kalidasa' Vol. II, पृ० ४६–५०

२. "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः। तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।"—भामह

'निपुणता' को 'व्युत्पत्ति' भी कहा गया है। काव्य के निर्माण और उसके सद-सद् के विचार में योग्य विद्वानों से शिक्षा प्राप्त करना तथा काव्य के निर्माण एवं अध्ययन में निरन्तर प्रवृत्त रहने को 'अभ्यास' कहा गया है। अभ्यास द्वारा सुसंस्कृत प्रतिभा ही काव्यामृत उत्पन्न करने के लिए कामधेनु है।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में कवित्व की आठ 'माताएँ' बताई हैं—

"स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥"

—"स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति की दृढ़ता और उत्साह – कवित्व की ये आठ माताएँ हैं।

अतएव, यह स्पष्ट है कि हमारे आचार्यों ने कवि के ऊपर महान् उत्तरदायित्व दे रखा है और इस प्रकार, उसकी वैयक्तिक स्वच्छन्दता का नियमन कर दिया है। प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक टी॰ एस॰ ईलियट का भी कथन है कि "कविता आवेगों का संयमविहीन विप्लवन नहीं है, अपितु आवेगों से पलायन है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है, अपितु व्यक्तित्व से पलायन है।" इस व्यक्तित्व-नियमन के लिए ही, मुख्यतया, भारतीय आचार्यों ने काव्य-हेतुओं के रूप में कवि-कर्म पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। इसीलिए, सहजाभिव्यक्ति को प्रायः उनके निकट सम्मान नहीं मिला है। अपने कथ्य की प्रभावशीलता में वृद्धि लाने के लिए, कवि को कुशल 'शिल्पी' भी होना आवश्यक है। काट-छाँट, नाप-तौल इत्यादि भी उतनी ही महत्त्वशील है जितनी भावानुभूति। अतएव, कविता भी एक 'कला' है जो अपने 'शास्त्र' द्वारा नियमित एवं नियन्त्रित होती है। इटली के प्रसिद्ध कवि दाँते ने, इसी कारण, कविता को 'एक जटिल एवं कष्टप्रद श्रम' (An elaborate and painful toil) कहा है।

काव्य की आत्मा के अनुसंधान के सिलसिले में जिन प्रसिद्ध पाँच सम्प्रदायों—रस, ध्वनि, रीति, अलंकार एवं वक्रोक्ति—की प्रतिष्ठा हुई है, उनमें से प्रथम दो काव्य के अन्तरङ्ग से तथा अन्तिम तीन उसके बहिरंग से मुख्यतया सम्बन्धित हैं। कविता का शिल्प इन्हीं तीनों के अभ्यास से निखरता है, परिष्कृत एवं सुसज्जित होता है। कालिदास के काव्य-शिल्प का समीक्षण, इस त्रिवर्ग को ध्यान में रखते हुए, करना युक्तियुक्त होगा।

(क) रीति

आचार्य वामन के अनुसार, "विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।" अर्थात्, विशेष प्रकार की पदसंघटना 'रीति' कहलाती है जो 'गुणों' पर आश्रित है।

यह रस, भाव इत्यादि की उपकारक बताई गई है—"उपकर्त्री रसादीनां" (साहित्यदर्पण)।

'गुणों' को अलंकारशास्त्रियों ने आवश्यक ठहराया है। अग्निपुराण में कहा गया है कि अलङ्कारयुक्त होने पर भी, यदि काव्य गुणरहित हो तो वह प्रीतिजनक नहीं हो सकता जैसे कुरूपवती स्त्री के हार आदि आभूषण केवल भार-रूप होते हैं।[1] 'गुण' केवल काव्य के शोभाकारक धर्म नहीं हैं, अपितु वे रस के धर्म हैं, रस के उत्कर्ष के हेतु हैं, और रस में अविचलित भाव से स्थित रहने वाले हैं—

"ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥"
('काव्यप्रकाश', ८।६६.)

मम्मट ने 'माधुर्य', 'ओज' एवं 'प्रसाद' तीन गुण माने हैं। जिसके कारण अन्तःकरण द्रुत हो जाय, आर्द्र वा पिघल-सा जाय, वह 'आह्लाद' विशेष 'माधुर्य' कहलाता है।[2] यह संभोग-शृङ्गार में, उससे बढ़ कर करुण रस में, उससे बढ़ कर विप्रलंभ शृङ्गार में और सबसे बढ़ कर शान्त रस में उपस्थित रहता है। ट, ठ, ड, ढ से भिन्न वर्ण, यदि आदि में अपने वर्ग के पञ्चम वर्ण से युक्त हो तो वे 'माधुर्य' के व्यंजक होते हैं। इसी प्रकार, लघु 'र', 'ण' भी माधुर्य के उत्पादक हैं। समास-रहित. अथवा छोटे-छोटे समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यंजक होती है।

चित्त की दीप्ति जिसमें चित्त का विस्तार होता है, चित्त ज्वलित जैसा हो जाता है, 'ओज' कहलाती है। यह वीर रस में, उससे बढ़कर बीभत्स में और उससे भी बढ़ कर रौद्र में स्थित रहता है।[3] वर्गों के पहले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर और तीसरे के साथ मिला हुआ उसी का चौथा अक्षर तथा

---

१. "अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥" (१।३४६)

२. "आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलंभे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥" (काव्यप्रकाश)
"चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगो करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥" (साहित्यदर्पण)

३. "दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥" (काव्यप्रकाश)
"ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु॥" (साहित्यदर्पण)

ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर रेफ से युक्त अक्षर एवं ट, ठ, ड, ढ, श और ष ये सब 'ओज' के व्यंजक हैं। इसी प्रकार, लम्बे-लम्बे समास तथा उद्धत रचना 'ओज' का व्यंजन करती है।

इसी प्रकार जो गुण चित्त में शीघ्र व्याप्त हो जाय, उसे 'प्रसाद' कहते हैं। यह गुण समस्त रसों एवं समस्त रचनाओं में रह सकता है। सुनते ही जिनका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसे सरल और सुबोध पद 'प्रसाद' के व्यंजक होते हैं।[1]

काव्य-रीति में इन गुणों का विशेष महत्त्व है। अग्निपुराण में वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली एवं लाटी (गुजरात)—ये चार रीतियाँ मानी गई हैं, किन्तु वामन ने केवल प्रथम तीन ही स्वीकृत की हैं। माधुर्यव्यंजक वर्णों के द्वारा की गई, समास-रहित अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त ललित रचना को वैदर्भी, ओज को प्रकाशित करने वाले कठिन वर्णों से युक्त अधिक समास वाले उद्भट बन्ध को गौड़ी तथा माधुर्य एवं ओज के व्यंजक वर्णों से भिन्न वर्णों वाली रचना, जिसमें पाँच-छः पदों तक का समास हो, 'पांचाली' कहलाती है।

कालिदास के समस्त ग्रंथ वैदर्भी शैली में लिखे गये हैं। माधुर्य-व्यञ्जक कोमल वर्णों के प्रयोग तथा दीर्घ समासों के अभाव से समस्त काव्य, सूर्य में कमल की नाईं, खिल उठा है। शृङ्गार और करुण रसों की प्रधानता होने के कारण, कालिदास की रचनाओं में अन्तःकरण को द्रवित करने वाली, ह्लादमयी पदयोजना का मधुर प्राचुर्य है। नाद-सौन्दर्य पर कवि ने विशेष ध्यान दिया है। प्रसाद गुण तो उसकी रचनाओं की निजी विशिष्टता है। पदों के चयन में उसकी सुरुचि एवं शिष्टता का बराबर बोध होता है। सङ्गीतात्मकता के प्रति उसकी सहज आस्था लक्षित होती है, और इसीलिए, कतिपय पाठक लय एवं श्रुतिमनोज्ञता के कारण ही, उसकी रचनाओं की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। आचार्य दण्डी ने मधु-द्रव से लिप्त, उसकी निर्विषया वाणी की तथा वैदर्भी शैली की यों परिशंसना की है—

"लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥"

कालिदास की रचना-शैली में उनकी उत्कृष्ट कला-साधना पदे-पदे अभिलक्षित होकर भावक को मुग्ध कर देती है। महर्षि अरविन्द की ये टिप्पणियाँ उल्लेख्य हैं—

---

१. "शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥" (का०प्र०)
"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥" (सा० द०)

"कालिदास मूर्धन्य कलाकार हैं, भावना में गम्भीर तथा रचना में मधुर, नाद एवं भाषा के स्वामी, जिसने गीर्वाणगिरा की असीम संभावनाओं में से अपने लिए वैसी पद्य-पद्धति तथा पद-योजना का निर्माण कर लिया है जो निश्चितरूपेण अत्यधिक महान्, अत्यधिक शक्तिशाली एवं अत्यधिक नाद-विकसित हैं। कालिदास ने संस्कृत को श्रेष्ठ नाद के भव्य प्रासाद (that palace of noble sound) में निर्मित कर दिया है और उनकी कृतियों से निर्गत होने वाली ध्वनि, वही ध्वनि है जो प्राक्तन साहित्य की सर्वोत्तम रचनाओं में मिलती है। इस साहित्य की शैलीगत विशेषतायें हैं—एक सुगठित किन्तु स्वाभाविक संक्षिप्तता, एक मसृण गांभीर्य एवं सुस्निग्ध औदार्य, पद्यगत श्रेष्ठ स्वर-सामंजस्य, परिष्कृत गद्य का सशक्त एवं प्रांजल सौन्दर्य, और सबसे बढ़कर, संक्षिप्त तथा प्रभविष्णु पदावली की निश्चित अर्थवत्ता, जिसमें रङ्ग और माधुरी लबालब छलकते हैं। पुनः, यह भाषा इतनी लचीली है कि महाकाव्य से लेकर गीति तक के सम्पूर्ण काव्यरूपों में इसकी सुन्दर नियोजना हो सकती है, विशेषतया महाकाव्य एवं नाटक में। कालिदास ने अपनी महाकाव्यगत शैली में देववाणी की इन स्थायी विशेषताओं में नाद तथा अभिव्यक्ति की वह पूर्णतया एवं भव्यता जोड़ दी है जो आंग्ल कवि मिल्टन की एतद्विषयिणी विशेषताओं से बढ़ जाती है, और अपनी नाट्यगत शैली में एक अनन्यसाधारण सौन्दर्य एवं माधुर्य जोड़ दिया है जिससे यह संलाप तथा नाटकीय वृत्ति एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त बन गई है।"[1]

रीति-सम्प्रदाय के अतिरिक्त, काव्य के अभिव्यक्तिपक्ष का सम्बन्ध वक्रोक्ति-सम्प्रदाय से भी है। राजानक कुन्तक (या कुन्तल) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वक्रोक्ति-जीवित' में 'वक्रोक्ति' की परिभाषा यों की है—

> "लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
> वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते ॥" (१।१०)

इसकी व्याख्या में कुन्तक ने स्वयं कहा है—"वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्म-कौशलं तस्य विच्छित्तिः तया भणितिः विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिः ।" (पृ० २२)

अतएव, कवि के रचना-चातुर्य से विभूषित विचित्र उक्ति ही वक्रोक्ति है। कुन्तल काव्य का उद्देश्य मानते हैं श्रोताओं के हृदय में अलौकिक आह्लाद का उन्मीलन, और यह तभी निष्पन्न होता है जब शब्दों का प्रयोग, सामान्य प्रयोगों से दूर हटकर, विचित्रता-सम्पन्न हो। तथापि, कुन्तक केवल शब्द को ही महत्त्व नहीं

१. श्री अरविन्द : 'Kalidasa', (Second Series) पृ० १६–१७.

देते, अपितु वे शब्द एवं अर्थ में सुन्दर समरसता के पक्षपाती हैं। जहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ दूसरे अर्थ के साथ परस्पर स्पर्धा करते हुए, मनोरम ढंग से समन्वित हों वही काव्य का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है।[1]

कालिदास की कविता का द्राक्षापाक शब्द और अर्थ के अनुपम सौन्दर्यशाली सामरस्य से परिणामित हुआ है। मातृगुप्त ने जो तीन प्रकार के काव्यरस बताये हैं, वे सभी उनकी रचनाओं में उपलब्ध हैं—

"रसास्तु त्रिविधाः वाचिकनेपथ्यस्वभावजाः।
रसानुरूपैरालापैः श्लोकैर्वाक्यैः पदैस्तथा ॥
कर्मरूपवयोजातिदेशकालानुवर्तिभिः।
माल्यभूषणवस्त्राद्यैः नेपथ्यरस इष्यते ॥
रूपयौवनलावण्यस्थैर्यधैर्यादिभिर्गुणैः।
रसः स्वाभाविको ज्ञेयः स च नाट्ये प्रशस्यते ॥"

रसानुरूप आलापों, श्लोकों, वाक्यों तथा पदों की योजना से जो 'वाचिक रस' प्रसूत होता है, उसका 'स्वाभाविक रस' के परिपोष में महत्त्वमय योगदान होता है। इस 'वाचिक रस' की निष्पत्ति में वक्रोक्ति सहायक होती है। कालिदास वक्रोक्ति के प्रयोग में नितान्त पटु एवं प्रवीण हैं। एक-दो उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जाएगी। अनसूया दुष्यन्त का वृत्त इन विच्छित्तिपूर्ण वाक्यों में पूछती है—

"आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलंक्रियते कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः।"

—'हे आर्य! मधुर आलाप से जो विश्वास आपने हममें उत्पन्न किया है, उससे प्रेरित होकर मैं यह पूछ रही हूँ कि आपने किस राजवंश को सुशोभित किया है? किस देश की प्रजा को अपने विरह से व्याकुल करके यहाँ पधारे हैं? और, ऐसा कौन-सा कार्य उपस्थित हो गया है कि इस सुकुमार शरीर को इस तपोवन में लाने का कष्ट किया है?' इन वाक्यों में जो लालित्य उतर आया है, उसका आस्वाद उपेक्षणीय नहीं है।

'शाकुन्तल' के द्वितीय अंक में विदूषक की यह वक्रोक्ति देखिए—"यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।" (जैसे कोई मीठा खजूर खाते-खाते ऊबकर इमली पर टूट

१. "सहितौ इत्यत्रापि शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यांतरेण साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत्।" (वक्रोक्तिजीवित)

पड़े, वैसे ही आप भी रनिवास की एक-से एक बढ़ी-चढ़ी सुन्दरियों को भुलाकर इस पर लट्टू हो गए हैं।)

'वक्रोक्ति' का सामान्य अर्थ ग्रहण करने पर उसकी सीमामें सम्पूर्ण वाग्वैदग्ध्यपूर्ण कथन समाहित हो जाते हैं और तब अलंकारों की छटाएँ 'वक्रोक्ति' के विविध रूप ही ठहरते हैं। कालिदास अलंकारों के प्रयोग में अत्यन्त पटु हैं। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में काव्य की शोभा बढ़ानेवाले धर्मों को 'अलंकार' कहा है—"काव्य-शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।" ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने वाणी की अनन्त शैलियों को 'अलंकार' बताया है—"अनन्ता हि वाग्विकल्पाः। तत्प्रकारा एवं चालंकाराः।" विश्वनाथ के अनुसार, शब्द तथा अर्थ के जो शोभातिशायी अर्थात् सौन्दर्य की विभूति बढ़ानेवाले अस्थिर धर्म हैं, वे ही अलंकार हैं--"शब्दार्थ-योरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।" वस्तुतः सामान्य रूप से स्वीकार्य मत यही है कि 'रस' अथवा प्रेषणीय भाव के उपकारक धर्म ही 'अलंकार' हैं और जहाँ अलंकार और अलंकार्य में पूर्ण सामरस्य अवतरित हो जाय वहाँ काव्य की प्रकृत रमणीयता उच्छलित होती है। कालिदास के अलंकार-प्रयोग इसी कोटि के हैं।

शब्दालंकारों का मोह कभी कभी कवियों को इतना ग्रस्त कर लेता है कि प्रेषणीय भाव-तत्त्व एकदम गौण बन जाता है। कालिदास ने उनका प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया है। नाद-सौन्दर्य की प्रसूति के लिए 'अनुप्रास' की योजना उनकी रचनाओं में नितान्त मनोरम बन गई है? उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज॥" (रघुवंश, २।७४)
"जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि।" (वही, २।४८)
"मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः।
मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेकश्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः॥"
(ऋतुसंहार, ३।६)

कभी-कभी विवक्षित अर्थ की प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती है, यथा—

"निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि।"
(माल०, १।२१)

यहाँ "मायूरी मदयति मार्जना मनांसि" में मकारानुवृत्ति से मृदंग की ताल-ध्वनि का मनोरम अनुकरण लक्षित होता है।

'यमक' के प्रयोग से प्रायः काव्य में कृत्रिमता आ जाती है। इसी लिए, ध्वनि-कारों ने यह नियम बना दिया है कि शृंगाररस के, विशेषतया विप्रलम्भ शृंगार के

वर्णन में यमक का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कालिदास ने अपने शृंगार-प्रकरण में यमक का प्रयोग प्रायः बहुत कम किया है। 'रघुवंश' के नवम सर्ग में दशरथ की राज्यव्यवस्था, वसन्त, मृगया इत्यादि का वर्णन करते समय, "यमवतामवतां च धुरि स्थितिः" (६।१), "सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः" (६।२) इत्यादि पंक्तियों में यमक की योजना की गई है; किन्तु ऐसे स्थलों में प्रतिफलित नादमाधुर्य पाठकों का मन आकृष्ट कर लेता है।

इसी प्रकार, कालिदास ने 'श्लेष' के प्रयोग में भी विशेष कौशल का परिचय दिया है जिससे वह कोरी बुद्धि का व्यायाम न होकर, विवक्षितार्थ को सुन्दर ढंग से व्यक्त करने में सहायक होता है। 'मालावका०' के पाँचवें अंक में विदूषक और देवी का यह प्रसंग देखिए—

"विदूषक—भो विश्रब्धो भूत्वा त्वमिमां यौवनवतीं पश्य।

देवी—काम् ?

विदू०—तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम्।"

विदूषक अलंकार-सज्जित तथा यौवन से खिली हुई मालविका की ओर राजा का ध्यान खींचना चाहता था। लेकिन, जब उसके शब्द रानी ने सुन लिए, तब उसके प्रश्न का उत्तर देते समय विदूषक ने "यौवनवतीम्" शब्द का श्लेष से दूसरा अर्थ ग्रहण करके अशोकवृक्ष के पुष्प की शोभा से उसका संबन्ध जोड़ दिया। यहाँ 'छेकापह्नुति' नामक अर्थालंकार की, श्लेष से सुन्दर निष्पत्ति हुई है। कालिदास के श्लेष आसानी से समझ में आ जाते हैं। उनके काल्पनिक पात्रों के नामों को विद्वानों ने 'कुछ खास मतलब" से रखा गया बताया है। 'मालविकाग्निमित्र' के पाँचवें अंक में मालविका को कारागार से विमुक्त कर, उसको उद्यान में भेज देने के बाद विदूषक राजा के पास आता है। बाद को वे दोनों उद्यान की ओर जाते हैं। इतने में इरावती की दासी चन्द्रिका दिखाई पड़ती है। उस समय राजा विदूषक को दीवार की ओट में छिप जाने के लिए कहता है। विदूषक उसका यों उत्तर देता है—"सचमुच चोरों को और कामीजनों को चन्द्रिका से बचना चाहिए।" इसमें 'चन्द्रिका शब्द का श्लेष स्पष्ट समझ में आ जाता है। इसी तरह बकुलावलिका, ध्रुवसिद्धि, प्रियंवदा इत्यादि पात्रों के नाम भी अपना खास अर्थ रखते हैं—यह कालिदास ने पात्रों के सम्भाषण में दिखाया है। इसी प्रकार उन्होंने उमा, अपर्णा, रघु, राम इत्यादि व्यक्तियों के नामों की, अपने काव्यों में, मनोरंजक व्युत्पत्ति दी है।[1]

---

१. वा० वि० मिराशी : 'कालिदास', पृ० २२६.

अर्थालंकार काव्यार्थ की सौन्दर्य-विवृति में अधिक महत्त्व रखते हैं। औपम्यगर्भ अलंकारों के उपयोग में कालिदास ने विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इनमें उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास इत्यादि अलंकारों की योजना में कवि को अत्यधिक रस मिला है। 'ऋतुसंहार' तथा 'मालविकाग्निमित्र' जैसी प्रारम्भिक रचनाओं में उत्प्रेक्षा के प्रयोग यत्रतत्र ही लक्षित होते हैं। लेकिन, 'मेघदूत' में तो मानो ललित एवं रसवर्षी उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लग गई है। वस्तुतः उस काव्य का विषय भी इस अलंकार की योजना के लिए सर्वथा उपयुक्त है। रामगिरि से अलका तक जाने वाले मार्ग में स्थित नदी, पर्वतों इत्यादि में मेघ के संसर्ग से कैसी शोभा उत्पन्न हो जाती है, उसके चित्रण में हृदयावर्जक उत्प्रेक्षाएँ नियोजित हुई हैं। पक्वफलभूषित रसालों से आच्छादित आम्रकूट पर्वत मेघ-संसर्ग से ऐसा दिखाई पड़ेगा जैसे पृथिवी का अनावृत स्तन हो; चर्मण्वती नदी का जल लेने के लिए मेघ के झुकने पर गगनविहारी व्यक्तियों को ऐसा जान पड़ेगा मानो वह पृथिवी के गले में पड़ा मोतियों का एक हार है जिसके बीच में इन्द्रनीलमणि जुड़ा हुआ है; शुभ्र कैलास ऐसा जान पड़ेगा मानो भगवान् शंकर का प्रतिदिन वर्धमान हास्य-संचय हो।[१] उत्प्रेक्षा के समान 'दृष्टान्त' अलंकार भी कवि को अत्यन्त प्रिय है। दो वाक्यों में धर्म-सहित 'वस्तु' अर्थात् उपमानोपमेय के प्रतिबिम्बन को 'दृष्टान्त' कहते हैं—"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्" (साहित्य दर्पण)। सादृश्य के अवधानगम्य होने को 'प्रतिबिम्बन' कहते हैं। पृथक् निर्दिष्ट, धर्म-सहित धर्मी का सादृश्य जहाँ ध्यान देने से प्रतीत होता हो, शब्द से निर्दिष्ट न हो, वहाँ 'दृष्टान्त' अलंकार निष्पन्न होता है। 'रघुवंश' में इन्दुमती की मृत्यु अचानक होते ही उसका शरीर अज के शरीर पर गिर पड़ा और उसको तत्काल मूर्च्छा आ गई। उस समय का वर्णन करते समय दीपक से तैलबिन्दु के साथ नीचे गिरने वाली दीपज्योति का रमणीय दृष्टान्त दिया है।[२] शकुन्तला जब दुष्यन्त के लिए अपना अनुराग व्यक्त करती है, तब उसकी सखी प्रियंवदा कहती है—"तू बड़ी भाग्यशाली है जो ऐसे योग्य व्यक्ति से प्रेम किया। भला, बताओ तो, सागर को छोड़कर महानदी अन्यत्र कहाँ जाएगी और आम्रवृक्ष को छोड़कर नए

---

१. "नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥" (१।१८)
'प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥' (१।५०)
"शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिवत्र्यम्बकस्याट्टहासः॥" (१।६२)

२. "ननु तैलनिषेकविन्दुना सः दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्।" (८।३८)

पल्लवों से युक्त माधवी-लता भला और किसके सहारे ऊपर चढ़ेगी ?[१] इस उक्ति में 'दृष्टान्त' सुन्दर बना है। निर्दय दुर्वासा को छोड़ कर अन्य कौन निरपराध शकुन्तला को शाप दे सकेगा, यह भाव "कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति" (अग्नि को छोड़ कर अन्य कौन जला सकता है ?), इस दृष्टान्त से सुन्दरता-पूर्वक व्यंजित हुआ है।

'अर्थान्तरन्यास' में कालिदास की लौकिक अनुभव-राशि नितान्त मनोभिराम एवं संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त हुई है। जहाँ विशेष से सामान्य, या सामान्य से विशेष, अथवा कारण से कार्य, या कार्य से कारण, साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थित होता है, वहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार निष्पन्न होता है—

"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।"
(साहित्यदर्पण, १०।६१-६३)

कालिदास के काव्यों में इस अलंकार के प्रचुर उदाहरण प्राप्तव्य हैं। नीचे कुछ उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं—

"मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥"
(शाकुन्तल, १।२४)

"इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥" (वही, १।१६)

"नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः।"
(रघुवंश, ६।३०)

"अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥"
(कुमारसंभव, १।३)

"इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।"
(पूर्वमेघ, ५)

कालिदास द्वारा प्रयुक्त इस जाति की अनेक अभ्युक्तियाँ व्यवहार की भाषा में आभाणकों की तरह प्रचलित हो गई हैं। 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्', 'महदपि

---

१. "सखि दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते।" (अंक ३)

परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः', 'कामी स्वतां पश्यति', 'हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः', 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' इत्यादि सूक्तियाँ शिष्ट व्यवहार में प्रायः उद्धृत की जाती हैं। अर्थान्तरन्यास के अतिरिक्त कवि ने निदर्शना, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, पर्याय, समुच्चय, सन्देह, विभावना इत्यादि अलंकारों के सुष्ठु प्रयोग से अपनी कविता-कामिनी का शृंगार किया है। कभी-कभी तो एक-एक पद्य में अनेक अलंकारों की मिश्रित छटा उतर आती है और सहृदय काव्य-मर्मज्ञ उसकी प्रतीति से एकदम अभिभूत हो जाते हैं। शाकुन्तल' का निम्नोल्लिखित श्लोक देखिए—

"चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमती,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥" (१।२२)

श्री मन्मध्वसम्प्रदायाचार्य श्री दामोदरलाल जी गोस्वामी ने इस पद्य-रत्न में निष्पन्न अलंकारों की यों गणना कराई है : "वक्तृप्रभृति वैशिष्ट्य की सहायता पाकर स्पर्श-हेतु से आलिंगनेच्छा की अनुमिति व्यंग्य है; सुतराम् अनुमानालंकार व्यंग्य होता है। 'रहस्याख्यायीव', यहाँ असिद्धविषयावाच्य स्वरूपोत्प्रेक्षा है, और 'मृदु कर्णान्तिकचरः' से चुम्बनेच्छा की अनुमिति होने से भी अनुमानालंकार व्यंग्य है। भ्रमर-पक्ष में 'अन्तिक' पद स्वारस्य से 'नेत्र हैं कि नीलोत्पल हैं', यह सन्देहालंकार भी व्यक्त होता है। 'रतिसर्वस्व' पद से अनुमेयोक्तिमूलक निरंग अभेद रूपक है; और 'पिबसि' पद का यद्यपि 'पी रहा है', यह अर्थ है, तथापि पीने को व्यग्र है, यह अर्थ ही वर्तमान सामीप्य मान कर होना उचित है क्योंकि सहसा पान में 'करौ व्याधुन्वत्याः' इन दो पदों का भाव बाधक हो रहा है। इन दो पदों से शकुन्तला का मुग्धात्व वस्तुव्यंग्य है और पान-सम्बन्ध न होने पर भी 'पिबसि' द्वारा पान-कथन से असम्बन्ध में सम्बन्धमूलक अतिशयोक्ति अलंकार है, तथा भ्रमर में 'स्पृशसि', 'स्वनसि', 'पिबसि', इन तीन क्रियाओं के अन्वय से कारकदीपक अलंकार है। यहाँ सन्देह द्वितीयानुमान का अंग है। दोनों अनुमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक, ये पाँचों परस्पर निरपेक्ष होने से इनकी संसृष्टि है, किन्तु कारकदीपक में सब अंग होने से संकीर्ण हुए। भ्रमर-व्यापार में हठ-कामुक व्यवहार के आरोप से हुई समासोक्ति में सांग दीपक अंग है, चतुर्थ-पादोक्त भ्रमर के कृतित्व में पूर्व चरणत्रय वाक्यार्थ की हेतुता से वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग में समासोक्ति अंग हुई है। 'हताश' शब्द द्वारा व्यञ्जित व्यतिरेक में काव्यलिंग अंग हुआ है—ये सब शृङ्खला अंग हुई

है विप्रलम्भभेद पूर्वराग में। व्यंग्यों का यह संघर्ष भरतागम-मार्मिकों से तिरोहित नहीं है।"[१]

तथापि, कालिदास उपमा के सम्राट् हैं। 'उपमा कालिदासस्य' में उनकी उपमा-नियोजना की कुशलता की प्रशंसा की गई है।[२] उन्होंने अपनी उपमाओं को विविध स्रोतों से ग्रहण किया है। आगम-भेद से उनको चार वर्गों में बाँटा जा सकता है जो इस प्रकार होंगे—(१) सृष्टिपदार्थीय, (२) शास्त्रीय, (३) आध्यात्मिक तथा (४) व्यावहारिक।[३] नीचे प्रत्येक पर टिप्पणियाँ दी जाती हैं।

(१) कालिदास ने लता, वृक्ष, फूल, फल, पृथ्वी पर निवास करनेवाले भिन्न-भिन्न जातियों के प्राणी, आकाश के ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, धूमकेतु, इत्यादि सृष्टि के सकल पदार्थों में से उपमाएँ ली हैं। उदाहरणार्थ, कण्व को सहसा प्राप्त शिशु शकुन्तला को मदार के पेड़ पर संयोग से गिर पड़नेवाले नवमालिकाकुसुम से, मदन-दाह के अनन्तर दुःख-विह्वला रति को तालाब का पानी सूख जाने से व्याकुल होनेवाली मछली से, तथा त्रिभुवन को सतानेवाले तारकासुर को धूमकेतु से उपमित किया गया है।

(२) कालिदास ने व्याकरण, दर्शन, राजनीति, वैद्यक प्रभृति विविध शास्त्रों से उपमाएँ संकलित की हैं। हिमालय से उत्पन्न मेना की पुत्री पार्वती की, राजनीति में उत्साह-गुणों से प्राप्त होनेवाली बड़ी सम्पत्ति से उपमा अर्थशास्त्र से; शक्तिशाली तारकासुर के सम्मुख निष्फल देवताओं के उपायों की, उग्र औषधि से भी न हटनेवाले सान्निपातिक ज्वर से उपमा आयुर्वेद से; तथा ब्राह्म सरोवर से निकलनेवाली सरयू नदी की, अव्यक्त से उद्भूत होनेवाली बुद्धि (महत्) तत्त्व से उपमा सांख्यदर्शन से ली गई है। व्याकरण-शास्त्र से जो उपमाएँ कवि ने गृहीत की हैं, उनसे उसके शब्द-प्रयोगों की सतर्कता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। 'रघुवंश' के प्रथम श्लोक में ही शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को ('वागर्थाविव सम्पृक्तौ') पार्वती-परमेश्वर उपमेय के लिए उपमान-रूप में प्रयुक्त किया गया है। 'वागर्थाविव' समास से तथा 'पितरौ' एकशेष से 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिक और 'पिता-माता' सूत्र का स्मरण हो आता है। 'रघुवंश' के बारहवें सर्ग के अट्ठावनवें श्लोक में वालि के स्थान पर सुग्रीव के अभिषिक्त होने का वर्णन करते समय कवि ने कहा है, 'धातोः स्थान

१. 'कालिदासग्रन्थावली', तीसरा खण्ड, पृ० ३७

२. "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥" (सुभाषित)

३. वा० वि० मिराशी : 'कालिदास', पृ० २२९-३०

इवादेशं सुग्रीवं सन्न्यवेशयत् ', अर्थात् जैसे 'अस्' धातु के स्थान पर 'भू' आदेश होता है और 'इण्' के स्थान पर 'गा' होता है, वैसे ही बालि के स्थान पर सुग्रीव अभिषिक्त किए गए। उपमा की सटीकता विज्ञजन सद्यः स्वीकार करेंगे।

'रघुवंश' के पन्द्रहवें सर्ग के सातवें श्लोक में रघुकुल की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

"यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥"

—'रघुकुल का कोई एक व्यक्ति ही शत्रु-समुदाय को वैसे ही दूर कर सकता है जैसे अपवाद अनेक उत्सर्गों को व्यावृत्त कर देता है।'

'कुमारसम्भव' के दूसरे सर्ग के सत्ताईसवें श्लोक में यही भाव और सुन्दर रूप में व्यक्त हुआ है—

"लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥"

—'पहले से लब्धप्रतिष्ठ आप लोग क्या बलवत्तर शत्रुओं से बाधित हो रहे हैं? जैसे अन्यत्र चरितार्थ उत्सर्ग 'इको यणचि', 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' को बलवत्तर अपवाद 'अकः सवर्णे दीर्घः', 'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत्' इत्यादि व्यावृत्त कर देते हैं।'

'रघुवंश' के पन्द्रहवें सर्ग के नवम श्लोक में लवणासुर को जीतने के लिए सेना लेकर शत्रुघ्न के प्रस्थान का वर्णन करते हुए, कवि लिखता है—

"रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥"

—'श्रीराम की आज्ञा से अर्थ-सिद्धि के लिए सेना पीछे चली जिस प्रकार अर्थ की सिद्धि के लिए अध्ययनार्थ 'इङ्' धातु के पीछे 'अधि' उपसर्ग लग जाता है।'

तारकासुर से त्रस्त देवगण पितामह के पास गए और उन्हें अपनी करुण कहानी सुनाई जिसका उत्तर ब्रह्मा ने चारों मुखों से दिया। इसका वर्णन 'कुमार-सम्भव' के दूसरे सर्ग के सत्रहवें श्लोक में यों किया गया है—

'पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥'

—'पुराने कवि ब्रह्मा के चारों मुखों से उच्चरित वाणी ने 'चतुष्टयी शब्दानाम्प्रवृत्तिः' को चरितार्थ कर दिया।' यहाँ कवि ने व्याकरणसिद्धान्तानुमोदित चार प्रकार की वाणियों—'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' तथा 'वैखरी'—की ओर संकेत किया है।[1]

इन सभी उदाहरणों से कालिदास की भाषा-प्रयोग में शास्त्रीय सतर्कता पर प्रकाश पड़ता है और व्याकरणादि शास्त्रों से उपमाएँ गृहीत करने की उनकी सहज-वृत्ति की विवृति भी होती है।

(३) सृष्टि के व्यक्त पदार्थों से उपमान लेकर वर्ण्यवस्तु को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति कवियों में सामान्यतः पाई जाती है। 'ऋतुसंहार' में कालिदास ने यही किया है। अनुभव-ज्ञान में वृद्धि होने पर, उन्होंने अमूर्त कल्पनाओं अथवा मनोव्यापारों से भी उपमाएँ ग्रहण की हैं। वशिष्ठ की धेनु के पीछे चलनेवाले दिलीप को श्रद्धायुक्त विधि से, तथा माता को अलंकृत करनेवाले भरत को सम्पत्ति को शोभा देनेवाले विनय से उपमित कर कवि ने उपमा-चयन के लिए स्थूल जगत् से आगे बढ़कर सूक्ष्म आध्यात्मिक अथवा मानसिक जगत् में दृष्टि दौड़ायी है।

(४) कुछ उपमाएँ कालिदास ने अनुभव तथा व्यवहार से गृहीत की हैं। "सच्छिष्य को दी हुई विद्या के समान, हे शकुन्तले! तू दुष्यन्त को सौंपने से अशोचनीय हुई" (कण्व का कथन), और "अभ्यास से विद्या जैसे प्रसन्न होती है, उसी प्रकार तुम सदैव सेवा करके इस धेनु को प्रसन्न करो।" (वशिष्ठ का कथन)—इन उपमाओं में कवि के स्वानुभव की छाया स्पष्ट दीख पड़ती है।

कालिदास द्वारा नियुक्त उपमाओं का क्षेत्र जैसे विविध है, वैसे ही उनमें रमणीयता, यथार्थता, औचित्य तथा पूर्णता के तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं। वे प्रायः सहज भाव से सुरम्य हैं। उदाहरणतः 'पूर्वमेघ' में प्रयुक्त यह उपमा लीजिए—

"रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य।" (२०)

यहाँ विन्ध्य पर्वत की तलहटी के चट्टानोंवाले प्रदेश में बहनेवाली रेवा नदी के प्रवाह को हाथी के बदन पर खींचे हुए चित्र-विचित्र रंग के बेलबूटों की उपमा देकर कवि ने उसकी रमणीयता व्यक्त की है। कालिदास की उपमाएँ कहीं भी श्लेषमूलक नहीं हैं; वे सहज साम्य पर निर्मित हुई हैं और उनकी तुलना में सुबन्धु, बाण,

१. जो वाणी हम बोलते और सुनते हैं, उसे 'वैखरी'; जो हृदयदेशस्थ है, उसे 'मध्यमा'; जो नाभिदेशस्थ है, उसे 'पश्यन्ती' तथा जो मूलचक्रस्थ है, उसे 'परा' कहते हैं।

श्रीहर्ष इत्यादि पश्चाद्भावी कवियों की उपमाएँ श्लेषाधिष्ठित होने के कारण कृत्रिम प्रतीत होती हैं।

कालिदास की उपमाएँ वर्णनीय वस्तु का यथार्थ रूप प्रस्तुत करने में सक्षम होती हैं। शकुन्तला के नव-प्रस्फुट यौवन को कुसुम के समान लोभनीय ('कुसुममिव लोभनीयं यौवनं') बता कर तथा शार्ङ्गरवादि तपस्वियों के बीच वर्तमान शकुन्तला को पीले पत्रों के बीच स्थित कोमल किसलय से ('मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्') तुलित कर, कवि ने शकुन्तला की यथार्थ स्थिति व्यक्त कर दी है। इन्दुमती की मृत्यु के बाद वशिष्ठ का उपदेश मान कर और पुत्र दशरथ की अल्पवयस्कता का ध्यान कर, अज ने राज्य-संचालन में कुछ काल व्यतीत किया; तो भी पत्नी-शोक के कारण उनका हृदय धीरे-धीरे विदीर्ण हो रहा था। इस कल्पना को व्यक्त करने के लिए कवि ने किसी विशाल प्रासाद के निकट अंकुरित होनेवाले और अपनी जड़ धीरे-धीरे फैला कर कालान्तर में महल को ही मूल से उच्छिन्न करनेवाले प्लक्षवृक्ष के पौधे की उपमा दी है—

'तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ॥" (८।९३)

'कुमारसम्भव' के अष्टम सर्ग में, कवि ने रात्रि के अन्धकार में एकदम घिरनेवाले संसार को गर्भ की झिल्ली में लिपटे पड़े हुए बालक से उपमित किया है— "लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि" (५६)। ऐसी उपमाओं से कथ्य वस्तु का सही-सही रूप पाठकों के मानस पर अंकित हो जाता है।

कालिदास की उपमाओं में प्रसंग एवं पात्र की अनुरूपता का सदैव ध्यान रखा गया लक्षित होता है। इससे उनमें स्वाभाविकता भी चली आती है। पेटू विदूषक द्वारा चन्द्रमा का टूटे हुए मोदक से, दासी निपुणिका द्वारा समुद्रगृह के पास शिलाखंड पर सोये हुए स्थूलकाय विदूषक का बाजार में पड़े हुए साँड़ से तथा निरन्तर अध्ययन-रत कण्व द्वारा शकुन्तला का विद्या से उपमित किया जाना ऐसी उपमाएँ हैं जिनमें औचित्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

कालिदास के पूर्ववर्ती काव्यकारों द्वारा नियोजित उपमाओं में उपमान-उपमेय का साम्य किसी एक अंश अथवा अंग में ही दिखाई पड़ता है और अन्य तत्त्वों का सादृश्य पाठक को अपनी कल्पना से उत्थित करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, महाभारत में नल-दमयन्ती-आख्यान के प्रसंग में दी गई यह उपमा ली जा सकती है—

"तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव ।
सम्पूर्णां पुरुषव्याघ्रैः सिंहैर्गिरिगुहामिव ॥"

यहाँ दमयन्ती के स्वयंवरार्थ समवेत राजसभा को एक ही श्लोक में भोगवती नगरी और गिरि-गुफा की दो उपमाएँ दी गई हैं, किन्तु एक का भी पूर्ण विस्तार नहीं हो पाया है। कालिदास ने अपनी उपमाओं में उपमेय और उपमान का सर्वाङ्गीण सादृश्य दिखाया है जिससे उनमें अधिक चमत्कार उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ इन्दुमती-स्वयंवर के समय अपने स्थान पर बैठे हुए अज का चित्रण लिया जा सकता है—

'वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभंगैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥" (६।३)

यहाँ सिंहासनस्थ अज को सिंह की उपमा दी गई है। एतदर्थ उनके उच्चासन को पर्वतशिखर से और उस आसन तक पहुँचने के लिए निर्मित सीढ़ियों को पर्वत के पास पड़ी हुई चट्टानों से उपमित किया गया है। इससे अज और सिंह का पूर्ण साम्य चरितार्थ हो जाता है। उपमान तथा उपमेय में लिंग-वचनादि का सादृश्य भी आचार्यों द्वारा आवश्यक ठहराया गया है। 'शाकुन्तल' में "कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतटोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये" का कथन कर कवि ने 'चन्दनलता' पद की योजना से जान-बूझकर लिंग-साम्य प्रस्तुत कर दिया है। 'काव्यादर्श' में विधान है कि लिंग-वचन-भेद होने पर भी यदि सहृदयों को उद्वेग न होता हो, तो उपमा सदोष नहीं मानी जाएगी। इस दृष्टि से 'मालविकाग्निमित्र' में आई 'सा तपस्विनी देव्याधिकतरं रक्ष्यमाणा नागरक्षितो निधिरिव न सुखं समासादयितव्या' उपमा दोषावह नहीं माननी चाहिए यद्यपि इसमें धारिणी को 'नाग' से और मालविका को 'निधि' से उपमित किया गया है।[1]

कालिदास द्वारा अंकित चित्रों की सटीकता, मसृणता तथा सहृदय-संवेद्यता उनकी शिल्प-निपुणता को अभिराम ढंग से आलोकित करती हैं। नीचे कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

"उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तंत्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥"
(उत्तरमेघ, २६)

—'वह मैले कपड़े पहने हुए, गोद में वीणा लिए हुए, ऊँचे स्वर से मेरे नाम के गीत गाती होगी। उस समय वह अपनी आँखों के आँसुओं से भीगी हुई तन्त्री

---

१. वा० वि० मिराशी : 'कालिदास', पृ० २३१

को तो जैसे-तैसे पोंछ लेगी, किन्तु मेरी सुधि आ जाने से वह ऐसी बेसुध हो जाएगी कि अपने सधे हुए स्वरों के उतार-चढ़ाव को भी भूल जाती होगी।' इस चित्र की माधुरी सहृदयों के हृदयमन्दिर में सद्यः प्रविष्ट हो जाती है। कम-से-कम शब्दों के प्रयोग से एक पूर्ण संश्लिष्ट चित्र अंकित करना कालिदास की सहज कला का एक प्रमुख वैशिष्ट्य है। चतुर चितेरों के कलाभ्यास के लिए प्रस्तुत श्लोक पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है।

नवोढा वधू पति-संसर्ग के अनभ्यस्त प्रसंग में किस प्रकार व्रीडा व्यक्त करती है, इसका मनोज्ञ चित्र यों अंकित हुआ है—

"व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवतेस्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥" (कुमारसंभव ८।२)

—'पार्वती इतना लजाती थीं कि शिवजी के कुछ पूछने पर वे बोलती नहीं थीं। यदि वे उनका आँचल पकड़ लेते थे, तो वे उठकर भागने लगती थीं और साथ सोते समय भी वे दूसरी ओर मुँह फेर कर सो जाती थीं। शिवजी को इन बातों में भी बहुत आनन्द मिलता था।'

पाणिग्रहण के समय के 'सात्त्विकों' तथा अन्य अनुभावों के परम सटीक चित्रण निम्नोद्धृत पद्यों में हुए हैं—

"आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन॥" (रघुवंश ७।२२)

"तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥" (वही, ७।२३)

—'वधू के हाथ थामने से अज की कलाइयों के पास रोमांच हो आया और इन्दुमती की करांगुलियों में पसीना आ गया। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कामदेव ने अपने प्रेम का भाव उन दोनों में बराबर-बराबर बाँट दिया हो।'

'वे कनखियों से एक-दूसरे की ओर देखते थे और आँखें चार होते ही लज्जा से आँखें नीची कर लेते थे। उनका यह लाज-भरा संकोच दर्शकों को अत्यन्त प्रिय लगता था।'

दूलहे अथवा बारात को देखने के लिए स्त्रियों में जो उतावली आ जाती है, उसके सजीव चित्र अज-विवाह तथा शिव-विवाह के सन्दर्भ में अंकित हुए हैं। दोनों ही चित्रणों में एक ही प्रकार के भाव अथवा दृश्य चित्रित किए गए हैं, यथा—

"आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥" (रघुवंश, ७।६)

—'एक सुन्दरी जब उन्हें देखने के लिए झरोखे की ओर लपकी, तब सहसा उसका जूड़ा खुल गया। जल्दी में जूड़ा बाँधने की सुधि उसे न रही और वह अपने केश हाथ में थामे ही खिड़की तक पहुँच गई। बालों के ढीले पड़ जाने से उनमें गूँथे हुए फूल नीचे गिरते जा रहे थे।' [यह श्लोक अक्षरशः 'कुमारसम्भव' में भी आया है; देखिए श्लोक सं० ५७, सर्ग ७।]

वियोग-विताडित दुष्यन्त ने शकुन्तला का सुन्दर चित्र खींचा है, किन्तु वह उससे पूर्णतया संतुष्ट नहीं है। वह उस चित्र को अधूरा समझता है और उसे संश्लिष्ट करने के लिए अन्य तथ्यों को जोड़ना चाहता है। देखिए—

"कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥"
(शाकुन्तल, ६।१७)

—'अभी मालिनी नदी बनानी है जिसकी रेत में हंस के जोड़े बैठे हों। उसके दोनों ओर हिमालय की वह तलहटी दिखानी है जहाँ हरिण बैठे हुए हों। मैं एक ऐसा वृक्ष भी खींचना चाहता हूँ जिस पर वल्कल के वस्त्र टँगे हों और जिसके नीचे एक हरिणी अपनी बाँईं आँख काले हरिण के सींग से रगड़ कर खुजला रही हो।' कृष्णमृग के सींग से मृगी के अपनी बाईं आँख खुजलाने में जो व्यञ्जना सन्निविष्ट है, वह अत्यन्त मधुर एवं सुकुमार है।

प्रेम का विश्रब्ध आत्मसमर्पण इससे बढ़ कर और क्या हो सकता है कि हरिणी अपने कोमल नयन में हरिण के नुकीले सींग को धारण करे और उससे उसका घर्षण करे?

कालिदास के काव्यों में एक-से-एक सटीक, ललित, मार्मिक एवं हृदयावर्जक चित्रों की मनोभिराम मालिका अवतीर्ण हो गई है जिससे उनकी काव्य-कला चित्र-कला को चुनौती देती सी प्रतीत होती है।

प्रस्तुत प्रकरण समाप्त करने के पूर्व कालिदास की छन्दोयोजना पर एक विहंगम-दृष्टि दौड़ाना उचित होगा।

छन्दोयोजना भी काव्यार्थ के उत्कर्ष में महत्त्व रखती है। विभिन्न रसों की व्यञ्जना के लिए भिन्न-भिन्न छन्द उपयुक्त सिद्ध होते हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में लिखा है—

"काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥"

अर्थात्, काव्य में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार छन्दों का सोच-समझ कर विनियोग करना चाहिए। रीतिग्रन्थ के रचयिताओं ने काव्य-दोषों की गणना करते समय 'हतवृत्तता' नामक दोष भी गिनाया है। कालिदास ने छन्दों के प्रयोग में विशेष सतर्कता दिखाई है। 'ऋतुसंहार' में उन्होंने 'उपजाति', 'वसन्ततिलका', तथा 'मालिनी' छन्दों का अधिक प्रयोग किया है। 'कुमारसम्भव' में 'उपजाति', 'मालिनी', 'वसन्ततिलका', 'अनुष्टुप्', 'पुष्पिताग्रा', 'वंशस्थ', 'रथोद्धता', 'शार्दूल-विक्रीडित', 'हरिणी' तथा 'वैतालीय' छन्दों की योजना की गई है। रघुवंश' में 'अनुष्टुप्', 'प्रहर्षिणी', 'उपजाति', 'मालिनी', 'वंशस्थ', 'हरिणी', 'वसन्ततिलका', 'पुष्पिताग्रा', 'वैतालीय', 'तोटक', 'मन्दाक्रान्ता', 'द्रुतविलम्बित', 'शालिनी', 'औपच्छन्दसिक', 'रथोद्धता', 'स्वागता', 'मत्तमयूर', 'नाराच' एवं 'प्रहर्षिणी' छन्दों का विनियोग हुआ है। वृत्तों की यह विविधता 'रघुवंश' जैसे महाकाव्य की व्यापक वस्तु के सर्वथा उपयुक्त है।

'मेघदूत' आद्योपान्त 'मन्दाक्रान्ता' में लिखा गया है और वह माधुर्य से ओत-प्रोत बन गया है। 'मन्दाक्रान्ता' के प्रयोग का इस काव्य में विशेष कारण है। इसका प्रारम्भ वर्षाऋतु से होता है। "वर्षा में मेघ के आगम से साधारण प्रवासी का पथ भी आर्द्र बन जाता है और उसकी गति मन्थर हो जाती है।" क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में कहा है कि वर्षा और प्रवास के प्रकरण में 'मन्दाक्रान्ता' विराजती है—"प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते।" 'वृत्तरत्नाकर' में यह लिखा है—

"नानाश्लेषप्रकरणचणा चारुवर्णोज्ज्वलांगा
नानाभावाकलितरसिकश्रेणि कान्तांतरङ्गा।
मुग्धस्निग्धैर्मृदुमृदुपदैः क्रीडमाना पुरस्ता-
न्मन्दाक्रान्ता भवति कविताकामिनी कौतुकाय ॥"

इस उद्धरण में 'मन्दाक्रान्ता' को मृदु-मृदु चरणों से क्रीड़ा करती हुई, मुग्ध एवं स्निग्ध मंथर-गतिवाली बताया गया है। वर्षाकाल में दौत्यकर्म सम्पादित करनेवाला मेघ मंद-मंद तथा मन्द्र-मन्द्र चरणन्यास से ही अपनी लम्बी यात्रा में अग्रसर होगा। दक्षिण से चलकर अद्यापि मानसून वही पथ अनुसरण करता है जिसे कालिदास ने अपनी रसस्निग्ध रचना में निर्दिष्ट किया है। "इसी पथ से वर्षा के नायक मेघदूत ने 'मन्दाक्रान्ता' के रथ पर चढ़कर मनोहारी प्रवास किया है। × × × × 'मेघदूत' की 'मन्दाक्रान्ता' अपनी विशेषता लेकर अमर बन गई है। इसमें कवि

का वाग्वैभव है। 'मेघदूत' में उत्कृष्ट कल्पना-वैभव, कलापूर्ण सृजन-सौष्ठव, भावों की भव्यता, अलंकारों की मनोहारिता, सौन्दर्य-सृष्टि की मधुरिमा अद्वितीय, अनुपम और अद्भुत है। उसकी 'मन्दाक्रान्ता' ने मेघ को लेकर दक्षिण से उत्तरापथ तक वर्षाकालीन प्रवास द्वारा यक्षप्रिया को सन्देश देने का सफल दौत्यकार्य किया है। परन्तु, 'मेघदूत' काव्य के इस सौन्दर्य और सौरभ को लेकर कालिदास की अमर 'मन्दाक्रान्ता' ने मृदु-मन्थर गति से सारे विश्व का सफल सांस्कृतिक प्रवास किया है, और यशोविस्तार कर अपनी जन्मभूमि का सार्वभौमिक गौरव बढ़ाया है।"[1]

कालिदास ने कुछ निश्चित प्रसंगों में निश्चित छन्दों का विनियोग किया है जिससे यह अनुमान लगाना असंगत नहीं होगा कि वे कुछ विशेष छन्दों को कुछ विशेष भावों एवं रसों के उपयुक्त समझते थे। उनकी छन्दोयोजना के विश्लेषण से निम्न तथ्य प्रकाश में आते हैं :

छन्द — विषय, भाव या रस

१. उपजाति—वंश-वर्णन, तपस्या तथा नायक-नायिका का सौन्दर्य।
२. अनुष्टुप्—लम्बी कथा को संक्षिप्त करने तथा उपदेश देने में।
३. वंशस्थ—वीरता के प्रकरण में, चाहे युद्ध हो या युद्ध की तैयारी हो रही हो।
४. वैतालीय—करुण रस में।
५. द्रुतविलम्बित—समृद्धि के वर्णन में।
६. रथोद्धता—जिस कर्म का परिणाम खेद के रूप में परिणत हो, चाहे वह खेद रति-जनित हो, दुष्कर्म-जनित हो, या पश्चात्ताप-जनित हो। अतएव, काम-क्रीडा, आखेट आदि का वर्णन इसी छन्द में है।
७. मन्दाक्रान्ता—प्रवास, विपत्ति तथा वर्षा के वर्णन में।
८. मालिनी—सफलता के साथ पूर्ण होने वाले सर्ग के अन्त में।
९. प्रहर्षिणी—हर्ष के साथ पूर्ण होने वाले सर्ग के अन्त में। यदि मध्य में भी कहीं इसका प्रयोग है, तो वहाँ भी दुःख की धारा में हर्ष या हर्ष की धारा में हर्षातिरेक वर्णित है।
१०. हरिणी—नायक का अभ्युत्थान हो या सौभाग्य का वर्णन हो।
११. वसन्ततिलका—कार्य की सफलता पर। ऋतुवर्णन में भी पुरुषों की सफलता या ऋतु की सफलता तभी सिद्ध हो सकी है जब उसका उपभोक्ता उन वस्तुओं का उपभोग कर रहा हो।

---

१. सूर्यनारायण व्यास : 'विश्वकवि कालिदास—एक अध्ययन', पृ० ८४

इसी प्रकार, सफलता के लिए प्रस्थान या प्राप्ति में अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा, निराशा के साथ निवृत्ति में तोटक, कृतकृत्यता में शालिनी तथा वीरता-प्रदर्शन में औपच्छन्दसिक, क्रीडा के वर्णन में (चाहे कामक्रीडा हो, चाहे अन्य क्रीडा हो) रथोद्धता, संयोग से स्वयं प्राप्त विपत्ति या संपत्ति में स्वागता, घबराहट में मत्तमयूर, प्रपञ्चों के परित्याग में नाराच तथा वीरता आदि के वर्णन में शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग किया गया है। कवि के छन्दः-प्रयोग पर विचार करने से जान पड़ता है कि उसने जैसे अपने काव्य के द्वारा रसों में छन्दोयोजना की शिक्षा दी है।'[1]

ऊपर हमने कालिदास की काव्य-कला के भिन्न-भिन्न उपकरणों एवं परिपार्श्वों का विवेचन किया है। गीर्वाणगिरा के साहित्याकाश में उनकी यशःपताका प्रसन्न भाव से फहरा रही है और उनके काव्यशिल्प की निपुणता उनके द्वारा अंकित चित्रणों में अनवद्य रूप से उच्छ्लित हो रही है। प्रसिद्ध पं० ए० बी० कीथ की यह टिप्पणी उल्लेख्य है :

"कालिदास भारतीय काव्य-शैली के निर्विवाद सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं जो अपनी रचना की पूर्णता एवं मसृणता के कारण अश्वघोष से श्रेष्ठतर ठहरते हैं तथा जिनमें वे असंयमपूर्ण अलंकृतियाँ बिलकुल नहीं पाई जाती हैं जिनसे पश्चाद्भावी महान् काव्यकारों की रचनाएँ दूषित अथवा विकृत हो गई हैं। × × × × × कालिदास अलंकारों के प्रयोग से अपने काव्य का सौष्ठव बढ़ाने में पीछे नहीं हैं। लेकिन उनका प्रधान गुण यह है कि वे विजृम्भण की तुलना में संकेत को अधिक पसन्द करते हैं। उनके उत्तराधिकारियों की यह धारणा थी कि वे अपनी शक्ति का अधिकतम प्रदर्शन कर उसका प्रमाण दे सकते थे; कालिदास केवल एक निश्चित प्रभाव उत्पन्न करके ही संतुष्ट रह जाते थे। वर्जिल के समान वे भी ग्राम्य सरलता एवं भद्देसपन और काव्य-सौन्दर्य को प्रतिहत करने वाली अमर्यादित अलंकृति के बीच स्वर्णोपम मध्यम-मार्ग का अनुसरण करने वाले कवि थे। परिणामतः, मसृण कोमलता से पूर्ण उनके लघु चित्र प्रायः आपेक्षिक पूर्णत्व ग्रहण कर लेते हैं।"[2]

(१६) कालिदास के लोकादर्श

कालिदास मूलतः आनन्द एवं ऐश्वर्य के गायक कवि हैं। उनकी भारती की प्रसन्न एवं हार्दिकमयी स्वर-तरंगें तब उत्थित होती हैं, जब वह शृङ्गार की रस-माधुरी में लिप्त होकर, जिजीविषा को उद्दीप्त करनेवाले अमृत-द्रव की मनमोहिनी वर्षा करने

१. कालिदास-ग्रन्थावली, तीसरा खंड, पृ० १००-१०५.

२. A. B. Keith 'A History of Sanscrit Literature', पृ० १०१.

लग जाती है। लेकिन, जहाँ अन्य छोटे कवि सौन्दर्य के स्वर्णकलश के मोहक आवरण की माया में ही फँसे रह जाते हैं, वहाँ कालिदास उस कनक-घट के भीतर सत्य के ऐसे रत्न सन्निविष्ट कर देते हैं जिनकी प्रतीति से पाठक को जीवन के लिए अमूल्य उपदेश अथवा संदेश भी प्राप्त हो जाते हैं। कालिदास के विचार एवं आदर्श तत्कालीन मान्यताओं के मेल में पड़ते हैं और उनके चित्रण द्वारा उन्होंने लोक-जीवन को संघटित तथा परिपुष्ट करने का उद्योग किया है। वस्तुतः कभी भी, वहाँ भी जहाँ उनकी काव्य-विपञ्ची "सद्यः परनिर्वृतये" की ध्वनियाँ निर्बाध गति से निष्क्रमित करती भासित होती है, लोकसंग्रह के तत्त्व उनकी पकड़ से बाहर निकलते नहीं दिखाई पड़ते हैं। उनकी रचनाओं में जीवन, समाज, शिक्षा, राज्यतंत्र, नारीत्व, पुरुषत्व प्रभृति सभी विषयों से सम्बन्धित आदर्शों की अभिव्यक्ति हुई है।

१

जीवन की क्षणभंगुरता, मृत्यु की अनिवार्यता तथा उनके प्रति सुधी-जनों की वांछित दृष्टि-भंगी का उल्लेख राजा अज को, इन्दुमती के निधन के संदर्भ में, वशिष्ठ द्वारा दिए गए उपदेशों में उपलब्ध होता है। वशिष्ठ कहते हैं—

"मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम्॥
स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम्॥
न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः॥"
(रघुवंश, ८।८७-९०)

—'जिसने शरीर धारण किया है, उसका मरना अनिवार्य है। पंडितों का कथन तो यह है कि वास्तव में जीना ही एक विकार है। अतएव, प्राणी जितने क्षण जी जाय, उतने से ही उसे संतोष करना चाहिए। प्रियजन की मृत्यु को मूर्ख लोग वैसा ही कष्टकारक मानते हैं जैसे छाती में कील गड़ गई हो; किन्तु विद्वान् लोग यह समझते हैं कि जो मर गया, वह सकल प्रपंचों से मुक्त हो गया। उनकी समझ में मृत्यु वैसा ही सुख देती है जैसा हृदय में गड़ी हुई कील के निकलने पर होता है। शरीर और आत्मा भी आपस में बिछुड़ने वाले हैं, तब स्त्री, पुत्र इत्यादि बाहरी सम्बन्धियों से बिछोह का दुःख पंडितों को क्यों होना चाहिए? आप तो जितेन्द्रियों के

शिरोमणि हैं। आप साधारण लोगों की भाँति शोक मत कीजिए। यदि पर्वत भी वृक्ष के समान आँधी से हिल उठेगा, तो दोनों में क्या अन्तर रह जाएगा ?'

जीवन की अनिश्चितता यक्ष द्वारा अपनी वल्लभा के लिए दिए गए सन्देश में ध्वनित हुई है। मेघ उस विरहिणी से पहले यही कहेगा—

"अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव।" (उत्तरमेघ, ४२)

—'हे अबले! तुम्हारा सहचर जीवित है। उसने तुम्हारा कुशल पूछा है। जिन लोगों पर विपत्ति पड़ी हो, उनसे पहले-पहल यही पूछना उचित है।'

कालिदास जीवन में भाग्य के कर्तृत्व पर अमोघ विश्वास रखते हैं। 'शाकुन्तल' में कुमार भरत के दुष्यन्त के विषय में पृच्छा करने पर शकुन्तला ने कहा है—'वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ' (हे बेटे! अपने भाग से पूछ)। 'रघुवंश' में कवि की टिप्पणी है—'विषमप्यमृतं कचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।' (ईश्वर की इच्छा से कभी विष भी अमृत हो जाता है और कभी अमृत भी विष बन जाता है)। जीवन सुखों तथा दुःखों की क्रमबद्ध शृंखला है, दोनों समानरूप से सत्य हैं और एक-दूसरे के बाद पहिये के चक्कर के समान ऊपर-नीचे आया-जाया करते हैं। मेघ से यक्ष कहता है कि तुम मेरी प्रिया को यह प्रबोध दे देना—

"कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।" (उत्तरमेघ, ५२)

कालिदास जन्मान्तर में विश्वास करते हैं। इसीलिए कर्म-सिद्धान्त में उनकी आस्था है। 'रघुवंश' (८।८५) में वे कहते हैं—"परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्" (देहधारियों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं जो अपने कर्मों के अनुसार परलोक में जाते हैं)। उसी ग्रंथ में अन्यत्र (७।१५) कवि का कथन है कि मन पूर्वजन्मों के अपने सम्बन्ध को जानता है—"मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्।" इस पंक्ति पर टिप्पणी करते हुए, मल्लिनाथ ने लिखा है—"तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मनःप्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम्। जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र प्रवर्तकमिति भावः।" अर्थात्—'यद्यपि हमें पूर्वजन्मों की स्मृति नहीं होती, तथापि वासनाविशेष के कारण हमारे मन की प्रवृत्ति पूर्वानुभूत अर्थों वा व्यसनों में रमण करती है। जन्मान्तर के हमारे साहचर्य अथवा सम्बन्ध इस जन्म के सम्बन्धों एवं मैत्रियों में हमें अनुप्रेरित करते हैं। 'शाकुन्तल' के 'जननान्तरसौहृदानि' में यही भाव ध्वनित है।

अर्थ और काम की तुलना में कालिदास धर्म को महत्त्व प्रदान करते हैं। 'कुमारसंभव' में वे कहते हैं—

"अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥" (५।३८)

—'हे देवि! आपके आचरण से मुझे यह ज्ञात हो गया है कि त्रिवर्ग का सार धर्म ही है क्योंकि आप अर्थ एवं काम से विरक्त होकर केवल धर्म की सेवा कर रही हैं।'

गीता में आध्यात्मिक जीवन के परिपोष के निमित्त यज्ञ, दान और तप साधन बताए गए हैं। कालिदास ने यज्ञ की महिमा का बार-बार निरूपण किया है। 'रघुवंश' (१।६२) में वे कहते हैं—"हे महात्मन्! यज्ञाग्नि में विधिवत् डाली गई आहुतियों से वर्षा होती है जिससे शस्यों को नवजीवन प्राप्त होता है।" 'रघुवंश' के तृतीय सर्ग में 'अश्वमेध' यज्ञ की महिमा का व्याख्यान है। उसी के पंचम सर्ग में दान का महत्त्व वर्णित है। तपस्या की महिमा का वर्णन तो अनेक स्थलों पर हुआ है। 'शाकुन्तल' में 'धर्मारण्य' तथा तपोवनों की हमारी आत्माओं को शुद्ध करने की क्षमता का बहुत बार उल्लेख उपलब्ध होता है। प्रथम अंक में दुष्यन्त कहता है कि आओ, हम लोग पवित्र आश्रम के दर्शन से अपने को पुनीत करें—"पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।" 'कुमारसंभव' में उमा और शिव की तपस्याओं का विशद वर्णन हुआ है। 'शाकुन्तल' में तपस्वियों की महिमा का यों कथन किया गया है—

"शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥" (२।७)

—'यद्यपि ऋषि लोग बड़ी शान्ति प्रकृति के होते हैं, तथापि उनमें इतना तेज होता है कि यदि कोई उन्हें कष्ट दे, तो वे उसे जला कर उसी प्रकार भस्म कर दें जैसे स्पर्श में शीतल होने पर भी, सूर्यकान्त मणि सूर्य के प्रकाश से आग उगलने लगती है।'

व्यक्तिगत जीवन में कवि आत्मसंयम तथा आत्मशुद्धि पर बल देता है। एतदर्थ वह बिलकुल भोर या ब्रह्मबेला में सोकर उठने को आवश्यक बतलाता है। 'रघुवंश' (१७।१) में वह कहता है कि रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठने से मन शान्ति तथा स्फूर्ति का अनुभव करता है—"पश्चाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना।" संध्या, ध्यान, पूजा, प्रार्थना इत्यादि जीवन को उदात्त बनाने के लिए अपेक्षणीय बताए गए हैं। जो पूज्य एवं आराध्य हैं, उनके प्रति तनिक भी अनादर के भाव

से मनुष्य का सुख-सौख्य खंडित हो जाता है—"प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्य-पूजा-व्यतिक्रमः।" ('रघुवंश', १।७६)

अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों को महत्त्व प्रदान करना भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। इस कारण, वर्ग-संघर्ष तथा आर्थिक उद्वेलन प्रायः नगण्य रहे हैं। 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में ग्राम्य जीवन की सरलता, निष्कलुषता तथा स्वास्थ्यप्रदता का बखान हुआ है, और वन्य जीवन एवं गोसेवा का माहात्म्य भी दिखाया गया है। अयोध्या, उज्जयिनी इत्यादि नगरियों का वर्णन प्रायः मिलता है। किन्तु, ये गाँवों के शोषण पर समृद्ध नहीं हुई हैं, बल्कि उनका पोषण तथा भरण करती हैं। कवि का आर्थिक आदर्श 'मेघदूत' के निम्नोद्धृत श्लोक में ध्वनित हुआ है जिसमें कुबेर की राजधानी अलका को भगवान् शंकर के सिर पर निवास करने वाले चन्द्रमा की चाँदनी से उद्भासित बताया गया है—

"गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या।" (पू० मे० १)

शंकर 'दारिद्रय के देवता' हैं और अलका सोने की नगरी है जो उनके ही प्रभाव-प्रताप से चमक रही है।

सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए कालिदास 'वर्णाश्रम' धर्म के समर्थक हैं। वर्णों एवं आश्रमों की व्यवस्था भारतीय संस्कृति में समाज के जीवन को सुचारुरूपेण संचालित करने के निमित्त ही की गई थी; उसमें कर्तव्यों के सम्पादन को महत्त्व दिया गया था। 'रघुवंश' में कवि ने बताया है कि ब्राह्मण त्याग-तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे और इहलोक एवं परलोक के सत्यों की शिक्षा समाज को देते थे। क्षत्रियों को दानशील, दुष्टदलन तथा पीड़ितों की रक्षा करने वाला बताया गया है—

"क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥"

—"'क्षत्र', शब्द का अर्थ संसार में इस भाव के लिए रूढ़ हो गया है कि वह 'क्षत' अर्थात् क्षति से बचाता है। जो क्षत्रिय होकर भी विपरीत वृत्ति का पालन करता है, उसकी राज्यसत्ता अथवा उसके कलुष जीवन से क्या लाभ है?"

'शाकुन्तल' में वैश्यों को 'समुद्रव्यवहारी' कहा गया है जो राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए समुद्रों पर भ्रमण कर अन्य देशों से वाणिज्य-व्यवसाय किया करते थे। शूद्रों को भी अपने ढङ्ग से राष्ट्र-सेवा करते दिखाया गया है और वे अपनी परम्परागत वृत्ति एवं विद्या पर गर्व करते चित्रित हुए हैं। 'शाकुन्तल' में धीवर ने कहा है कि सहज ही विनिन्द्य कर्म भी, यदि वंशानुगत है, त्याज्य नहीं है—"सहजं किल यद्वि-

निन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्'' (६।१)। वस्तुतः कालिदास ने सभी वर्णों के पूर्ण मेल एवं सद्भाव के साथ परस्पर कर्तव्य-सम्पादन तथा राष्ट्र-समृद्धि में सहायक होने पर बल दिया है।

वर्ण-धर्म से बढ़कर कालिदास के काव्यों में आश्रम-धर्म को महत्त्व दिया गया है। शेक्सपियर ने एक स्थल पर मनुष्य-जीवन के सप्त सोपानों का वर्णन किया है और अन्तिम अवस्था वार्धक्य को 'दूसरा बचपन' तथा-वह 'विस्मृति' बताया है जिसमें मनुष्य नेत्र, दन्त, स्वाद इत्यादि सम्पूर्ण वृत्तियों से वंचित हो जाता है।[1] लेकिन, भारतीय आश्रम-धर्म की कल्पना बिल्कुल भिन्न आदर्श एवं लक्ष्य को ध्यान में रखकर की गई है। कालिदास ने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास वाली जीवन-दशाओं का अत्यन्त प्यार एवं आदर के साथ वर्णन किया है। वटुक-वेष धारण किये शिव का वर्णन 'कुमारसंभव' में यों किया गया है—

---

1. All the world's a stage,
And all the men and women merely players :
They have their exits and their entrances;
And one man in his time plays many parts,
His acts being seven ages. At first the infant,
Mewling and puking in the nurse's arms.
Then the whining school-boy, with his satchel,
And shining morning face, creeping like snail,
Unwillingly to shool. And then the lover,
Sighing like furnace, with a woeful ballad,
Made to his mistress' eye-brow. Then a soldier,
Full of strange oaths and bearded like the pard,
Jealous in honour, sudden and quick in quarrel,
Seeking the bubble reputation.
Even in the Cannon's mouth. And then the justice,
In fair round belly with good capon lined,
With eyes severe and beard of formal cut,
Full of wise saws and modern instances;
And so he plays his part. The sixth age shifts
Into the lean and slipper'd pantaloon,
With spectacles on nose and pouch on side,
His youthful hose, well saved, a world too wide
For his ahrunk shank; and his big manly voice,
Turning again toward childish treble, pipes

"अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग् ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥" (५।३०)

—'इसी बीच एक दिन ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता हुआ-सा, हिरण की खाल ओढ़े और पलाशदंड हाथ में लिए हुए, गठीले शरीर वाला तथा चतुर भाषण करने वाला एक जटाधारी ब्रह्मचारी उस तपोवन में प्रविष्ट हुआ। ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् ब्रह्मचर्याश्रम ही वहाँ चला आया हो।'

'रघुवंश' (५।१०) में कवि ने गृहस्थ-जीवन को सबका उपकार करने वाला, 'सर्वोपकारक्षम,' बताते हुए, यह निर्देश किया है कि पूर्ण शिक्षित एवं अनुशासित होकर तथा आचार्य से अनुमति लेकर ही इस जीवन में प्रवेश करना उचित है—"सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।" वानप्रस्थ का कवि ने अपनी रचनाओं में बार-बार वर्णन किया है। 'रघुवंश' और 'शाकुन्तल' में ऐसे आश्रमों का वर्णन है जहाँ ऋषि और मुनि ध्यान-चिन्तन में निमग्न रहकर लोगों को सन्मार्ग का उपदेश देते हैं। रघुवंश के नरेशों की तो यह वंशानुगत प्रतिज्ञा ही थी—"गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्" (३।७०)।

इसी प्रकार, कालिदास ने जीवन के अन्तिम सोपान त्याग, एवं योग से शरीर-मुक्ति, का भी अत्यन्त अनुराग-पूर्वक वर्णन किया है। वे यह मानते हैं कि निष्कलुष, ऐन्द्रिय रस वाले लौकिक जीवन को व्यतीत करने के बाद योगाश्रम से शरीर त्याग कर, पवित्र एवं पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करना ही श्रेयस्कर है—

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥" ('रघुवंश', १।८)

(२)

कालिदास शिशु-जीवन के प्रेमी थे और उन्होंने, सभी सम्भव सन्दर्भों में, हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ एवं प्रसन्न बालकों का चित्रण किया है। "पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात्" (पुत्रजन्म पर कौन नारी हर्ष से पागल नहीं हो जाती?)—'कुमारसम्भव'

And whistles in his sound. Last scene of all,
That ends this strange eventfull history,
Is second, childishness and mere oblivion,
Sans teeth, sans eyes, sans taste, sans everything".
—'As you Like It', Act II, Sc. 7

(११।१७) में कही गई यह टिप्पणी कवि का दृष्टिकोण व्यक्त करती है। दिलीप का रघु के प्रति प्रेम यों वर्णित हुआ है—

"तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ॥" ('रघुवंश', ३।२६)

—'गोद में रखते समय बालक रघु के शरीर के स्पर्श से उन्हें ऐसा सुख मालूम होता था जैसे उनके शरीर पर अमृत की छींटें पड़ रही हों। उस समय नेत्र बन्द करके वे देर तक यह आनन्द लेते रह जाते थे।' पुरूरवा और दुष्यन्त को अपने पुत्रों के दर्शन से मिलनेवाला आनन्द सम्बद्ध प्रसंगों में सुन्दरतापूर्वक चित्रित हुआ है। 'रघुवंश' में कवि ने बताया है कि वात्सल्य का सारतत्त्व पुत्र-दर्शन की अभिलाषा है और पितृ-भक्ति का सार-धर्म आज्ञाकारिता एवं समाराधन है—

"पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान् बभूव॥" (१८।११)

कवि की रचनाओं में वर्णित बालक सुन्दर, स्वस्थ एवं आकर्षक हैं। 'रघुवंश' में बालक राम के तेज एवं सौन्दर्य का तन्मय चित्रण हुआ है—"तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते" (११।१)। कुश, लव, आयु, भरत—ये सभी परम हृदयाकर्षक बाल-वृन्दकी सृष्टि करते हैं। ये अभिराम, गुणवान्, शौर्यवान्, आत्म-संयमी तथा बड़ों के प्रति आदर भाव रखनेवाले हैं। भरत को 'सर्वदमन' कहने में सटीकता है और यह भी ध्वनित है कि ऋषि के आश्रम में गर्भाधान तथा स्वर्ग में भरण-पोषण प्राप्त करनेवाला विशुद्ध, संयमी, शूरवीर बालक ही इन्द्र की पवित्र भूमि भारतवर्ष पर शासन कर सकता है।

शिक्षा के सम्बन्ध में कालिदास के अपने विचार हैं। शिक्षक वही सर्वश्रेष्ठ है जिसमें विद्या तथा शिक्षण की योग्यता दोनों ही हैं ('माल०', १।१६)। सच्ची शिक्षा की कसौटी यह है कि जैसे अग्नि में डालने से सोना काला नहीं पड़ता, वैसे ही वह परीक्षा-काल में मन्द नहीं होती—

"उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥" ('माल०', २।९)

कालिदास का कथन है कि बालकों का मस्तिष्क केवल कोरी पटरी नहीं है, अपितु वे संसार में जन्म लेने पर उन प्रवृत्तियों, रुचियों एवं क्षमताओं को अपने भीतर लिए रहते हैं जिन्हें उन्होंने पूर्व जन्मों में ग्रहीत किया है। उमा के विषय में कवि का कथन है—

"तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥"
(कुमार०', १।३०)

—'जब अत्यन्त तीव्र बुद्धिवाली पार्वती ने पढ़ना प्रारम्भ किया, उस समय पूर्व-जन्म की सभी विद्याएँ उन्हें वैसे ही स्मरण हो आईं जैसे शरद् ऋतु के आने पर गंगा में हंस आ जाते हैं अथवा जैसे अपने-आप चमकनेवाली जड़ी-बूटियों में रात को चमक आ जाती है।'

कवि के मतानुसार, गुरु की आज्ञा विद्यार्थी द्वारा सहज भाव से पालनीय है—"आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया" ('रघुवंश', १४।४६)। अध्ययन तथा ब्रह्मचर्य के महत्त्व पर बारम्बार बल दिया गया है। सूर्यवंशी राजा शैशव में ही सभी विद्याएँ सीखते दिखाए गए हैं—"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां" ('रघु०', १।८); "ततार विद्याः" वही, ३।३०)। विद्या की सार्थकता अभ्यास द्वारा उसे व्यवहारसुलभ बनाने में है, कवि यह भी मानता है—"विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि" (वही, १।८८)।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य कालिदास जीवन की परिष्कृति तथा अलंकृति दोनों मानते हैं। उनका कथन है कि पार्वती की उत्पत्ति से हिमवान् वैसे ही पवित्र एवं विभूषित हो गए जैसे प्रकाश की शिखा से दीपक, अथवा गंगा से तीनों लोक अथवा विद्वान् सुसंस्कृत वाणी से पूत एवं अलंकृत होता है—

"प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥" (कुमार०', १।२८)

पुरुषत्व के आदर्शों का ध्वनन 'रघुवंश' में वर्णित दिलीप, रघु तथा श्रीराम और दुष्यन्त एवं पुरूरवा जैसे नायकों के चरित्रांकन में हुआ है। वे सभी सुन्दर, स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट, शक्तिमान्, दीनों के परित्राता, विद्याव्यसनी तथा कर्त्तव्यपरायण चित्रित किए गए हैं। प्रेम को कवि ऊँची दृष्टि से देखता है, तथा प्रेम को नरेशों की दुर्बलता के रूप में नहीं, अपितु उनके सुसंस्कृत व्यक्तित्व के आवश्यक उपादान के रूप में उसने चित्रित किया है। दुष्यन्त को उसके पवित्र तथा महनीय प्रणय के अनन्तर, जीवन के उच्चतम कर्त्तव्यों के सम्पादन में समर्थ ही नहीं, अपितु ऋषियों एवं देवताओं के साहचर्य तथा संसार पर शासन करनेवाले चक्रवर्ती नरेश के पिता होने के योग्य बताया गया है। इस प्रकार, सच्चे पुरुषत्व के लिए प्रेम एक परिष्कारिणी, ऊर्ध्वगामिनी शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है। कवि ने इस बात पर सर्वदा बल दिया है कि प्रेम मनुष्य को तभी ऊँचे, देवोपम धरातलों पर उठाता है जब वह वासना के कर्दम से मुक्त होकर, स्वच्छन्दता के आकर्षक मोह

को भेदकर कर्त्तव्य-परायणता की दिशा में मुड़ जाता है। कवि ने अपनी किसी भी रचना में परकीया अथवा अनुचित, अवैध प्रणय का चित्रण नहीं किया है। 'रघुवंश' में उसका कथन है कि रघुवंशी राजाओं का आत्मसंयमनिष्ठ मन परस्त्री से स्वतः पराङ्मुख रहता है—"वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति" (१६।८)। दुष्यन्त अपनी विस्मृति की अवस्था में यही तर्कना करता है—"अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् ।" वह सहजभाव से यह कहता है—

"कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥" (५।२८)

—'जैसे चन्द्रमा केवल कुमुदों को ही खिलाता है और सूर्य केवल कमलों को ही विकसित करता है, वैसे ही जितेन्द्रिय लोग पराई स्त्री को स्पर्श करने की इच्छा तक नहीं करते।'

कालिदास ने यह भी दिखाया है कि देश अथवा धर्म की रक्षा के लिए जीवन का उत्सर्ग कर देना सच्चे पुरुषत्व का लक्षण है। श्रीराम के प्रसंग में उन्होंने प्रकृत पुरुषत्व को आदर्शीकृत स्वरूप में उपन्यस्त किया है और यह दिखाया है कि वह कैसे अविचल शान्ति एवं तत्परता के साथ अपनी प्रियतम एवं मधुरतम वस्तु का भी परित्याग करने में समर्थ बन जाता है। इस जाति का पुरुषत्व वृद्धावस्था में दुर्बल अथवा दुश्शील नहीं बनता, प्रत्युत मधुरतर एवं शक्तिमत्तर बन जाता है। वृद्धता-प्राप्त रघु और आश्रम के कुलपति कण्व को कवि ने अत्यन्त प्यार, आदर तथा ऊष्मा के साथ चित्रित किया है। वे कठोर अथवा शुष्क नहीं बन जाते, अपितु उनमें मन की एक परिपक्व एवं शीतल-संयमित मधुरिमा का अवतरण हो जाता है और वे सभी के लिए शान्त एवं संतुलित कोमलता तथा दयालुता से ओतप्रोत हो जाते हैं। ऐसे ही आदर्श पुरुष, मृत्यु से भयभीत न होकर अथवा उसकी सर्वातिशायिनी इच्छा का दास न बन कर, स्वेच्छापूर्वक योग के समाश्रयण से प्राण-विसर्जन करते हैं—"वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनु त्यजाम् ।"

३

बालिकाओं एवं नारियों के प्रति कालिदास उतनी ही ममता रखते हैं जितनी बालकों एवं पुरुषों के प्रति। अपितु यह कहना अधिक उचित होगा कि नारीत्व के आदर्शों को उभारने का जो उद्योग उन्होंने किया है, वह उनके काव्य का एक प्रमुख वैशिष्ट्य है। 'कुमारसम्भव' में उमा के कौमार्य का नितान्त मधुर एवं चित्ताकर्षक चित्रण हुआ है, जो साहित्य की एक निराली वस्तु है। नारी-रूप के

वर्णन में कवि अत्यन्त तन्मय हो जाता है और सृष्टिके सकल सौन्दर्य का मधुरतम सार उसमें सन्निविष्ट कर, उसे विधाता के सृष्टिकौशल की अनुपम कसौटी समझता है। यह सब इस बात का प्रमाण है कि कालिदास नारी को कितनी ममता एवं कोमलता की दृष्टि से देखते हैं, और नारी-सौन्दर्य का उनका अपना अभीष्ट आदर्श भी इसमें ध्वनित हो जाता है।

भारतवर्ष में कन्याओं के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिभंगी पाई जाती है। जब तक वे पितृ-गृह में रहती हैं, तब तक दीपशिखा की भांति उसे उद्भासित करती हैं और परिवार की सीमित परिधि में प्रेम, प्रसन्नता, औत्सुक्य तथा आनन्द की कुल्याएँ प्रवाहित करती रहती हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें माता-पिता, भाई-भगिनी इत्यादि सभी का असीम प्यार उपलब्ध होता है। लेकिन, फिर भी, भारतीय पिता कन्याओं को अन्य की धरोहर समझता है और उनके लिए उचित एवं योग्य पति की खोज कर, अपरिमित संतोष का अनुभव करता है। कालिदास ने इस लोकादर्श की प्रतिष्ठा 'शाकुन्तल' में की है। शकुन्तला को महर्षि कण्व के आश्रम में जो प्यार मिला है, वह प्रत्येक भारतीय कुटुम्ब के लिए स्पर्धा एवं अनुकरण की वस्तु है। कण्व को शकुन्तला के आसन्न वियोग पर गहरी वेदना हुई है और उनकी यह टिप्पणी अत्यन्त सार्थवती है कि 'पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेपदुःखैर्नवैः।' पुनः उसे पति-गृह भेज कर, उन्हें वह महान् सुख हुआ है जो किसी व्यक्ति को दूसरे की दी गई वस्तु प्रत्यर्पित करने से होता है—

"अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥" (४।२२)

कालिदास नारियों की शिक्षा के समर्थक हैं। उनकी सभी नायिकाएँ शिक्षित तथा परिष्कृत चित्तवाली हैं। आश्रम में पली हुई शकुन्तला भी शिक्षित है तथा उसमें व्यक्तित्व एवं चरित्र के सभी गुण वर्तमान हैं। मदनलेख लिख कर, उसने अपनी कला-कविता-विषयक पटुता का प्रमाण दिया है, और दुष्यन्त के तिरस्कार पर उसने जो उसे डाँट-फटकार बताई है, उससे उसके चरित्र की दृढ़ता की विज्ञप्ति होती है। 'मेघदूत' में यक्ष-प्रिया को चित्र, कविता एवं संगीत जैसी सुकुमार कलाओं में प्रवीण चित्रित किया गया है। मालविका गीत एवं नृत्य में परम कुशल है तथा 'अव्याज-सुन्दरी' होने के साथ-साथ, 'ललित-विज्ञान' अथवा 'विधान' में दक्षता प्राप्त कर सहृदयों को अभिभूत बना देती है। इन्दुमती के ललित-कलाभ्यास का कथन अज ने किया है।

कालिदास यह मानते हैं कि विवाह एवं मातृत्व नारी के कर्त्तव्य ही नहीं हैं, प्रत्युत भूषण भी हैं। गृहस्थ होने का महान् फल यही है कि कन्या अपने भावी पति

को 'भिक्षा-रूप' में सौंप दी जाय। (कुमार०', ६।८८)। किन्तु, कन्या के सम्बन्ध में गृहस्थों को अपनी पत्नियों से ही परामर्श करना उचित है—"प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः" (वही, ६।८५)। इस कथन से यह ध्वनित होता है कि कवि कन्याओं के कल्याण के लिए पिता की तुलना में माता को अधिक सतर्क एवं विश्वसनीय समझता है। कन्याओं का इस प्रकार का विवाह, जिसमें वे पिता द्वारा पति को सौंप दी जाती हैं, उनके मानसिक अथवा आध्यात्मिक विकास में बाधक नहीं, प्रत्युत सहायक होता है। कालिदास ने 'कुमार-संभव' में हिमालय की पत्नी मेना को मुनियों द्वारा समादृत, "मुनीनामपि माननीया," बताया है। उनका कथन है कि स्त्री और पुरुष का भेद नहीं करके, चरित्र ही उनकी महत्ता का नियामक समझा जाना चाहिए—"स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्" ('कुमार०', ६।१२)। तपस्या में निरत पार्वती के दर्शन-हेतु बड़े-बड़े ऋषि-मुनि वहाँ गये क्योंकि जो धर्म में आगे बढ़े हुए हैं, उनकी अवस्था का विचार नहीं किया जाता—"न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते" (वही, ५।१६)।

दाम्पत्य प्रेम तथा उसके कर्त्तव्यों एवं आनन्दों का वर्णन कवि ने अतीव प्रसन्नतापूर्वक किया है। सीता के चरित्रांकन में कहा गया है कि श्रेष्ठ नारियाँ पति को देवता "पतिदेवतानां" मानती हैं (रघुवंश', १४।७४)। जब राम बन जाने को तैयार हुए, तब सीता उनके सामने इस प्रकार खड़ी हो गईं जैसे वे उनकी गुणवती लक्ष्मी हों—"लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी" (वही, १२।२६)। कवि यह मानता है कि स्त्री के ऊपर पुरुष का सर्वाधिकार है—"उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी" (शाकुं०, ६।२६)—लेकिन, वह स्पष्ट निर्देश करता है कि सच्ची, साध्वी गृहिणी घर की देवता, मंत्री और मित्र सब कुछ हुआ करती है, ललित कलाओं में पति की प्यारी शिष्या भी होती है—"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" ('रघु', ८।६७)।[1]

वन से लौटने पर सीता कौशल्या और सुमित्रा के चरण स्पर्श करती हैं और अपना परिचय इन शब्दों में देती हैं—"क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम" (पति को कष्ट देने वाली कुलक्षणा सीता मैं ही हूँ)। किन्तु, सीता जितना दैन्य एवं आत्म-कदर्थना दिखाती हैं, उतना ही प्यार एवं आदर दोनों सासुएँ भी उन्हें प्रदान करती हैं। वे कहती हैं—

---

१. 'मालतीमाधव' में भवभूति ने यही विचार व्यक्त किया है—

"प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः संपदो जीवितं च।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥"

"उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्त्ता शुचिना तवैव ।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते, प्रियमप्यमिथ्या ।"
('रघुवंश', १४।६)

—'उठ, बेटी, तेरे ही पातिव्रत्य के प्रभाव से राम और लक्ष्मण संकट के मुख से पार हुए हैं ।'

पतिव्रता होने के साथ ही, स्त्रियों को सासुओं के प्रति श्रद्धालु होना चाहिए और सासुओं को भी ऐसी पुत्रवधुओं के प्रति प्यार एवं सम्मान का दान देना चाहिए—कवि का यही स्पष्ट भाव है । शकुन्तला को कण्व ने विदाई के अवसर पर जो उपदेश दिया है, उसमें भारतीय लोकादर्श की सटीक अभिव्यक्ति हुई है । कण्व कहते हैं—

"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥" (४।१८)

—'अपनी सौतों से सखियों जैसा प्रेम करना । पति निरादर भी करें तो क्रोध करके उनसे झगड़ा मत करना । अपने परिजनों को बड़े प्यार से रखना और अपने सौभाग्य पर गर्व न करना । इस प्रकार का आचरण करने वाली स्त्रियाँ ही सच्ची गृहिणी होती हैं और इसके विपरीत वृत्तवाली नारियाँ कुल की नागिन होती हैं ।'

कालिदास ने गृहिणी शब्द का बार-बार प्रयोग किया है और उसे सौभाग्यवती तथा सुलक्षणा स्त्री जाति का प्रतीक चित्रित किया है । 'कुमारसंभव' में उन्होंने सती-साध्वी पत्नियों का सहयोग धार्मिक क्रियाओं के सफलतार्थ अनिवार्य बताया है—"क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्" (६।१३) । अतएव, यह सोचना उचित नहीं होगा कि प्राचीन भारतीय आदर्श स्त्रियों को पुरुषों की दासी मानता था । अनेक पत्नियाँ रखने की प्रथा राजाओं में अवश्य प्रचलित थी और कालिदास ने कहीं इसका स्पष्ट विरोध नहीं किया । लेकिन, उनके आदर्श राम हैं जो केवल एक सीता को प्यार करते थे और उनके पृथिवी-गर्भ में समाहित होने के बाद पुनः दूसरा विवाह नहीं किया । 'शाकुन्तल' में हंसपादिका के गीत से भी यह ध्वनि निकलती है कि कवि राजाओं की मधुकरी वृत्ति को उचित नहीं समझता । वह यह भी कहता है कि व्यापक हितों एवं कर्त्तव्यों के अनुरोध पर नारियाँ अपने पतियों को नियंत्रित अथवा निर्देशित कर सकती हैं । 'मालविकाग्निमित्र' में परिव्राजिका ने रानी धारिणी से कहा है कि सपत्नियाँ पतियों पर सम्पूर्ण अधिकार रखती हैं और उचित कारणों से उन पर कोप भी कर सकती हैं—'प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः (१।१८)।'

वीर की पत्नी और वीर की माता होना स्त्रियों के लिए स्पृहणीय आदर्श है। तापसियों ने शकुन्तला को 'महादेवी' और 'वीरप्रसविनी' बनने का आशीर्वाद दिया है। परिव्राजिका ने रानी धारिणी से कहा है कि तुम अपने सुयोग्य पति के कारण 'वीरपत्नियों' में शिरोमणि हो और अपने सुयोग्य पुत्र के कारण 'वीरसूः' (वीर को जन्म देने वाली) की पदवी प्राप्त कर चुकी हो ('माल०', ५।१६)।

भारतीय नारी की सबसे बड़ी विभूति पति के प्रति उसका अखंड प्यार है जिससे अनुप्राणित एवं अभिभावित होने के कारण, वह उसके आचरण के सम्पूर्ण अनौचित्य को क्षमा कर देती है और इस जन्म में ही नहीं, प्रत्युत दूसरे जन्मों में भी उसकी सहधर्मचारिणी बनने की कामना रखती है। सीता, इस दृष्टि से, कालिदास की आदर्श रमणी हैं। वन में लक्ष्मण द्वारा परित्यक्त किए जाने पर वे अपने भाग्य को ही दोष देती हैं और राम को 'कल्याणबुद्धि' कहकर, सभी प्रकार के दोष से मुक्त कर देती हैं। क्षमा एवं भक्ति से ओतप्रोत अपने संदेश में वे यह अभीप्सा व्यक्त करती हैं कि दूसरे जन्म में उनका पति (श्रीराम) से वियोग न हो—

"साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितु यतिष्ये
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥"

('रघुवंश', १४।६६)

—'पुत्र हो जाने पर मैं सूर्य में दृष्टि बाँध कर ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति हों और आप से मेरा वियोग न होने पावे।'

जन्म-जन्मान्तर में पति के साहचर्य की कामना रखने के कारण हिन्दू नारी, पति के दिवंगत हो जाने पर, उसकी चिता में उसीके साथ जलकर भस्म हो जाना चाहती है। कालिदास ने 'सती' के इस आदर्श की अभ्यर्थना की है। कामदेव के नष्ट हो जाने पर रति अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देने के लिए तत्पर है और इस प्रकार की तर्कनाएँ कर रही है—

"शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥
अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ॥
कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य गतस्त्वमावयोः।
कुरु सम्प्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्चिताम्।
तदनु ज्वलनं मदर्पितं त्वरयेर्दक्षिणवातवीजनैः।
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना॥"

('कुमारसंभव', ४।३३–३६)

—'चाँदनी चन्द्रमा के साथ चली जाती है और बिजली बादल के साथ विलीन हो जाती है। अतएव, पति के मार्ग का अनुगमन करना जब जड़ों में भी देखा जाता है, तब मैं चेतन होकर अपने प्यारे के पास क्यों नहीं जाऊँ? अब मैं अपने प्रियतम के शरीर की सुन्दर भस्म से अपने स्तनों का शृङ्गार करूँगी और चिता की आग में उसी प्रकार चढ़ कर लेट जाऊँगी जैसे वह नए कोमल पल्लवों की मनोरम सेज हो। हे वसन्त! तुमने कई बार हमलोगों को कुसुमों की शय्या रचने में सहायता दी है, अब मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम मेरे लिए शीघ्र ही चिता रच डालो। और, फिर शीघ्रता से दक्षिण पवन का पंखा झल कर उसमें बड़ी लपटें भी उत्पन्न कर दो जिसमें मैं सद्यः जल कर भस्म हो जाऊँ क्योंकि तुम तो यह जानते ही हो कि कामदेव मेरे बिना क्षण-मात्र भी प्रसन्न नहीं रह सकता है।'. रति का उद्गार प्रत्येक हिन्दू नारी के हृदय की धड़कनों को सही-सही प्रतिध्वनित करता है।

नारी की यह 'श्रद्धा', पुरुष की 'क्रिया', से संयुक्त होकर, जब पुत्र रूपी 'धन' की सृष्टि करती है, तभी स्त्री-पुरुष दोनों का जीवन धन्य होता है—कालिदास का लौकिक जीवन के लिए, गृहस्थों को यही उपदेश है। देखिए, महर्षि मारीच कहते हैं—

"दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्॥ ('शाकुन्तल' ७।२९)

—'आज सौभाग्य से यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक और तुम, ये तीनों ऐसे मिल गए हो जैसे श्रद्धा, धन तथा क्रिया तीनों एक साथ मिल जायँ।'

४

कालिदास ने राजनीति के विषय में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। कतिपय विद्वानों का कथन है कि वे कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से पूर्णतया परिचित थे। वे 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अंक में 'शास्त्र' और 'तन्त्रकार-वचन' का, तथा 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग में उशनस् का उल्लेख करते हैं। सचाई जो हो, राजनीति अथवा राज्यनीति में कवि के अपने आदर्श हैं और उन्हें उसने स्पष्ट ढंग से अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है।

कवि ने राज्य के 'सप्तांगों' का उल्लेख किया है—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।" अर्थात्, राजा, मंत्री, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—ये सात किसी राज्य के अस्तित्व अथवा संचालन के लिए आवश्यक अंग ठहराए गए हैं।

कवि ने इन सबके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। यह उल्लेखनीय है कि उसने अपना सबसे बड़ा महाकाव्य सूर्यवंशी राजाओं के, तथा अपने प्रधान नाटक चन्द्रवंशी नरेशों के चरित-गान के लिए निर्मित किए हैं। सूर्यवंशी राजाओं के गौरव के वर्णन में तो उसने वैसे राज्यसत्ता का आदर्श चिरकाल के लिए प्रतिष्ठित कर दिया है—"मैं उन प्रतापी रघुवंशियों का वर्णन करने के लिए तत्पर हूँ जिनके चरित्र जन्म से लेकर मृत्यु तक पवित्र रहे; जो तब तक कर्म करने के अभ्यासी थे जब तक उनका अभीष्ट फल प्राप्त नहीं हो जाता था; जिनका राज्य समुद्र के ओर-छोर तक व्याप्त था; जिनके रथ पृथ्वी से सीधे स्वर्ग तक आया-जाया करते थे; जो शास्त्रों के नियमों के अनुसार ही यज्ञ करते थे; जो माँगनेवालों को मनचाहा दान देते थे; जो अपराधियों को अपराधों के अनुरूप ही दण्डित करते थे; जो अवसर देखकर कार्य करते थे; जो दान देने के लिए ही धन-संग्रह करते थे; जो सत्य की रक्षा करने के हेतु संयमित भाषण करते थे; जो केवल अपने यशोविस्तार के निमित्त ही अन्य देशों को जीतते थे; जो भोग-विलास के लिए नहीं, सन्तान के लिए विवाह करते थे; जो बालकपन में पढ़ते थे, तारुण्य में संसार के आनन्दों को भोगते थे, और बुढ़ापे में मुनियों के समान तपस्या करके अन्त में योगाश्रय से प्राणों का विसर्जन करते थे। सच पूछा जाय तो रघुवंशियों के इन गुणों की विश्रुति ने ही मुझे यह काव्य प्रणीत करने को उत्साहित किया—'तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः।'"[1]

मगध-नरेश की प्रशंसा में उसे 'अगाध-सत्त्व', शरणागतों को शरण देनेवाला तथा 'प्रजारञ्जनलब्धवर्णः' बताकर, अन्य राजाओं से उसकी श्रेष्ठता यों बताई गई है—

"कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।

नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥" ('रघुवंश', ६।२२)

—'यद्यपि संसार में अनेक राजा हैं, तथापि पृथ्वी इन्हीं के कारण उसी प्रकार राजा वाली कहलाती है जिस प्रकार अनेक नक्षत्रों, ताराओं तथा ग्रहों से संकुल होने पर भी चन्द्रमा के ही कारण रात ज्योतिर्मयी कही जाती है।'

'रघुवंश' में वर्णन आया है कि युवराज वही अभिषिक्त होता था जो शिक्षा इत्यादि संस्कारों से नम्र हो गया हो और राज्य-संचालन की क्षमता से पूर्ण हो (३।३५)। राजा अतिथि के राज्याभिषेक का बड़ा ही सुन्दर एवं भव्य वर्णन किया गया है (८-२३)। यह भी उल्लेख है कि ऐसे शुभावसरों पर बन्दी मुक्त कर

१. 'रघुवंश', प्रथम सर्ग, श्लोक ५–६

दिए जाते थे और पशु-पक्षियों तक को भी बन्धनों से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती थी। राजकुमारों की शिक्षा इस प्रकार होती थी जिससे वे सम्पूर्ण नागरिक एवं सामरिक विज्ञानों में प्रवीण बन सकें। कुमार भरत और कुमार आयु की शिक्षा का कवि ने यों कथन किया है—

"धियः समग्रैः सगुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥" ('रघुवंश', ३।३०)

—'जैसे सूर्य अपने सरपट दौड़नेवाले घोड़ों की सहायता से थोड़े ही समय में चारों दिशाओं को पार कर लेता है, वैसे ही बुद्धिमान् रघु ने अपनी तीव्र बुद्धि से चार समुद्रों के समान विस्तृत (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति नामक) चारों विद्याएँ शीघ्र ही सीख लीं।'

राजा के कर्त्तव्यों का प्रचुर वर्णन कालिदास की रचनाओं में उपलब्ध होता है। मृगया, मदिरा, द्यूत एवं नवयौवना का सेवन दशरथ जैसे श्रेष्ठ राजाओं के लिए निषिद्ध बताया गया है ('रघुवंश', ६।७)। किन्तु उचित सीमाओं के भीतर मृगया का अनुमोदन भी मिलता है क्योंकि उससे शक्ति, स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति की वृद्धि होती है ('रघुवंश', ६।४६; 'शाकुन्तल', २।४-५)। राजाओं के लिए जो सद्गुण आवश्यक बताए गए हैं, वे सामान्य व्यक्ति के लिए भी भूषण-स्वरूप हैं। दिलीप को निर्भीक, स्वस्थ, धर्मानुयायी; लोभरहित होकर सम्पत्ति-संचय करने वाला, बिना आसक्ति के जीवन के आनन्दों का उपभोग करने वाला, विद्वान् किन्तु मौन, शक्तिमान् किन्तु दयालु, दानशील किन्तु त्यागी, विषयों से अनाकृष्ट, विद्याओं में पारंगत, व्यवस्था के रक्षार्थ दण्ड देने वाला तथा अर्थ एवं काम को भी धर्म-दृष्टि से देखने वाला चित्रित किया गया है ('रघुवंश', १।२१-२५)। अज आर्तों की रक्षा के निमित्त शक्ति का उपयोग करने वाले, अपनी विद्या-बुद्धि से पंडितों का सम्मान करने वाले तथा अपने धन-वैभव से परोपकार करने वाले दिखाए गए हैं (वही, ८।३१)। अतिथि के विषय में कवि कहता है—

"अनित्याः शत्रवो बाह्याः विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट्पूर्वमजयद्रिपून्॥" (१७।४५)
"न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥" (१७।५७)

—'यह सोच कर कि बाहरी शत्रु तो सदा रहते ही नहीं और रहते भी हैं तो दूर, अतिथि ने शरीर के भीतर रहने वाले काम, क्रोध, मद इत्यादि छहों शत्रुओं को पहले ही जीत लिया। उन्होंने अर्थ तथा काम के लिए धर्म को कभी छोड़ा नहीं और धर्म

से बँध कर अर्थ एवं काम को भी नहीं छोड़ा और न अर्थ के कारण काम को या न काम के कारण अर्थ को ही छोड़ा, प्रत्युत धर्म, अर्थ एवं काम तीनों में समरसता का संबंध बनाए रखा।'

राजाओं के इन्हीं आदर्श गुणों के कारण, कवि ने श्रेष्ठ नरेशों को 'राजर्षि' की आख्या से भूषित किया है। दुष्यंत, पुरूरवा सभी 'राजर्षि' कहे गए हैं। दिलीप का स्वागत-सत्कार करते हुए वशिष्ठ ने उन्हें 'राज्य रूपी आश्रम का मुनि' कहा है—"पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः" ('रघु०', १।५८) अर्थात्, राज्य-भोग भी एक विशेष प्रकार का आश्रम है और राजा उसका अधिशासक 'मुनि' है जो उस आश्रम के लिए निर्णीत कर्त्तव्यों का पालन करता है।

व्यक्तिगत गुणों के समान ही, कालिदास राजाओं में कतिपय सामाजिक गुणों का आधान आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में सर्वप्रथम गुण है मनुष्यों को प्रसन्न एवं आकृष्ट करना। जैसे लोगों के हृदयों को आह्लाद से भर देने के कारण चन्द्रमा 'चन्द्र' कहलाता है और सभी को तपाने के कारण सूर्य 'तपन' कहलाता है, उसी प्रकार प्रजा का रंजन करने से राजा 'राजा' कहा जाता है।[1] राजा को दक्षिण पवन के समान 'नातिशीतोष्णः' होना चाहिए और अपने व्यवहार से प्रत्येक प्रजाजन में यह विश्वास उत्पन्न करना चाहिए कि मैं महीपति का विशिष्ट कृपा-भाजन हूँ—"अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्" ('रघु०' ८।८)। उसे यह भी देखते रहना चाहिए कि प्रजाओं में असन्तोष एवं अश्रद्धा का भाव—'प्रकृतिवैराग्यं' नहीं आने पावे। इसके लिए उसे प्रसन्न रहना चाहिए और मधुर स्मित के साथ भाषण करना चाहिए ('रघु०', १७।३१)। ब्राह्मणों के प्रति राजा को श्रद्धालु होना चाहिए क्योंकि उनके यज्ञों से वर्षा होती है और उनकी पवित्रता, लोक-प्रेम तथा भगवद्भक्ति के कारण राज्य से रोग, बालमृत्यु एवं अन्य अनिष्टकारी आपत्तियाँ निराकृत हो जाती हैं।[2] राजा का जीवन बन्दीगृह के समान कहा गया है जिसमें कर्त्तव्यों के गहन भार के कारण सुख का उपरोध ही संभव है।[3] 'शाकुन्तल' के पाँचवें अंक में राजा के कठिन दायित्वों का अत्यन्त स्पष्ट कथन किया गया है—"राजा के जीवन में विश्राम कहाँ है? जैसे सूर्य एक ही बार अपने घोड़े जोतकर निरन्तर चलता रहता है, जैसे पवन सदैव बहता रहता है और जैसे शेषनाग पृथ्वी का भार सदा वहन करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रजा

---

१. "यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥" ('रघु०', ४।१२)

२. 'रघुवंश', १।६२–६३.

३. "सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम्।" (वही, १८।१८)

की सम्पत्ति का षष्ठांश ग्रहण करने वाला राजा भी निरन्तर प्रजा-कार्य में जुटा रहता है। राजा बनकर बड़ी प्रतिष्ठा पा लेने से मन की उमंग तो पूरी होती है, किन्तु राज्य-पालन करते समय असीम कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। राज्य उस छतरी के समान है जिसकी मूँठ हाथ में ले लेने से थकावट ही अधिक होती है, विश्राम कम मिलता है सच्चे राजा प्रजा की भलाई में वैसे ही व्यस्त रहते हैं, जैसे वृक्ष स्वयं कड़ी धूप सहन कर छाया के नीचे बैठने वाले जीवों का परिताप शमन करता है।"[1]

कालिदास ने राजा की तीन शक्तियों—'प्रभु-शक्ति', 'मन्त्र-शक्ति' तथा 'उत्साह-शक्ति'—का उल्लेख किया है ('रघु०', १७-६३)। 'प्रभु-शक्ति' से राजा राज्य का विस्तार एवं शासन करता है "अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान्।" 'अज ने अपनी प्रभुशक्ति से अन्यान्य नरेशों को अपने अधीन कर लिया (८।१६)। "मन्त्र-शक्ति' से राजा मन्त्रणा-पूर्वक शासन-तन्त्र को व्यवस्थित रखता है। 'मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः। स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥' — अतिथि प्रतिदिन मंत्रियों के साथ गुप्त मन्त्रणा करके राज्य का सञ्चालन करते थे (१७।५०)। 'उत्साह-शक्ति' से राजा शासन-कार्य में जागरूकता तथा अन्तस्स्फूर्ति-पूर्ण शक्ति का उपयोग करता है। 'सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन संपत्'—'उचित ढंग से प्रयोग में लाई जानेवाली नीति उत्साह-गुण से समन्वित होकर बड़ी सम्पत्ति उत्पन्न करती है' ('कुमार०', १।२२)। कौटिल्य ने इन शक्तियों में मंत्र-शक्ति को प्रथम, उत्साह-शक्ति को द्वितीय और प्रभु-शक्ति को तृतीय स्थान दिया है। कालिदास इन शक्तियों के समन्वय में विश्वास रखते हैं। अतिथि के वर्णन में वे कहते हैं कि केवल नीति (मन्त्रशक्ति) कायरता है और केवल शौर्य (प्रभुशक्ति) पशुता है, अतएव अतिथि ने इन दोनों को मिलाकर शत्रुओं को विजित किया।[2]

यहाँ 'नीति' को मन्त्र-शक्ति का ही पर्याय समझना चाहिए, 'राजनीति' का नहीं। उसी प्रसंग में कवि ने आगे चलकर 'राजनीति' का पृथक् उल्लेख किया है और उसे 'चतुर्विधा' अर्थात् साम, दाम, दण्ड तथा भेद—इन चार अंगों से युक्त बताया है ('रघुवंश' १७।५८)। राजा के छः गुणों—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय एवं द्वैधी-भाव का कथन भी इसी के साथ हुआ है (वही, १७।६७)।

---

१. 'अभिज्ञानशाकुन्तल', ५।४, ५, ६, ७.

२. "कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥" (रघुवंश', १७।४७)

राजा के तीन महान् कार्य हैं—राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा राष्ट्र का आर्थिक समुन्नयन। कालिदास ने इसका संकेत 'प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि' (वही, १।२४) में किया है। 'क्षतात्किल त्रायते' कह कर उन्होंने राजा के प्रधान धर्म, क्षति से प्रजा की रक्षा करना, को महत्त्व दिया है। लेकिन, आर्थिक उन्नति को भी वे कम महत्त्व का नहीं मानते। उनका निर्देश इस सम्बन्ध में ग्रामों तथा नगरियों के वर्णन में ध्वनित हुआ है। 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में समृद्ध तथा राजभक्त ग्रामों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। साथ ही, विदिशा, उज्जयिनी इत्यादि नगरियों के वर्णन में सम्पूर्ण नागरी वैभव एवं ऐश्वर्य का कथन कर कवि ने प्रकारान्तर से नगरों की अपनी अभीप्सित समृद्धि का आदर्श भी ध्वनित किया है। उजड़ी हुई अयोध्या का वर्णन किसी भी शासन की अर्थनीति के लिए चुनौती है और अयोध्या का नवनिर्माण. जो राजा कुश के प्रत्यावर्तन के साथ सम्पन्न हुआ, उस अर्थनीति की प्रसन्न प्रशस्ति है। न्यायवितरण के विषय में भी कवि अपने आदर्श नरेशों की प्रशंसा करता है। मनु-प्रणीत विधानों से रेखामात्र भी स्खलित न होना, निष्पक्ष व्यवहार का पालन करना, यथापराध दण्ड देना, 'अर्थी' (वादी) और 'प्रत्यर्थी' (प्रतिवादी) के विवादों का धर्मज्ञों की सहायता से निपटारा करना[1] इत्यादि बातों का उल्लेख कवि ने राजाओं की न्याय-व्यवस्था के सम्बन्ध में किया है। वह 'एकांकी निर्णय' को दोषपूर्ण मानता है—"सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय" ('मालविका०', १)—इसीलिए धर्मज्ञों का न्यायिक सहयोग वह आवश्यक समझता है।

राज्य-कोष की पूर्ति, कर-विधान, इत्यादि के विषय में कालिदास के विचार स्पष्ट हैं। प्रजा से उसकी सम्पत्ति का छठा भाग वसूल करे, और स्वयं राज्य की ओर से शस्योत्पादन, रत्नादि खनिजों की प्राप्ति तथा वन्य हाथियों के व्यापार से राज्य-कोष का संचय उन्होंने राजाओं के लिए निर्दिष्ट किया है।[2] निकट के उत्तराधिकारी के अभाव में मृत व्यक्ति की सम्पत्ति राज्य के अधिकार में चली आती थी, लेकिन कवि के आदर्श राजा (दुष्यन्त) इस नियम की कठोरता को, दयार्द्र होकर, एकदम शमित कर देते थे। अर्थ-कोष के संचय का उद्देश्य प्रजा का कल्याण ही समझना

---

१. "स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम्।
दर्दश संशयच्छेद्यान् व्यवहारानतन्द्रितः॥" (रघु०', १७।३९)

२. "खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः॥" ('रघुवंश', १७।६६)

चाहिए। जिस प्रकार जल से भरा हुआ बादल चातक के आनन्द का कारण होता है—'अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते' ('रघु०', १७।६०)।

शासन-तन्त्र का वर्णन भी कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रचुरता से किया है। राजा मन्त्रि-मण्डल की सहायता से राज्यकार्य का संचालन करता था। मन्त्रि-मंडल का विचार-विमर्श गुप्त-रूप से चलता था और उसके निर्णय तभी प्रकट होते थे, जब निर्धारित नीति का कार्यान्वयन किया जाता था।[1] 'मालविकाग्निमित्र' के पञ्चम अंक में 'मन्त्रि-परिषद्' का उल्लेख आया है, जहाँ राजा वैदेशिक नीति से सम्बन्धित अपने निर्णय पर उसका अनुमोदन चाहता है। वन जाते समय राजा शासन का भार 'सचिवों' को सौंप देते थे; अग्निवर्ण ने तो अपनी रंग-रेलियों में डूबकर समस्त राज्यकार्य मंत्रियों को सौंप दिया था। मंत्रियों ने भी उसकी घातक व्याधि की बात प्रजा से छिपा रखी थी और अन्ततः उसकी गर्भवती पत्नी को उसका उत्तराधिकारी बना दिया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मंत्रियों का आदर्श क्या होना चाहिए। कवि ने 'रघुवंश' में राज्य के अठारह 'तीर्थों' (विभागों) का उल्लेख किया है (१७।६८)। अतिथि के शासन-तन्त्र का वर्णन करते हुए कवि कहता है—'जैसे खुले आकाश में सूर्य की किरणों के फैल जाने से कुछ भी छिपा नहीं रह जाता, उसी प्रकार अतिथि ने चारों ओर दूतों का ऐसा जाल बिछा दिया कि प्रजा की कोई बात उनसे छिपी नहीं रहती थी। × × × उन्होंने अपने कर्मचारियों तथा शत्रुओं का भेद जानने के लिए ऐसी चतुराई से उनके पीछे दूत लगा रखे थे कि वे दूत भी आपस में एक-दूसरे को नहीं पहचान पाते थे। उन दूतों से सब समाचार मिलते रहने के कारण वे सोते हुए भी मानो जागते रहते थे।'[2] इस वर्णन से ज्ञात होता है कि कवि राज्य-कार्य के लिए गुप्तचरों की व्यवस्था को आवश्यक मानता है।

युद्ध के सम्बन्ध में कालिदास का विचार है कि धर्म के हेतु अथवा यशोविस्तार के हेतु ही युद्ध करना चाहिए और विजय प्राप्त करनी चाहिए। अन्य राजाओं का उन्मूलन नहीं, अपितु उनका नमन ही विजय का ध्येय होना चाहिए ('रघु०', ८।९)। कवि ने नौ प्रकार की सेनाओं—'मौलंभृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं बलम्'—का उल्लेख किया है। 'मालविका०' में कहा गया है कि 'नवसंरोहणशिथिल' तरु के समान वही राजा आसानी से उन्मूलित किया जा सकता है, जो अचिरात् सिंहासनारूढ़ हुआ हो और प्रजा का प्यार अभी गहराई से प्राप्त न कर सका हो (१।८)।

---

१. "तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव॥" (वही, १।२०)

२. 'रघुवंश', १७।४८,५१।

कालिदास ने संसार के अधिपति-रूप में संयुक्त भारतवर्ष की कल्पना अपने काव्यों में प्रतिष्ठित की है—यह उनकी बहुत बड़ी देन समझी जानी चाहिए। रघुवंशी राजाओं का राज्य-विस्तार एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक बताया गया है। उसीके साथ यह कहा गया है कि वे सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक नगरी की नाईं एकच्छत्र राज्य करते थे—'अनन्यशासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव।' 'शाकुन्तल' में यह भविष्यवाणी मिलती है कि भरत सम्पूर्ण वसुन्धरा पर शासन करेगा—'पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।' नाटक के प्रथम अंक में ऋषि दुष्यन्त को 'चक्रवर्ती' पुत्र प्राप्त करने का आशीर्वाद देते हैं। 'विक्रमोर्वशीय' में कवि ने एक ही छत्र के नीचे निखिल पृथ्वी के शासन की बात कही है, जिसमें शासक के पैरों का पीढ़ा सामन्तों के मुकुटों की मणियों के संघर्ष से रञ्जित हो गया हो—

"सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठम्।
एकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्॥" (३।१६)

कालिदास की कल्पना भारतवर्ष के ऐसे राजनीतिक उत्कर्ष का स्वप्न तरलायित कर गयी है, जिसमें वह निखिल विश्व का नायक बन सके। आज के परिवर्तित युग में भी यह आदर्श अपना आकर्षण रखता है।

लेकिन कालिदास की यह प्रभुत्व-कामना धर्म के ऊपर आश्रित है और उसकी पूर्णता चिन्तन, ध्यान तथा योग में है। राजनीति स्वतः कोई साध्य नहीं है, प्रत्युत साधन है। रघुवंशियों का 'कुलव्रत' यह बताया गया है कि राजा-रानी अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर जंगल में चले जायँ (३।७०)। 'रघुवंश' के अष्टम सर्ग में रघु के आध्यात्मिक प्रभुत्व और अज के लौकिक प्रभुत्व में विस्मयकारी वैषम्य दिखाया गया है। 'शाकुन्तल' में जब शकुन्तला पूछती है कि वह कब फिर अपने प्यारे आश्रम में लौट सकेगी, महर्षि कण्व उत्तर देते हैं—

"भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥" (४।२०)

—'चिरकाल तक इस पृथ्वी को सौत बनाकर और अपने अद्वितीय वीर पुत्र को राज्य तथा कुटुम्ब का भार सौंपकर जब तुम अपने पति के साथ आओगी, तब इस शान्त आश्रम में पुनः सुख का उपभोग करोगी।'

इसी नाटक-रत्न के भरत-वाक्य में कवि ने जीवन के श्रेष्ठतम आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में अपने अभीष्ट राजनीतिक आदर्श की व्यञ्जना यों की है—

"प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयसाम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥"

—'राजा प्रजा की भलाई में लगे रहें; विद्वान् कवियों की वाणी का सर्वत्र समादर हो; और अपने से उत्पन्न होनेवाले तथा चारों ओर अपनी शक्ति फैलानेवाले महादेव जी ऐसी कृपा करें कि मुझे इस संसार में पुनः जन्म न लेना पड़े।'

कवि की ध्वनि यही है कि विद्वानों की प्रतिष्ठा तथा पुनर्भव का निराकरण ऐसी ही राज्य-व्यवस्था में सम्भव है, जिसमें 'प्रकृतिहित' को शक्ति-सत्ता का मूल नियामक मन्त्र स्वीकार कर लिया जाय और फिर वह सत्ता भी इस लोक में एकदम न फँसकर, परलोक की शान्ति एवं दिव्य आनन्द में समाहित होने को ही अपना अन्तिम लक्ष्य समझे—यह भी कालिदास का इष्टार्थ है।

(१७) कालिदास का प्रभाव

(१)

'मालती माधव' नाटक की भूमिका में भवभूति ने जो गर्वोक्ति की है, उसमें यह भी स्पष्ट कथित है कि उनकी काव्य-प्रतिभा की उनके समय में अवज्ञा ही हुई थी—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥"

—'जो लोग मेरे इस नाटक के प्रति अवज्ञा दिखलाते हैं, वे ही उसका कारण जानते हैं। मेरा यह प्रयास उनके लिए नहीं है। मेरा समानधर्मा या मेरे काव्य के गुणों का मर्मज्ञ कोई-न-कोई व्यक्ति, किसी-न-किसी समय अवश्य उत्पन्न होगा अथवा कहीं-न-कहीं वर्तमान ही होगा, क्योंकि यह काल अनन्त है और पृथ्वी भी अत्यंत विशाल है।'

कालिदास के लिए 'समानधर्मा' सहृदयों अथवा काव्य-मर्मज्ञों का अभाव कभी नहीं रहा। प्रारम्भ से ही उनकी हैमीभूता साहित्य-वधू अपना आकर्षणजाल काव्य-रस के पिपासुओं के ऊपर डालती रही है। परवर्ती काव्यकारों ने कालिदास की कल्पनाओं तथा वर्णित प्रसंगों का अनुकरण किया है। वत्सभट्टि-रचित मन्दसोरवाली प्रशस्ति में 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' की कल्पनाओं की स्पष्ट प्रतिच्छाया झलकती है, जो प्रथम परिच्छेद में दिखाया गया है। छठी शताब्दी (ईसा) में गया के समीप नागार्जुन पहाड़ी के ऊपर गुफा में उत्कीर्ण अनन्तवर्मा नामक मौखरी राजा के लेख

में "यस्याहूतसहस्रनेत्रविरहक्षामा सदैवाध्वरैः। पौलोमी चिरमश्रुपातमलिनां धत्ते कपोलश्रियम् ॥" श्लोक मिलता है, जिसमें 'रघुवंश' के छठे सर्ग के तेइसवें श्लोक की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। ईसा की सातवीं शताब्दी में रचित भट्टिकाव्य तथा ऐहोल की रविकीर्ति-कृत प्रशस्ति में कालिदास की कल्पनाओं की प्रतिध्वनि कई स्थलों पर सुनायी पड़ती है। उसी शताब्दी में कम्बोडिया में उत्कीर्ण भववर्मा के दो श्लोकों में 'रघुवंश' के श्लोकों की छाया दिखाई पड़ती है।[1]

परवर्ती कवियों ने कालिदास की कतिपय अभिराम कल्पनाएँ ही नहीं ग्रहीत कीं, अपितु उनकी रचनाओं के प्रसंग भी ग्रहण किये। हर्ष की 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली', राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' और विल्हण की 'कर्णसुन्दरी' नाटिकाओं पर कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की पूर्ण छाप पड़ी है। भास के 'स्वप्नवासवदत्त' के कुछ अंश इस नाटक से साम्य रखते हैं; किन्तु हर्ष इत्यादि नाटककारों की कृतियों में भास के इस नाटक का प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि 'स्वप्नवासवदत्त' के उदयन, वासवदत्ता तथा पद्मावती जैसे उदात्त शीलवाले चरित्रों के दर्शन इन रचनाओं में नहीं होते। 'मालविकाग्निमित्र' में चित्रित अग्निमित्र, धारिणी, इरावती तथा मालविका जैसे चरित्रों का ही अंकन परवर्ती नाटकों में उपलब्ध होता है। अतएव यह कहा जाना चाहिए कि कालिदास की इस नाट्यकृति ने संस्कृत-साहित्य में एक विशेष शैली के नाट्य-सम्प्रदाय को जन्म दिया। इन सभी नाटकों का वस्तुविन्यास अन्तःपुर की घटनाओं के आधार पर किया गया है। नायक का अन्तःपुरवासिनी किसी राजकन्या पर आसक्त होना, विवाहिता रानी का ईर्ष्यावश उस प्रणयोपचार में विघ्न उपस्थित करना, तथा बाद में उस राजकन्या का सही-सही पूर्ववृत्त प्रकट हो जाने के कारण राजा का उससे परिणय-सूत्र में आबद्ध होना—ये ही कल्पनाएँ और प्रसंग इन सभी नाटकों में किसी-न-किसी रूप में नियोजित किये गये हैं। नाटकान्त में राजा की सेना द्वारा प्राप्त किसी विजय का उल्लेख भी मिलता है। जैसे 'मालविकाग्निमित्र' में। किन्तु भास एवं कालिदास के नाटकों में इस विजय का कथानक के संग्रथन से जो घनिष्ठ संबन्ध दिखाई पड़ता है, वह उत्तरकालीन नाटकों में उपलब्ध नहीं होता। 'कर्णसुन्दरी' तथा 'कर्पूरमंजरी' जैसी नाटिकाओं में विजय तथा विवाह का बादरायण सम्बन्ध ही लक्षित होता

---

१. "शरत्कालाभियातस्य परानावृततेजसः।
द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि ॥
यस्य सेनारजोधूतमुज्झितालंकृतिष्वपि।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावमुपागतम् ॥" (भववर्मा)

मिलाइये—'रघुवंश', ४।४५; ४६।

है। इस कारण उनके संविधानकों में कार्य की अन्विति (Unity of action) की रक्षा नहीं हो सकी है। चरित्र-चित्रण तथा शिल्प-सौष्ठव में भी ये रचनाएँ 'मालविकाग्निमित्र' की तुलना में हीन प्रतीत होती हैं।[1]

(३)

परवर्ती नाटककारों में भवभूति सर्वश्रेष्ठ ठहरते हैं। उनके द्वारा रचित नाटक 'मालतीमाधव' तथा 'उत्तररामचरित' हैं। उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि भवभूति ने कालिदास के नाटकों का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया था और उनकी अनेक मनोरम कल्पनाएँ, शब्द-प्रयोग तथा मार्मिक घटनाएँ ग्रहण कर अपनी रचनाओं को सजाने का उद्योग किया। 'मालतीमाधव' में मालती का मन आकृष्ट करने के लिए कामन्दकी ने दुष्यन्त-शकुन्तला तथा पुरूरवा-उर्वशी की प्रेम-कहानियों का दृष्टान्त दिया है, जो भवभूति को कालिदास के नाटकों से ही सूझा होगा। इस नाटक के नवम अंक में मालती के अकस्मात् अदृश्य हो जाने से माधव उन्मत्त हो गया है, और उसने अपनी प्रियतमा के पास सन्देश ले जाने के लिए मेघ से प्रार्थना की है तथा हाथी, पवन इत्यादि से मालती का कुशल-क्षेम पूछा है। यह कल्पना भवभूति को 'मेघदूत' एवं 'विक्रमोर्वशीय' से मिली होगी। 'उत्तररामचरित' के अन्तिम अंक में रामचन्द्र को अनेक कारणों से यह विश्वास हो गया है कि लव-कुश उनके ही पुत्र हैं। यह प्रसंग 'शाकुन्तल' के अन्तिम अंक के 'प्रत्यभिज्ञान' वाले प्रसंग से साम्य रखता है। 'गौरीगुरोः पावनाः' जैसे शब्द-प्रयोग भी भवभूति को कालिदास से मिले होंगे। ऐसी कतिपय समानताओं के आधार पर यह अनुमान असंगत नहीं दीखता कि भवभूति ने कालिदास के काव्यों से प्रचुर प्रभाव ग्रहण किया है।

तथापि भवभूति की नाट्य-प्रतिभा अपना अलग महत्त्व रखती है और उसे कालिदास की विशुद्ध प्रतिकृति समझना एकदम अनुचित होगा। 'उत्तररामचरित' की सीता तथा 'शाकुन्तल' की शकुन्तला के चरित्रों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि भवभूति ने अपने ढंग से, अपने आदर्श के अनुरूप सीता को चित्रित किया है। जैसे कालिदास ने महाभारत से शकुन्तला का आख्यान लेकर उसे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा से बिलकुल नया रूप दिया है, वैसे ही भवभूति ने भी वाल्मीकि से सीता-परित्याग का प्रसंग लेकर उसे संशोधित एवं परिष्कृत कर दिया है। लेकिन सीता और शकुन्तला के चरित्रांकन में दोनों कवियों की विशेषताएँ अथवा निजी वरीयताएँ स्पष्ट भाव से उभर आयी हैं। 'शकुन्तला तपस्विनी होकर

---

१. प्रो० वा० वि० मिराशी: 'कालिदास', पृ० २८७–८८

भी गृहस्थ है, ऋषिकन्या होकर भी प्रेमिका है; शान्ति की गोद में लालन-पालन होने पर भी उसकी मति चपल है। उसको लज्जा नहीं है, संयम नहीं है, धैर्य नहीं है। उसका नाम सीता, सावित्री, दमयन्ती और शैव्या के साथ नहीं लिया जा सकता। × × × × शकुन्तला-चरित्र का माहात्म्य (दुष्यन्त की ही तरह) पतन और उत्थान में है। × × × × दुष्यन्त की तरह शकुन्तला का भी चरित्र दोषों और गुणों से मिश्र है। उसके चरित्र का माधुर्य दोषों और गुणों में ही है। दोष और गुण में शकुन्तला का चित्र अतुलनीय है।"[1] किन्तु सीता एक-मात्र सती-साध्वी नारी है। पति के आनन्द में वह अपना आनन्द मानती है। तीसरे अंक में जब रामचन्द्र जनस्थान में सीतामयी पूर्वस्मृति से अभिभूत होकर मूर्च्छित हो जाते हैं, तब सीता कहती है—'हा धिक्, हा धिक्! मां मन्दभागिनीं व्याहृत्य अमीलन्नेत्रनीलोत्पलः मूर्च्छित एव आर्यपुत्रः। हा कथं धरणीपृष्ठे निरुत्साह-निःसहं विपर्यस्तः। भगवति तमसे परित्रायस्व परित्रायस्व, जीवय आर्यपुत्रम्।" [हा धिक्कार है, हा धिक्कार है! आर्यपुत्र मुझ अभागिनी का नाम लेकर, नीलकमल-तुल्य नेत्रों को बन्द कर, मूर्च्छित और निरुत्साह हो, पृथ्वी के ऊपर विपर्यस्त भाव से पड़े हुए हैं। हे भगवति तमसे रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। आर्यपुत्र को जीवित कीजिये।]

वासन्ती जिस समय राम को जनस्थान दिखा रही थी और राम पहले की क्लेशमयी स्मृति से रोते-रोते बैठ गये, तब सीता वासन्ती की भर्त्सना करती है—'सखि वासन्ति! किं त्वया कृतम् आर्यपुत्रस्य मम च एतत् दर्शयन्त्या। × × × × हा आर्यपुत्र! मां मन्दभागिनीमुद्दिश्य सकलजीवलोकमङ्गलाधारस्य ते बारंवारं संशयितजीवितदारुणो दशापरिणामः! हा हताऽस्मि।" [हे सखी वासन्ती! मुझे तथा आर्यपुत्र को यह सब दिखाकर तुमने यह क्या कर दिया? × × × × हा आर्यपुत्र! आप सब जीवलोक के मंगलाधार हैं, किन्तु मुझ मन्दभागिनी के लिए बारंबार नवीन-संशय को प्राप्त कर आपकी दशा अत्यन्त दारुण हो गयी है। हाय! मैं सर्वथा हत हुई।]

इन अवतरणों से स्पष्ट हो जाता है कि सीता के चरित्र से सर्वत्र यही ध्वनि निकलती है—'राम मेरे लिए कष्ट पाते हैं। आर्यपुत्र इतने दिनों में मुझे भूल क्यों नहीं गये? वह भी इससे अच्छा था। सकल-मंगल-मूलाधार राम मुझ तुच्छ नारी के लिए बारंबार प्राणसंशय को प्राप्त हो रहे हैं!"[2] अतएव सीता के चरित्र की

---

१. द्विजेन्द्रलाल राय: 'कालिदास और भवभूति', पृ० ६३-६४
२. वही, पृ० ६७

विशिष्टता है उनका आत्मबलिदानी प्रेम, उनका 'अपार्थिव सतीत्व।' शकुन्तला और सीता की तुलना से दोनों में प्रत्यक्ष अन्तर यह दिखाई देता है : 'शकुन्तला एक चरित्र है, सीता एक धारणा है। शकुन्तला सजीव नारी है, सीता एक पाषाण-प्रतिमा है। शकुन्तला उमड़ी हुई नदी है, सीता स्वच्छ सरोवर है। कालिदास की शकुन्तला हँसी है, रोई है, गिरी है, ऊपर उठी है, और उसने सहन किया है। किन्तु सीता ने आदि से अन्त तक केवल प्यार किया है। निर्वासन-शल्य भी उसके उस अटल प्रेम को बंध नहीं सका, निष्ठुरता उस प्रेम को डिगा नहीं सकी।'[1] अतएव, स्पष्ट है कि भवभूति ने कालिदास से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी सीता के चरित्रांकन में स्वतन्त्र कल्पना का उपयोग किया है।

नारी-रूप के वर्णन में कालिदास से भवभूति की विशेषता आसानी से देखी जा सकती है। शकुन्तला के बाह्य रूप का अत्यन्त अभिराम अंकन कालिदास ने किया है। एक-से-एक सुन्दर चित्र शकुन्तला के स्थिर रूप-सौन्दर्य तथा गत्यात्मक रूप-सौन्दर्य के—'शाकुन्तल' में चित्रित हुए हैं। भवभूति यहाँ कालिदास से स्पष्टतया पृथक् दीख पड़ते हैं। उन्होंने सीता के बाह्य रूप-सौन्दर्य का चित्रांकन बहुत कम किया है। रामचन्द्र सीता के गुणों के अनुभव से ही अभिभूत हैं। केवल एक श्लोक में उन्होंने सीता के सौन्दर्य का जो वर्णन किया है, वह दुष्यन्त कई श्लोकों में नहीं कर सका है। राम कहते हैं—

"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोरसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः किमस्या न प्रेयो यदि पुनरसह्यो न विरहः ॥"

—'यह सीता मेरे घर की लक्ष्मी तथा नयनों के लिए अमृत-शलाका है। इसका स्पर्श शरीर के लिए चन्दन-रस है। मेरे गले में पड़ी हुई इसकी यह भुजा शीतल एवं स्निग्ध मौक्तिक-मात्र है। इसकी कौन-सी वस्तु प्रेय नहीं है? केवल इसका विरह ही असह्य है।'

राम और भी कहते हैं—

"म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।
एतानि तानि वचनानि सरोरुहाक्ष्याः कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥"

"विनिश्चेतुं शक्ये न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रबोधो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति समुन्मीलयति च ॥"

---

१. वही, पृ० ७७

—'कमलनयनी सीता के ये वचन मुरझाये हुए जीवन कुसुम को प्रफुल्ल करनेवाले, तृप्तिदायक, सकल इन्द्रियों को मोहित करनेवाले, कानों के लिए अमृत तथा मन के लिए रसायन हैं।'

'मैं यह निश्चित नहीं कर सकता कि जब तुम स्पर्श करतो हो, तब तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श पर मैं सुख पा रहा हूँ या दुःख; जाग रहा हूँ या सो रहा हूँ; मेरे शरीर में विष दौड़ रहा है या कोई नशा चढ़ रहा है। मेरी इन्द्रियाँ मूढ़-सी हो रही हैं। विकार चैतन्य को भ्रमित भी करता है और फिर उन्मीलित भी कर देता है।'

राम सोचते हैं—

"उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥"

—'सीता जन्म से ही शुद्ध अर्थात् अयोनिजा हैं। इन्हें शुद्ध करनेवाले अन्य पावन पदार्थों की क्या आवश्यकता है? तीर्थ के जल तथा अग्नि की शुद्धि अन्य से नहीं हो सकती। वे स्वतः पावन, पवित्र होते हैं।'

भवभूति का यह वर्णन नितान्त पूत एवं उदात्त है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे सीता को मातृभाव से देखते हों। बालिका सीता मयूर किस प्रकार नचाती थी, इसका वर्णन कवि ने यों किया है—

"भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः प्रचलितचतुरभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानः सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि॥"

—'हे मयूर! जब तुम मण्डलाकार घूमते थे, तब मुग्धचित्ता प्रिया के चक्षु भी साथ-ही-साथ पलकों के भीतर गोलाकार फिरते थे तथा भौंहों के निपुण नर्तन से वे बड़े ही सुन्दर जान पड़ते थे। प्रिया कर-पल्लवों के द्वारा ताल देकर तुम्हें अपनी संतान के समान नचाती थी। मैं स्नेह-पूर्ण हृदय से तुम्हारा स्मरण करता हूँ।'

इन चित्रों के आलोक में द्विजेन्द्र लाल राय की यह टिप्पणी अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध होती है—"नारी-रूप के वर्णन में भवभूति की एक विशेषता है। कालिदास और संस्कृत के अन्यान्य बहुत-से कवियों के नारी-सौन्दर्य-वर्णन में लालसा का भाव भरा हुआ है। किन्तु भवभूति-कृत रूप-वर्णन सर्वत्र ही पहाड़ी झरने के समान निर्मल और पवित्र है। कालिदास रमणी के बाहरी रूप में ही मस्त हैं, पर भवभूति की दृष्टि स्त्री के अन्तःकरण के सौन्दर्य पर है। यदि नारी 'तुङ्गस्तनी', 'श्रोणीभारादलसगमना', 'बिम्बाधरा' हुई तो बस, कालिदास को और कुछ न चाहिए। अपने काव्यों में जगह-जगह पर रमणी के अंगों का वर्णन करने में कालिदास को बड़ा ही आनन्द आता है। किन्तु भवभूति की दृष्टि में नारी 'गेहे लक्ष्मीः' है; उसके वचन

'कर्णामृतानि' हैं, उसका स्पर्श 'संजीवनौषधिरसः स्नेहार्द्रशीतलः' है; उसका आलिंगन 'सुखमिति वा दुःखमिति वा' है। कालिदास का रूप-वर्णन प्रकाश अवश्य है, लेकिन वह दीपक का रक्तवर्ण प्रकाश है। भवभूति का रूप-वर्णन उज्ज्वल बिजली का प्रकाश है। कालिदास जब पृथ्वी पर चलते हैं, उस समय भवभूति मानो उनसे बहुत ऊपर आकाश में विचरण करते हैं। कालिदास की दृष्टि में नारी भोग की सामग्री है और भवभूति के निकट पूजनीय देवी है।" "रस[1] की दृष्टि से यदि कालिदास शृंगार के चित्रण में अद्वितीय हैं, तो भवभूति गंभीर, भैरव भावों के चित्रण में कालिदास को बहुत पीछे छोड़ जाते हैं। कालिदास यदि रमणीय करुण चित्रों के अंकन में सिद्धहस्त हैं, तो भवभूति गम्भीर करुण चित्रों के चित्रण में अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखते। कालिदास के 'शाकुन्तल' की यदि नदी के कलरव से तुलना की जाय, तो भवभूति के 'उत्तररामचरित' की तुलना समुद्र-गर्जन के साथ की जानी चाहिए"।[2]

(४)

कालिदास के काव्य का उत्तराधिकार ग्रहण करनेवाले कवि, रीति एवं रस का जो मनोभिराम सामंजस्य उनकी कृतियों में दृश्यमान है, उसका उचित रूप में पालन नहीं कर सके। वक्तव्य वस्तु के औचित्यपूर्ण उपन्यास एवं भावों की मार्मिकता की रक्षा की ओर उनका ध्यान नहीं गया और वे काव्य को अलंकृत करने में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करने लगे। परिणाम यह हुआ कि कालिदास की "वागर्थाविव संपृक्तौ"वाली प्रतिज्ञा का पालन उनसे नहीं हो सका और उन्होंने "काव्य-पुरुष" को चमत्कारों एवं अलंकारों से इतना भाराक्रान्त बना दिया कि "साहित्य-वधू" के प्राणों का स्वाभाविक उच्छ्वास प्रतिहत हो गया। भावपक्ष के दब जाने तथा रीति-पक्ष के प्राधान्य ग्रहण कर लेने के फलस्वरूप, काव्य केवल पांडित्य तथा कल्पना के चमत्कारी व्यायाम का विषय बन गया। भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष—इन तीनों महाकवियों के प्रयास से संस्कृत साहित्य में अलंकृत शैली का विकास हुआ और भाषा के कलात्मक शृंगार, अर्थालंकार की विचित्र विच्छित्तिपूर्ण योजना तथा शब्दालंकार, श्लेष, यमक इत्यादि के निर्बाध प्रयोग से कवि सहृदय भावकों की योग्यता को चुनौती देने लगे।[3] शृंगार रस का इतना सान्द्र एवं अनि-

---

१. वही, पृ० ११२-११३।

२. वही, पृ० १३३।

३. एक श्लोक में श्रीहर्ष ने 'नैषध चरित' के संबंध में यह कहा है—

यंत्रित चित्रण होने लगा कि कवियों ने रति-केलि-वर्णन के प्रसंग में वीर्यस्खलन तथा स्त्री-योनि के आकार-प्रकार का उल्लेख भी प्रारभ कर दिया।[1] वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से प्रसंग गृहीत हुए और उनके उल्लसित चित्रण में सुरुचि एवं औचित्य के तत्त्व कपूर की नाईं उड़ गये। महाकाव्यों की रचना में कवियों ने जीवन की व्यापकता तथा मार्मिकता को तिलांजलि दे दी और भामह एवं दण्डी द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का रूढ़िवत् पालन महाकाव्यों का आदर्श बन गया। इन सब बातों के कारण रस एवं रीति का जो मंजुल समन्वय कालिदास के काव्यों में प्रतिष्ठित हुआ था, वह उनके पश्चाद्भावी काव्यों में अब पुनः लक्षित नहीं हुआ; 'निसर्गोज्ज्वलता'[2] की बारंबार शपथ खाने पर भी, "मन्दःकवियशःप्रार्थी" की 'सौवर्ण-शुद्धि' संस्कृत काव्य में पुनः उसी गौरव के साथ प्रतिष्ठित न हो सकी।[3]

किन्तु संस्कृत साहित्य के इस परवर्ती विकास के बीज भी कालिदास की कृतियों में वर्तमान हैं। 'रघुवंश' के नवम सर्ग में यमक का प्रयोग चित्रकाव्यों के प्रणेताओं के लिए प्रेरणा का सूत्र बना होगा। उपमा, उत्प्रेक्षादि अर्थालङ्कारों के प्रयोग में भी कालिदास ने चमत्कार का सन्निवेश किया था,* पुराणों एवं व्याकरणादि शास्त्रों

"जो अपने को पंडित मानता है, वह खल हठपूर्वक इस रचना के साथ खिलवाड़ न करे—यह सोचकर मैंने कहीं-कहीं प्रयत्न करके इसके निबन्ध में गाँठें लगा दी हैं। श्रद्धा से पूजित गुरु की सहायता से जिसने दृढ़ ग्रन्थियों को शिथिल किया है, वही सज्जन इस काव्य की अमृत-लहरी में डुबकी लगाने का सुख प्राप्त करेगा।"

१. 'नैषधचरित', सर्ग २०, श्लोक ८३ तथा ९६ द्रष्टव्य – दमयंती की योनि को पीपल के पत्ते की आकृति का बताया गया है।

२. श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अंत में अपनी रचना को "निसर्गोज्ज्वल" (स्वाभाविक ढंग से सुन्दर) कहा है, जो विशेषण उस काव्य के लिए उचित अथवा संगत नहीं कहा जायगा।

३. "मन्दःकवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।" ('रघुवंश', १।३) "तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥" (वही, १।१०)

* हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में प्राप्त चमत्कार भी कालिदास की चमत्कार-प्रियता से जोड़ा जा सकता है। डॉ० रामविलास शर्मा की यह टिप्पणी उल्लेख्य है:—

से उपमान ग्रहण किये थे। परवर्ती[1] कवियों से संतुलन की रक्षा नहीं हो सकी और अपने पूर्वज कविचक्रचूड़ामणि कालिदास के द्वारा स्वाद बदलने के लिए सन्निविष्ट इन प्रयोगों से प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने काव्य की धारा को एक अभिनव मोड़ ही प्रदान कर दिया। शृंगार का जो अमर्यादित, निविड़ चित्रण परवर्ती काव्यों में उपलब्ध होता है, उसकी भी सीधी, प्रत्यक्ष प्रेरणा कालिदास की रचनाओं से ही बाद के कवियों ने प्राप्त की। 'कुमारसम्भव' के अष्टम सर्ग में उमा-शिव के सुरत-विहार का अत्यन्त उन्मुक्त चित्रण तथा 'रघुवंश' के उन्नीसवें सर्ग में अग्निवर्ण का विलास-वर्णन—ये दो प्रसंग कालिदास में ऐसे प्राप्य हैं कि परवर्ती संस्कृत काव्य तथा उसके अप्रत्यक्ष उत्तराधिकारी हिन्दी के शृङ्गारिक काव्य में भी इनके स्पष्ट अनुकरण दृष्टिगोचर होते हैं। नवोढ़ा युवती पति-समागम के समय किस प्रकार का आचरण करती है, सखियाँ उसे कैसी शिक्षा देती हैं, इत्यादि प्रसंगों का वर्णन 'कुमारसंभव' में हुआ है। 'विवाह हो जाने के बाद पार्वती यह चाहती थीं कि शंकरजी के सान्निध्य में निरन्तर बनी रहें, परन्तु साथ ही कुछ झिझक भी होती थी। इनके 'कामदोहदमनोहर' शरीर को देखकर शंकरजी अत्यन्त अभिभूत हो जाते थे। वे उस समय इतनी लजाती थीं कि शिवजी के कुछ पूछने पर वे बोल नहीं पाती थीं; यदि वे उनका आँचल पकड़ लेते थे, तो वे उठकर भागने लगती थीं और रति के लिए साथ शयन करने पर भी वे दूसरी ओर अपना मुँह फेर लेती थीं। जब कभी शंकरजी छल से सोने का बहाना कर आँखें मूंद लेते थे, तब पार्वती उनकी ओर घूमकर उन्हें टकटकी बाँधकर देखा करती थीं। इतने ही में शिवजी मुसकरा कर आँखें खोल देते थे और वे झटिति इस त्वरा से अपने नेत्र मीचने लगती थीं, जैसे बिजली की चकाचौंध लग गयी हो। जब शंकरजी अपने हाथ उनकी नाभि की ओर बढ़ाते थे, तब वे काँपती हुई उनके हाथ पकड़ लेती

"शुक्ल जी ने रीतिकालीन कवियों के जिस चमत्कारवाद का विरोध किया था, उसके बीज कालिदास में विद्यमान हैं। उनमें इस तरह का कल्पना-विलास मिलता है—हंस, तारे, कुमुद आदि देखकर लगता है कि ये रघु के यश हैं। शिव ने पार्वती की आँखों में लगाने के लिए अपने तीसरे नेत्र से काजल पार लिया। शिवजी के पुत्र षडानन अपना हाथ शिवजी के शिर पर बहती हुई गङ्गा में डाल देते हैं और जब ठण्ड लगती है, तब उनके तीसरे नेत्र से उसे सेंक लेते हैं।"

('आलोचना', पूर्णांक १८, अप्रैल, १९५६, पृ० १३)

१. "रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥" (वही, १५।९)

थीं, किन्तु न जाने कैसे इनकी साड़ी की गाँठ ढीली पड़कर अपने-आप खुल जाती थी। पार्वती की सखियाँ उन्हें सिखाती थीं कि हे सखी, तुम व्यर्थ डरना मत और जैसे हम कहती हैं, वैसे ही शंकरजी के पास रहना; किन्तु उनके पास पहुँचते ही वे इतनी घबड़ा जाती थीं कि सखियों की सभी सीख एकदम भूल जाती थीं। ××× पार्वती इतनी लजीली थीं कि जब सखियाँ प्रातःकाल रात्रि के संभोग का वृत्तान्त पूछतीं, तब ये चाहते हुए भी लज्जा के मारे कुछ बता नहीं पाती थीं। जब ये हाथ में दर्पण लेकर शरीर पर उभरे रति-चिह्नों को देखतीं और उस समय कहीं शिवजी चुपके से पीछे से आ जाते, तब वे लज्जा से एकदम झेंप जातीं और क्या-क्या नहीं करने लगती थीं।"[1]

गन्धमादन पर्वत पर शिवजी ने उमा के साथ जो विलास किया, उसका चित्रण तो और निविड़ है। "शंकर और पार्वती दोनों एक-दूसरे को परास्त करने पर तुले हुए थे। इसलिए दोनों ने ऐसा गहन सम्भोग किया कि दोनों के केश छितरा गये, चन्दन पुँछ गया, नख-चिह्न भी इधर-उधर हो गये और पार्वती की करधनी भी टूट गयी। फिर भी शंकरजी उस उमा-रमण से सन्तुष्ट नहीं हुए। × × × × वायु के झोंकों से वस्त्र हट जाने पर पार्वती की नङ्गी जाँघों पर जो नख-क्षतों की पंक्ति दिखाई पड़ रही थी, उसे शिवजी एकटक देख रहे थे और जब पार्वती अपने शिथिल वसनों को ठीक करने लगीं, तब शिवजी ने उनका हाथ पकड़ लिया। रातभर जागने से पार्वती के नेत्र लाल हो गये थे, ओठों पर शिवजी के दाँतों के घाव भरे पड़े थे, सँवारे हुए केश छितरा गये थे और मस्तक का तिलक पुँछ गया था। प्रिया के ऐसे मुख को देखकर रागवान् शंकर मग्न हो गये। जिस पलंग पर वे सोये हुए थे, उसकी चादर में सिलवटें पड़ गयी थीं, बिना डोरीवाली टूटी मेखला उसपर पड़ी हुई थी तथा कहीं-कहीं पाँव के महावर की छाप भी उभर आयी थी। वह पलंग महादेव जी को ऐसा प्रिय लगा कि दिन निकल आने पर भी उन्होंने पलंग को छोड़ने का नाम नहीं लिया।"[2]

उपर्युक्त अवतरणों को देखने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सम्पूर्ण संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के शृंगार-काव्य में कोई ऐसा चित्र नहीं, जिसका पूर्व-रूप कालिदास के इस चित्रण में उपलब्ध न हो सके। सुरतसंग्राम, रत्यंत चित्र, प्रमदाओं का वारुणी-पान, सखियों का प्रश्न-विनोद, नख-क्षत एवं दन्त-क्षत जैसे स्मरणीयकों के प्रति कामिनियों की ममता, प्रेमी-प्रेमिका के छल-कपट इत्यादि का जो प्रचुल एवं

---

१. 'कुमारसंभव', सर्ग ८, श्लोक १ से ११ तक।
२. वही, सर्ग ८, श्लोक ८३ से ८९ तक।

उन्मुक्त चित्रण परवर्ती साहित्य में दिखाई पड़ता है, उसके स्पष्ट सूत्र कालिदास में उपन्यस्त मिलते हैं। कालिदास का एक चित्र क्योंकर हिन्दी के बिहारीलाल तक पहुँच गया है, उसे निम्नोद्धृत अवतरणों में देखा जा सकता है—

"कैतवेन शयिते कुतूहलात्पार्वती प्रतिमुखं निपातितम् ।
चक्षुरुन्मिषति सस्मितं प्रिये विद्युता हतमिव न्यमीलयत् ॥"
('कुमार०', ८।३)

'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥" ('अमरुकशतक')

"मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुहुँ चूम्यौ ढिग जाय ।
हँस्यौ, खिस्यानी गल गह्यौ, रही गरैं लपटाय ॥" (बिहारी-सतसई)

—कालिदास की नायिका सोने का बहाना करनेवाले प्रियतम की ओर टकटकी बाँधकर केवल देखती है और उसके मुसकाते हुए आँखें खोल देने पर लज्जा से आँखें बन्द कर लेती है, जब कि अमरु कवि की नायिका निद्रा का व्याज करनेवाले पति के मुख का चुम्बन करती है और तथ्य का पता चलने पर लज्जावनत हो, प्रिय द्वारा देर तक चुम्बित होती रहती है, अयच बिहारी की नायिका पति-मुख का चुम्बन कर उससे कण्ठाश्लेष में आबद्ध हो जाती है।

कालिदास मदिरा-पान को सुरत-विलास का उपकारक उपकरण मानते हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में इरावती का कथन है कि मद्यपान से स्त्रियों की शोभा बढ़ जाती है। अज को देखनेवाली स्त्रियों में ऐसी देवियाँ भी हैं, जिनके मुख से आसव की गन्ध निकलती है। वसन्त-वर्णन में सुरम्य सन्ध्या, स्फुट चन्द्रिका, कोकिल की काकली, सुगन्धित पवन तथा मतवाले भौंरों की गुञ्जार के साथ-साथ रात्रि में मदिरा-पान भी कामदेव को उद्दीपित करनेवाले रसायन का घटक तत्त्व बताया गया है— "निशि सीधुपानं सर्वरसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥" और तो और, कालिदास ने जगदम्बिका पार्वती को भी मदिरा पिला दी है और उन्हें साधारण मतवाली प्रमदा का स्वभाव प्रदान कर दिया है—

"मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम् ।
इत्युदारमभिधाय शङ्करस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥
पार्वती तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम् ।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ॥

तत्क्षणं विपरिवर्तितह्रियोर्नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः ।
सा बभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च ॥
घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥"

('रघुवंश', ८।७१,८०)

—'काम को दीपित करनेवाली मदिरा पी लो, क्योंकि सखीजन का आग्रह मान्य है—ऐसा कहकर शंकरजी ने बड़ी उदारता से पार्वती को मदिरा पिला दी। जैसे वसन्त में विधि-योग से आम्र का पेड़ सुगन्धित होकर आम्रता प्राप्त करता है, वैसे ही पार्वती के रूप का सौन्दर्य मद्यपान से और मादक बन गया। वे मद से अधीर होकर तत्काल शंकरजी की गोद में गिर पड़ीं और उसी दशा में शयनकक्ष में पहुँचायी गयीं। उनकी आँखें चंचलता से नाच रही थीं, मद के कारण मुँह से बोली नहीं निकल रही थी, पसीने की बूँदें मुख पर छा गयी थीं, और वे अकारण ही हँस पड़ती थीं। शंकरजी पार्वती के उस सुन्दर आनन को मुख से नहीं, नेत्र से देर तक पीते रहे।'

स्पष्ट है कि परवर्ती शृङ्गार-काव्य में अनंगदीपनार्थ मद्यपान का जो प्रचुर वर्णन मिलता है, उसके लिए कालिदास ने पुष्कल औचित्य प्रस्तुत कर दिया है। हिन्दी का रीति-काव्य भी उस दिशा में उन्हींका ऋणी माना जा सकता है।

अग्निवर्ण के विलास-वर्णन में कालिदास और भी गहराई में उतर गये हैं। यद्यपि उनका उद्देश्य निबिड़ विलास-सेवन के दुष्परिणामों की ओर संकेत करना है, तथापि संभोग-शृंगार के जो घोर चित्र इसमें अंकित हो गये हैं, उनसे परवर्ती कवियों ने प्रचुर प्रभाव ग्रहण किया है। अग्निवर्ण के विलासी जीवन के ये उल्लेख द्रष्टव्य हैं—"जिस दिन रात को उसे किसी स्त्री से संभोग करने जाना होता था तो दूती से सब बातें बताकर वह पास ही छिपकर बैठ जाता। वह स्त्री जब आती और विप्रलब्धा नायिका की भाँति दूती से विरह की बातें करने लगती, तब वह उन बातों को छिपे बड़े प्रेम से सुनता था। जब कभी रानियाँ उसे रोक लेतीं, तब नर्तकियों के न मिलने से विरह-कातर हो जाता और हाथ में तूलिका लेकर किसी नर्तकी का चित्र बनाने लगता। उस समय उसे वह नर्तकी स्मरण हो आती तथा सात्त्विक भाव के कारण उसकी अंगुलियों में पसीना आ जाता और तूलिका फिसल पड़ती थी, जिससे चित्र अपूर्ण ही रह जाता। यदि राजा किसी रानी से प्रेम करता, तो वह गर्व से फूली नहीं समाती। यह देखकर उसकी सौतें जल उठती थीं और कामातुर होकर किसी उत्सव का बहाना कर राजा को पास बुलाती और अपनी तपन बुझाती। रात में किसी स्त्री

से संभोग करके जब राजा घर लौटता, तब रात के रतिवाले सुन्दर वेष में उसे देखकर उसकी प्रेमिकाएँ खंडिता नायिका के समान आँसू बहाने लगतीं। × × × कभी-कभी वह स्त्रियों के चरणों में स्वयं महावर लगाने बैठ जाता। पर उसी समय उसकी दृष्टि उनके सुन्दर नितम्बों पर पड़ती, जिन पर से वस्त्र खिसक गया होता और तब वह इतना मुग्ध हो जाता कि महावर भलीभाँति नहीं लगा पाता। × × × × जब कभी देर तक उसके साथ संभोग करने के कारण प्रमदाएँ अलसा जातीं, तब वे अपने पीवर स्तनों से उसकी छाती के चन्दन को पोंछती हुई उसके वक्ष पर ऐसे सो जातीं, जैसे वे संभोग का वह कंठसूत्र नामक आसन साज रही हों, जिसमें स्त्रियाँ पति के ऊपर सोकर अपने स्तनों से धीरे-धीरे अपने प्रियतम की छाती को थपकते हुए लिपट जाती हैं। × × × × मलय पर्वत से आये हुए दक्षिण पवन से आमों में मञ्जरियाँ छा गयीं, जिन्हें देखकर प्रेमिकाओं ने कामोन्मत्त होकर राजा से रूठना छोड़ दिया और उसके विरह में व्याकुल होकर स्वयं उसे खोजने लगीं। उन स्त्रियों को गोद में बैठाकर वह उन झूलों में झूलने लगा, जिन्हें नौकर झुला रहे थे। राजा ने एक बार जो झूलने के लिए झटका दिया तो उन स्त्रियों ने भय का नाट्य करके रस्सी छोड़ दी और गले में बाँहें डालकर उससे लिपट गयीं।"[1]

इस वर्णन में सौतों, खंडिताओं, प्रेमगर्विताओं, मानिनियों, विप्रलब्धाओं, उत्कंठिताओं, कलहान्तरिताओं इत्यादि जैसी नायिकाओं का; महावर लगाने, झूला झूलने इत्यादि जैसे विहारों का; विपरीत रति, दूतियों तथा वर्षा एवं वसन्त के उद्दीपक होने का कथन हुआ है। इन चित्रणों का जो प्राचुर्य परवर्ती शृङ्गार-साहित्य में दर्शनीय है, उससे यह स्थापना आसानी से की जा सकती है कि इनकी परम्परा का सूत्रपात कालिदास की कृतियों में असंदिग्ध भाव से हो गया था। 'ऋतुसंहार' के वर्णनों से परवर्ती कवियों को विभिन्न ऋतुओं को उद्दीपन-रूप में नियोजित करने की प्रेरणा मिली होगी। 'कामसूत्र' के विधानों का उपयोग कालिदास ने स्वयं किया है और उनके परवर्तियों ने उन्हें अधिकारी 'कविकुलगुरु' मानकर, उस परम्परा को पुष्ट एवं समृद्ध बना दिया।

नारी-रूप के वर्णन में कालिदास के चित्र टकसाली सिद्ध हुए और परवर्ती शृङ्गार-काव्य में उन्हें ही अलंकृत करने का उद्योग किया गया। जैसा अभी ऊपर कहा जा चुका है, कालिदास के ये सौन्दर्य-चित्र व्यक्तिगत आसक्ति से पूर्ण हैं; और वे नारी-रूप की सार्थकता 'वीर्यक्षोभ' उत्पन्न करने के सामर्थ्य में निहित मानते हैं। उनकी सभी नायिकाएँ ऐसी ही रूप-सम्पदा की धनी हैं और उनके सभी नायक,

---

१. 'रघुवंश', सर्ग १६, श्लोक १६ से ४५ तक।

श्री रामचन्द्र को छोड़कर, उसके ऐन्द्रिय उपभोग के लिए आतुर एवं लालायित हैं। उमा के रूप-वर्णन में नख-शिख-चित्रण के सूत्र वर्तमान हैं, जिन्हें परवर्ती कवियों ने भरपूर पल्लवित एवं परिपुष्ट किया है। स्त्री-सौन्दर्य की आदर्श प्रतिमा गढ़ने के लिए कालिदास सृष्टि के सकल सौन्दर्य को संकलित कर देते हैं तथा उसे कभी विधाता की सम्पूर्ण सृष्टि-सामर्थ्य की कसौटी और कभी चन्द्रमा, वसन्त अथवा कुसुमायुध की रचना बताते हैं। वे नारी-सौन्दर्य का केन्द्रीय घटक तत्त्व 'लावण्य' बताते हैं, जो विरह से क्षीण-क्षाम प्रमदाओं के रूप में भी नित्य चमकता रहता है तथा जो कुशल चित्रकारों की तूलिका में बँध नहीं पाता। इन सभी प्रतिमानों का विकास परवर्ती साहित्य में उपलब्ध होता है।

दमयन्ती की रूप-सृष्टि में श्रीहर्ष ने कालिदास से प्रेरणा ग्रहण कर, चमत्कार उत्पन्न करने की अपनी लालसा को भरपूर परितृप्त किया है। उनका कथन है कि दमयन्ती की सृष्टि में विधाता, यौवन तथा कामदेव—तीनों ने सहयोग किया है। ब्रह्मा ने उसे अपने कौशल से विश्वोपरि बनाया है, यौवन ने उसे उससे भी श्रेष्ठ सौन्दर्य प्रदान किया है और फिर कामदेव ने उसे क्रिया-चातुर्य की शिक्षा देकर उस सौन्दर्य को वाणी से भी अतीत बना दिया है—

"सृष्टातिविश्वा विधिनैव तावत् तस्यापि नीतोपरि यौवनेन।
वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्पथपारमेव॥"

('नैषधचरित', ७।१०७)

तथापि विधि की रचना का आभार कवि-कल्पना में न्यून बन गया है, क्योंकि विधाता तो केवल 'शैशव' की सर्जना करता है, जो सरल, सहज आकर्षण का आस्पद है। यौवन ने ही दमयंती को वह "वसन्त-लक्ष्मी" प्रदान की है, जिसकी परिचर्या के हेतु समस्त देव-समुदाय अधीर हो उठा है। यौवन के विकास के साथ सहचरण करनेवाला जो वाणी अथवा क्रिया का वैदग्ध्य है, वह मदन का ही प्रसाद है और उस वैदग्ध्य से दमयंती की सौन्दर्य-श्री में अत्यधिक प्रकर्ष उत्पन्न हो गया है। इसलिए कवि अब विधाता के कर्त्तव्य का एकदम निषेध करता है तथा उस रूपसी की विभूति का निखिल श्रेय एकमात्र कामदेव को ही प्रदान करता है—

"कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पेतरकारुजेयः।
रूपस्य शिल्पे वयसाऽपि वेधा निर्जीयते स स्मरकिंकरेण॥

दमयंती के इस रूप-निर्माण के लिए श्री हर्ष के सम्मुख कालिदास की शकुन्तला की "स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा" वाला रूप, तथा उर्वशी का निम्नोद्धृत श्लोक में प्रतिष्ठित रूप रहा होगा—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥"
('विक्रमोर्वशीय', १।१०)

दमयंती के 'अद्भुत रूपशिल्प' का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष का कथन है कि उसके प्रत्येक अंग में प्रस्फुटित 'लावण्य-सीमा' उसकी उपासना करती है— "प्रत्यंगसंगस्फुटलब्धभूमा लावण्यसीमा यदिमामुपास्ते ।" नल की विरहातुर दशा में उसके शरीर में केवल 'लावण्य' ही शेष रह गया है—"लावण्यशेषां कृशतामनायि ।" कालिदास ने 'लावण्य' का उल्लेख कतिपय स्थलों पर किया है। अवगुण्ठनवती शकुन्तला को दुष्यन्त ने "नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या" कहा है (५।१३) और जब वह उसका चित्र बना रहा था, तब यही 'लावण्य' उसकी तूलिका की पकड़ में नहीं आ सका था—"तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्" (६।१४)। यही भाव कुछ चमत्कारपूर्ण ढंग से हिन्दी के प्रसिद्ध शृङ्गारी कवि बिहारीलाल ने निम्नलिखित दोहे में व्यक्त किया है—

"लिखनि बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥"

यह 'लावण्य' ही था जो जगत् के चतुर चित्रकारों की तूलिका के शासन में नहीं आ सका क्योंकि वह तरलधर्मा आलोक है जो निरन्तर अपनी आभा बदलता रहता है। कालिदास के नायक-नायिकाओं को अपने प्रिय की मूर्ति चित्रित करने का अभ्यास है, और परवर्ती काव्य में, यहाँ तक कि हिन्दी-काव्य में भी, चित्रालेखन की यह परम्परा अक्षुण्ण चलती आई है। 'मालविकाग्निमित्र' में गणदास राजा अग्निमित्र के रूप-सौन्दर्य की अभिशंसना करते हुए कहता है—

"सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः ।" (२।११)

—'समुद्र के समान ज्यों-के-त्यों रहते हुए भी, ये मेरे नेत्रों को क्षण-क्षण में नए दिखाई पड़ते हैं।' माघ ने इसी कथन से प्रेरणा लेकर "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" का उपपादन किया; और यह लावण्य-परम्परा हिन्दी-काव्य में भी समादृत रही। सूरदास श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं— "छिन मैं और-और अँग सोभा, जोवैं देखि न पावैं"; और मतिराम ने पूर्ण व्याख्या ही कर दी है—"ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरी सी निकाई ।"

नारी-देह के लिए 'लता' और 'दीपशिखा' उपमान साहित्य में रूढ़ हो गए हैं। कालिदास ने इन उपमानों का प्रयोग क्रमशः पार्वती और इन्दुमती के लिए किया है—"सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव" (कुमार०', ३।५४) और "संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ" ('रघुवंश', ६।६७)। रमणी-रूप का कालिदास का जो आदर्श 'उत्तरमेघ' की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुआ है—

"तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥"

[यक्ष-पत्नी दुबली-पतली, नन्हें-नन्हें दाँतोंवाली, पके बिम्बाफल के समान लाल ओठों वाली, पतली कमर वाली, भयभीत हरिणी के समान आँखों वाली, गहरी नाभिवाली, नितम्बों के भार से धीरे-धीरे चलनेवाली तथा स्तनों के भार से थोड़ी आगे झुकी हुई, विधाता की आदि सृष्टि के समान थी।]

—वह अद्यापि भारतीय साहित्य में परिवर्तित अथवा संशोधित नहीं हो सका है। 'वयःसंधि' का कहीं कोई विशेष वर्णन कालिदास ने नहीं किया, तो भी 'मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता" ('विक्रमो०', २।७) कह कर उन्होंने उसकी ओर परवर्ती कवियों का ध्यान आकृष्ट कर ही दिया।

'ऋतुसंहार' के प्रभाव का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ग्रीष्मवर्णन का एक चित्र हिन्दी के बिहारी लाल ने अपनी कुशल समास-शैली में बड़ी खूबी के साथ ग्रहण किया है। निम्नोल्लिखित अवतरण देखिए—

"रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः।
अवाङ्मुखो जिह्मगतिः श्वसन्मुहुः फणी मयूरस्य तले निषीदति॥
तृषा महत्या हतविक्रमोद्यमः श्वसन्मुहुर्दूरविदारिताननः।
न हन्त्यदूरेऽपि गजान्मृगेश्वरो विलोलजिह्वश्चलिताग्रकेसरः॥
विशुष्ककण्ठोद्गतसीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिताः।
प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोऽपि बिभ्यति॥
× × ×
गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहा सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षाद्विपुलपुलिनदेशां निम्नगां संविशन्ति॥"[1]
('ऋतुसंहार', श्लोक १३-१५ तथा २७)

१. इन पद्यों का अर्थ 'ऋतुसंहार' वाले परिच्छेद में देखिए।

"कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगतु तपोवन सौं कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥"
(बिहारी-सतसई)

(५)

कालिदास के काव्यों में ऐसे कितने प्रसंग चित्रित हुए हैं जो संस्कृत साहित्य में रूढ़ियों का रूप ग्रहण कर चुके हैं। 'कुमारसम्भव' तथा 'रघुवंश' में क्रमशः शंकर तथा अज के दर्शन-हेतु पुर-सुन्दरियों की त्वरामय लालसा और 'रघुवंश' के पञ्चम सर्ग में प्रभात के वर्णनों का अनुकरण परवर्ती कवियों ने काव्यरूढ़ि के रूप में किया है। यद्यपि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में पुर-ललनाओं का ऐसा वर्णन मिलता है, तथापि वहाँ कवि की नीतिवादी मनोवृत्ति के कारण आभूषणों का अपह्नव उनकी गति-मन्दता का कारण बताया गया है तथा उस चित्रण में कोई सरसता नहीं है।[1] अतएव, इस काव्यरूढ़ि की स्थापना का श्रेय कालिदास को ही मिलना चाहिए। माघ में उक्त दोनों रूढ़ियाँ अधिक अलंकृत रूप में प्रयुक्त हुई हैं। 'शिशुपालवध' के तेरहवें सर्ग में पुराङ्गनाओं का वर्णन उपलब्ध है जो कालिदास से पूर्णतया प्रभावित दीखता है। उदाहरणार्थ नीचे के चित्र द्रष्टव्य हैं—

"जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥" ('रघुवंश,' ७।६)

"वलयार्पितासितमहोपलप्रभाबहुलीकृतप्रतनुरोमराजिना।
हरिवीक्षणाक्षणिकचक्षुषान्यया करपल्लवेन गलदम्बरं दधे॥" ('शिशु०,' १३ ४४)

कालिदास की पुर-सुन्दरी की नीवी (साड़ी की गाँठ) जल्दी में खुल गई है और वह कंकण की मणि-प्रभा से नाभि को उद्भासित करती हुई, अपने हाथ से उसे थामे हुई है। माघ की सुन्दरी कंकण में जड़े नीलम की कान्ति से सूक्ष्म रोमराजि को और भी सघन बनाती हुई, पल्लव के समान कोमल हाथ से स्खलित वस्त्र को रोके हुई है। प्रथम चित्र में गवाक्ष की ओर दृष्टि लगाए नारी दौड़ती जा रही है और द्वितीय में श्रीकृष्ण को देखने में उसकी दृष्टि व्यस्त है। दोनों चित्रों का साम्य स्पष्ट है, यद्यपि नीलम की आभा से रोमराजि के सघन दीखने की माघ की

---

१. "शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गतिं निजग्राह ययौ न तूर्णम्।
ह्रिया प्रगल्भानि निगूहमाना रहः प्रयुक्तानि विभूषणानि॥"
('बुद्धचरित', ३।१७)

कल्पना में चमत्कार अधिक हो गया है।[1] वैसे ही अपने महाकाव्य के ग्यारहवें सर्ग में माघ ने ६७ श्लोकों में प्रभात का वर्णन किया है जो 'रघुवंश' के पञ्चम सर्ग में प्राप्त प्रभात-वर्णन से मिलता है। हाथियों के सोने तथा घोड़ों के जागने का चित्रण दोनों काव्यों में अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से हुआ है।[2]

'रघुवंश' में वर्णित इन्दुमती-स्वयंवर से स्वयंवर-वर्णन की रूढ़ि भी प्रवर्तित हो गई है। 'नैषधचरित' के ग्यारहवें से लेकर चौदहवें सर्ग तक दमयन्ती के स्वयंवर का जो वर्णन किया गया है, वह इन्दुमती-स्वयंवर से प्रभावित है। 'रघुवंश' में पांडय-नरेश को श्यामवर्ण का बताया गया है और 'नैषध' में भी पांडय-नरेश कृष्णवर्ण का ही कहा गया है।[3] दमयन्ती के शृङ्गार-वर्णन (सर्ग १५) में जहाँ विवाह के पूर्व उसका शृंगार किया गया है, 'कुमारसम्भव' के सप्तम सर्ग का प्रभाव लक्षित होता है जहाँ पार्वती की विवाह-पूर्व शृंगार-सज्जा वर्णित की गई है। 'नैषध' के अठारहवें सर्ग में नल-दमयन्ती के सुरत-विलास का जो वर्णन हुआ है, वह 'कुमारसम्भव' के आठवें सर्ग से प्रभावित है।[4] 'नैषध' के नवम सर्ग में नल-दमयन्ती संवाद वर्णित हुआ है जिस पर 'कुमारसम्भव' के पञ्चम सर्ग में वर्णित शिव-पार्वती संवाद का प्रभाव खोजा जा सकता है। दोनों संवादों में प्रणयी, शिव और नल, अपने को छिपा कर आते हैं और बाद में प्रकट होते हैं। लेकिन, कालिदास ने इस प्रसंग में जो भाव-सरसता दिखाई है, वह 'नैषध' के नल के

---

१. श्रीकृष्ण के रासलीला के निमित्त वंशी बजाते ही व्रजनारियाँ अत्यधिक उतावली के साथ, जिस अवस्था में वे थीं उसी अवस्था में, उनसे मिलने के लिए घरों से झटिति निकल पड़ीं—इसका चित्र सूरदास ने अंकित किया है जो कालिदास अथवा माघ के इन चित्रों की जाति का ही कहा जाएगा।

२. 'रघुवंश', ५।७२ तथा माघ, ११।७

३. "इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु॥" ('रघुवंश', ६।६५)
"शशंस दासीङ्गितविद् विदर्भजामितो ननु स्वामिनि पश्य कौतुकम्।
यदेष सौधाग्रनटे पराञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणाग्रहः॥"
('नैषध', १२।२१)

४. एक अन्य कवि कुमारदास ने भी 'जानकीहरण' काव्य में वर-वधू के प्रथम समागम का वर्णन किया है जिस पर 'कुमारसम्भव' के अष्टम सर्ग का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

पांडित्य से बोझिल, रोती हुई दमयन्ती के प्रति व्यक्त किए गए उद्गारों में दृष्टिगोचर नहीं होती। कालिदास की पार्वती स्वल्प सम्भाषण करती है और ब्रह्मचारी की तर्कनाओं के उत्तर में केवल यही कहती है 'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते', दमयन्ती के समान विलाप नहीं करती। वस्तुतः कालिदास की सरस प्रतिभा श्रीहर्ष को प्राप्त नहीं थी और इसी कारण, चमत्कार एवं पांडित्य-प्रदर्शन के मोह में, वे कालिदास से गृहीत सन्दर्भों को उसी परिमाण में रस-पेशल नहीं बना सके।

एक अन्य रूढ़ि, जिसके लिए भी प्रेरणा कालिदास के 'रघुवंश' से परवर्ती कवियों को मिली होगी, सुन्दरियों का जलविहार-वर्णन है। 'रघुवंश' के सोलहवें सर्ग में राजा कुश की रानियों के साथ जलक्रीडा का वर्णन किया गया है। माघ ने 'शिशुपालवध' के अष्टम सर्ग में यदु-दम्पतियों का जो जलविहार वर्णित किया है वह कालिदास के इस प्रसंग से प्रभावित है। हिन्दी कवियों में जायसी ने 'पद्मावत' में पद्मावती की जलक्रीड़ा का वर्णन किया है जो 'रघुवंश' के वर्णन से घनिष्ठ साम्य रखता है। इनके अतिरिक्त, अशोक, बकुल आदि के वर्णन में 'दोहद' का उल्लेख स्पष्टरूप से पहले-पहल कालिदास में ही मिलता है और संस्कृत-काव्य में यह एक दृढ़मूल रूढ़ि के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

(६)

अब तक हमने कालिदास के एक अत्यन्त प्रसिद्ध प्रभाव का उल्लेख नहीं किया है, और वह है उनके 'मेघदूत' का प्रभाव। यह रमणीय काव्य इतना मोहक सिद्ध हुआ कि सौ-डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही 'वायुदूत', 'पवनदूत', 'हारीतदूत', 'चक्रवाकदूत' प्रभृति अनेक दूतकाव्यों की रचना हुई। ये काव्य अब उपलब्ध नहीं हैं; लेकिन छठी शताब्दी ईसवी में वर्तमान आचार्य भामह ने ऐसे काव्यों की तीव्र टीका-टिप्पणी की है जिससे यह ज्ञात होता है कि आचार्यों की कृपा-दृष्टि न पा सकने पर भी, ऐसे काव्य यथेष्ट लोक-प्रिय हो चले थे। परवर्ती काल में दूत-काव्यों का प्रणयन चलता रहा, और इधर विद्वानों ने लगभग पचास दूतकाव्यों का पता लगाया है जिनमें से अधिकांश ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी के बाद के लिखे गए हैं।[1] इन काव्यों में उद्धव जैसे मनुष्य; शुक, हंस, कोकिल, चातक और चक्रवाक जैसे पक्षी; चन्द्रमा तथा पवन जैसे अचेतन पदार्थ; अथच मन एवं भक्ति सदृश अमूर्त तत्त्वों को दूत

---

१. इनमें धोयी का 'पवनदूत' तथा वेदान्तदेशिक, वामनभट्टबाण एवं रूपगोस्वामी के 'हंसदूत' नितान्त प्रसिद्ध हैं।

बनाकर प्रेमी-प्रेमिकाओं द्वारा संदेश-वाहनार्थ भेजा गया है। इनमें से अधिकांश विप्रलम्भ-शृंगारात्मक होने के कारण 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में ही लिखे गए हैं। इनमें अनेक स्थलों पर 'मेघदूत' के पदों एवं कल्पनाओं का उपयोग किया गया है। कतिपय कवियों ने 'मेघदूत' के प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ चरण को लेकर समस्यापूर्ति के ढंग पर काव्यों का प्रणयन किया है। आधुनिक काल में 'मेघदूत' के पूरक-रूप में दो काव्यों की रचना हुई है। प्रथम 'मेघप्रतिसन्देश' में यक्षपत्नी ने अपने प्रियतम को मेघ के द्वारा संदेश भेजा है; और द्वितीय 'मेघदौत्य' में ऐसी कथा आई है कि यक्ष-प्रिया ने कुबेर के समीप मेघ के द्वारा अपनी करुण दशा का निवेदन प्रेषित करके अपने प्रियतम यक्ष को मुक्त कराया है।[1]

दूत-काव्यों की परम्परा इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि वैष्णव तथा जैन कवियों ने धर्म-सिद्धान्तों के प्रचार हेतु एतादृश काव्यों की रचना की। वैष्णव कवियों ने सीता-राम तथा गोपी-कृष्ण की प्रेम-कथाओं को लेकर दूतकाव्यों का प्रणयन किया। दूसरी ओर जैन कवियों की रचनाओं में शान्तरस का स्रोत प्रवाहित हो गया है। आठवीं शताब्दी ईसवी में जिनसेन नामक एक जैन कवि ने 'पार्श्वाभ्युदय' नामक काव्य में 'मेघदूत' की प्रत्येक पंक्ति पर समस्या-पूर्ति की है और उस शृङ्गारी ग्रन्थ के प्रत्येक चरण को, इस प्रकार, तीर्थंकर के चरित्र के उन्मीलनार्थ प्रयुक्त किया है। अन्य जैन कवियों ने दूतकाव्य के रूप में अपने आचार्यों को स्ववृत्त-विषयक संवाद भेजे हैं। विक्रम के 'नेमिदूत' में जैन दर्शन के अनुसार आध्यात्मिक तत्त्व का निरूपण भी काव्य की सरस भाषा में किया गया है।

कालिदास के काव्य के अनुकरण में प्रणीत इन सैकड़ों ग्रन्थों में नगरों, नदियों, पर्वतों इत्यादि का वह सूक्ष्म, ललित तथा भौगोलिक दृष्ट्या सटीक चित्रण नहीं हो सका है जो 'मेघदूत' में उपलब्ध है; किन्तु इनसे इस काव्य-रत्न की युग-युग-व्यापिनी लोकप्रियता तो प्रमाणित होती ही है। हिन्दी में 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में राधा द्वारा पवन को दूत बना कर, श्रीकृष्ण के पास प्रणय-संदेशवाहनार्थ भेजा गया है।

'मेघदूत' की लोकप्रियता विदेशों तक में व्याप्त हो गई और उसकी अनेक टीकाएँ तथा अनुवाद प्रस्तुत किए गए। जर्मनी के प्रसिद्ध नाटककार शिलर (१७५६ ई०-१८०५ ई०) के सुविख्यात नाटक 'मैरिया स्टुअर्ट' (Maria Stuart)

---

१. चिन्ताहरण चकवर्ती : 'The origin and Development of Duta-Kavya Literature in Sanskrit' (Indian Historical Quarterly, vol. III); प्रो० मिराशी द्वारा 'कालिदास' में उद्धृत, पृ० २८८–८६।

में कालिदास के 'मेघदूत' की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। स्काटलैण्ड की प्रसिद्ध सुन्दरी रानी मेरी इस नाटक की नायिका है जो इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ द्वारा बन्दीगृह में डाल दी गई है। उसका आरंभिक जीवन फ्रांस में व्यतीत हुआ था और उसका पहला विवाह फ्रांस के युवराज के साथ हुआ था। पति की अकाल-मृत्यु के बाद, उसे स्काटलैंड लौटना पड़ा तथा दुर्भाग्य-विताड़ित होकर एलिजाबेथ के बन्दीगृह में यातनाएँ सहनी पड़ीं। एक दिन उसने मेघों को दक्षिण दिशा में फ्रान्स की ओर जाते हुए देखा और उसके हृदय में अतीत के सौख्य तथा वर्तमान के नैराश्य ने मिलकर एक नितान्त तीव्र वेदना उत्पन्न कर दी। अतएव, वह भी कालिदास के यक्ष के समान ही अचेतन मेघ से कह उठी—"हे सत्वर उड़ते हुए मेघ! हे पवन-सागर के नाविक! कोई क्योंकर तुम्हारे साथ भ्रमण करे, तुम्हारे साथ नाव चलाए, तुम मेरे उस बाल्यकाल के प्रिय देश फ्रान्स को मेरा सरस-स्निग्ध प्रणाम निवेदित करना। मैं तो सम्प्रति बन्धन में अवरुद्ध पड़ी हुई हूँ। आह! यहाँ और कोई दूसरा दूत नहीं है। लेकिन विराट अन्तरिक्ष में तुम्हारा मार्ग उन्मुक्त है, तुम इस नृशंस रानी के अधीन नहीं हो।" शिलर का प्रस्तुत प्रसंग नितान्त संक्षिप्त किन्तु अत्यधिक करुणाप्लुत है,और डॉ॰ कीथ ने इसकी मर्मस्पर्शिता की प्रशंसा की है।[1] गेटे ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का जर्मन अनुवाद पढ़कर उसकी प्रशस्ति में जो उद्‌गार व्यक्त किया था, उसका उल्लेख 'शाकुन्तल' वाले परिच्छेद में किया जा चुका है। उसकी जगत्प्रसिद्ध नाट्य-रचना 'फाउस्ट' में उसका 'शाकुन्तल' द्वारा प्रभावित होना स्पष्टतः लक्षित है जिसके आरम्भ में उसने संस्कृत नाटकों की तरह प्रस्तावना लिखी है।

(७)

काव्य के समग्र व्यापक क्षेत्र में ही कालिदास का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः हमारे साहित्य की जो स्वस्थ, सुन्दर एवं शिवमयी प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं, उन सभी पर उसका प्रभाव, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में, पड़ा दृष्टिगोचर होता है। रघुवंशी राजाओं के चरित्रों का जैसा उदार एवं गौरव-गर्भित चित्र

---

१. "The message would have read very differently, had it been sent, as in Schiller's 'Maria Stuart', by a helpless captive awaiting, in resignation or despair, an ineluctable doom."—'A History of Sanskrit Literature', पृ० ८६।

अंकित किया गया है, उसमें भारतीय संस्कृति के चिराचरित आदर्श अथवा प्रतिमान ही प्रतिफलित नहीं हुए हैं, अपितु हम आज भी अपने शासकों के लिए बहुत कुछ वही चाहते हैं। रघुवंश के राजाओं की जो गुणावली वर्णित है, उसमें और तुलसीदास की रामराज्य वाली कल्पना में घनिष्ठ साम्य दृष्टिगोचर होता है। प्रेम को जीवन का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ न मानकर कालिदास ने उसे कर्त्तव्य की भावना से अनुशासित कर दिया है, और नारी को केवल भोग्या ही न मानकर उसे सच्ची गृहिणी एवं तपस्विनी के शील से भी मंडित किया है। सीता एवं शकुन्तला ऐसी ही नारियाँ हैं। शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त की जो तीव्र भर्त्सना की गई है, वह भी इस बात का परिचायक है कि कवि के निकट नारी केवल उपभोग का उपकरण ही नहीं है। ये सभी तत्त्व हमारे साहित्य में अद्यावधि चित्रित हो रहे हैं। हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की दो प्रमुख प्रवृत्तियों—प्रेम एवं प्रकृति—के बीज कालिदास में उपलब्ध होते हैं। 'शाकुन्तल' में 'वनलताओं' द्वारा 'उद्यानलताओं' को परास्त कर, तथा 'मेघदूत' में शुद्ध ऐकान्तिक प्रेम की शक्ति एवं विह्वलता का चित्रण कर, उन्होंने रीतिकाल के रीति-मुक्त कवियों (बोधा, घनानंद इत्यादि) तथा आधुनिक काल के छायावादी कवियों का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रकृति के जीवन में प्रवेश कर उसे मानव-जीवन के साथ एकरस बनाने का जो श्लाघ्य दृष्टान्त उन्होंने प्रस्तुत किया है, प्रकृति का जो हृद्य मानवीकरण उनके काव्य में सम्पन्न हुआ है, वह सभी हमारे छायावादी काव्य में अवतीर्ण होकर उसकी एक प्रधान शक्ति बन गया है। तुलसी इत्यादि कवियों में नम्रता-निवेदन तथा काव्य-बन्ध की मर्मज्ञ पंडितों द्वारा अभिशंसना की चिन्ता का जो कथन उपलब्ध होता है, उसके स्पष्ट बीज कालिदास में मिलते हैं। पार्वती-परमेश्वर की बन्दना करने के बाद, कालिदास रघुवंश का वर्णन करने में अपनी अक्षमता का बखान करते हैं—

"क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥" ('रघुवंश', १।२३)

—'कहाँ सूर्य से उत्पन्न राजकुल और कहाँ अल्पबुद्धिवाला मैं? तृणनिर्मित नौका से दुस्तर समुद्र पार करना चाहता हूँ। मैं मन्दमति हूँ, किन्तु बड़े-बड़े कवियों को मिलनेवाले यश की अभिलाषा करता हूँ। मेरा उसी प्रकार उपहास होगा जिस प्रकार कोई बौना अपने छोटे-छोटे हाथ उठाकर उन फलों को तोड़ना चाहता है जो लम्बे हाथों द्वारा ही लभ्य है।'

तुलसीदास 'मानस' में कहते हैं—

"कवि न होउँ नहिं चतुर कहावों। मति अनुरूप रामगुन गावों॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा॥
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥
समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥"
(बालकांड)

वाल्मीकि इत्यादि पहले के कवियों की कृतियों का स्मरण कर कालिदास रघुवंश का गुणगान करने के लिए तत्पर हो जाते हैं—

"अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥" ('रघुवंश', १।४)

—'अथवा पूर्व के कवियों ने सूर्यवंश पर जो सुन्दर काव्य लिखकर वाणी का द्वार पहले ही खोल दिया है, उससे उस वंश का वर्णन करना मेरे लिए वैसा ही सरल बन गया है जैसे हीरे की कनी से बिंधे हुए मणि में डोरा पिरोना।'

तुलसीदास यही भाव यों व्यक्त करते हैं—

"मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई॥
अति अपार जे सरित बर, जौ नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनु श्रम पारहि जाहिं॥" (बालकांड)

आधुनिक काल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर कालिदास से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। 'कुमार-संभव' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की जैसी तत्त्वाभिनिवेशिनी समीक्षा रवीन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'प्राचीन-साहित्य' में प्रस्तुत की है, उससे स्पष्ट विज्ञत होता है कि कालिदास ने उनकी अन्तरात्मा के अत्यन्त प्रिय एवं सुकुमार तारों को झंकृत किया है। समस्त चराचर सृष्टि में एक ही जीवन्तत्त्व का स्पन्दन, विश्व-व्यवस्था के भीतर वर्तमान 'ऋत' तत्त्व का धारण एवं पोषण अथच नारी के प्रति सम्मान-भावना के साथ उसके सौन्दर्य एवं प्रणय की सूक्ष्मभेदिनी प्रतीति तथा इन्द्रियबोध की सूक्ष्मता एवं सान्द्रता—इन सभी बातों में रवीन्द्र ने कालिदास से अत्यधिक प्रभाव ग्रहण किया है। पहले-पहल रवीन्द्र ने यह तथ्य उद्घाटित किया कि कालिदास प्रेम की तुलना में तपस्या को तथा भोग की तुलना में योग को महत्त्व प्रदान करते हैं, और उन्होंने प्राचीन कवि की इस दृष्टिभंगी से प्रचुर प्रेरणा भी प्राप्त की है।[1] छायावाद के

---

१. वाल्टर रुबेन ने यह प्रतिपादित किया है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उपन्यास 'नाव-दुर्घटना' कालिदास के काव्य 'कुमारसंभव' से प्रभावित है। इस धारणा का आधार उपन्यास के एक पात्र अक्षय का एक दूसरे

उन्नायक निराला भी अपनी प्रसिद्ध रचना 'तुलसीदास' के प्रणयन में कालिदास से प्रभावित लक्षित होते हैं। वास्तव में, कालिदास सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के लिए पहले भी नितान्त जीवन्त सत्य रहे हैं और आज भी हैं।

(८)

कालिदास की ख्याति अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में यूरोप में पहुँची। सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) ने, जो सन् १७८३ ईसवी में बंगाल के 'सुप्रीम कोर्ट' (उच्चतम न्यायालय) का न्यायाधीश नियुक्त हुआ था, १७८९ ईसवी में 'शाकुन्तल' का गद्यानुवाद अंग्रेजी में प्रकाशित किया जिससे यूरोप पहले-पहल भारतवर्ष की नाटकीय प्रतिभा की अवगति से विस्मित हो उठा। जोन्स ने कालिदास को 'भारत का शेक्सपियर' बताया। यद्यपि कालिदास के लिए यह उपाधि बहुत उपयुक्त अथवा गर्व का कारण नहीं कही जा सकती (क्योंकि कालिदास की प्रतिभा श्रव्य तथा दृश्य दोनों प्रकार के काव्यों में समान है जबकि शेक्सपियर केवल नाटककार के ही रूप में विख्यात है), तथापि इसने पाश्चात्य साहित्यिक जगत् का ध्यान बड़ी खूबी के साथ आकृष्ट कर लिया। १७९१ ईसवी में जार्ज फार्सटर (Georg Forster) ने जोन्स-कृत 'शाकुन्तल' के अंग्रेजी अनुवाद को जर्मन गद्य में अनूदित किया और इसकी एक प्रति गेटे को भेज दी जिसे पढ़कर वह महान् कवि आश्चर्य एवं आनन्द से विभोर हो उठा था। १८०३ ईसवी में फार्सटर के अनुवाद को हर्डर (Herder) ने पुनः प्रकाशित किया और कालिदास के प्रति अपनी प्रशस्ति नवीन ढंग से विज्ञप्त की। फ्रेडरिक श्लेगेल (Friedrich

---

नारी पात्र हेमनलिनी के विषय में यह कथन है—"यह सुविदित है कि स्त्रियों के लिए संन्यास का बड़ा आकर्षण है। कालिदास ने अपने काव्य में दिखाया है कि उमा ने क्योंकर एक योगी के लिए अपने शरीर को गहन तपस्या से गला दिया।" इससे यह अर्थ लिया गया है कि रवीन्द्रनाथ ने 'कुमारसंभव' का स्पष्ट उल्लेख कर, अपने उपन्यास में उस प्राचीन काव्य से प्रेरणा अथवा प्रभाव ग्रहण करने की विज्ञप्ति की है। लेकिन, प्रस्तुत लेखक को ऐसा लगता है कि रुबेन ने एक सर्वमान्य सूत्र पकड़ कर, 'नाव-दुर्घटना' और 'कुमारसंभव' में साम्य की स्थापना करने का व्यर्थ परिश्रम किया है। वास्तव में, दोनों रचनाओं में बादरायण सम्बन्ध ही लक्षित किया जा सकता है। रुबेन की स्थापना के लिए उनकी पुस्तक 'कालिदास' के पृष्ठ ६२ से ६९ तक द्रष्टव्य हैं।

Schlegel) फार्सटर के प्रथम संस्करण से लिपज़िग फ़ेयर में उसी समय परिचित हुआ जब वह प्रकाशित हुआ। बाद को वह संस्कृत के अध्ययनार्थ पेरिस गया और तदनन्तर वहाँ से लौटने पर जर्मनी में 'भारतीय विद्या' (Indology) के अध्ययन का सूत्रपात किया। फार्सटर के अनुवाद का जर्मन-मध्यवर्ग के ऊपर प्रचुर प्रभाव पड़ा था। फ्रेडरिक रुकर्ट (Friedrich Rueckert) ने १८५५ ईसवी में सीधे संस्कृत से 'शाकुन्तल' का जर्मन भाषा में अनुवाद किया जो उसकी मृत्यु के उपरान्त १८६७ ईसवी में प्रकाशित हुआ।

सन् १८११ ईसवी में विल्सन (H.H. Wilson) नव-स्थापित 'एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल' का प्रथम मंत्री नियुक्त हुआ और १८१३ ई० में उसने 'मेघदूत' का अंग्रेजी अनुवाद (मूल पाठ के साथ) प्रकाशित किया। गेटे को इस अनुवाद के माध्यम से 'मेघदूत' से परिचय प्राप्त हुआ, और 'Notes to the West-East Divan' नामक अपनी रचना में उसने स्वीकार किया कि इस प्रकार के ग्रन्थ का प्रथम परिचय हमारे जीवन में सर्वदा एक घटना हुआ करती है—"The first meeting with a work such as this is always an event in our lives." १८२६ ई० में विलहेम वान हम्बोल्ट (Wilhelm Von Humboldt) ने 'मेघदूत' की उसके आरंभिक वर्षा-चित्रों के लिए प्रशंसा व्यक्त की। सी० श्वेट्ज़ (C. Schuetz) ने १८५६ ई० में इस काव्य का प्रथम गद्यानुवाद जर्मन में प्रकाशित किया जिसके बाद तो फिर अनेक अनुवाद प्रकाश में आए जिनमें से कुछ पद्यबद्ध भी रहे।[1]

१८२७ ई० में विल्सन ने 'विक्रमोर्वशीय' का अनुवाद तथा 'मालविकाग्निमित्र' का एक संक्षिप्त अनूदित संस्करण प्रकाशित कर, यूरोप को इन नाटकों से भी परिचित कराया। १८५६ ई० में ए० वेबर (A. Weber) ने 'मालविका०' को जर्मन में अनूदित किया तथा विल्सन के समय से ही इस नाटक के कालिदास की रचना होने के विषय में जो सन्देह व्यक्त किया गया था, उसका सप्रमाण निराकरण किया। १८३३ में रुकर्ट ने 'रघुवंश' के अज-विलाप का जर्मन में अनुवाद किया था; किन्तु इसके स्वच्छन्द पद्यबद्ध अनुवाद तथा गद्यबद्ध अनुवाद, जर्मन में, क्रमशः शाक (A. F. Von Schack) द्वारा १८६० ई० में तथा वाल्टर (O. Walter) द्वारा १९१४ ई० में प्रकाशित हुए। 'कुमारसंभव' ग्रिफिथ (Griffith) द्वारा १८५६ ई० में अँग्रेजी में तथा वाल्टर द्वारा १९१३ ई० में जर्मन में अनूदित किया गया।

---

१ मेघदूत' का अनुवाद तिब्बती, सिंहली तथा मलाया की भाषा में भी हो चुका है।

इस प्रकार एक-सौ वर्ष से कुछ अधिक का समय कालिदास की कृतियों के समस्त यूरोप में प्रचारित होने में लगा। सन् १६२१ में सुप्रसिद्ध भारतीय-विद्याविद हिलब्रांट (A. Hillebrandt) ने कालिदास की साहित्यिक समालोचना ('Kalidasa, An Attempt at A Literary appraisal') पहले-पहल जर्मन में प्रकाशित कराई। उपसंहार में उसने कालिदास के विषय में जो टिप्पणियाँ लिखीं, उन्हें संक्षिप्ततया उद्धृत कर देना वांछनीय होगा—

"कालिदास हमारे प्राचीन कवियों की लोकप्रियता, हमारे बीच, कभी प्राप्त नहीं कर सकते। कालिदास हमारी संवेदनशीलता से इतने दूर हैं कि वे होमर इत्यादि से स्पर्धा नहीं कर सकते और न शेक्सपियर अथवा दाँते के समान शिक्षित व्यक्तियों को स्थायी रूप से आकृष्ट ही कर सकते हैं। उनमें अत्यन्त अल्प शक्ति, अत्यंत अल्प नाटकीय सजीवता, अत्यंत अल्प अन्तर्द्वन्द्व तथा अत्यंत अल्प भाग्य के विरुद्ध विद्रोह के हमें दर्शन होते हैं। हम अधिक गहरे प्रश्नों की माँग करते हैं। तथापि, कालिदास की रचनाओं में सच्ची एवं शाश्वत कविता इतने अधिक परिमाण में उपलब्ध होती है कि बाह्य विशेषताओं से विचलित नहीं होने वाले व्यक्तियों के लिए इसे सुलभ बनाने का प्रयत्न करना अनुचित नहीं होगा।"

ये टिप्पणियाँ वर्तमान जर्मन विद्वानों को ही अब मान्य नहीं हैं, जैसा उपसंहार में दिखाया गया है। फिर भी हिलब्रांट की उपर्युक्त पुस्तक का अपना निजी महत्त्व है।

रूसी पाठकों का परिचय भी कालिदास की कृतियों से अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। सन् १७६२ में मास्को से 'शाकुन्तल' का रूसी अनुवाद, प्रथम चार अङ्कों तक ही, प्रसिद्ध रूसी लेखक एन० एम० करैमजिन द्वारा प्रकाशित किया गया जिसने भूमिका में कालिदास की यों प्रशंसा की—"इस नाटक के प्रत्येक पृष्ठ पर हमें उच्चतम काव्यात्मक सौष्ठव, सुकुमारतम भावनाएँ, वसंतर्तु की शान्तिमय विभावरी जैसी कोमल, उत्कृष्ट एवं अवर्णनीय माधुरी, पवित्रतम एवं अद्वितीय प्रकृति-चित्रण तथा श्रेष्ठ कोटि की कला के दर्शन होते हैं। इस नाटक को प्राचीन भारत का अन्यतम चित्र ठीक उसी प्रकार कहा जा सकता है जैसे होमर की रचनाओं में प्राचीन यूनान का चित्र उपलब्ध होता है जिसमें उस देश के प्राचीन निवासियों के स्वभाव, आचार-व्यवहार तथा रीति-रस्मों को देखा जा सकता है। हमारे निकट कालिदास होमर के ही समान महान् हैं। इन दोनों महाकवियों ने प्रकृति के हाथों से तूलिकाएँ प्राप्त की थीं, और दोनों ने ही प्रकृति के अभिराम चित्र अंकित किये हैं।"

सन् १८७६ ई० में अलेक्से पुत्याता ने मूल संस्कृत से 'शाकुन्तल' का अनुवाद किया। १८६० ई० में बोलौत्सकी ने 'शाकुन्तल', 'रघुवंश' तथा 'मेघदूत' का

अनुवाद 'संस्कृत काव्य' के नाम से प्रकाशित किया। १९१६ ई० में कालिदास के तीनों नाटकों का सुन्दर तथा कलात्मक सौष्ठव से पूर्ण अनुवाद मास्को से प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका में प्रसिद्ध विद्वान् ओल्डेनबर्ग ने कालिदास की कविता तथा भारतीय कविता के विषय में सुन्दर टिप्पणियाँ दी थीं। १९२८ ई० में संस्कृतज्ञ प्रोफेसर रित्तर ने 'मेघदूत' का छन्दोबद्ध अनुवाद यूक्रेनी भाषा में प्रकाशित किया। रूसी भाषा में रित्तर ने 'मेघदूत' का अनुवाद प्रस्तुत किया जिसकी भूमिका में कालिदास के युग तथा उनकी कविता के विषय में एक छोटा निबन्ध भी लिखा गया था। 'कुमार-संभव' तथा 'रघुवंश' का अनुवाद भी रित्तर ने रूसी भाषा में किया था।

इधर रूस में भारतीय साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति बल पकड़ती जा रही है और लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में कालिदास की कृतियों का व्यापक अध्ययन हो रहा है। चीन में अब तक 'शाकुन्तल' के सात अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं, तथा चीनी रंगमञ्च पर १९५७ ई० 'शाकुन्तल' का अभिनय भी हो चुका है। अमेरिका में भी कैलिफोर्निया नामक राज्य में सैक्रोमेंटो नामक स्थान की एक नाटक-कम्पनी ने 'शाकुन्तल' का सफल अभिनय प्रस्तुत किया है।

कालिदास की कृतियों का व्यापक अनुवाद एवं अध्ययन विदेशों में हुआ है, और साथ-ही-साथ, उन्हें समझने एवं आस्वादित करने में पूर्वापेक्षा अधिक सहृदयता तथा समझदारी का उपयोग किया गया है। पहले के कतिपय यूरोपीय विद्वान् कालिदास के ऊपर जो असंगत एवं अयौक्तिक आरोप लगाते रहे हैं उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी अब प्रकाश में आ रही है। यों-तो पहले भी ऐसे विद्वानों का सर्वथा अभाव नहीं था जो कालिदास को समझने में सहानुभूति की दृष्टिभंगी अपनाने के लिए तत्पर थे। १७९१ ई० में प्रकाशित 'शाकुन्तल' के अपने जर्मन गद्यानुवाद में जार्ज फार्सटर ने भूमिका में यह अभिमत व्यक्त किया था—"प्रत्येक देश की अपनी विशेषताएँ होती हैं जो वहाँ की जनता की आध्यात्मिक शक्तियों तथा संघटनों को प्रभावित करती हैं। यदि हम इन विभिन्न विशेषताओं की परस्पर तुलना करें तथा स्थानीय विशेषताओं को सामान्य विशेषताओं से पृथक् करें, तो हम मानव-जाति को सही-सही समझ पाएँगे। × × × × यहाँ हमारी कल्पना एवं भावनाओं के सम्मुख एक बिलकुल नया ही दृश्य उन्मीलित होता है, मानव-चरित्र के एक अनन्यसाधारण अभिराम वैशिष्ट्य के दर्शन होते हैं। × × × अतएव इसे स्पष्ट लक्षित करना आवश्यक है कि भारतीय और यूनानी इतिहास, पुराण तथा आचार-व्यवहार में उपलब्ध अन्तर किस प्रकार हमारे लिए उस देश की कला-कृतियों को एक असाधारण रूप एवं आकृति प्रदान करता है। साथ ही, यह

दिखाना भी आवश्यक है कि इन कृतियों ('शाकुन्तल') के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि उनमें पाँच या सात अंक हैं, प्रत्युत यह है कि मानव-हृदय के अनुभूत सुकुमारतम भाव, गंगा के तट पर रहनेवाली श्यामवर्ण जातियों द्वारा भी उतनी ही कोमलता-पूर्वक अभिव्यक्त किए जा सकते हैं जितनी टाइबर, राइन या इलिसस नदियों के तट पर रहनेवाली श्वेतवर्ण जातियों द्वारा।"[1]

लेकिन, सम्प्रति यूरोपीय विद्वानों की दृष्टिभंगी निश्चिततया अत्यधिक उदार बन गई है और वे कालिदास की कृतियों का रसास्वादन नए तथा युक्ति-संगत धरातल पर करने लग गए हैं। हिलब्रांट की टिप्पणी का—जिसका उल्लेख अभी-अभी ऊपर किया गया है—प्रत्याख्यान करते हुए प्रसिद्ध वर्तमान जर्मन विद्वान् वाल्टर रुबेन ने यह टिप्पणी की है—"हमारा जन-समुदाय यह जानना चाहता है कि अन्य देशों की जनता में कहाँ मैत्रीपूर्ण हृदय स्पन्दनशील हैं। जिस प्रकार हमलोग अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार पर गर्व करते हैं और उसे अपना ही बनाना चाहते हैं, उसी प्रकार हम अन्य जातियों द्वारा अपनी अतीत एवं वर्तमान उपलब्धियों पर अनुभूत हर्ष एवं उल्लास में भी सम्मिलित होने के अभिलाषी हैं। हम इस प्राचीन भारतीय महाकवि से भाग्य के विरुद्ध विद्रोह की माँग नहीं करेंगे। हम यह जानना चाहते हैं कि भारतीय जनता के निकट उसकी क्या अर्थवत्ता थी? हम यह अनुभव करते हैं कि अपने वर्तमान रूप में भी उसकी कृतियाँ हमें बहुत कुछ प्रदान कर सकती हैं। हम उसे उसकी ही पीठिका में समझना चाहते हैं, और हमें यह अनुभव हो रहा है कि, जैसा गेटे एवं हर्डर ने कहा था, वह ऐसा कवि था जो अपने सहधर्मी मानवों को प्यार करता था और उनके दुःख-सुख तथा भावोद्वेलनों को चित्रित करना जानता था। हम यह भी समझते हैं कि अपने युग के राजन्यवर्ग की दुर्बलताओं के प्रति उसका दृष्टिकोण तीव्र आलोचना एवं निरीक्षण का था। उसके श्रोताओं का मन आकृष्ट करने के लिए उसकी वाणी एक अस्त्र है, यद्यपि वर्तमान अनुवादों से इसकी प्रतीति नहीं होती। वह सच्चे कवि की कल्पना का स्वामी है जो अपने पाठकों तथा श्रोताओं को अपने आकर्षण के अधीन रख सकता है। और उसमें मानवीयता कूट-कूट कर भरी है तथा इसी कारण, प्रत्येक मनुष्य उसके शासन-क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए उत्सुक रहता है क्योंकि वह आनन्दी एवं गम्भीर दोनों बन सकता है और सदैव संसार को वैसे ही प्रतिबिम्बित करता है जैसा वह था।"[2]

---

१. वाल्टर रुबेन : 'Kalidasa', पृ० ११

२. वही, पृ० १०

(१८) उपसंहार

कालिदास की कृतियों के अध्ययन के पश्चात् उनके सम्बन्ध में स्वभावतः कतिपय प्रश्न उपस्थित होते हैं। वाल्मीकि और व्यास की तुलना में कालिदास की क्या स्थिति है? राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त एवं परिष्कृत करने की दिशा में उनकी उपलब्धियाँ क्या हैं? क्या वे सामन्तीय व्यवस्था के वैतालिक हैं अथवा उसकी त्रुटियों के प्रति भी जागरूक हैं? क्या उन्होंने जीवन और जगत् की समस्याओं का साक्षात्कार कर उनके समाधान का प्रयत्न किया है? अथच, उनके युग-युग-व्यापी आकर्षण का रहस्य किस बात में सन्निहित है?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर पुस्तक के भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में, अंशतः अथवा प्रकारान्तर से, सन्निविष्ट किया गया उपलब्ध होगा। परन्तु, इस अन्तिम परिच्छेद में हम इन प्रश्नों पर प्रत्यक्ष ढंग से विचार करेंगे और इनके स्पष्ट उत्तर खोजने का प्रयत्न करेंगे। भारतीय परम्परा कालिदास को 'कविकुलगुरु' मानती आई है और पाश्चात्यों ने भी उनके सार्वभौम आकर्षण को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। नीचे की पंक्तियों में, अतएव, हम यह भी समझने की चेष्टा करेंगे कि उनके काव्य में कौन-से ऐसे तत्त्व हैं जो देश एवं काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानव-मात्र को अपने आवर्जन-पाश में आबद्ध करने में समर्थ हैं।

(१)

प्रस्तुत पुस्तक के द्वितीय परिच्छेद में कहा गया है कि वाल्मीकि और व्यास के समान कालिदास भी हमारी राष्ट्रीय चेतना के एक विशिष्ट पटल अथवा स्वरूप का उन्मीलन एवं प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः इन तीनों महाकवियों के काव्यों पर उनके युगों का प्रभाव पड़ा है और उनकी उपलब्धियाँ तत्तद् युगों की प्रसूति कही जा सकती हैं। अस्तु।

भारतीय दृष्टि कवि को 'क्रान्तदर्शी' मानती आई है, अर्थात् उसे उस सूक्ष्मगामिनी प्रतिभा से समन्वित माना है जो पार्थिव क्रिया-कलापों का भेदन कर उसके भीतर रहनेवाले सत्यों का उद्घाटन करती है, और जो नानारूपात्मक बाह्य जगत् की वास्तविकताओं से अतीत स्वप्न का साक्षात्कार करती है और दूसरों को भी उसके मानसी दर्शन कराती है। विश्व की उत्कृष्टतम कविता वेदों में सन्निहित है। वैदिक ऋषियों ने पार्थिव सृष्टि के बाह्य सौन्दर्य के भीतर छिपे हुए आध्यात्मिक सौन्दर्य अथवा 'सत्य' का साक्षात्कार किया था और यह प्रार्थना की थी—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥"

—[सत्य का मुख सूर्य के सुनहले बिम्ब से ढका हुआ है । हे पूषन् ! सत्यधर्म के दर्शन के लिए नेत्रों को बन्द करने वाली इन किरणों को हटा लो ।] इन्होंने सृष्टि के केन्द्रीय तत्त्व 'आनन्द' का अनुभव कर लिया था और उनकी ऋचाओं में यही भाव उच्छलित होता था । वाल्मीकि ऐसे ही क्रान्तदर्शी कवि थे और सुख-दुःख से परिपूर्ण पार्थिव जीवन के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने इसी 'आनन्द' का साक्षात्कार किया था,- तथा रामायण में इस उपलब्धि का अभिव्यक्तीकरण दृष्टिगोचर होता है । संसारी जीवन के संदर्भ में यह आनन्द प्रेम एवं करुणा का स्वरूप ग्रहण करता है, और करुणा से ही काव्य का प्रादुर्भाव हुआ था ।[1] रामायण के उद्भव की सुप्रसिद्ध कथा का यही आभ्यन्तरिक रहस्य है । महाभारत में योग, भक्ति एवं ज्ञान, तथा श्रेष्ठतर आध्यात्मिक जीवन के आधार-रूप में एक सशक्त सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का वर्णन हुआ है । व्यास का मस्तिष्क सर्वग्राह्य था, उनकी प्रतिभा विश्वव्यापिनी थी और वे यथार्थ एवं आदर्श, परिवार एवं राज्य, राजनीति एवं धर्म, सभी क्षेत्रों में समानरूप से विचरण कर सकते थे । धर्म अथवा नैतिक व्यवस्था की सार्वभौम प्रभुता को जैसी स्पष्ट एवं गौरवपूर्ण स्वीकृति महाभारत में मिली है, वह अन्यत्र परिलक्षित नहीं होती । साथ ही, आध्यात्मिक सत्यों की जैसी प्रतिष्ठा एवं विवृति उसमें हुई है, वह भी बेजोड़ तथा अप्रतिम है । व्यास का काव्य-पटल अतिशय संकुल एवं विस्तृत है, तो भी उस पर अंकित चित्र नितान्त जीवन्त एवं व्यक्तिगत विशिष्टताओं से समन्वित हैं । रामायण से तुलित होने पर महाभारत वैसा दीखता है जैसा समुद्र गंगा की तुलना में दिखाई देगा । महाभारत अधिक व्यापक, अधिक पूर्ण तथा अधिक गहरा है । है । यहाँ हम एक अधिक 'सभ्य' संसार में प्रवेश करते हैं जहाँ आन्तरिक वासनाओं तथा एषणाओं और शक्ति एवं सम्पत्ति तथा भौतिक प्रलोभनों के साथ अन्तरात्मा को गहन संघर्ष करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप अत्यन्त समर्थ मानसिक वर्चस्व का आविर्भाव होता है, और ऐन्द्रिय विषयों से इस चिरन्तन संघर्ष में प्रायेण आत्मा की ही विजय होती है । भगवान् के अवतार श्रीकृष्ण ने इस विकास का पथ-प्रदर्शन किया है जो केवल योद्धा, राजनीतिज्ञ, चिन्तक, दार्शनिक तथा सबसे बढ़ कर, सन्त ही नहीं थे, प्रत्युत आदर्श बालक, आकर्षक युवक, श्रेष्ठ कवि एवं हृदयावर्जक संगीत-विशारद

---

१. "निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।" (रघुवंश', १४।७०
"क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥" ('ध्वन्यालोक', १।५)

भी थे। यद्यपि व्यास सामान्य काव्यात्मक आकर्षण तथा सजे-सँवारे चित्रों के अंकन में वाल्मीकि के समकक्ष नहीं हैं, तथापि वे अपनी विराट् शक्ति, अपने सामाजिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों और अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक अन्तर्दर्शन में वाल्मीकि से आगे बढ़ जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि इन दोनों महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) में भारतवर्ष का चिरन्तन इतिहास सन्निहित है और उसके प्रयासों, संकल्पों तथा अर्चनाओं का क्या लक्ष्य रहा है इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति इन ग्रन्थों में हुई है।

कालिदास एक सर्वथा भिन्न युग की प्रसूति हैं, और इस कारण व्यास अथवा वाल्मीकि की उपलब्धियों का प्रतिबिम्ब इनमें ढूँढ़ना उचित नहीं होगा। 'रघुवंश' की वर्ण्य वस्तु वाल्मीकि से प्रभावित रही है, लेकिन दोनों कवियों की उपलब्धियों का अन्तर स्पष्ट है। रामायण में एक ऋजुता, ताजगी एवं स्वच्छ प्रवाह का दर्शन होता है। जीवन के शाश्वत सत्यों की इसकी पकड़ भी गहरी तथा व्यापक है। इसमें वर्णित चरित्र एक गरिमा एवं उदात्तता से विभूषित हैं जिसका प्रतिरूप भारतीय साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। 'रघुवंश' में कालिदास 'पूर्वसूरिभिः' के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करके, 'सुवर्ण को विशुद्धि'[1] उपलब्ध करने में ही अपने को कृतकाम मान बैठे हैं, और जीवन के चिरन्तन सत्यों को प्राञ्जलता-पूर्वक प्रतिष्ठित नहीं कर सके हैं। विषयों के वैविध्य, छन्दों की बहुरूपता, अलंकारों के सौष्ठव, भाषा की कलात्मक सजावट तथा कल्पना की विच्छित्ति एवं सुकुमारता में कालिदास अवश्य वाल्मीकि से बहुत आगे बढ़ जाते हैं; किन्तु रामायण में अंकित चरित्रों की उदात्तता एवं वर्चस्विता के प्रकाश में 'रघुवंश' के चरित्र निष्प्रभ प्रतीत होते हैं। मौलिक प्रतिमा तथा आंतरिक सामर्थ्य के होते हुए भी, कालिदास के काव्यों में ताजगी, स्फूर्ति एवं स्वतंत्रता का अभाव लक्षित होता है क्योंकि उनकी विचारणा तथा अभिव्यंजना में परम्परा के बासीपन की गन्ध आती है। यदि उनसे कम प्रतिमावाले कवि को, उनके युग से हीनतर युग में, यह 'गुण' मिला होता, तो वह काव्य कोरी चमत्कार-पूर्ण अलंकृति की सुनहली सज्जा में ही पर्यवसित हो गया होता। यद्यपि कालिदास की भारती इस अपकर्ष से बच गई है, तदपि वे 'कविताकामिनी के विलास' ही प्रायेण रह गए हैं, 'काव्य-पुरुष' का पौरुष एवं प्रेरकत्व उनमें नहीं आ सका है।

नाटक, महाकाव्य एवं गीतिकाव्य की रचना में समानभाव से सफलता पाने पर भी, कालिदास का क्षेत्र कई दृष्टियों से सीमित है। हास्य-विनोद के उनके चित्रण में व्याप्ति एवं उत्फुल्लता का अभाव है। शेक्सपियर के समान महान् ऐतिहासिक

---

१. "हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।" ('रघुवंश', १।१०)

नाटक भी उन्होंने नहीं लिखे जिनके अध्ययन से देश-प्रेम की प्रेरणा प्राप्त की जा सके। जीवन के उद्वेगशील, भैरव भावों का चित्रांकन भी वे प्रभविष्णुता-पूर्वक नहीं कर पाये। युद्ध इत्यादि का वर्णन भी अतिरंजित चित्रों तथा कल्पनाजन्य चमत्कार से आकीर्ण है और उसमें परम्परा का निर्वहण मात्र ही लक्षित होता है। प्रत्येक चित्र अथवा वस्तु शान्त भाव से, स्निग्ध, मसृण एवं सुचिक्कण रूप में प्रस्तुत की जाती है और ऐसा भासित होता है जैसे कवि की अन्तरात्मा में कभी कोई उद्वेलन हुआ ही न हो। राज-दरबारों में पोषित होने के कारण उनकी कविता में अलंकृति का सौष्ठव एवं भावना का चमत्कार मिलता है। कथा-वर्णन भी इस प्रवृत्ति से आक्रान्त है और उसमें वाल्मीकि का ओजस्पूर्ण प्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता। वास्तव में, शृङ्गाररस के चित्रण में ही कालिदास समर्थ हैं। उनकी कविता में गरिमा उत्पन्न करने वाले वे तत्त्व वर्तमान नहीं हैं जो महाभारत को अनुपम गाम्भीर्य से विभूषित करते हैं। चरित्र-चित्रण का उनका फलक परिसीमित है और उन्होंने जीवन एवं जगत् के जिन तथ्यों एवं रसों का उन्मीलन किया है, वे मोहक होते हुए भी, एक विशिष्ट सीमा में आबद्ध हैं। उन्होंने जीवन के कठोर एवं विपद्ग्रस्त पक्षों के चित्रण का प्रयत्न नहीं किया। उनके काव्य-फलक पर भारतवर्ष के सामाजिक जीवन की नानारूपिणी छवियों के चित्र दर्शनीय नहीं हैं। भारत से बाहर की जातियों के जीवन में झाँकने का उन्होंने कभी उद्योग नहीं किया। जिस समाज का वर्णन उन्होंने अपनी रचनाओं में किया, वह राजाओं और सामन्तों की प्रभावकक्षा में समाहित है। उनके अधिकांश नरेश अनेक पत्नियों वाले हैं, 'दक्षिण' नायक हैं। स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य आवश्यक है, लेकिन पतियों पर एक पत्नी से ही प्रणय-सम्बन्ध रखने के विषय में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्पष्ट स्वीकृति कालिदास के काव्यों में प्रतिष्ठित है और कहीं भी उसकी उपयोगिता अथवा समीचीनता के सम्बन्ध में उन्हें किसी प्रकार की कोई जिज्ञासा अथवा विचिकित्सा बेचैन नहीं करती। वारयोषिताओं के अनंग-रंग से उनका सामन्तीय समाज विलास एवं ऐश्वर्य की मादक मन्दाकिनी में मज्जन करता प्रतीत होता है। इन सभी कारणों से उनकी रचनाओं का संसार प्रायेण एकरूप, एकरस तथा एकतान दिखाई पड़ता है।

(२)

लेकिन, कालिदास की इन सीमाओं पर ही दृष्टि अटकाने से उनके काव्य के साथ समुचित न्याय नहीं किया जा सकता—उनके युग-युग-व्यापी आकर्षण का

रहस्य विवृत करने की बात तो दूर ही है। वास्तव में, उनके काव्य का शान्त, स्थिर संसार उनके 'प्रजापतित्व' की असंदिग्ध छाप लिए हुए है। उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूल्यों में सम्प्रति परिवर्तन हो गया है, हो रहा है। किन्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि उनके आदर्शों की मूल्यवत्ता कभी भी एकदम समाप्त हो सकती है। यह सही है कि उनके पात्र राजा और रानी हैं, देवता और देवी हैं, यक्ष और अप्सरा हैं। लेकिन, उनको आश्रय करके जिन भावों का चित्रण हुआ है, वे निखिल मानवता की सम्पत्ति हैं और प्रत्येक मनुष्य में अपने सजातीय भावों को जगाते तथा प्रज्वलित करते हैं। इस लोकतांत्रिक युग में राजाओं का महत्त्व घट गया है, लेकिन अद्यापि उनकी जीवन-चर्याओं, विशेषतया प्रणय-व्यापारों, के प्रति जन-सामान्य का आकर्षण उसी प्रकार बना हुआ है। प्राचीन समाज में राजा जीवन की कतिपय वरीयताओं के प्रतिनिधि एवं प्रतीक रहे हैं; संसार में जो कुछ प्रेय तथा प्रिय है, जो कुछ शिष्ट एवं संस्कृत है, जो कुछ परिष्कृत एवं स्पृहणीय है, वह सभी राजाओं की जीवन-लीला में अनुसन्धेय रहा है। राजा असाधारण प्रेमी होता है, असाधारण शूरवीर होता है, असाधारण दानी एवं त्यागी होता है, असाधारण शक्ति एवं पौरुष का धनी होता है जिस कारण वह अनेक पत्नियों का पति होता है और अनेक संघर्षों पर छू-मन्तर से विजय-लाभ करके स्वयं वसुन्धरा का पत्नी के समान उपभोग करता है। मानवता के विकास में यह एक निश्चित सोपान है जहाँ राजा जीवन के सर्व-सुन्दर, सर्व-श्रेष्ठ एवं सर्व-शिव का प्रतीक बन जाता है। उस अवस्था में वह देवताओं की दुनिया में भी स्वच्छन्दता तथा सम्मान के साथ विचरण करता है, सुरपुर की सुन्दरियों के प्रणय का उपभोग भी करता है। कालिदास के काव्य का संसार इसी धुरी पर घूमता है और इस कक्षा में सत्य, सुन्दर एवं शिव का जो उन्मीलन हो सकता है, वह उसमें प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है।

कालिदास के राजा मानवता की निखिल विभूतियों से समन्वित हैं। प्रजारञ्जन तथा प्रजाहितचिन्तन उनके निकट वरेण्य आदर्श हैं। उनका कोई भी कृत्य इस जाति का नहीं है जिससे प्रजा के जीवन के सुखमय प्रवाह में कोई व्याघात पहुँचे अथवा उसके चिराचरित आदर्शों की ही कोई क्षति हो। अग्निवर्ण केवल ऐसा नरेश था जिसके स्वच्छन्द, अमर्यादित आचरण का बुरा प्रभाव जन-जीवन पर पड़ सकता था। कालिदास ने उसका दुःखद अवसान प्रदर्शित कर, लोक-संग्रह की अपनी एषणा को परितृप्त किया है। यह कहना गलत है कि इन राजाओं की सक्रियता प्रायः भोग्या नारी को देखकर जाग्रत होती है।[1] रघु की दिग्विजय के पीछे कंचन अथवा कामिनी की प्राप्ति का कोई उद्देश्य नहीं था। विजिगीषा अवश्य इन

---

१. 'आलोचना', अप्रैल, १९५६, में डॉ० रामविलास शर्मा का निबन्ध पृ० १४

नरेशों के पौरुष को चुनौती देती रहती थी। 'आसमुद्रक्षितीशानां' की कल्पना के पृष्ठ में एक सार्वभौम सत्ता की छत्रच्छाया में भारतवर्ष की अखण्ड एकता का स्वप्न कालिदास ने देखा था। इस दृष्टि से, केवल विजय-लब्धि की लालसा से भी युद्ध-यात्रा कर, छोटे-छोटे अथवा दुर्बल सामन्तों को केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत प्रतिष्ठित करना उस समय बुरा नहीं था। रघुवंशी नरेशों ने विजित सामन्तों के साथ कभी वैसा व्यवहार नहीं किया जो अमानवीय अथवा अशोभन हो। ये केवल विजिगीषु ही नहीं थे, ललित कलाओं के प्रेमी तथा अभ्यासी भी थे। 'राजा लोग दो काम करते हैं : भोग और युद्ध। दोनों से छुट्टी मिलने पर योग साधते हैं।''—यह टिप्पणी किसी तथ्य को गलत ढंग से देखने और प्रकट करने का परिणाम है। युद्ध उस युग की ज्वलन्त आवश्यकता थी, ज्वलन्त सत्य था। भोग पौरुष का प्रसाद है और जिजीविषा का निश्चित लक्षण एवं प्रमाण। आश्रम-धर्म और पुरुषार्थ-चतुष्टय की योजना में युद्ध, भोग तथा योग तीनों को समुचित स्थान मिला है। 'रघुवंश' के राजा इसी दृष्टि से पृथिवी का भोग करते हैं और योग के समाश्रयण से शरीर-त्याग करते हैं। वस्तुतः कालिदास के राजा 'राजर्षि' हैं, कोरी भौतिकवादी प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि नहीं। कालिदास ने शौर्य, औदार्य, सुखोपभोग तथा त्याग-तितिक्षा का मिश्रित आदर्श प्रस्तुत कर युग-धर्म को प्रोत्साहित ही नहीं किया, अपितु उसे परिष्कृत एवं सुसंस्कृत भी किया। एक अन्य बात भी ध्यान में रखनी है। समाज की गतिशीलता युग-विशेष में वर्ग-विशेष पर आधृत होती है। वह समुदाय जिसके हाथों में समाज को विकसित तथा उन्नीत करने के साधन होते हैं, जो उनका उपयोग उस लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त करता है, वही उस समय के लिए समाज का अग्रणी भाग होता है और उसी के कार्य-कलापों के माध्यम से समाज अपने हृदय एवं मस्तिष्क, यहाँ तक कि स्थूल क्रिया-शक्ति, की भी अभिव्यक्ति करता है। युग-धर्म के स्वरूप तथा गत्वरता का नियमन एवं निर्धारण इसी वर्ग अथवा समुदाय द्वारा सम्पन्न होता है। काव्य को यदि सामाजिक विकास में सहयोग देना है, तो उसे इस समर्थ समुदाय के साथ सहचार करना पड़ेगा, उसकी आकांक्षाओं तथा प्रयत्नों के स्वर में स्वर मिलाना पड़ेगा। कालिदास ने समाज के सर्वाधिक गतिशील एवं क्रियाशील तत्त्वों के साथ सहयोग कर युगधर्म को अग्रसर करने का उद्योग किया है।

आधुनिक समीक्षा-दृष्टि द्वन्द्वों एवं संघर्षों की अवतारणा आवश्यक समझने लगी है और उनके बीच में से होकर विकसित होनेवाले चरित्रों को महत्त्व प्रदान करने की

---

१. वही, पृ० ६

अभ्यासी बन गई है। कालिदास में बाह्य संघर्षों का प्रायः अभाव है; तथापि यह संघर्ष सर्वथा अनुपस्थित है, यह समझना तर्कसंगत नहीं होगा। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त के मानसिक द्वन्द्व का स्पष्ट चित्रण किया गया मिलता है जिसका अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोरम समाधान उसकी इस उक्ति में सन्निहित है—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।' पुरूरवा तथा अग्निमित्र में भी मानसिक द्वन्द्व का सर्वथा अभाव नहीं है। संघर्ष का एक अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु सशक्त सूत्र इन रचनाओं में समाविष्ट कर लिया गया है, शाप के विधान से। काव्य में रस-व्यञ्जना अनिवार्य मानने के कारण प्राचीन भारतीय कवि वस्तु-विन्यास में संघर्षों की अवतारणा कर, पाठकों एव प्रेक्षकों के प्रत्यक्ष आस्वादन की प्रक्रिया में व्यर्थ का अवरोध नहीं उत्पन्न करना चाहता था। धर्म किंवा कर्त्तव्य से स्खलित होने का दण्ड शाप है जिसके लिए किसी अन्य बाहरी सत्ता की अपेक्षा नहीं, जो साधना एवं चरित्र के उत्कर्ष से सम्पन्न व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है, स्वाभाविक शक्ति है। अतएव, शाप से जो अवरोध उत्पन्न होता है, वह संस्कृत कवि के लिए सब से प्रबल संघर्ष है। कालिदास के नाटकों के प्रायः सभी नायक नायिकाओं को शाप के प्रभावों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा है। यक्ष-यक्षिणी भी शाप से नियंत्रित हैं। शंकर स्वयं मानसिक द्वन्द्व के आखेट बने हैं यद्यपि अन्त में उन्होंने इस पर अभूतपूर्व विजय पाई है। योग एवं भोग का द्वन्द्व ही उनके चरित्र की सबसे आकर्षक विशेषता है।

नारियों के लिए कालिदास का सन्देश अवश्य पातिव्रत्य का है। तथापि, इस प्रकार की टिप्पणी सर्वथा असंगत और अनुचित है—"स्त्रियाँ और भी निष्क्रिय हैं। ओष्ठ रँगने और भ्रू-संचालन में वे पटु होती हैं। नखक्षतों की पीड़ा वे जानती हैं। वे वात्स्यायन की प्रयोगशाला की सजीव मानव-मूर्तियाँ हैं। उनमें प्राचीन महाकाव्यों की वीर नारियों के से दर्प और संघर्ष की क्षमता नहीं है। कालिदास के समाज में नारी का व्यक्तित्व दबा दिया गया है।"[1] 'व्यक्तित्व' शब्द का अर्थ प्रस्तुत टिप्पणी में विरोध एवं संघर्ष की क्षमता माना गया है। कालिदास की तीनों प्रमुख नायिकाएँ—शकुन्तला, सीता और पार्वती—इस अर्थ में अपना सुनिश्चित एवं सुविकसित व्यक्तित्व रखती हैं। शकुन्तला ने जिन रोषपूर्ण वाक्यों में दुष्यन्त की भर्त्सना की है तथा जिस धैर्य एवं साहस के साथ अपमान, तिरस्कार एवं भाग्य के कठोर उपहास का सहन किया है, उससे उसकी संघर्ष-क्षमता—परिस्थितियों से संघर्ष करने की क्षमता—के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। पार्वती में यह क्षमता और भी

१. वही, पृ० १३-१४

अधिक परिमाण में विद्यमान है। रूप-लक्ष्मी के निरादृत होने पर उन्होंने जो भीषण तपस्या की और जिस सुदृढ़ मनोबल के साथ शंकर से विवाह करने का अपना संकल्प पूर्ण किया – वह सभी इस बात का प्रमाण है कि पार्वती में प्रतिरोध का सामर्थ्य वर्तमान था। भाग्य-विपर्यय में भी मनोबल की रक्षा करना और अन्ततः अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेना, संघर्ष-सामर्थ्य की असंदिग्ध विज्ञप्ति है। सीता भी अविचलित मनोबल की स्वामिनी हैं। उन्हें अपने पातिव्रत्य के ऊपर पूर्ण विश्वास तथा अभिमान है। यद्यपि राम का आदेश लक्ष्मण के मुख से पहले-पहल सुनने पर सीता पृथ्वी पर गिर पड़ीं और लुप्त-संज्ञा बन गईं—"स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम"—तथा बाद को कुररी पक्षी के समान डाढ़ मार-मार कर रोने लगीं—"सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराचक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः"—तथापि अपने सतीत्व का पुनः प्रमाण देने के लिए वाल्मीकि द्वारा आमन्त्रित किए जाने पर वे अविचलित भाव से पृथिवी माता से शरण की भीख माँगती हैं—

"वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि॥" ('रघुवंश', १५।८१)

'यदि मैंने मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्रकार से अपना पातिव्रत्य भंग न किया हो, तो हे विश्व का भरण करने वाली देवि! तुम मुझे अपनी गोद में ले लो।' सीता के लिए यह अवसर और भी दारुण व्यथा का था; लेकिन, उनके मनोबल की द्विगुणित दृढ़ता का ही इस सन्दर्भ में उन्मीलन हुआ है। अतएव, 'व्यक्तित्व' को उपर्युद्धृत अवतरण में जो एक विशिष्ट अर्थ दिया गया है, उसकी कसौटी पर भी कालिदास के ये प्रतिनिधि स्त्री-पात्र खरे और सटीक उतरते हैं। लेकिन, 'व्यक्तित्व' से वास्तविक अभिप्राय उन विशिष्ट गुणों से ग्रहण किया जाता है जिनके कारण कोई व्यक्ति, किसी विशिष्ट रूप में अपनी छाप दूसरों के मानस में अंकित कर देता है। इस अर्थ में भी कालिदास की ये नायिकाएँ अपना 'व्यक्तित्व' बनाए हुई हैं। एक-एक वाक्य में यदि उन्हें वर्णित अथवा विज्ञप्त करना हो, तो यह कहा जा सकता है: 'शकुन्तला अपमान एवं तिरस्कार की भट्ठी में जलाई हुई सुवर्णधर्मिणी नारी है'; 'पार्वती दृढ़संकल्पा तपस्विनी हैं'; 'सीता जन्मान्तर में भी श्रीराम के साहचर्य की कामना करने वाली साध्वी सती हैं जिनका पातिव्रत हिमालय के समान अडिग है'—

"भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।"

—'अगले जन्म में भी आप मेरे पति होवें और आपसे मेरा वियोग कभी न होने पावे।'

इन तीनों नारियों में एक सामान्य विशेषता है, यह कि इन तीनों ने अपने पातिव्रत के प्रसाद-रूप में पति के साथ अखण्ड सुखोपभोग किया है और इन तीनों को पहले या पीछे, यातनाएँ सहनी पड़ी हैं।[1] अतएव अपमान तथा यातना की आग में तपनेवाली तपस्विनी बालाएँ "वात्स्यायन की प्रयोग-शाला की सजीव मानव-मूर्तियाँ" क्योंकर हो सकती हैं? यदि वे ओष्ठ रँगती हैं, भ्रू-संचालन में दक्ष हैं तथा नख-क्षतों की पीड़ा जानती हैं, तो इसीलिए कि वे अपने अमानुषी धैर्य, साहस एवं वर्चस के होते हुए भी मानवी हैं, और नहीं तो 'मानवीय' हैं।

कालिदास ने धार्मिक विश्वासों की रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया है। उनके आदर्श राजा श्रीराम ने प्रजा की शंकाओं के शमन-हेतु, लोकापवाद के कारण, सती-साध्वी सीता को परित्यक्त कर दिया, किन्तु वर्णव्यवस्था की रक्षा के लिए अपने ही प्रजाजन शम्बूक का वध कर डाला है। पौराणिक रूढ़ियों का पालन भी कालिदास ने अविचलित भाव से किया है। योग के अद्भुत चमत्कारों का वर्णन करने में वे रंचमात्र भी संकोच का अनुभव नहीं करते। उनके द्वारा स्वीकृत समाज मान्यताओं, पूर्वाग्रहों तथा रूढ़ियों से आक्रान्त है और इस प्रकार उनके विचारों में नवीनता की ऊष्मा एवं स्फूर्ति नहीं है। लेकिन, भारतीय समाज की परम्परा-प्रियता सुविदित है, और कालिदास ने यदि उस समाज के विश्वासों का अनुमोदन एवं परिपोषण किया, तो कदाचित् इसलिए कि वे समाज की धारणा तथा व्यवस्था के लिए उस युग में आवश्यक थे। वस्तुतः भारतीय जीवन एवं संस्कृति के परिज्ञान के लिए कालिदास का काव्य विश्वकोष समझा जाना चाहिए। गेटे के परवर्ती जर्मन कवि हर्डर की यह अभ्युक्ति द्रष्टव्य है : "क्या तुम मेरे साथ यह नहीं चाहते हो कि वेदों, उपवेदों और उपांगों जैसे अनन्त धार्मिक ग्रन्थों के बदले, हमें भारतीयों की अधिक उपयोगी एवं रुचिर रचनाएँ, विशेषतः प्रत्येक प्रकार की उनकी सर्वोत्तम कविता, उपलब्ध होतीं? यहीं किसी जाति के मस्तिष्क और चरित्र की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति होती है, और मुझे यह स्वीकार करने में प्रसन्नता होती है कि केवल एक 'शकुन्तला' के अध्ययन से, उपनिषदों एवं भागवत की अपेक्षा, प्राचीन

---

१. "स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या॥"

[श्रीराम ठीक समय से प्रजा-कार्य का निरीक्षण करने पर सीताजी के साथ रमण भी करते थे। ऐसा जान पड़ता था मानो राज्यलक्ष्मी ने ही राम के साथ रमण करने की इच्छा से सीता का सुन्दर रूप धारण कर लिया हो।] (१४।२४)

भारतीयों की विचार-पद्धति का अधिक वास्तविक एवं विश्वसनीय बोध मुझे हुआ है।"[1]

(३)

लगभग एक शताब्दी पूर्व आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्राध्यापक मोनियर विलियम्स (Monier-Williams) ने कालिदास को 'भारतवर्ष का शेक्सपियर' कहा था। तब से कालिदास की शेक्सपियर के साथ तुलना करने का 'फैशन' चल पड़ा है। यह तुलना काव्य-दृष्टि से कहाँ तक सङ्गत एवं समीचीन है, इस विषय में प्रचुर मतभेद का अवकाश विद्यमान है। किन्तु, एक दृष्टि से दोनों महाकवि परस्पर समान हैं। जैसे शेक्सपियर आंग्ल-जाति के जीवन एवं संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधि है, वैसे ही कालिदास भारतीय जीवन के सच्चे प्रवक्ता एवं वैतालिक हैं। भारतवर्ष की आत्मा उनमें जीती है और साँस लेती है—वह भारत-वर्ष जिसकी अखण्ड परम्परा में हम जीवित रहे हैं, उनमें सुरक्षित है; हमारे सोचने-विचारने, रोने-हँसने और कर्म-धर्म करने का सम्पूर्ण तरीका प्रायः अद्यापि वही है जो कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रतिष्ठित किया है। उनकी दुर्बलताएँ भारतीय जीवन की दुर्बलताएँ हैं और उनकी शक्तियाँ उसकी शक्तियाँ हैं। भारत की धरती से, उसकी प्रकृति से उन्हें प्रगाढ़ अनुराग है और इसी कारण, अपनी ललित कल्पना के रंगों से रंजित कर, उन्होंने उसके अत्यन्त प्राणवान् चित्र अंकित किए हैं। इस दृष्टि से, कालिदास को भारतवर्ष का 'राष्ट्रीय कवि' (National Poet) कहना पूर्णतया उचित एवं न्याय्य समझा जाएगा।

'मेघदूत' में कालिदास ने काव्य की एक सर्वथा अभिनव सरणि का उद्घाटन किया है और भाऊ दाजी तथा हिलब्रांट जैसे विद्वानों के मतानुसार, अपनी ही भावनाओं एवं व्यथाओं को अभिव्यक्त किया है। अर्थात्, कालिदास इस काव्य में सर्वथा नवीन और वैयक्तिक हैं। लेकिन, मेघ को दूत बनाकर उन्होंने सबसे अधिक 'भारतीय' होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है। भारतवर्ष के जन-जीवन में मेघ को क्या महत्त्व प्राप्त है, यह वे ही समझ सकते हैं जो ग्रामों में निवास करते हैं। मेघ भारतीय ग्रामीणों के लिए मित्र और देवता दोनों है क्योंकि उसी के ऊपर उनकी सम्पन्नता अथवा विपन्नता

---

१. मैक्समुलर : 'A History of Ancient Sanskrit Literature', पृ० ३।

निर्भर करती है। भारतीयों के मनोजगत् में बादल का जो विशिष्ट स्थान है, उसके संकेत वैदिक ऋचाओं तक में भी मिलते हैं। ऋग्वेद में पर्जन्य के प्रति जो मंत्र कहे गए हैं, वे सुन्दर मेघगीत समझे जा सकते हैं। इन्द्र और मरुत् से सम्बन्धित वेद-मन्त्रों में वर्षा का, उसके गर्जन, विद्युत् तथा प्रवेगशील पवनों का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है। यद्यपि वेदोत्तर साहित्य में मेघ-विषयक यह भावना अपने पूर्व-रूप में नहीं बनी रही, तथापि भारतीय मानस के ऊपर बादल का आकर्षण ज्यों-का-त्यों बना रहा। जैसा जेकोबी जैसे विद्वानों का कथन है, रामायण में वर्णित हनुमान द्वारा सीता की खोज तथा उनके वीरत्वपूर्ण कार्य बादल और वर्षा के रूपकात्मक चित्रण हैं। मारुती के पुत्र हनुमान की जो व्यापक पूजा भारतीय ग्रामों में होती है, उससे भी यह संकेत मिलता है कि यहाँ के जन-समुदाय ने बादल को मानवीकृत रूप में अपने आदर एवं अभिलाषा का आस्पद बना लिया है। रामायण के सुन्दरकाण्ड की हनुमान से सम्बन्धित अत्यन्त लोकप्रिय कविता इस बात के प्रमाण-रूप में उपस्थित की जा सकती है कि अति प्राचीन काल से भारतीय मानस के लिए बादल का मित्रवत् पौराणिक रूप नितान्त प्रिय एवं आकर्षक रहा है। जन-सामान्य के साथ-साथ, 'जलदागम' ने भारतवर्ष के शिक्षित बुद्धिजीवियों, अलंकारशास्त्रियों, को भी प्रभावित किया है जिन्होंने इस काव्य-रूढ़ि की स्थापना की है कि मेघ के दर्शन से प्रेम के भाव हृदय को उद्वेलित करने लग जाते हैं। निम्नोद्धृत श्लोक की लोकप्रियता प्रसिद्ध है—

"काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कण्ठितासि तरले नहि नहि सखि पिच्छिलः पन्थाः॥"

कालिदास मेघ की इस परम्परागत लोकप्रियता से पूर्णतया अवगत थे और इसीलिए, आषाढ़ के प्रथम दिन पहाड़ी की चोटी से लिपटे हुए बादल को देख कर 'मेघदूत' के कान्ता-विश्लेषित यक्ष को अपनी प्रिया की स्मृतियाँ व्यथित करने लगीं और कवि भाव-विह्वल होकर गा उठा—

"मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।"

प्रस्तुत काव्य में अत्यन्त कलात्मक निपुणता के साथ मेघ के सौंदर्य, उपकारित्व तथा जनमन-ह्लादकारिता का इतना पुष्कल चित्रण हुआ है कि यह मानने के लिए पाठक प्रवृत्त हो जाता है कि काव्य का प्रकृत नायक मेघ ही है और यक्ष-यक्षिणी

केवल अपर कोटि के व्यक्ति हैं।[1] इस प्रकार कालिदास ने मेघ-वर्णन के माध्यम से लोकमानस के साथ अपनी समरसता उत्पन्न की है।

कालिदास ने भारतभूमि की प्रकृति एवं सौंदर्य का नितान्त आकर्षक और तन्मयतापूर्ण वर्णन किया है। इससे भी वे सच्चे अर्थों में 'भारतीय कवि' सिद्ध होते हैं जिसे अपनी जन्मभूमि के कोने-कोने का घनिष्ठ ज्ञान है और जो उसे बड़ी गहराई से प्यार करता है। 'मेघदूत' में ऐसा ज्ञान पड़ता है, उन्होंने जान-बूझकर मेघ से लंबे मार्ग की यात्रा कराई है, जिससे रामगिरि से लेकर कैलास-पर्यन्त भारतवर्ष की नदियों, पर्वतों, नगरों, तीर्थों इत्यादि के सुन्दर चित्र अंकित किये जा सकें। 'रघुवंश' के त्रयोदश सर्ग में राम ने लंका से अयोध्या तक की यात्रा कर कवि को दक्षिणी और उत्तरी भारत की सुषमाओं के चित्रण-हेतु दूसरा अवसर प्रदान किया है। रघु की दिग्विजय के संदर्भ में भारत के विविध प्रदेशों के संक्षिप्त किन्तु ध्वनि-पूर्ण चित्र अंकित किये गए हैं। इन्दुमती-स्वयंवर के प्रसंग में सुनन्दा ने समवेत नरेशों का परिचय देते समय भिन्न-भिन्न राज्यों एवं राजधानियों का सुन्दर वर्णन किया है। इसी प्रकार 'कुमारसम्भव' के प्रारम्भ में कवि द्वारा हिमालय का वर्णन, प्रायः काल्पनिक होते हुए भी, भव्य एवं आकर्षक है। इन चित्रणों की सहायता से भारतवर्ष का 'काव्यात्मक भूगोल' तैयार किया जा सकता है। हिलब्रांट का यह कथन सर्वथा उचित है : "पर्वतों और तीर्थों से लिपटी हुई पुराण-गाथाओं को कवि जानता है तथा भारतीय संसार का वर्णाढ्य चित्र सुकुमार रेखाओं में खींचता है। सुतरां, वह सचमुच भारतभूमि का कवि है।"

तथापि, भारतीय प्रकृति के—भारतवर्ष के रंगीन एवं वैचित्र्यपूर्ण ग्राम्यांचलों तथा सुमनों की सम्पदा से समन्वित अरण्यों और उसकी ऋतुओं की परिवर्तमान छवियों के—अभिराम चित्र कालिदास को भारतवर्ष का राष्ट्रीय कवि बनाने में सर्वाधिक समर्थ हैं। अन्य कवियों ने भारतीय कमलों तथा हंसों और बसन्त तथा शरद् के चित्रण किए हैं, किन्तु उनके वर्णन इतने कृत्रिम एवं पांडित्यपूर्ण हुए हैं कि उनके द्वारा भारतीय प्रकृति का प्रतिनिधित्व नहीं होता। केवल कालिदास ने ही ऐसे सजीव चित्र अंकित किए हैं जो भारतीय प्रकृति की रमणीयताओं को अत्यन्त आकर्षक ढंग से रूपायित करते हैं। 'ऋतुसंहार' का ऋतु-वर्णन, विलासों का पञ्चांग होते हुए भी, भारतीय ऋतुओं की विविधरूपिणी छवियों के उद्घाटन

---

१. Dr. S. S. Bhawe : 'Kalidasa, The National Poet of India', पृ० ४–८

में प्रथम समर्थ प्रयोग है। 'रघुवंश' के नवम सर्ग में तथा 'कुमारसम्भव' के तृतीय सर्ग में प्राप्त वसन्त-वर्णन भी उल्लेख्य है। 'मेघदूत' का वर्षा-वर्णन अपनी सटीकता एवं लालित्य में सर्वथा अनुपमेय है।

प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में कालिदास की कविता की एक अन्य विशिष्टता की ओर हमारा ध्यान खिंचता है। वह है प्रकृति एवं मनुष्य का जटिल ग्रंथिबन्धन, उनका एक दूसरे के साथ घुल-मिल जाना। कालिदास के सम्पूर्ण काव्य में यह प्रकृति-मानव-मिलन इस ढंग से सम्पन्न हुआ है जो भारतीय मानस की अपनी विशेषता है। 'मेघदूत' का पूर्वार्ध बाह्य प्रकृति का चित्रण है, किन्तु वह मानवी भावों से ओतप्रोत है; उसका उत्तरार्ध मानव-हृदय का चित्र है, किन्तु वह चित्र प्राकृतिक सौन्दर्य के चौखटे में मढ़ा है। कालिदास के लिए प्रकृति मानवी भावों से आपूर्ण है, और मनुष्य स्वयं प्रकृति का एक अंग है। 'मेघदूत में 'कामाचारी' पयोद और उसकी छवियों एवं कीर्तियों के उपभोग के हेतु लालायित मनुष्य, दोनों अभिन्न भाव से एक-तन, एक-मन, एक-भाव, एक-रस बन गए हैं।

यक्ष पहले तो मेघ को अचेतन, 'धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः' समझता है और उसे प्रवृत्ति-वाहक बनाने के लिए यह सफाई देता है— "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।" किन्तु शीघ्र ही उसकी यह मनोमुद्रा बदल जाती है और मेघ एक सजीव सत्ता बन जाता है जो मानवी भावों से भरित है और साथ ही, प्रकृति के सम्पूर्ण वेगशील गुणों से समन्वित भी है। चित्रकूट पर्वत तथा मेघ में मधुर मैत्री-भाव स्थापित हो जाता है, यहाँ तक कि प्रति वर्ष जो उनका मिलन एवं वियोग होता है, वह अत्यन्त करुणाप्लुत बन जाता है और वियोग की घड़ियों में तो मेघ वेदना के आँसू बहाने लगता है— "स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्।" फिर तो यात्रा प्रारम्भ करने पर वह मधुर भावों से परिपूर्ण मानव बन गया है और मार्गश्रम मिटाने के लिए नदी, पर्वत इत्यादि सभी वस्तुएँ उसके उपभोग की सामग्री बन गई हैं। उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में पहुँचने पर मेघ मानो आस्तिक हिन्दू हो जाता है। हिमालय में स्थित 'शिवपाद' की प्रदक्षिणा कर चुकने पर, जब शंकर गौरी को हाथ से पकड़े हुए चल रहे हैं, वह अपने को सीढ़ियों की शृंखला के समान सजा लेगा जिसके सहारे गौरी लीलागिरि पर पहुँच जाएँगी। इन निर्देशनों में यक्ष एक प्रकार से मेघ को प्रलोभन अथवा आश्वासन दे रहा है कि यदि तुम मेरी पत्नी के पास मेरा संदेश पहुँचा दोगे, तो तुम्हें पुण्य भी मिलेगा! अलका में पहुँचने पर जब वह यक्षप्रिया

को विरह-विह्वल दशा में देखेगा, तब वह अपने आँसुओं के अजस्र प्रवाह को रोकने में असमर्थ सिद्ध हो जाएगा —

"त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा।" (उ० मे०, ३५)।

प्रकृति और मनुष्य के इस तादात्म्य के अन्य चित्रण 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग, 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ तथा 'शाकुन्तल' के भी चतुर्थ अंक में उपलब्ध होते हैं। दिलीप जब जंगल में नन्दिनी गौ को चराने जा रहे थे, तब लता-विटपों, पशु-पक्षियों इत्यादि ने उनका सहर्ष स्वागत किया। उन्हें अनुचरों से विहीन जानकर मार्ग के वृक्षों ने पक्षियों के कलरव के माध्यम से उनकी जयजयकार मनाई। लताओं ने उनके ऊपर उसी प्रकार फूलों की वर्षा की जैसे नगर में प्रवेश करने पर पौर कन्याएँ राजा के ऊपर धान की खीलें बरसाती हैं। हरिणियाँ उन्हें दयार्द्र भावों से समन्वित जान कर उनके सुन्दर शरीर की ओर देखने लगीं। वन देवताओं ने जो उनका यशोगान प्रारम्भ कर दिया था, उसके अनुकरण में बाँस भी अपने रन्ध्रों में वायु भर-भर कर, बाँसुरी बजाने लगे। अथ च, गिरि-निर्झरों के तुषार कणों से शीतल तथा मन्द-कम्पित वृक्षों के पुष्पों से गन्धयुक्त पवन सदाचारी नरेश को शीतलता प्रदान करने लगा क्योंकि उन्हें छत्र नहीं होने के कारण धूप में बड़ा कष्ट हो रहा था।[1] राइडर के साथ हम यह विश्वास करने लग जाते हैं कि "यह कहना कि कालिदास नदियों, वृक्षों तथा पर्वतों का मानवीकरण करते हैं, सत्य नहीं है; उनके निकट ये एक सचेतन व्यक्तित्व रखते हैं जो उतना ही सच्चा एवं उतना ही निश्चित है जितना पशुओं, मनुष्यों अथवा देवताओं का।"

प्रकृति और मानव के तादात्म्य की यह अनुभूति वैदिक ऋषियों द्वारा अर्जित थी। प्रकृति के सम्पूर्ण पदार्थों को उन्होंने मानव-जीवन, अथवा अधिक सही शब्दों में, भगवदीय जीवन से अनुप्राणित माना था जिस कारण उनकी पूजा-अर्चना भी प्रारम्भ हो गई थी। ऊषा-विषयक मन्त्रों में पुरातन ऋषियों की प्रस्तुत दृष्टिभंगी स्पष्ट लक्षित हो जाती है। 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त की निरूपणा से इस मान्यता को और भी प्रोत्साहन मिला क्योंकि कर्मानुसार चौरासी लाख योनियों में जन्म-ग्रहण आवश्यक था। पत्थर की शिला अहल्या जैसी सुन्दर तरुणी बन सकती थी और उर्वशी जैसी सुन्दरी लता बन सकती थी। सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही आत्म-तत्त्व का स्पन्दन भारतीय तत्त्व-दर्शन की महत्त्वमय विशेषता थी, और कालिदास ने 'कान्ता-

---

१. 'रघुवंश', २।६–१३

सम्मित' शैली में इस पुराने विश्वास को पुनः प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से भी, वे भारतवर्ष के राष्ट्रीय कवि हैं।

व्यास और वाल्मीकि के समान ही कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता प्रतिनिधि हैं. यह बात एक अन्य दृष्टि से भी प्रमाणित होती है। यद्यपि उन्हें 'एक आनन्द-वादी सभ्यता का देवदूत' समझा गया है जो बहुत कुछ सही है, तथापि उनकी काव्य-साधना के पीछे एक उद्देश्य स्पष्ट रूप से वर्तमान रहा है, और वह है मानव की मूल्य-योजना में प्रेम को कर्त्तव्य से नियंत्रित एवं मर्यादित रखना तथा जीवन की सार्थकता के लिए तपस्या का अवलम्बन करना। कालिदास ने पार्वती की तपस्साधना का उतनी ही तन्मयता से वर्णन किया है जितनी तन्मयता से बसन्त-श्री के आकस्मिक प्रस्फुटन का। उनके सभी प्रमुख पात्रों ने किसी-न-किसी रूप में तपस्या की है और तपस्या के बल पर ही, जीवन के अवरोधों तथा अवसादों पर अपूर्व विजय-लाभ किया है। जब मनुष्य के चिर-संचित मनोरथ भग्न होते सिद्ध होते हैं, तब एकमात्र तपस्या ही साधन रह जाती है उनकी प्राप्ति का; और कोई भी महान् संकल्प कठोर तपस्या के अभाव में क्योंकर सफल हो सकता है? भग्नमनोरथा पार्वती का यह निश्चय कवि सबके लिए सन्देश-रूप में निर्देशित करता है—

'तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥"

तपस्या का यह महत्त्व भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग है। सबसे बड़ी बात यह है कि कालिदास ने ऋषियों और मुनियों की तपस्साधना को लोक-निरपेक्ष नहीं बनाया है जो भारतवर्ष की वास्तविक जीवन-दृष्टि का प्रधान तत्त्व है। आश्रमों और तपोवनों के जो चित्र कवि ने अंकित किए हैं, उनमें मानवीय रस की कुल्याएँ स्पष्टतया निनाद करती सुनाई पड़ती हैं। ये ऋषि परम दयालु हैं; कुसुमों से स्नेह करते हैं, पशुओं का पालन करते हैं, एक प्रकार का पारिवारिक जीवन भी व्यतीत करते हैं।[1] महर्षि वाल्मीकि परित्यक्ता सीता को समझाते-बुझाते हैं तथा यह विश्वास दिलाते हैं कि उनके आश्रम में वे शान्ति एवं आनन्द का जीवन यापित करेंगी। ऋषि-कन्याएँ उनका स्वागत-सत्कार करेंगी तथा वन से उनके लिए फल-फूल लाएँगी। वहाँ सीता वृक्षों के पौधे लगाएँगी और उन्हें शीघ्र अपने ही बालकों

---

१. 'रघुवंश'' १।४९–५३ (वशिष्ठ के आश्रम का वर्णन)

के समान प्यार करने लगेंगी जिससे उन्हें अपत्य-स्नेह का पूर्वास्वाद मिल जाएगा।[1] वृद्ध तापसियाँ सीता को सान्त्वना प्रदान करेंगी; आवास के लिए उन्हें इंगुदी-तैल के दीपक से युक्त एक विशिष्ट कुटीर मिलेगा तथा तमसा के स्वच्छ पुनीत जल में स्नान के आनन्दों का वे उपभोग करेंगी।[2] वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह कथन सर्वथा उचित है कि "हमारे साहित्य में आश्रम उस स्थल के रूप में देदीप्यमान है जहाँ मनुष्य और अन्य सृष्टि के बीच की खाई पाट दी गई है।" अतएव, कालिदास द्वारा वर्णित आश्रम प्रकृति की शान्ति एवं आनन्दों से परिपूर्ण, साथ ही निविड़ मानवीय रस से ओत-प्रोत, सुरम्य आगार हैं जहाँ पारिवारिक जीवन के विधि-विधानों का उचित आदर होता है। "भारतीय आश्रम—जीवन के ये सजीव चित्र अंकित करने में जिनमें तपस्या का प्रमुख महत्त्व है, कालिदास ने अपने उत्तराधिकार की सर्वोत्तम सेवा की है। पूर्णत्व की ओर उन्मुख अपनी यात्रा में भारतवर्ष ने यह एक महान् प्रयोग किया है और यद्यपि वह भिन्न मार्ग का वरण कर सकता है तथा अन्य प्रयोगों को प्रारम्भ कर सकता है, तथापि भारतीय जीवन एवं संस्कृति के इस पटल के अन्यतम आकर्षक एवं मुखर चित्रों के लिए, वह निरन्तर कालिदास की ओर पीछे फिर कर देखता रहेगा।"[3] इस दृष्टि से भी कालिदास भारतवर्ष के राष्ट्रीय कवि हैं।

इस स्थल पर अब यह समझा जा सकता है कि कालिदास ने कहाँ तक राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त एवं परिष्कृत करने में सफलता पाई है? 'राष्ट्रीय चेतना' के दो अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं—प्रथम, राष्ट्र के प्रति अनुराग एवं आस्था की भावना और द्वितीय, हमारी जाति का चिरसंचित एवं चिराचरित मनोमय कोष जिसमें उसकी आस्थाएँ और आसक्तियाँ समवेतरूपेण छिपी पड़ी हैं। कालिदास ने भारत की धरती एवं प्रकृति के जो ललित-ललाम चित्र अंकित किए हैं,उनके अवलोकन या आस्वादन से हमारे भीतर, निश्चित भाव से, अपने देश एवं राष्ट्र के प्रति अनुराग-भावना उदित होती है—नगाधिराज हिमालय, गङ्गा-यमुना इत्यादि नदियों, यहाँ की वनस्पतियों तथा पशु-पक्षियों, यहाँ की नाना छविमयी ऋतुओं, यहाँ के तीर्थस्थलों एवं नगरियों, यहाँ की लोककथाओं एवं पौराणिक मान्यताओं, यहाँ की रीति-रस्मों एवं विश्वासों, किं बहुना, यहाँ के लोक-जीवन के भी प्रति हमारे हृदय में ममत्व का भाव स्पन्दन करने लगता है। जन-जीवन के विपन्नता के चित्र अवश्य उनके काव्य में

---

१. वही, १४।७८
२. वही, १४।८१–८२
३. Dr. S. S. Bhawe: 'Kalidasa; The National Poet of India', पृ० २८

लक्षित नहीं होते, किन्तु हमारा लोक-जीवन किन-किन आस्थाओं एवं मान्यताओं का मधुर संबल प्राप्त कर अद्यावधि चलता रहा है, उनकी विज्ञप्ति सुन्दर ढंग से इसमें हुई है ; और इससे भी हम भारतीय लोक-जीवन के प्रति अनुराग-भावना के साथ आकृष्ट होते हैं। प्रकृति की शक्तियों की पूजा आज तक भी हम करते आए हैं और मानव एवं प्रकृति में एक ही आत्मतत्त्व के प्रकाश की प्रतीति हमें आज तक भी स्पन्दित करती चली है। कालिदास ने अपने प्रकृति-वर्णन में मनुष्य और प्रकृति का पूर्ण तादात्म्य प्रदर्शित करके, प्रकारान्तर से इसी भाव को ध्वनित किया है। राज्य एवं शासन के कर्त्तव्यों, नारी-धर्म, ऋषियों एवं साधु-मुनियों इत्यादि के विषय में हमारी चिर-पोषित धारणाएँ उनकी रचनाओं में यथावत् प्रतिफलित हुई हैं। परिवार-व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए जिन भावों तथा विचारणाओं को भारतीय समाज महत्त्व देता आ रहा है, वे कालिदास के काव्यों में सुन्दरता-पूर्वक मुखरित हुई हैं। महर्षि कण्व को जो तृप्ति शकुन्तला को पतिगृह भेजकर मिली थी, वह प्रत्येक भारतीय पिता के अनुभव की वस्तु है।[१] प्रणय की मर्यादाओं का जो चित्रण कवि ने किया है, वह चिरकाल से भारतीय जीवन का नियामक रहा है। पुनर्जन्म में विश्वास तथा उससे चिरन्तन मुक्ति प्राप्त करने की कामना, जो भारतीय लोक-समाज को अनुप्राणित करती रही है, उसकी कृतियों में सहज भाव से अभिव्यक्त हुई है। 'शाकुन्तल' के भरत-वाक्य में भारतीय लोक-मानस ही मुखरित हुआ है—

"प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥"

सामन्तीय वातावरण में लिखते हुए भी तथा उसके वैभव-विलास का तन्मयता-पूर्ण चित्रण करते हुए भी, कालिदास ने उस व्यवस्था को, अशेष भाव से, स्वीकार नहीं किया। अनेक पत्नियों के रखे जाने का अनुमोदन करते हुए भी, उन्होंने एक-पत्नीव्रत के आदर्श को स्पष्टतया प्रतिपादित किया है। सीता के पृथ्वी-गर्भ में चले जाने के बाद राम ने दूसरा विवाह नहीं किया और उनकी स्वर्ण-प्रतिमा बना कर यज्ञ का अनुष्ठान पूरा किया। सामन्तों एवं नरेशों की मधुकरी वृत्ति की भी उन्होंने प्रकारान्तर से, हंसपादिका के गीत के द्वारा; निन्दा की है। साथ ही राजाओं के आदर्श गुणों का वर्णन कर उन्होंने तत्कालीन शासकों की जीवन-चर्या में परिष्कार लाने का प्रयत्न किया है।

---

१. "अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥"
('शाकुन्तल', ४।२२)

अभी कहा जा चुका है कि कालिदास ने संघर्षों की अवतारणा नहीं की। जीवन की तथोक्त समस्याओं का उनके, या किसी भी प्राचीन भारतीय कवि के लिए कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं था। हमारी जातीय प्रतिभा शान्ति, संतुलन और सुव्यवस्था में विश्वास करती आई है। इसीलिए हमारे प्राचीन काव्यकारों ने प्रायेण अपनी वक्तव्य वस्तु को सुख एवं सामंजस्य में पर्यवसित किया है। वस्तुतः पुनर्भव की समस्या ही हमारी जाति की प्रमुख समस्या रही है और कालिदास ने सम्पूर्ण विलासैश्वर्य के बीच उसे पकड़ कर उससे मुक्ति पाने का संदेश हमें दिया है।

(४)

कालिदास सम्पूर्ण मानवता के कवि हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति के उन्नतम आदर्शों को वाणी प्रदान करने वाला महाकवि मानव-मात्र का ही कवि हो सकता है, उसे किन्हीं क्षुद्र अथवा संकीर्ण प्राचीरों में बाँधा नहीं जा सकता। जिन आदर्शों को व्यापक जीवन के सन्दर्भ में रख कर कवि ने उपपादित किया है, वे आज भी मूलरूप में अपना महत्त्व अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। वर्तमान युग प्रश्नों का युग बन गया है, प्रश्न-परायण एवं प्रश्नाभिभूत बन गया है। किन्तु, इन सभी प्रश्नों को भारतीय चिन्ता ने पुरुषार्थ-चतुष्टय के भीतर समाहित कर लिया है। मोक्ष को अतिलौकिक उपलब्धि मान लेने पर, त्रिवर्ग ही (धर्म, अर्थ और काम) मानव के समग्र व्यापारों का लक्ष्य-वृत्त है। कालिदास ने धर्म को इस त्रिवर्ग में सर्वश्रेष्ठ बताया है—"त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि" ('कुमारसंभव',५।३८)। किन्तु, अर्थ और काम का निषेध उन्होंने नहीं किया है। भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में धर्म से अविरुद्ध काम भगवान् की ही विभूति है—"धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ।" कालिदास ने अपने काव्यों में इस धर्मानुमोदित काम का उन्मुक्तकण्ठ से गान किया है और साथ ही, उसके धर्मविरोधी रूप को दबा कर विश्व के आत्यन्तिक मंगल का अमोघ मन्त्र भी उच्चरित किया है। 'कुमारसंभव' के मदन-दहन में अनियन्त्रित काम, उच्छृङ्खल 'लिबिडो', के पराभव का चित्रण कर कवि ने यह सन्देश प्रदान किया है कि जीवन के लौकिक मूल्यों की सुनिश्चित योजना में काम एवं अर्थ (अर्थ इसलिए कि काम अथवा सुखोपभोग के लिए ही प्रायः इसका संचय किया जाता है) को व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के ऊपर धर्म की समष्टि-मूलक धारणा को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जीवन के पुरुषार्थों में जो मंगलमय संतुलन तथा सामञ्जस्य स्थापित किया गया है, वह पृथिवी के स्वर्ग के धर्मों से विभूषित बनने का सन्देश है—

"एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ।"

(गेटे)

भौतिकवादी सभ्यता का प्रत्याख्यान नहीं करते हुए भी, कालिदास ने तपोवन का जो वर्णन किया है, वह भी विश्वमानव के लिए एक उद्बोधक संदेश है। नागरप्रणय और विलास की वीणा क्वणित करने वाले कवि ने मनुष्य को तपोवन की ओर—जहाँ समस्त जीव अपना परम्परागत वैर-भाव भुलाकर मैत्री तथा सद्भाव का जीवन व्यतीत करते हैं—मुड़ने के लिए प्रेरित किया है। वस्तुतः उसका यही संदेश है कि तपोवन के क्रोड में पली हुई सभ्यता ही मानव का सच्चा मंगल कर सकने में समर्थ है। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रणय नगर के बदले तपोवन में पोषित होता है। दौष्यन्ति भरत का जन्म एवं पालन मारीच के आश्रम में हुआ है। दिलीप ने अपनी राजधानी का परित्याग करके वशिष्ठ के आश्रम में निवास कर नन्दिनी गाय की परिचर्या की है जिसके फलस्वरूप उन्हें रघु जैसे प्रतापी एवं वर्चस्वी पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। मनुष्य और प्रकृति के बीच जो चौड़ी खाई मानवता की सुदीर्घ विकास-यात्रा में उत्पन्न होती गई है, उसके पाटे जाने की आवश्यकता तथा स्पृहणीयता की ओर कालिदास ने हमारी मनोदृष्टि आकर्षित की है।

वस्तुतः कालिदास की सबसे बड़ी शक्ति एवं उपलब्धि यही है कि उन्होंने जीवन के लिए एक सुनिश्चित योजना की कल्पना की है जिसमें मनुष्य के यावत् अभीप्सितार्थों की सिद्धि की सम्यक् व्यवस्था है, किन्तु जिसमें प्रेयस् के लिए श्रेयस् की अवमानना नहीं की गई है, सुन्दरं के लिए शिवं की कदर्थना नहीं की गई है। युग-युग का मानव मूलतः उसी संघर्ष से उलझता है और मंगल-मार्ग का वरण कर ही अपने विकास की यात्रा में अग्रसर होता है। वस्तुतः लौकिक साधनाओं में प्राथमिकता का यही क्रम (Order of priorities) अंगीकार कर सभी काल का मनुष्य विश्व-कल्याण की यह कामना करता आया है—

'सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥'

('विक्रमो'० ५।२५)

कालिदास ने प्रेम और सौन्दर्य की जो स्रोतस्विनी अपनी रचनाओं में प्रवाहित की है, वह युग-युग में मनुष्य को मनोमुग्ध करती रहेगी। वे सिद्ध-सारस्वत कवि हैं। वाङ्मधु का आद्योपान्त परिस्रवण कराने वाला 'नारिकेलपाक' उनके काव्य की प्रधान

विभूति है।[1] कुछ कवियों की रचनायें उनके घर की चारों दीवालों के भीतर ही विचरण करती हैं, कुछ कवियों की रचनायें मित्रों के भवनों तक पहुँच जाती हैं और कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनकी रचनायें सभी के मुखों पर पदन्यास करती हुई, विश्व-भ्रमण की अभिलाषा पूर्ण करती हैं—

'एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्
कस्याऽपि संचरति विश्वकुतूहलीव॥'

(राजशेखर)

कालिदास का काव्य विश्वकुतूहली है। इसी कारण, वे युग-युग के कवि हैं, समग्र मानवता के मनोमय कोष के मधुर एवं मनस्वी गायक हैं।



---

१. 'सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥' (काव्य-मीमांसा)
'आद्यन्तयोः स्वादु नारिकेलपाकमिति।' (वही)

संदर्भ-साहित्य-सूचनिका

संस्कृत

१. रघुवंश
२. कुमारसंभव
३. मेघदूत
४. ऋतुसंहार
५. अभिज्ञानशाकुन्तल
६. विक्रमोर्वशीय
७. मालविकाग्निमित्र
८. बुद्धचरित
९. सौन्दरनंद
१०. शिवपुराण
११. मत्स्यपुराण
१२. पद्मपुराण
१३. कथासरित्सागर
१४. कामसूत्र
१५. नाट्यशास्त्र
१६. काव्यमीमांसा
१७. काव्यप्रकाश
१८. साहित्यदर्पण
१९. कालिदास-ग्रन्थावली (अ० भा० वि० परिषद्, वाराणसी)

हिन्दी

१. मेघदूत : एक अध्ययन (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल)
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (वाचस्पति गैरोला)
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय)
४. संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा (चन्द्रशेखर पाण्डेय)
५. कालिदास (प्रो० मिराशी)
६. कालिदास (चन्द्रबली पाण्डेय)
७. विश्वकवि कालिदास : एक अध्ययन (सूर्यनारायण व्यास)
८. कालिदास (डॉ० भगवतशरण उपाध्याय)
९. कालिदास और उनकी कविता (महावीर प्रसाद द्विवेदी)
१०. प्राचीन साहित्य (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)
११. कालिदास और भवभूति (द्विजेन्द्रलाल राय-रूपनारायण पांडेय द्वारा अनूदित)
१२. साहित्य का मर्म (आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी)
१३. भारत का प्राचीन इतिहास (प्रो० नगेन्द्रनाथ घोष)
१४. कवि-रहस्य (डॉ० गंगानाथ झा)
१५. मेघदूत : एक पुरानी कहानी (आ० ह० प्र० द्विवेदी)
१६. संस्कृत-कवि-दर्शन (डॉ० भोलाशंकर व्यास)
१७. बिहारी की काव्य-श्री (प्रो० रमाशंकर तिवारी)
१८. हिन्दी साहित्य कोष (डॉ० धीरेन्द्र वर्मा)
१९. काव्य-दर्पण (रामदहिन मिश्र)
२०. बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक (आ० परशुराम चतुर्वेदी)

अंग्रेजी

१. A History of Sanskrit Literature (मैकडॉनेल)
२. A History of Indian Literature (वेबर)
३. A History of Indian Literature (विण्टरनिट्ज)
४. A History of Sanskrit Literature (कीथ)
५. Classical Sanskrit Literature (कीथ)
६. The Sanskrit Drama (कीथ)
७. Sanskrit Drama (प्रो॰ जागीरदार)
८. History of Sanskrit Literature (डॉ॰ सुशीलकुमार डे)
९. History of Classical Sanskrit Literature (डॉ॰ कृष्णमाचारियर)
१०. Kalidas, Vo's. I-II (के॰ एस॰ रामस्वामी शास्त्री)
११. Kalidas : the National Poet of India (डॉ॰ एस॰ एस॰ भावे)
१२. Kalidas : the Human Meaning of His Works (वाल्टर रुबेन)
१३. Kalidas (अरविन्द)
१४. Kalidas—Second Series (अरविन्द)
१५. The Date of Kalidas (चट्टोपाध्याय)
१६. The Birth-place of Kalidas (लक्ष्मीधर कल्ला)
१७. Studies in Gupta History (के॰ एस॰ अयंगर)
१८. Sanskrit Drama and Dramatists (के॰ पी॰ कुलकर्णी)
१९. Poetical Works of Shakespeare
२०. Poetical Works of Keats
२१. The Making of Literature (Scott-James)
२२. Principles of Literary Criticism (I. A. Richards)
२३. Selected Essays (T. S. Eliot)
२४. Oxford Lectures on English Poetry (A. C. Bradley)



